ओ३म्

पाणिनीय
अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

(अष्टाध्यायी का सरल संस्कृत भाष्य एवं 'आर्यभाषा' नामक हिन्दी टीका)

पञ्चमो भागः

(षष्ठाध्यायात्मकः)

सुदर्शनदेव आचार्यः



ओ३म्

तस्मै पाणिनये नमः

पाणिनीय

अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

(अष्टाध्यायी का सरल संस्कृत भाष्य एवं 'आर्यभाषा' नामक हिन्दी टीका)

पञ्चमो भागः

(षष्ठाध्यायात्मकः)

प्रवचनकारः

डॉ० सुदर्शनदेव आचार्यः

एम.ए., पी-एच.डी. (एच.ई.एस.)

प्रकाशक :-
ब्रह्मर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धर्मार्थ न्यास
गुरुकुल झज्जर,
जिला झज्जर (हरयाणा)
दूरभाष : ०१२५१ -५२०४४
५३३३२

मूल्य : १०० रुपये

प्रथम वार : २०००

आर्यसमाज स्थापना दिवस
१० अप्रैल १९९९ ई०

मुद्रक :-
वेदव्रत शास्त्री
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस,
गोहाना मार्ग, रोहतक-१२४००१
दूरभाष : ०१२६२-४६८७४, ५७७७४, ५६८३३

ओ३म्

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

अनुभूमिका

उदात्तादि स्वरों का महत्त्व

उदात्त आदि स्वरों के महत्त्व के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने सौवर नामक ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है–

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। (महाभाष्य १।१।१)

अर्थ–जो शब्द अकार आदि वर्णों के स्थान-प्रयत्नपूर्वक उच्चारण-नियम और उदात्त आदि स्वरों के नियम से विरुद्ध बोला जाता है उसको 'मिथ्याप्रयुक्त' कहते हैं, क्योंकि जिस अर्थ को जताने के लिये उसका प्रयोग किया जाता है उस अर्थ को वह शब्द नहीं कहता, किन्तु उससे विरुद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिये उच्चारण किया हुआ वह शब्द अभीष्ट अभिप्राय को नष्ट करने से वज्र के तुल्य वाणीरूप होकर यजमान अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध की संगति करनेवाले पुरुष को ही दुःख देता है। अर्थात् प्रयोक्ता के अभिप्राय को बिगाड़ देना ही उसको दुःख देना है।

जैसे–'इन्द्रशत्रु' शब्द स्वर के विरुद्ध होने से विरुद्धार्थक हो जाता है। 'इन्द्रशत्रु' तत्पुरुष समास में तो अन्तोदात्त होता है। इन्द्र अर्थात् सूर्य का शत्रु मेघ बढ़कर विजयी हो। 'इन्द्रशत्रुः' यहां बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर से आद्युदात्त स्वर होता है और शत्रु शब्द का अर्थ यही है कि शान्त करनेवाला वा काटनेवाला 'इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा' (निरुक्त १।१६)। सो तत्पुरुष समास में तो इन्द्र नाम सूर्य का शत्रु=शान्त करनेवाला मेघ आया। जो पुरुष-'सूर्य का शान्त करनेवाला मेघ है' इस अभिप्राय से 'इन्द्रशत्रु' शब्द का उच्चारण किया चाहता है तो उसको अन्तोदात्त उच्चारण करना चाहिये परन्तु जो वह आद्युदात्त उच्चारण कर देवे तो उसका अभिप्राय नष्ट होजावे क्योंकि आद्युदात्त उच्चारण से बहुव्रीहि समास में मेघ का शान्त करनेवाला वा काटनेवाला 'सूर्य' ठहरेगा। इसलिए जैसे अपना इष्ट अर्थ हो वैसे स्वर और वर्ण का नियमपूर्वक उच्चारण करना चाहिये। जब मनुष्य को उदात्त आदि स्वरों का ठीक-ठीक बोध हो जाता है तब वह स्वर लगे हुये लौकिक और वैदिक शब्दों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है।

जैसे किसी एक पद को आद्युदात्त स्वरयुक्त देखा तो जान लेगा कि इसका अमुक अर्थ में अमुक ञित् वा नित् प्रत्यय हुआ है, इसलिये यही इसका अर्थ होना चाहिये, इससे विरुद्ध नहीं हो सकता। ऐसा निश्चय स्वरज्ञ पुरुष को हो जाता है।

जैसे–स कर्ता। स कर्ता। इन दो वाक्यों में दो प्रकार के स्वर होने से दो ही प्रकार के अर्थ होते हैं। पहिले वाक्य में 'लुट्' लकार की क्रिया है। अर्थ–वह अगले दिन करेगा। और दूसरे कृदन्त में तृच्-प्रत्ययान्त शब्द है। अर्थ–वह करनेवाला पुरुष।

उदात्त आदि स्वर बोध के बिना वेदमन्त्रों का गान और उच्चारण भी यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि षड्ज आदि स्वर गानविद्या में उपयोगी हैं, वे उदात्त आदि के बिना नहीं हो सकते। जैसे–

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः।। (याज्ञवल्क्यशिक्षा)

अर्थ–षड्ज आदिकों में निषाद और गान्धार तो उदात्त के लक्षण से ऋषभ और धैवत अनुदात्त के लक्षण से तथा षड्ज, मध्यम और पंचम ये तीनों स्वरित स्वर से गाये जाते हैं। उदात्तादि के बिना वेदमन्त्रों का उच्चारण भी प्रिय नहीं लगता और जब उदात्त आदि के सहित उच्चारण किया जाता है तब अतिप्रिय मनोहर लगता है।

उदात्त आदि स्वरों का परिचय

पाणिनीय अष्टाध्यायी के षष्ठ अध्याय में उदात्त आदि स्वरों का विशेष वर्णन किया गया है, अतः पाठकों के हितार्थ यहां उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

(१) अकार आदि स्वरों के उदात्त आदि गुण–

महर्षि पतञ्जलिकृत व्याकरण-महाभाष्य के अनुसार अकार आदि स्वरों के उदात्त आदि सात गुण होते हैं–"सप्त स्वरा भवन्ति–उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः" (महाभाष्य १।२।३३) अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित में जो उदात्त है वह पूर्वोक्त उदात्त से विशिष्ट होता है, वह उदात्त और एकश्रुति ये सात स्वर हैं।

(२) उदात्त और अनुदात्त का लक्षण–

पाणिनीय अष्टाध्यायी में 'उच्चैरुदात्तः' (१।२।१२९) 'नीचैरनुदात्तः' (१।२।३०) ये उदात्त और अनुदात्त स्वरों के लक्षण हैं। इन सूत्रों का प्रायशः यह अर्थ समझा जाता है कि जो अकार आदि स्वर ऊंची ध्वनि से उच्चारण किया जाये वह 'उदात्त' है और जो नीची ध्वनि से उच्चारण किया जाये वह 'अनुदात्त' कहाता है, किन्तु ऐसा नहीं है। इन सूत्रों की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं–

"इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्। तदेव कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित् प्रति च नीचैः। एवं हि कश्चित् कञ्चिदधीयानमाह-किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीच-मनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात् संज्ञाया अप्रसिद्धिः (महाभाष्य १।२।२९)।

अर्थ-ऊंचा और नीचा यह एक अनवस्थित (अनिश्चित) पदार्थ है क्योंकि वही किसी के लिये ऊंचा और वही किसी के लिये नीचा भी हो सकता है। जैसे कोई किसी पढ़ते हुये छात्र से कहता है कि-'क्यों ऊंचे चिल्लाते हो, धीरे-धीरे पढ़ो'। फिर उसी छात्र को वैसा पढ़ते हुये देखकर कोई कहने लगा कि-'क्या दांतों के अन्दर-अन्दर ही पढ़ते हो, ऊंचे स्वर से पढ़ो'। अत: यह ऊंचा है, और यह नीचा है यह एक अनवस्थित पदार्थ है, अत: उदात्त और अनुदात्त संज्ञा की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस शंका के समाधान में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं-सिद्धं तु समानप्रक्रम-वचनात्। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति।

अर्थ-समान प्रक्रम के कथन से उदात्त और अनुदात्त संज्ञाओं की सिद्धि होती है। यहां प्रक्रम शब्द स्थान अर्थ का वाचक है और समान शब्द का अर्थ-एक है। कण्ठ और तालु आदि प्रत्येक उच्चारण-स्थान ऊंचे और नीचे भागों से युक्त है। 'उच्चैरुदात्तः' इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कण्ठ आदि उच्चारण-स्थान के ऊंचे भाग से उच्चारण किया जानेवाला अकार आदि स्वर उदात्त कहाता है और 'मीचैरनुदात्तः' इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि कण्ठ आदि उच्चारण-स्थान के नीचे भाग से उच्चारण किया जानेवाला अकार आदि स्वर अनुदात्त कहाता है। ध्वनि के ऊंचा और नीचा होने से उदात्त और अनुदात्त स्वर नहीं बनता है।

उदात्त और अनुदात्त की उच्चारण-विधि के सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है-

(१) आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य, दारुण्यं रूक्षता। अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य (महाभाष्यम् १।२।२९)।

अर्थ-कण्ठ का आयाम दारुणता और अणुता ये तीन अकार आदि स्वरों के उच्चैर्भाव में कारण हैं। गात्र=शरीर के अवयवों का निग्रह 'आयाम' कहाता है। स्वर की रुक्षता को दारुणता कहते हैं और कण्ठ की संवृतता (बन्द होना) अणुता कहाती है।

(२) 'अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य' (महा० १।२।३०)।

अर्थ-कण्ठ का अन्ववसर्ग, मार्दव और उरुता ये तीन अकार आदि स्वरों के नीचैर्भाव के कारण हैं। गात्र=शरीर के अवयवों की शिथिलता 'अन्ववसर्ग' कहाता है।

स्वर की कोमलता को 'मार्दव' कहते हैं। कण्ठ की विवृतता (खुला होना) उरुता कहाती है।

(३) स्वरित का लक्षण–

पाणिनि मुनि ने स्वरित का यह लक्षण किया है कि **'समाहारः स्वरितः'** (१।२।३१) अर्थात् उक्त उदात्त और अनुदात्त स्वरों का जो समाहार=सम्मिश्रण है, वह स्वरित कहाता है। स्वरित की रचना में कितनी मात्रा में उदात्त और कितनी मात्रा में अनुदात्त का मिश्रण है, इस तथ्य को समझाने के लिये पाणिनि मुनि लिखते हैं– **'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'** (१।२।३२) स्वरित के प्रारम्भ में आधी मात्रा-भाग उदात्त और अन्त में शेष मात्रा-भाग अनुदात्त होता है। जैसे कि 'कन्या' शब्द में द्विमात्रिक 'आ' स्वरित है। इसके आदि की $\frac{१}{२}$ आधी मात्रा उदात्त है और शेष १$\frac{१}{२}$ डेढ़ मात्रा अनुदात्त है। ऐसा ही सर्वत्र समझें।

पाणिनि मुनि के स्वरितविषयक इस सूक्ष्म लेख की स्तुति में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं– **'तद्यथा क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते-कियत् क्षीरम्, कियदुदकम्, कस्मिन्नवकाशे क्षीरम्, कस्मिन् वोदकमिति ? एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते-कियदुदात्तम्, कियदनुदात्तम्, कस्मिन्नवकाश उदात्तम्, कस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तम् ? तदाचार्यः सुहृद् भूत्वाऽन्वाचष्टे-इयदुदात्तमित्यदनुदात्तमस्मिन्नवकाश उदात्तम्, अस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तम्'** (महाभाष्यम् १।२।३३)।

अर्थ–जैसे दूध और पानी के मिल जाने पर यह विदित नहीं होता है कि इस मिश्रण में कितना दूध और कितना पानी है तथा किस ओर दूध और किस ओर पानी है। वैसे ही यहां 'स्वरित' में भी उदात्त और अनुदात्त के मिश्रित होजाने से यह ज्ञात नहीं होता है कि इसमें कितना उदात्त और कितना अनुदात्त है तथा किस ओर उदात्त और किस ओर अनुदात्त है। इस सूक्ष्म तथ्य को आचार्य पाणिनि मुनि ने हमारा मित्र बनकर हमें उपदेश किया है कि 'स्वरित' में इतना मात्रा-भाग उदात्त और इतना मात्रा-भाग अनुदात्त है तथा इसके पूर्व भाग में आधी मात्रा-भाग उदात्त और शेष मात्रा-भाग अनुदात्त है।

(४) स्वरितवर्ती उदात्त–

स्वरित के पूर्व भाग में जो उदात्त का अंश है वह पूर्वोक्त स्वतन्त्र 'उदात्त' से विशिष्ट है, जैसे कि महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं– **'स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः'** (महाभाष्य १।२।३३) अर्थात् स्वरित में जो उदात्त है वह अन्य अर्थात् स्वतन्त्र उदात्त से विशेष है।

(५) स्वरित के भेद–

याज्ञवल्क्यशिक्षा आदि ग्रन्थों में स्वरित के जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त और ताथाभाव्य आठ भेद बतलाये हैं। इनकी व्याख्या अधोलिखित है–

(१) जात्य–जो स्वरित अपनी जाति (जन्म=स्वभाव) से स्वरित होता है अर्थात् जो अनुदात्त किसी उदात्त स्वर के संयोग से स्वरित नहीं बनता है उसे 'जात्य' स्वरित कहते हैं। जैसे–कन्या। धान्यम्। क्व। स्वः।

(२) अभिनिहित–एकार तथा ओकार से परे जहां अकार का लोप अथवा पूर्वरूप हो जाता है उसे प्रातिशाख्यों में 'अभिनिहित' सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के कारण उदात्त एकार अथवा उदात्त ओकार से परे अनुदात्त अकार का लोप अथवा पूर्वरूप हो जाने पर जो स्वरित होता है उसे 'अभिनिहित' स्वरित कहते हैं। जैसे–ते+अवन्तु=तेऽवन्तु। वेदः+असि=वेदोऽसि।

(३) क्षैप्र–इ, उ, ऋ, लृ के स्थान में अच् परे होने पर जो य्, व, र्, ल् आदेश रूप सन्धि होती है इसे प्रतिशाख्यों में 'क्षैप्र' सन्धि कहा गया है। इस सन्धि के अनुसार उदात्त इकार, उकार के स्थान में य्, व् आदेश होने पर जिस उत्तरवर्ती अनुदात्त को स्वरित हो जाता है उसे 'क्षैप्र' स्वरित कहते हैं। जैसे–वाजी+अर्वन्=वाज्यर्वन्। नु+इन्द्र=न्विन्द्र।

(४) प्रश्लिष्ट–दो अचों के मेल से जो सन्धि होती है उसे 'प्रश्लिष्ट' सन्धि कहते हैं। 'प्रश्लिष्ट' सन्धि के कारण होनेवाला स्वरित 'प्रश्लिष्ट' स्वरित कहाता है। जैसे–स्रुचि+इव=स्रुचीव। अभि+इन्धताम्=अभीन्धताम्।

(५) तैरोव्यञ्जन–एक पद में अथवा अनेक पदों में उदात्त स्वर से परे व्यञ्जन से व्यवहित जो स्वरित होता है उसे 'तैरोव्यञ्जन' स्वरित कहते हैं। जैसे–इडे, रन्ते, हव्ये, काव्ये।

(६) तैरोविराम–संहिता में एक पद के पदपाठ में जब अवान्तर पद-विराम दर्शाया जाता है, तब उन पद-विभागों के उच्चारण के मध्य में एकमात्रा अथवा अर्धमात्रा काल का व्यवधान किया जाता हैं उसे प्रतिशाख्य ग्रन्थों में 'अवग्रह' कहा गया है। इस अवग्रह में एक मात्रा अथवा अर्धमात्रा काल का व्यवधान विराम के तुल्य होने से एवं संहिता-धर्म का व्याघात हो जाने से उदात्त से उत्तरवर्ती अनुदात्त को स्वरित प्राप्त नहीं होता है। अतः उस संहिताभव को तिरोहित मानकर किया गया स्वरित 'तैरोविराम' स्वरित कहाता है। जैसे–गोपताविति गोपतौ। यज्ञपतिरिति यज्ञपतिः।

(७) पादवृत्त–संहिता में जहां पदान्त और पदादि दो अचों में सन्धि नहीं होती उसे 'विवृत्ति' कहते हैं। ऐसे स्थलों में पदान्त उदात्त से परे जहां पदादि अनुदात्त को स्वरित होता है उसे 'पादवृत्त' स्वरित कहते हैं। जैसे–मध्ये सत्यानृते अव पश्यन्। ध्रुवा असदनृतस्य।

(८) ताथाभाव्य–उदात्तादि और उदात्तान्त के मध्य में यदि अवग्रह हो तो उसे 'ताथाभाव्य' स्वर कहते हैं। जैसे–तनूनप्त्रे इति तनू नप्त्रे। यहां 'नू' अवग्रह स्वरित है

इससे पूर्ववर्ती 'त' और उत्तरवर्ती 'न' ये दोनों उदात्त हैं। अतः इसे 'ताथाभाव्य' स्वरित स्वर कहते हैं।

(६) एकश्रुति–

सातवां स्वर एकश्रुति है। महर्षि पतंजलि ने एकश्रुति स्वर की यह व्याख्या की है–

'किं पुनरियमेकश्रुतिरुदात्ता, आहोस्विदनुदात्ता ? नोदात्ता। कथं ज्ञायते ? यदयमुच्चैस्तरां वा वषट्कारः (१।२।३५) इत्याह। कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? अतन्त्रं तरब्निर्देशः। यावदुच्चैस्तावदुच्चस्तरामिति। यदि तर्हि नोदात्ता, अनुदात्ता। अनुदात्ता च न। कथं ज्ञायते ? यदयम्–'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (१।२।४०) इत्याह। कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? अतन्त्रं तरब्निर्देशः। यावत्सन्नस्तावत् सन्नतर इति। सैषा ज्ञापकाभ्यामुदात्तानुदात्तयोर्मध्यमेकश्रुतिरन्तरालं ह्रियते' (महाभाष्यम्)।

अर्थ–क्या यह एकश्रुति उदात्त होती है अथवा अनुदात्त ? उदात्त नहीं होती है। कैसे जाना जाता है ? आचार्य पाणिनि मुनि ने 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (१।२।३५) यह सूत्र जो बनाया है। उदात्त कहो वा उदात्ततर 'उच्चैस्तराम्' कहो, एक ही बात है। यदि एकश्रुति उदात्त होती तो 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (१।२।३५) इस सूत्र में 'उच्चैस्तराम्' कहने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (१।२।३४) इस सूत्र से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति थी ही, फिर उक्त सूत्र में 'उच्चैस्तराम्' (उदात्ततर) कथन से ज्ञापक होता है कि 'एकश्रुति' उदात्त नहीं होती है। उदात्त और उदात्ततर में विशेष अन्तर नहीं है।

यदि एकश्रुति उदात्त नहीं है तो वह अनुदात्त भी नहीं होती है। कैसे जाना जाता है ? आचार्य पाणिनि मुनि ने 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (१।२।४०) में जो सन्नतर (अनुदात्ततर) कहा है। यह कैसे ज्ञापक होता है ? यदि 'एकश्रुति' अनुदात्त होती तो 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (१।२।४०) में 'सन्नतर' कहने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'एकश्रुतिदूरात् सम्बुद्धौ' (१।२।३३) से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति थी ही। फिर इस पृथक् 'सन्नतर' कथन से ज्ञापक होता है कि 'एकश्रुति' अनुदात्त नहीं होती है।

अतः इन उक्त ज्ञापकों से यह सार निकलता है कि 'एकश्रुति' न उदात्त है और न अनुदात्त है। इसमें दूध और जल के मिश्रण के तुल्य उदात्त और उदात्त का भेद तिरोहित हो जाता है। अतः यह एक पृथक् स्वर है।

(७) उदात्त आदि स्वरों के चिह्न–

ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थों में उदात्त आदि स्वरों को प्रकट करने के लिये कुछ चिह्न निर्धारित किये गये हैं जिन्हें वेदमन्त्रों पर अङ्कित करके उदात्त अदि स्वरों को अभिव्यक्त किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं है। अनुदात्त के लिये स्वर में अधोरेखा दी जाती है। जैसे–अ॒ग्निः। स्वरित के लिये

स्वर पर उपरि-रेखा अंकित की जाती है। जैसे—कन्या। सामवेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के लिये १, २, ३ अंक निर्धारित किये गये हैं। जैसे—अग्निः=अग्निं। कन्या=कन्या।

स्वराङ्कन-विधिः—

पाणिनि मुनि ने स्वराङ्कन की यह विधि बतलाई है कि—'**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' (६।१।१५८) स्वर-प्रकरण में यह परिभाषा-सूत्र सर्वत्र प्रवृत्त होता है अर्थात् स्वर प्रकरण में जिस एक पद में उदात्त वा स्वरित जिस वर्ण को विधान करें उससे पृथक् जितने वर्ण हों, वे सब अनुदात्त होते हैं। जैसे—गोपायति, धूपायति। यहां '**धातोः**' (६।१।१५९) से धातु को अन्तोदात्त स्वर विधान किया गया है अतः 'गोपाय' धातु का अन्तिम स्वर (अ) उदात्त होकर शेष सब स्वर अनुदात्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् '**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**' (८।४।६६) से उदात्त से परवर्ती स्वर अनुदात्त हो जाता है। जैसे कि ऊपर—गोपयाति, धूपायति उदाहरणों में दर्शाया गया है।

'**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' (६।१।१५८) इस सूत्र के प्रयोजन के विषय में पतंजलि मुनि लिखते हैं—

आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः।। (महा० ६।१।१५८)

अर्थ—आगम, विकार, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्-पृथक् स्वर न हो इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। जैसे—

(१) आगम—चत्वारः। अनड्वाहः। यहां चतुर् और अनडुह् शब्दों को जो 'आम्' आगम हुआ है, उसी का स्वर रहता है और प्रकृतिस्वर की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् प्रकृति और आगम के दोनों स्वर एकपद में एक साथ नहीं रह सकते।

(२) विकार—जो किसी वर्ण वा शब्द को आदेश होता है उसे विकार कहते हैं। जैसे—अस्थ्ना, दध्ना। यहां अस्थि और दधि शब्द प्रथम आद्युदात्त हैं, पश्चात् तृतीया-आदि अजादि विभक्तियों में इन्हें उदात्त अनङ् आदेश होकर प्रकृति और उक्त आदेश के दो स्वर प्राप्त होते हैं, सो नहीं होते, अपितु आदेश का स्वर होता है।

(३) प्रकृति—धातु वा प्रातिपदिक जिससे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं उसे प्रकृति कहते हैं। जैसे—गोपायति, धूपायति। यहां प्रकृतिस्वर गोपाय, धूपाय धातु को अन्तोदात्त और प्रत्ययस्वर 'आय' प्रत्यय को आद्युदात्त दो स्वर प्राप्त हैं, सो न हों किन्तु प्रत्ययस्वर को बाध के प्रकृतिस्वर होजावे।

(४) प्रत्यय—जो धातु वा प्रातिपदिक से किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। जैसे—कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः। यहां 'कृ' धातु और तित्तिरि प्रातिपदिक से 'तव्य' और 'छ'

प्रत्यय हुआ है, प्रकृति और प्रत्यय दोनों स्वर प्राप्त हैं, सो न हों, किन्तु प्रकृतिस्वर को बाध के प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर होता है।

(८) षड्ज आदि सात स्वर–

गान्धर्ववेद में षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद इन सात स्वरों का उल्लेख है। नारदीय शिक्षा में इन षड्ज आदि स्वरों के उच्चारण का मयूर अदि की उपमा से सुन्दर वर्णन किया है–

षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्।।
पुष्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं वति निषादं वक्ति कुञ्जरः।। (ना०शि० १।५।३-४)

अर्थ–मोर षड्ज स्वर बोलता है। गौवें ऋषभ स्वर में रांभती हैं। भेड़ और बकरी गान्धार स्वर में मिमाती हैं। क्रौञ्च पक्षी मध्यम स्वर में कूजता है। पुष्प-साधारण अर्थात् वसन्त ऋतु में कोयल पञ्चम स्वर में कूकती है। घोड़ा धैवत स्वर में हिनहिनाता है और कुञ्जर=हाथी निषाद स्वर में चिंघाड़ता है।

नारदीय शिक्षा के इस लेख से प्रकट होता है कि संगीत-विद्या के ये षड्ज आदि स्वर ऊपर लिखित मयूर आदि पशु-पक्षियों के शब्दों के अध्ययन से संगीतशास्त्र में ग्रहण करके विकसित किये गये हैं।

(६) षड्ज आदि का उदात्त आदि में अन्तर्भाव–

गान्धर्ववेद में जिन षड्ज आदि स्वरों का उपदेश किया गया है वे ही वैदिक संहिताओं में उदात्त आदि स्वरों के नाम से कहे गये हैं। जैसा कि पणिनि शिक्षा में लिखा है–

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः।। (पा०शि० पृ० १२)

अर्थ–षड्ज आदि सात स्वरों का उदात्त आदि तीन स्वरों में अन्तर्भाव हो जाता है। निषाद और गान्धार उदात्त स्वर हैं। ऋषभ और धैवत अनुदात्त स्वर हैं। षड्ज, मध्यम और पञ्चम स्वर स्वरित स्वर से उत्पन्न हुये हैं।

इन उदात्त आदि स्वरों का शिक्षा वेदाङ्गविषयक याज्ञवल्क्य-शिक्षा आदि ग्रन्थों के अध्ययन से यथावत् परिज्ञान प्राप्त करें।

–सुदर्शनदेव आचार्य, संस्कृत सेवा संस्थान
१५।३।९९ ई० ७७६/३४, हरिसिंह कालोनी, रोहतक (हरयाणा)

पञ्चमभागस्य प्रतिपादितविषयाणां सूचीपत्रम्

सं० विषयाः पृष्ठाङ्काः

।। इति पञ्चमभागस्य प्रतिपादितविषयाणां सूचीपत्रम् ।।

षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः

द्विर्वचनप्रकरणम्

प्रथमस्यैकाचः–

(१) एकाचो द्वे प्रथमस्य।१।

प०वि०–एकाचः ६।१ द्वे १।२ प्रथमस्य ६।१।

स०–एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य–एकाचः (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः–प्रथमस्य एकाचो द्वे।

अर्थः–प्रथमस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारोऽयम्, प्राक् सम्प्रसारण-विधानात् **'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे'** (६।१।१३)।

उदा०–स जजागार। स पपाठ। स इयाय। स आर।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रथमस्य) प्रथम (एकाचः) एक अच्वाले समुदाय को (द्वे) द्वित्व होता है। यह 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' (६।१।१३) से पहले-पहले अधिकार है।*

उदा०–स जजागार। वह जागा। स पपाठ। उसने पढ़ा। स इयाय। उसने गति की। स आर। उसने गति की, वह गया।

सिद्धि-(१) जजागार। जागृ+लिट्। जागृ+तिप्। जागृ+णल्। जागार्+अ। जाग्+जागार्+अ। जा+जागार्+अ। जजागर।

यहां 'जागृ निद्राक्षये' (अदा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) लिट् प्रत्यय, तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'लिट्' लकार को 'तिप्' आदेश, 'परस्मैपदानां णलतुसुस०' (३।४।८२) से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश, 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अंग को वृद्धि होती है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से द्वित्व-विधि और इस सूत्र से 'जागार्' के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व (जाग्+जाग्=आर्) होता है। 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से अभ्यास के आदि हल् का शेषत्व और 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व (ज) होता है। ऐसे ही 'पठ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से-पपाठ।

(२) इयाय। इण्+लिट्। इ+तिप्। इ+णल्। ऐ+अ। इ+आय्+अ। इयङ्+आय्+अ। इय्+आय्+अ। इयाय।

यहां 'इण् गतौ' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय और उसके स्थान में 'तिप्' और उसे पूर्ववत् 'णल्' आदेश होता है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अंग को वृद्धि, 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) से स्थानिवद्भाव मान होकर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से द्वित्व-विधि और इस सूत्र से प्रथम एकाच् 'इ' को द्वित्व होता है। 'अभ्यासस्यासवर्णे' (६।४।७८) से अभ्यास के इकार को 'इयङ्' आदेश होता है।

(३) आर। ऋ+लिट्। ऋ+तिप्। ऋ+णल्। आर्+अ। ऋ+आर्+अ। अर्+आर्+अ। अ+आर्+अ। आर्+अ। आर।

यहां 'ऋ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय, उसके लकार को 'तिप्' आदेश और उसे 'णल्' आदेश होकर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अंग को वृद्धि होती है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से द्वित्व-विधि और 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) से स्थानिवद् भाव होकर इस सूत्र से प्रथम एकाच् 'ऋ' को द्वित्व होता है। 'उरत्' (७।४।६६) से अभ्यास ऋ को अकार आदेश, 'उरण् रपरः' (१।१।५१) से रपरत्व, 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से आदि हल् का शेषत्व होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९९) से सवर्ण-दीर्घत्व होता है।

द्वितीयस्यैकाचः–

(२) अजादेर्द्वितीयस्य।२।

प०वि०–अजादेः ६।१ द्वितीयस्य ६।१।

स०–अच् आदिर्यस्य सः–अजादिः, तस्य–अजादेः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–एकाचः, द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे।

अर्थः–अजादेर्धातोरवयवस्य द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः इत्यधिकारोऽयम्, प्राक्सम्प्रसारणविधानात् 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' (६।१।१३)।

उदा०–अटिटिषति। अशिशिषति। अरिरिषति।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अजादेः) अच् जिसके आदि में है उस धातु के अवयव भूत (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् वाले समुदाय को (द्वि) द्वित्व होता है। यह 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' (६।१।१३) से पहले-पहले अधिकार है।*

उदा०-अटिटिषति। वह घूमना चाहता है। अशिशिषति। वह खाना चाहता है। अरिरिषति। वह प्राप्त करना चाहता है।

सिद्धि-(१) अटिटिषति। अट्+सन्। अट्+इट्+स। अट्+इ+ष। अटिष।। अटिष् टिष् अ। अटिटिष+लट्। अटिटिष्+तिप्। अटिटिष+शप्+ति। अटिटिष+अ+ति। अटिटिषति।

*यहां 'अट गतौ' (भ्वा०प०) धातु से **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से उसे 'इट्' आगम, **'आदेशप्रत्यययोः'** (८।३।५९) से उसे षत्व होता है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से द्वित्व की प्राप्ति होने पर इस सूत्र से अजादि धातु के अवयवभूत द्वित्व एकाच् 'टिष्' को द्वित्व होता है, प्रथम अच् अकार को नहीं। 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) से 'अटिटिष' की धातु संज्ञा होकर 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'अटिटिष' धातु से 'लट्' प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७४) से 'ल' के स्थान में 'तिप्' आदेश, **'कर्तरि शप्'** (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय और 'अतो गुणे' (६।१।९६) से अकार को पररूप एकादेश होता है। ऐसे ही 'अश भोजने' (क्र्या०प०) धातु से-अशिशिषति।*

(२) अरिरिषति। यहां 'ऋ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'ऋ' को 'अ' गुण और 'उरण् रपरः' से उसे रपरत्व 'अर्' होता है। 'अर्' को पूर्ववत् 'इट्' आगम होता है। पश्चात् 'अरिष्' धातु को पूर्ववत् कार्य होता है।

द्विवर्चन-प्रतिषेधः—

(३) न न्द्राः संयोगादयः।३।

प०वि०-न अव्ययपदम्, न्द्राः १।३ संयोगादयः १।३।

स०-नश्च दश्च रश्च ते-न्द्राः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। संयोगस्य आदिः संयोगादिः, ते-संयोगादयः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-द्वे, एकाचः, अजादेः, द्वितीयस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अजादेर्द्वितीयस्यैकाचः संयोगादयो न्द्रा द्वे न।

अर्थः-अजादेर्धातोरवयवस्य द्वितीयस्यैकाचः संयोगादयो न्द्रा न द्विरुच्यन्ते, इत्यधिकारोऽयम्।

उदा०-(नकारः) उन्दिदिषति। (दकारः) अड्डिडिषति। **(रेफः)** अर्चिचिषति।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अजादेः) अच् जिसके आदि में है उस धातु के अवयवभूत (द्वितीयस्य) द्वितीय (एकाचः) एकाच् समुदाय के (संयोगादयः) संयोग के आदि में विद्यमान (न्द्राः) नकार, दकार और रेफ को (द्वे) द्वित्व (न) नहीं होता है।*

उदा०-(नकार) उन्दिदिषति। वह गीला करना चाहता है। (दकार) अड्डिडिषति। वह अभियोग=संयुक्त करना चाहता है। (रेफ:) अर्चिचिषति। वह पूजा करना चाहता है।

सिद्धि-(१) उन्दिदिषति। यहां 'उन्दी क्लेदने' (रु०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और 'इट्' आगम करने पर अजादि 'उन्दिष' धातु के द्वितीय एकाच् अवयव 'न्दिष्' को द्वित्व प्राप्त होता है किन्तु यहां संयोग के आदि में विद्यमान नकार के द्वित्व का इस सूत्र से प्रतिषेध होने से 'उन्दिष' प्रातु के द्वितीय एकाच् अवयव 'दिष्' को द्वित्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(२) अड्डिडिषति। यहां 'अड्ड' (अद्ड) अभियोगे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और 'इट्' आगम करने पर अजादि 'अड्डिष' धातु के द्वितीय एकाच् अवयव 'द्डिष्' को द्वित्व प्राप्त होता है किन्तु यहां संयोग के आदि में विद्यमान दकार के द्वित्व का इस सूत्र से प्रतिषेध होने से 'अड्डिष' धातु के एकाच् अवयव 'डिष्' को द्वित्व होता है। 'अड्ड' धातु में प्रथम दकार है उसे 'ष्टुना ष्टुना' (८।४।४१) से डकार होकर 'अड्ड' रूप ही दिखाई देता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अर्चिचिषति। यहां 'अर्च पूजायाम्' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और 'इट्' आगम करने पर अजादि 'अर्चिष' धातु के द्वितीय एकाच् अवयव 'र्चिष्' को द्वित्व प्राप्त होता है किन्तु यहां संयोग के आदि में विद्यमान रेफ के द्वित्व का इस सूत्र से प्रतिषेध होने से 'अर्चिष' धातु के एकाच् अवयव 'चिष्' को द्वितीय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अभ्यास-संज्ञा–

(४) पूर्वोऽभ्यासः।४।

प०वि०–पूर्व: १।१ अभ्यास: १।१।

अनु०–द्वे इत्यनुवतति, तच्चार्थवशादिह षष्ठ्यन्तं जायते।

अन्वय:–ये द्वे विहिते तयो: पूर्वोऽभ्यास:।

अर्थ:–अस्मिन् प्रकरणे ये द्वे विहिते तयोर्य: पूर्वोऽवयव: सोऽभ्याससंज्ञको भवति।

उदा०–पपाच। पिपक्षति। पापच्यते। जुहोति। अपीपचत्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-इस द्विर्वचन प्रकरण में जो (द्वे) द्वित्व विधान किया गया है उन दोनों में जो (पूर्व:) पूर्व अवयव है उसकी (अभ्यास:) अभ्यास संज्ञा होती है।*

उदा०-पपाच। उसने पकाया। पिपक्षति। वह पकाना चाहता है। पापच्यते। वह पुनः-पुनः पकाता है। जुहोति। वह यज्ञ करता है। अपीपचत्। उसने पकवाया।

सिद्धि-(१) पपाच। पच्+लिट्। पच्+तिप्। पच्+णल्। पच्+पच्+अ। प+पाच्+अ। पपाच।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' से 'ल' के स्थान में तिप् आदेश, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से तिप् के स्थान में णल् आदेश और 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'पच्' धातु के प्रथम एकाच् अवयव 'पच्' को द्वित्व होता है। द्विरुक्त पूर्व 'पच्' अवयव की इस सूत्र से अभ्यास संज्ञा होती है। 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को पर्जन्यवत् ह्रस्व, 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से अभ्यास-संज्ञक 'पच्' का आदि हल् 'प्' शेष रहता है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से 'प्रकृतिचरां प्रकृतिचरो भवन्ति' से अभ्यास 'प्' को चर्त्व 'प्' होता है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से अंग की उपधा को वृद्धि होती है।

(२) पिपक्षति। पच्+सन्। पच्+स। पक्ष। पक्ष्+पक्ष। प+पक्ष। पिपक्ष+लट्। पिपक्ष+तिप्। पिपक्ष+शप्+ति। पिपक्ष+अ+ति। पिपक्षति।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् सन् प्रत्यय करने पर 'सन्यङोः' (६।१।९) से सन्नन्त 'पक्ष' धातु को द्वित्व होकर उसके प्रथम एकाच् 'पक्ष्' अवयव की इस सूत्र से अभ्यास संज्ञा होती है। 'सन्यतः' (७।४।७९) से अभ्यास के अकार को इकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) पापच्यते। पच्+यङ्। पच्+य। पच्य। पच्य्+पच्य। पापच्य+लट्। पापच्य+त। पापच्य+शप्+त। पापच्य+अ+ते। पापच्यते।

यहां पूर्वोक्त 'पच्' धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय करने पर 'सन्यङोः' (६।१।९) से यङन्त 'पच्य' धातु को द्वित्व होकर उसके प्रथम एकाच् 'पच्य्' अवयव की इस सूत्र से अभ्यास संज्ञा होती है। 'दीर्घोऽकितः' (७।४।८३) से अभ्यास के अकार को दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) जुहोति। हु+लट्। हु+तिप्। हु+शप्+ति। हु+०+ति। हु+हु+०+ति। झु+हु+ति। जु+हु+ति। जु+हो+ति। जुहोति।

यहां 'हु दानादनयोः, आदाने च इत्येके' (जु०प०) धातु से लट् प्रत्यय करने पर 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से हु धातु को द्वित्व होकर उसके प्रथम एकाच् अवयव 'हु' की इस सूत्र से अभ्यास संज्ञा होती है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के हकार को चुत्व=चवर्ग झकार और उसे 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से जश्त्व जकार होता है।

(५) अपीपचत्। पच्+णिच्। पाच्+इ। पाचि+लुङ्। अट्+पाचि+ल्। अ+पाचि+च्लि+ल्। अ+पाचि+तिप्। अ+पाचि+चङ्+त्। अ+पाच्+अ+त्। अ+पच्+अ+त्। अ+पच्+पच्+अ+त्। अ+प-पच्+अ+त। अ+पि-पच्+अ+त्। अ+पी-पच्+अ+त्। अपीपचत्।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय करने पर णिजन्त 'पाचि' धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय, 'लङ्लुङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।६२) से अट् आगम, 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से च्लि विकरण प्रत्यय, 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) से च्लि के स्थान में चङ् आदेश, 'णेरनिटि' (६।४।५१) से णिच् का लोप, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से अंग की उपधा को ह्रस्वत्व और 'चङि' (७।४।१) से पच् धातु के प्रथम एकाच् अवयव 'पच्' को द्वित्व होता है। इस सूत्र से उस पूर्व एकाच् अवयव 'पच्' की अभ्यास संज्ञा होती है। 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' (७।४।९३) से सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' (७।४।७९) से 'प' अभ्यास के अकार को इकार आदेश और 'दीर्घो लघोः' (७।४।९४) से उसे दीर्घ होता है।

अभ्यस्त-संज्ञा–

(५) उभे अभ्यस्तम्।५।

प०वि०-उभे १।२ अभ्यस्तम् १।१।

अनु०-द्वे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञके भवतः।

उदा०-ददति। ददत्। दधतु।

आर्यभाषाः *अर्थ-इस द्विर्वचन प्रकरण में जो (द्वे) द्वित्व विधान किया है उन (उभे) दोनों की (अभ्यस्तम्) अभ्यस्त संज्ञा होती है।*

उदा०-ददति। वे दान करते हैं। ददत्। वह दान करता हुआ। दधतु। वह धारण करे।

सिद्धि-ददति। दा+लट्। दा+झि। दा+शप्+झि। दा-दा+०+झि। द+दा+० अत् इ। द-द्+अति। ददति।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से लट् प्रत्यय और उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से झि-आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् विकरण प्रत्यय और उसे 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से श्लु होकर 'श्लौ' (६।१।१०) से 'दा' धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होकर उसके द्विरुक्त दा-दा दोनों की इस

सूत्र से अभ्यस्त संज्ञा होती है। अभ्यस्त संज्ञा होने से 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से झि के झकार को अत् आदेश होता है। और 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से अभ्यस्त धातु के आकार का लोप होता है।

(२) ददत्। यहां पूर्वोक्त 'दा' धातु से लट् प्रत्यय और 'लटः शतृशानचावप्रथमा-समानाधिकरणे' (३।२।१२४) से 'लट्' के स्थान में शतृ आदेश होता है। शेष अभ्यस्त-संज्ञा कार्य पूर्ववत् है।

(३) दधतु। यहां 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय और उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से तिप् आदेश है। शेष अभ्यस्त-संज्ञा कार्य पूर्ववत् है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से अभ्यास के धकार को जश् दकार आदेश होता है।

अभ्यस्त-संज्ञा–

(६) जक्षित्यादयः षट्।६।

प०वि०–जक्ष् १।१ इत्यादयः १।३ षट् १।१।

स०–इति आदिर्येषां ते–इत्यादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अभ्यस्तम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–जक्ष्, इत्यादयश्च षड् अभ्यस्तम्।

अर्थः–जक्ष् धातुः, इत्यादयः=जक्षादयश्चान्ये षड् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्ति। ते चेमे-

(१) जक्ष भक्षहसनयोः (अदा०प०) ते जक्षति।

(२) जागृ निद्राक्षये (अदा०प०) ते जाग्रति।

(३) दरिद्रा दुर्गतौ (अदा०प०) ते दरिद्रति।

(४) चकासृ दीप्तौ (अदा०प०) ते चकासति।

(५) शासु अनुशिष्टौ (अदा०प०) ते शासति।

(६) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा०आ०) ते दीध्यते। स दीध्यत्।

(७) वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा०आ०) ते वेव्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जक्ष्) जक्ष् यह धातु तथा (इत्यादयः) यह जक्ष जिनके आदि में है उन (षट्) छः धातुओं की (अभ्यस्तम्) अभ्यस्त संज्ञा होती है।*

उदा०-(१) ते जक्षति। वे सब खाते/हसते हैं। ते जाग्रति। वे सब जाते हैं। ते दरिद्रति। वे सब दरिद्र होते हैं। ते चकासति। वे सब चमकते हैं। ते शासति। वे सब

अनुशासन करते हैं। ते दीध्यते। वे सब दीप्ति/देवन (क्रीडा आदि) करते हैं। स दीध्यत्। वह दीप्ति/देवन करता हुआ। ते वेव्यते। वे सब गति आदि करते हैं।

सिद्धि-(१) जक्षति। जक्ष्+लट्। जक्ष्+झि। जक्ष्+शप्+झि। जक्ष्+०+अत् इ। जक्षति।

यहां 'जक्ष भक्षहसनयोः' (अदा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७४) से ल के स्थान में झि-आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् विकरण प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से शप् का लुक् होता है। 'जक्ष्' धातु की इस सूत्र से अभ्यस्त संज्ञा होने से 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'झि' के झकार को अत् आदेश होता है। ऐसे ही-जाग्रति, चकासति, शासति।

(२) दीध्यते। दीधीङ्+लट्। दीधी+झ। दीधी+शप्+झ। दीधी+०+अत् अ। दीध्य्+अते। दीध्यते।

यहां 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' (अदा०अ०) धातु से लट् प्रत्यय और 'तिप्तस्झि०' (३।४।७४) से 'ल' के स्थान में 'झ' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् विकरण प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से शप् का लुक् होता है। 'दीधीङ्' धातु की इस सूत्र से अभ्यस्त संज्ञा होने से 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'झ' के झकार को अत् आदेश होता है और 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८६) आद्युदात्त स्वर होता है-दीध्यते। ऐसे ही 'वेवीङ्' धातु से-वेव्यते।

(३) दीध्यत्। दीधीङ्+लट्। दीधी+शतृ। दीधी+शप्+अत्। दीधी+०+अत्। दीध्य्+अत्। दीध्यत्।

यहां 'दीधीङ्' धातु से 'लट्' प्रत्यय 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) से लट् के स्थान में शतृ आदेश, पूर्ववत् शप् विकरण प्रत्यय और उसका लुक् होता है। दीधीङ् धातु की अभ्यस्त संज्ञा होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'शतृ' प्रत्यय को नुम् आगम नहीं होता है।

अभ्यासस्य दीर्घत्वम्-

(७) तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य।७।

प०वि०-तुजादीनाम् ६।३ दीर्घः १।१ अभ्यासस्य ६।१।

स०-तुज आदिर्येषां ते तुजादयः, तेषाम्-तुजादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः-तुजादीनामभ्यासस्य दीर्घः।

अर्थः-तुजादीनाम्=तुजप्रकाराणां धातूनामभ्यासस्य दीर्घो भवति।

अत्र आदिशब्दः प्रकारवचनः, तुजधातोरभ्यासस्य दीर्घो न विहितः, दृश्यते च, ये तथाभूता धातवस्ते तुजादयः, तेषामभ्यासस्य दीर्घः साधुर्भवतीत्यर्थः। तुजादीनां धातूनां छन्दसि प्रत्ययविशेषे एव दीर्घत्वं दृश्यते, ततोऽन्यत्र तु न भवति-तुतोज शबलान् हरीन्।

उदा०-तूतुजानः (ऋ०१।३।६)। मामहानः (तै०सं० ४।६।३।२)। दाधान। अनड्वान् दाधार (शौ०सं० ४।११।१)। मीमाय (शौ०सं० ५।११।३)। स तूताव (ऋ० १।९४।२)। इत्यादिकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तुजादीनाम्) तुज आदि अर्थात् तुज-प्रकारक धातुओं के (अभ्यासस्य) अभ्यास को (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

यहां आदि शब्द प्रकारवाची है, तुज धातु के अभ्यास को किसी सूत्र से दीर्घ विधान नहीं किया गया किन्तु दिखाई देता है। जो इस प्रकार की धातु हैं उन्हें तुजादि समझना चाहिये और उनके अभ्यास को दीर्घ व्याकरणशास्त्र से साधु है। तुजादि धातुओं को छन्द में और प्रत्ययविशेष में ही दीर्घ होता है, उससे अन्यत्र नहीं जैसे-तुतोज शवलान् हरीन्।

उदा०-तूतुजानः (ऋ० १।३।६)। मामहानः (तै०सं० ४।६।३।२)। दाधान। अनड्वान् दाधार (शौ०सं० ४।११।१)। मीमाय (शौ०सं० ५।११।३)। स तूताव (ऋ० १।९४।२)। इत्यादि।

सिद्धि-(१) तूतुजानः। तुज+लिट्। तुज्+कानच्। तुज्-तुज्+आन। तु-तुज्+आन। तू-तुज्+आन। तूतुजान+सु। तूतुजानः।

यहां 'तुज हिंसायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'छन्दसि लिट्' (३।२।१०५) से लिट् प्रत्यय, 'लिटः कानच् वा' (३।२।१०६) से लिट् के स्थान में कानच् आदेश, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से तुज् धातु को द्वित्व और इस सूत्र से अभ्यास को दीर्घ होता है।

(२) मामहानः। 'मह पूजायाम्' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) दाधानः। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(४) दाधार। 'धृञ् धारणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय और 'तिप्तस्झि०' (३।४।७४) से लकार के स्थान में तिप् आदेश और उसके स्थान में 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से णल् आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) मीमाय। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(६) तूताव। 'तु गतिवृद्धिहिंसासु' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत्।

द्विर्वचनम्–

(८) लिटि धातोरनभ्यासस्य।८।

प०वि०–लिटि ७।१ धातोः ६।१ अनभ्यासस्य ६।१।

स०–न विद्यतेऽभ्यासो यस्मिन् सः-अनभ्यासः, तस्य-अनभ्यासस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०–एकाचः, द्वे, प्रथमस्य, अजादेः, द्वितीयस्य, न, न्द्राः, संयोगादयः इति चानुवर्तते।

अन्वयः–लिटि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्यैकाचः, अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे, संयोगादयो न्द्राश्च न द्वे।

अर्थः–लिटि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचः, अजादेश्च द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः, संयोगदयो न्द्राश्च न द्विरुच्यन्ते।

उदा०–स पपाच। स पपाठ। स प्रोर्णुनाव।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यास से रहित (धातोः) धातु के अवयव भूत (प्रथमस्य) प्रथम (एकाच्) एकाच् समुदाय को तथा (अजादेः) अजादि धातु के (द्वितीयस्य) द्वितीय (एकाचः) एकाच् समुदाय को (द्वि) द्वित्व होता है किन्तु (संयोगादयः) संयोग के आदिभूत नकार. दकार और रेफ को (द्वि) द्वित्व (न) नहीं होता है।*

उदा०-स पपाच। उसने पकाया। स पपाठ। उसने पढ़ाया। स ***प्रोर्णुनाव।*** *उसने आच्छादितं किया।*

सिद्धि-(१) पपाच और पपाठ पदों की सिद्धि पूर्ववत् है (६।१।४)।

(२) प्रोर्णुनाव। प्र+ऊर्णुञ्+लिट्। प्र+ऊर्णु+तिप्। प्र+ऊर्णु+णल्। प्र+उर् नु-नु+अ। प्र+उर् नु-नौ+अ। प्र+उर् णु-नाव। प्रोर्णुनाव।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक ***'ऊर्णुञ् आच्छादने'*** *(अदा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय,* ***'तिप्तस्झि०'*** *(३।४।७४) से लकार के स्थान में तिप् आदेश,* ***'परस्मैपदानां णलतुसुस०'*** *(३।४।८२) से तिप् के स्थान में णल् आदेश और इस सूत्र से इस अजादि धातु के द्वितीय अच् समुदाय 'नु' को द्वित्व होता है और 'न न्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) से प्रतिषेध होने से संयोगादि रेफ को द्वित्व नहीं होता है। 'ऊर्णुञ्' को अधोलिखित कारिकावचन से 'णुवत्' मानकर. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) से आम् प्रत्यय नहीं होता है।*

का०- **वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।**

आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात्।।

द्विर्वचनम्–

(६) सन्यङोः।६।

प०वि०-सन्-यङोः ६।२।

स०-सन् च यङ् च तौ सन्यङौ, तयोः-सन्यङोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-एकाचः, द्वे, प्रथमस्य, अजादेः, द्वितीयस्य, न न्द्राः संयोगादयः, धातोः, अनभ्यासस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सन्नन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोः प्रथमस्यैकाचः, अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे, संयोगादयो न्द्रा न।

अर्थः-सन्नन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचः, अजादेश्च द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः, संयोगादयो न्द्राश्च न द्विरुच्यन्ते।

उदा०-**(सन्)** स पिपक्षति। स पिपठिषति। सोऽरिरिषति। स उन्दिदिषति। **(यङ्)** स पापच्यते। सोऽटाट्यते। स यायज्यते। सोऽरार्यते। स प्रोर्णूनयते। अनभ्यासस्येति किम्-जुगुप्सिषते। लोलूयिषते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सन्यङोः) सन्नन्त और यङन्त (अनभ्यासस्य) अभ्यासरहित (धातोः) धातु के अवयव (प्रथमस्य) प्रथम (एकाचः) एकाच् समुदाय को तथा (अजादेः) अजादि (धातोः) धातु के अवयव को (द्वि) द्वित्व होता है किन्तु (संयोगादयः) संयोग के आदिभूत (न्द्राः) नकार, दकार और रेफ को (द्वि) द्वित्व (न) नहीं होता है।*

*उदा०-(सन्) **स पिपक्षति।** वह पकाना चाहता है। **स पिपठिषति।** वह पढ़ना चाहता है। **सोऽरिरिषति।** वह प्राप्त करना चाहता है। **स उन्दिदिषति।** वह गीला करना चाहता है। (यङ्) **स पापच्यते।** वह पुनः-पुनः पकाता है। **सोऽटाट्यते।** वह पुनः-पुनः घूमता है। **स यायज्यते।** वह पुनः-पुनः यज्ञ करता है। **सोऽरार्यते।** वह पुनःपुनः प्राप्त करता है। **स प्रोर्णूनयते।** वह पुनः-पुनः आच्छादित करता है।*

*'अनभ्यासस्य' का कथन इसलिये किया गया है कि अभ्यास सहित धातु के प्रथम एकाच् समुदाय आदि को द्वित्व नहीं होता है। जैसे-**जुगुप्सिषते। लोलूयिषते।** साभ्यास जुगुप्स और लोलूय धातु से 'सन्' प्रत्यय करने पर उन्हें द्वित्व नहीं होता है।*

*सिद्धि-(१) **पिपक्षति** आदि पदों की सिद्धि पूर्ववत् है (६।१।४)।*

*(२) **अटाट्यते।** यहां 'अट गतौ' (भ्वा०प०) धातु से '**धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्**' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय प्राप्त नहीं है अतः वा०-'**यङ्विधौ सूचिसूत्रि०**' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय होता है। इस धातु के अजादि होने से द्वितीय एकाच् समुदाय (ट्य-ट्य) को द्वित्व होता है। ऐसे ही-**अरार्यते।***

द्विर्वचनम्–

(१०) श्लौ।१०।

प०वि०–श्लौ ७।१।

अनु०–एकाचः, द्वे, प्रथमस्य, अजादेः, द्वितीयस्य, न, न्द्राः, संयोगादयः, धातोः, अनभ्यासस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–श्लावनभ्यासस्य धातोः प्रथमसस्यैकाचः, अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे, संयोगादयो न्द्रा न।

अर्थः–श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचः, अजादेश्च द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः, संयोगादयो न्द्राश्च न द्विरुच्यन्ते।

उदा०–स जुहोति। स बिभेति। सा जिह्रेति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्लौ) श्लु=प्रत्यय-लोप परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यास से रहित (धातोः) धातु के अवयव (प्रथमस्य) प्रथम (एकाच्) एकाच् समुदाय को तथा (अजादेः) अजादि धातु के (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् समुदाय को (द्वे) द्वित्व होता है किन्तु (संयोगादयः) संयोग के आदि में विद्यमान (न्द्राः) नकार, दकार और रेफ को (द्वे) द्वित्व (न) नहीं होता है।*

उदा०–स जुहोति। वह यज्ञ करता है। स बिभेति। वह डरता है। सा जिह्रेति। वह लज्जा करती है।

सिद्धि-(१) जुहोति। इस पद की सिद्धि पूर्ववत् है (६।१।४)।

(२) बिभेति। 'ञिभी भये' (जु०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) जिह्रेति। 'ह्री लज्जायाम्' (जु०प०) धातु से पूर्ववत्।

विशेषः *श्लु कोई प्रत्यय नहीं है अपितु 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन (लोप) की यह एक संज्ञाविशेष है।*

द्विर्वचनम्–

(११) चङि।११।

प०वि०–चङि ७।१।

अनु०–एकाचः, द्वे, प्रथमस्य, अजादेः, द्वितीयस्य, न, न्द्राः, संयोगादयः, धातोः, अनभ्यासस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चङि अनभ्यासस्य धातोः प्रथमस्यैकाचः, अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे, संयोगादयो न्द्रा न।

अर्थः-चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचः, अजादेश्च द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः, संयोगादयो न्द्राश्च न द्विरुच्यन्ते।

उदा०-सोऽपीपचत्। सोऽपीपठत्। स आटिटत्। स आशिशत्। स आर्दिदत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चङि) चङ् प्रत्यय परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यास से रहित (धातोः) धातु के अवयवभूत (प्रथमस्य) प्रथम (एकाचः) एकाच्समुदाय को (द्वे) द्वित्व होता है तथा (अजादेः) अजादि धातु के (द्वितीयस्य) द्वितीय (एकाचः) एकाच्समुदाय को द्वित्व होता है किन्तु (संयोगादयः) संयोग के आदि में विद्यमान (न्द्राः) न् द् और रेफ को (द्वे) द्वित्व नहीं होता है।*

*उदा०-**सोऽपीपचत्।** उसने पकवाया। **सोऽपीपठत्।** उसने पढ़ाया। **स आटिटत्।** उनसे भ्रमण कराया। **स आशिशत्।** उसने भोजन कराया। **स आर्दिदत्।** उसने गति/याचना कराई।*

सिद्धि-(१) अपीपचत् और अपीपठत् पदों की सिद्धि पूर्ववत् है (६।१।४)।

*(२) **आटिटत्।** यहां 'अट गतौ' (भ्वा०प०) धातु से अजादि होने से उसके द्वितीय एकाच् समुदाय 'टि' को द्वित्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **आशिशत्।** 'अश् भोजने' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत्।*

*(४) **आर्दिदत्।** 'अर्द गतौ याचने च' (भ्वा०प०) धातु के अजादि होने उसके द्वितीय एकाच् समुदाय 'दि' को द्वित्व होता है और 'न न्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) से प्रतिषेध होने से संयोगादि रेफ को द्वित्व नहीं होता है।*

निपातनम्-

(१२) दाश्वान् साह्वान् मीढवाँश्च।१२।

प०वि०-दाश्वान् १।१ साह्वान् १।१ मीढवान् १।१ च अव्ययपदम्।

अर्थः-अस्मिन् द्विर्वचनप्रकरणे दाश्वान्, साह्वान्, मीढवान् इत्येते शब्दाश्छन्दसि भाषायां चाऽविशेषेण निपात्यन्ते। अत्र एकवचनमप्रधानम्।

उदा०-**(दाश्वान्)** दाश्वांसो दाशुषः सुतम् (ऋ० १।३।७)। **(साह्वान्)** साह्वान् बलाहकः। **(मीढ्वान्)** मीढवस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २।३३।१४)।

आर्यभाषाः अर्थ-इस द्विर्वचन-प्रकरण में (दाश्वान्) दाश्वान् (साह्वान्) साह्वान् (मीढ्वान्) मीढ्वान् शब्द (च) भी छन्द और लौकिक भाषा में अविशेष रूप से निपातित हैं। यहां दाश्वान् आदि शब्दों में एकवचन गौण हैं।

उदा०-(दाश्वान्) दाश्वान् दाशुषः सुतम् (ऋ० १।३।७)। (साह्वान्) साह्वान् बलाहकः। (मीढ्वान्) मीढवस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २।३३।१४)।

सिद्धि-(१) दाश्वान्। दाश्+लिट्। दाश्+क्वसु। दाश्+वस्। दाश्वस्+सु। दाशवनुम् स्+स्। दाश्वन्स्+स्। दाश्वान्स्+०। दाश्वान्।

यहां 'दाशृ दाने' (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय और 'क्वसुश्च' से 'लिट्' के स्थान में 'क्वसु' आदेश है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से प्राप्त द्वित्व और 'आर्धधातुस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से प्राप्त इट् आगम का अभाव इस सूत्र से निपातित है। क्वसु प्रत्यय के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से नुम् आगम, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६७) से 'सु' का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से सकार का लोप होता है।

(२) साह्वान्। यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय और उसके स्थान में 'क्सु' आदेश है। धातु को परस्मैपद, उपधा को दीर्घ, द्विर्वचन और इट् आगम का अभाव निपातित है।

(३) मीढ्वान्। यहां 'मिह सेचने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय और उसके स्थान में क्वसु आदेश है। द्विर्वचन, इट् आगम का अभाव, उपधा को दीर्घ और हकार को ढकार आदेश निपातित है।

।। इति द्विर्वचनप्रकरणम्।।

सम्प्रसारणप्रकरणम्

ष्यङः सम्प्रसारणम्–

(१) ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे।१३।

प०वि०-ष्यङः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१ पुत्रपत्योः ७।२ तत्पुरुषे ७।१।

स०-पुत्रश्च पतिश्च तौ पुत्रपती, तयोः-पुत्रपत्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे पुत्रपत्योः ष्यङः सम्प्रसारणम्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे पुत्रपत्योरुत्तरपदयोः ष्यङः सम्प्रसारणं भवति। यणः स्थाने इक् आदेशो भवतीत्यर्थः।

उदा०-(पुत्रः) करीषस्य गन्ध इव गन्धो यस्य सः-करीषगन्धिः। करीषगन्धेरपत्यम्-कारीषगन्ध्यः, स्त्री चेत्-कारीषगन्ध्या, कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः-कारीषगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपुत्रः। (पतिः) कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पुत्रपत्योः) पुत्र, पति शब्द (उत्तरपदयोः) उत्तरपद होने पर (ष्यङः) ष्यङ्प्रत्यय को सम्प्रसारण होता है, अर्थात् यण् के स्थान में इक् आदेश होता है।*

उदा०-(पुत्र) करीष=शुष्क गोमय के गन्ध के समान गन्ध है जिसका वह-करीषगन्ध। करीषगन्ध का अपत्य=पुत्र कारीषगन्ध्य, यदि स्त्री हो तो-कारीगन्ध्या। कारीषगन्ध्या का पुत्र-कारीषगन्धीपुत्र। कौमुदगन्धीपुत्र। (पति) कारीषगन्धीपति। कौमुदगन्धीपति।

सिद्धि-कारीषगन्धीपुत्र। करीष+सु+गन्ध+सु। करीषगन्धिः करीषगन्धि+अण्। कारीषगन्ध्+अ। कारीषगन्ध्+ष्यङ्। कारीषगन्ध्+य। कारीषगन्ध्य+टाप्। कारीषगन्ध्या+ङस्+पुत्र+सु। कारीषगन्ध् इ आ+पुत्र। कारीषगन्धि+पुत्र। कारीषगन्धी+पुत्र। कारीषगन्धीपुत्र+सु। कारीषगन्धीपुत्र।

यहां प्रथम करीष और गन्ध शब्दों का बहुव्रीहि समास होने पर 'उपमानाच्च' (५।४।१३७) से गन्ध शब्द को समासान्त इकार आदेश होकर करीषगन्धि शब्द बनता है। करीषगन्धि शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय और उसके स्थान में 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' (४।१।७८) से ष्यङ् आदेश होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से टाप् प्रत्यय करने पर करीषगन्ध्या और उसका पुत्र शब्द के साथ षष्ठीसमास होने पर इस सूत्र से ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से पूर्वरूप एकादेश (इ) होकर 'सम्प्रसारणस्य' (६।३।१३९) से इकार को दीर्घ होता है। इस प्रकार 'कारीषगन्धीपुत्रः' शब्द सिद्ध होता है। ऐसे ही-कौमुदगन्धीपुत्रः। पति शब्द उत्तरपद होने पर-कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपतिः।

ष्यङः सम्प्रसारणम्-

(२) बन्धुनि बहुव्रीहौ।१४।

प०वि०-बन्धुनि ७।१ बहुव्रीहौ ७।१।

अनु०-ष्यङः, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ बन्धुनि ष्यङः सम्प्रसारणम्।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे बन्धुशब्दे उत्तरपदे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-कारीषगन्ध्या बन्धुर्यस्य सः-कारीषगन्धीबन्धुः। कौमुदगन्धीबन्धुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (बन्धुनि) बन्धु शब्द उत्तरपद होने पर (ष्यङः) ष्यङ् को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-कारीषगन्ध्या नारी है बन्धु जिसकी वह-कारीषगन्धीबन्धु। कौमुदगन्ध्या नारी है बन्धु जिसकी वह-कौमुदगन्धीबन्धु।

सिद्धि-कारीषगन्धीबन्धु। यहां कारीषगन्ध्या और बन्धु शब्दों का बहुव्रीहि समास है। बन्धु शब्द उत्तरपद होने पर इस सूत्र से ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-कौमुदगन्धीबन्धुः।

किति सम्प्रसारणम्-

(३) वचिस्वपियजादीनां किति।१५।

प०वि०-वचि-स्वपि-यजादीनाम् ६।३ किति ७।१।

स०-यज आदिर्येषां ते यजादयः, वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च ते वचिस्वपियजादयः, तेषाम्-वचिस्वपियजादीनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। क इद् यस्य स कित्, तस्मिन्-किति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते, ष्यङ इति निवृत्तम्।

अन्वयः-वचिस्वपियजादीनां धातूनां किति सम्प्रसारणम्।

अर्थः-वचिस्वपियजादीनां धातूनां किति प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-(वचिः) उक्तः, उक्तवान्। **(स्वपिः)** सुप्तः, सुप्तवान्। **(यजादिः)** इष्टः, इष्टवान्। **(वप)** उप्तः, उप्तवान्। इत्यादिकम्।

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु (उ०)। डुवप बीजसन्ताने छेदने च (उ०)। वह प्रापणे (उ०)। वस निवासे (प०)। वेञ् तन्तुसन्ताने (उ०) व्येञ् संवरणे (उ०)। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (उ०)। वद व्यक्तायां वाचि (प०)। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (प०)। इति भ्वाद्यन्तर्गतो यजादिगणः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वचिस्वपियजादीनाम्) वच्, स्वप् और यजादि (धातोः) धातुओं को (किति) कित् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-(वचिः) उक्तः, उक्तवान्। उसने कहा। (स्वपिः) सुप्तः, सुप्तवान्। वह सो गया। (यजादिः) इष्टः, इष्टवान्। उसने यज्ञ किया। (वप) उप्तः, उप्तवान्। उसने बीज बोया/काटा।

सिद्धि-(१) उक्तः। वच्+क्त। वच्+त। उ अच्+त। उच्+त। उक्+त। उक्त+सु। उक्तः।

यहां 'वच परिभाषणे' (अदा०प०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'क्त' प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'वच्' के वकार को उकार सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। ऐसे ही 'ञिष्वप् शये' (अदा०प०) धातु से-सुप्तः। 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वा०उ०) धातु से-उप्तः।

(२) उक्तवान्। यहां पूर्वोक्त 'वच्' धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक क्तवतु प्रत्यय है। 'क्तवतु' प्रत्यय के कित् होने से 'वच्' के वकार को उकार सम्प्रसारण और पूर्ववत् अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से उपधा को दीर्घ और प्रत्यय के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से नुम् आगम, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।२।६७) से सु का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से तकार का लोप होता है। ऐसे ही 'ञिष्वप् शये' (अदा०प०) धातु से-सुप्तवान्। 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वा०उ०) धातु से-उप्तवान्।

(३) इष्टः। यज्+क्त। यज्+त। इ अ ज्+त। इज्+त। इष्+ट। इष्ट+सु। इष्टः।

यहां 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। क्त प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'यज्' के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से यज् के जकार को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकार को टकार आदेश होता है।

(४) इष्टवान्। यहां पूर्वोक्त 'यज्' धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक 'क्तवतु' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

विशेषः यजादि धातु भ्वादिगण के अन्तर्गत हैं। उन्हें संस्कृतभाग में देख लेवें।

ङिति किति च सम्प्रसारणम्–

(४) ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चति-पृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च।१६।

प०वि०-ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनाम् ६।३ ङिति ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-ग्रहिश्च ज्याश्च वयिश्च व्यधिश्च वष्टिश्च विचतिश्च वृश्चतिश्च पृच्छतिश्च भृज्जतिश्च ते-ग्रहि०भृज्जतय:, तेषाम्-ग्रहि०भृज्जतीनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-धातो:, सम्प्रसारणम्, किति इति चानुवर्तते।

अन्वय:-ग्रहि०भृज्जतीनां धातूनां ङिति किति च सम्प्रसारणम्।

अर्थ:-ग्रहि-आदीनां धातूनां ङिति किति च प्रत्यये परत: सम्प्रसारणं भवति। **उदाहरणम्**-

	धातु	कित्	ङित्
(१)	ग्रहि:	गृहीत:, गृहीतवान्	गृह्णाति, जरीगृह्यते।
		(ग्रहण किया)	(ग्रहण करता है, पुन:-पुन: ग्रहण करता है)।
(२)	ज्या:	जीन:, जीनवान्	जिनाति, जेजीयते।
		(वृद्ध होगया)	(वृद्ध होता है, अधिक वृद्ध होता है)।
(३)	वयि:	ऊयतु:, ऊयु:	
		उन दोनों ने/उन सबने	
		कपड़ा बुना।	
(४)	व्यधि:	विद्ध:, विद्धवान्	विध्यति, वेविध्यते
		(ताडन किया)	(ताडन करता है, पुन:-पुन:- ताडन करता है)।
(५)	वष्टि	उशित:, उशितवान्	उष्ट:, उशन्ति
		(कामना की)	(वि दानों/वे सब कामना करते हैं)।
(६)	विचति:	विचित:, विचितवान्	विचति, वेविच्यते
		(ठग लिया)	(ठगता है, पुन:-पुन: ठगता है)।
(७)	वृश्चति:	वृक्ण:, वृक्णवान्	वृश्चति, वरीवृश्च्यते
		(छेदन किया)	(काटता है, पुन:-पुन: काटता है)।
(८)	पृच्छति:	पृष्ट:, पृष्टवान्	पृच्छति, परीपृच्छ्यते
		(जिज्ञासा की)	(पूछता है, पुन:-पुन: पूछता है)।
(९)	भृज्जति	भृष्ट:, भृष्टवान्	भृज्जति, बरीभृज्यते
		(पकाया, भूना)	(पकाता है, पुन:-पुन: पकाता है, भूनता है)।

आर्यभाषाः अर्थ-(ग्रहि०भृज्जतीनाम्) ग्रहि, ज्या, वयि, व्यधि, वष्टि, विचति, वृश्चति, पृच्छति, भृज्जति (धातोः) धातुओं को (ङिति) ङित् (च) और (किति) कित् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) गृहीतः। यहां 'ग्रह उपदाने' (क्र्या०उ०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'ग्रह' के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण होता है। 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से इट् आगम को दीर्घ होता है।

(२) गृहीतवान्। यहां पूर्वोक्त 'ग्रह्' धातु से क्तवतु प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) गृह्णाति। यहां पूर्वोक्त 'ग्रह्' धातु से लट् प्रत्यय और 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३।१।८१) से श्ना विकरण प्रत्यय है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से श्ना प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से ग्रह् धातु को पूर्ववत् सम्प्रसारण होता है।

(४) जरीगृह्यते। यहां पूर्वोक्त 'ग्रह्' धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने 'ग्रह्' धातु को इस इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम होता है।

(५) जीनः। यहां 'ज्या वयोहानौ' (क्र्या०प०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'ज्या' धातु के यकार को इकार सम्प्रसारण और 'हलः' (६।४।२) से उसे दीर्घ होता है। 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

(६) जिनाति। यहां पूर्वोक्त 'ज्या' धातु से लट् प्रत्यय है और पूर्ववत् 'श्ना' विकरण प्रत्यय होता है। श्ना प्रत्यय के 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से ङित् होने से 'ज्या' धातु को सम्प्रसारण होता है।

(७) जेजीयते। यहां पूर्वोक्त 'ज्या' धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से 'ज्या' धातु को सम्प्रसारण (जि) होता है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से 'जि' को द्वित्व और 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होता है।

(८) ऊयतुः। वेञ्+लिट्। वयि+तस्। वय्+अतुस्। उ अ य्+अतुस्। उय्+अतुस्। उय्-उय्+अतुस्। उ-उय्+अतुस्। ऊयतुः।

यहां 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय है। 'वेञो वयिः' (२।४।४१) से वेञ् के स्थान में वयि आदेश होता है। 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'तस्' आदेश और 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से तस्

के स्थान में अतुस् आदेश है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से तस् प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से वय् के वकार को उकार सम्प्रसारण होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से द्वित्व और 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९६) से दीर्घ होता है। ऐसे ही उस् प्रत्यय करने पर-ऊयुः।

वेञ् धातु के स्थान में 'वेञो वयिः' (२।४।४१) से लिट् आर्धधातुक विषय में वयि आदेश होता है और वह लिट् 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से किद्वत् होता है, ङित् नहीं। अतः यहां कित् का ही उदाहरण दिया है, ङित् का नहीं।

(९) विद्धः। व्यध्+क्त। व्यध्+त। व् इ अध्+त। विध्+त। विध्+ध। विद्+ध। विद्ध+सु। विद्धः।

यहां 'व्यध ताडने' (दि०प०) धातु से इस सूत्र से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से 'व्यध्' धातु के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से तकार को धकार और 'झलां जश् झशि' (८।४।५२) से धकार को जश् दकार आदेश होता है। ऐसे ही क्तवतु प्रत्यय करने पर-विद्धवान्

(१०) विध्यति। यहां पूर्वोक्त 'व्यध्' धातु से 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) से श्यन् विकरण प्रत्यय है। श्यन् के पूर्ववत् ङित् होने से इस सूत्र से 'व्यध्' धातु को सम्प्रसारण होता है।

(११) वेविध्यते। यहां पूर्वोक्त 'व्यध्' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से व्यध् धातु को सम्प्रसारण होता है।

(१२) उशितः। यहां 'वश कान्तौ' (अदा०प०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'वश्' धातु के वकार को उकार सम्प्रसारण होता है। ऐसे ही क्तवतु प्रत्यय करने पर-उशितवान्।

(१३) उष्टः। यहां पूर्वोक्त 'वश्' धातु से लट् प्रत्यय और उसके लकार के स्थान पर 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'तस्' आदेश है। 'तस्' प्रत्यय के 'सार्वधातुकमपित्०' (१।२।४) से ङित् होने से इस सूत्र से वश् धातु को सम्प्रसारण होता है। ऐसे ही झि प्रत्यय करने पर-उशन्ति।

(१४) विचितः। यहां 'व्यच व्याजीकरणे' (तु०प०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'व्यच्' धातु के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। ऐसे ही क्तवतु प्रत्यय करने पर-विचितवान्।

(१५) विचति। यहां पूर्वोक्त 'व्यच्' धातु से लट् प्रत्यय और 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में तिप् आदेश और 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय है। 'श' प्रत्यय के 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से ङित् होने से इस सूत्र से व्यच् धातु को सम्प्रसारण होता है।

(१६) वेविच्यते। यहां पूर्वोक्त 'व्यच्' धातु से 'धातोरेकाचो हलादे:०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'व्यच्' धातु को सम्प्रसारण होता है।

(१७) वृक्णः। ओव्रश्चू+क्त। वृश्च्+त। वृश्च्+न। वृच्+न। वृक्+न। वृक्+ण। वृक्णः+सु। वृक्णः।

यहां 'ओव्रश्चू छेदने' (तु०प०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से 'व्रश्च्' के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण होता है। 'ओदितश्च' (७।२।१६) से क्त के तकार को नकार आदेश होता है। 'स्को: संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से संयोगादि सकार (श्) का लोप 'चो: कु:' (८।२।३०) से चकार को ककार और 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से नकार को णत्व होता है। ऐसे ही क्तवतु प्रत्यय करने पर-वृक्णवान्।

(१८) वृश्चति। यहां पूर्वोक्त 'व्रश्च्' धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में तिप् आदेश है। 'तुदादिभ्य: शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'श' प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'व्रश्च्' धातु को सम्प्रसारण होता है।

(१९) वरीवृश्च्यते। यहां पूर्वोक्त 'वृश्च्' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'वृश्च्' धातु को सम्प्रसारण होता है। यहां 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) से रीक् आगम प्राप्त नहीं अत: वा०- 'रीगृतवत इति वक्तव्यम्' (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम होता है।

(२०) पृष्टः। प्रच्छ्+क्त। पृच्छ्+त। प्रश्+त। प्रष्+ट। प्रष्ट+सु। प्रष्टः।

यहां 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' (तु०प०) धातु से क्त प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से 'प्रच्छ्' धातु के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण होता है। 'छ्वो: शूडनुनासिके च' (६।४।१९) से 'च्छ्' के स्थान में 'श्' आदेश, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से श् को ष् आदेश और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से तकार को टकार आदेश होता है। ऐसे ही क्तवतु प्रत्यय करने पर-पृष्टवान्।

(२१) पृच्छति। यहां पूर्वोक्त 'प्रच्छ्' धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में तिप् आदेश है। 'तुदादिभ्य: शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'श' प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'प्रच्छ्' धातु को सम्प्रसारण होता है।

(२२) परीपृच्छ्यते। यहां पूर्वोक्त 'प्रच्छ' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'प्रच्छ' धातु को सम्प्रसारण होता। 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम होता है।

(२३) भृष्टः। यहां 'भ्रस्ज पाके' (तु०प०) धातु से 'क्त' प्रत्यय है। प्रत्यय के कित् होने से 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०'

(८।२।६) से भ्रस्ज् के जकार को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से तकार को टकार आदेश होता। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'भ्रस्ज्' के संयोगादि सकार का लोप होता है। ऐसे ही क्तवतु करने पर-**भ्रष्टवान्।**

(२४) **भृज्जति।** यहां पूर्वोक्त 'भ्रस्ज' धातु लट् प्रत्यय और उसके लकार के स्थान में तिप् आदेश है। 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'श' प्रत्यय के ङित् होने से 'भ्रस्ज्' धातु को सम्प्रसारण होता है। यहां 'भ्रस्ज्' धातु के सकार 'झलां जश् झशि' (८।४।५२) से जश् दकार और उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से चवर्ग जकार होता है।

(२५) **बरीभृज्यते।** यहां पूर्वोक्त 'भ्रस्ज' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से इस सूत्र से 'भ्रस्ज' धातु को सम्प्रसारण होता है। 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम होता है।

अभ्यासस्य सम्प्रसारणम्–

(५) लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्।१७।

प०वि०–लिटि ७।१ अभ्यासस्य ६।१ उभयेषाम् ६।३।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–उभयेषां धातूनां लिटि अभ्यासस्य सम्प्रसारणम्।

अर्थः–उभयेषाम्=वच्यादीनां ग्रह्यादीनां च धातूनां लिटि प्रत्यये परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। **उदाहरणम्**–

धातुः	लिट्		
(१) वचिः	(१) स उवाच	(१)	(१) उसने कहा।
	(२) त्वम् उवचिथ।		(२) तूने कहा।
(२) स्वपिः	(१) स सुष्वाप	(२)	(१) वह सोया।
	(२) त्वं सुष्वपिथ।		(२) तू सोया।
(३) यज	(१) स इयाज	(३)	(१) उसने यज्ञ किया।
	(२) त्वम् इयजिथ		(२) तूने यज्ञ किया।
(४) डुवप्	(१) स उवाप	(४)	(१) उसने बोया/काटा।
	(२) त्वम् उपपिथ		(२) तूने बोया/काटा।

ग्रह्यादीनाम्			ग्रहि-आदि	
(१) ग्रहिः	(१) स जग्राह	(१)	(१) उसने ग्रहण किया।
	(२) त्वं जग्रहिथ		(२) तूने ग्रहण किया।
(२) ज्या	(१) स जिज्यौ	(२)	(१) वह वृद्ध होगया।
	(२) त्वं जिज्यिथ		(२) तू वृद्ध होगया।
(३) वयिः	(१) स उवाय	(३)	(१) उसने कपड़ा बुना।
	(२) त्वं उवयिथ		(२) तूने कपड़ा बुना।
(४) व्यधिः	(१) स विव्याध	(४)	(१) उसने ताडन किया।
	(२) त्वं विव्यधिथ		(२) तूने ताडन किया।
(५) वष्टिः	(१) स उवाश	(५)	(१) उसने कामना की।
	(२) त्वम् उवशिथ		(२) तूने कामना की।
(६) विचतिः	(१) स विव्याच	(६)	(१) उसने ठगा।
	(२) त्वं विव्यचिथ		(२) तूने ठगा।
(७) वृश्चतिः	(१) स वव्रश्च	(७)	(१) उसने काटा।
	(२) त्वं वव्रश्चिथ		(२) तूने काटा।
(८) पृच्छतिः	(१) स पप्रच्छ	(८)	(१) उसने पूछा।
	(२) त्वं जग्रहिथ		(२) तूने पूछा।
(९) भृज्जतिः	(१) स बभ्रज	(९)	(१) उसने पकाया।
	(२) त्वं बभ्रजिथ		(२) तूने पकाया।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उभयेषाम्) वचि-आदि तथा ग्रहि-आदि दोनों (धातोः) धातुओं के (लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) उवाच। वच्+लिट्। वच्+तिप्। वच्+णल्। वच्+वच्+अ। व+वाच्+अ। उ अ+वाच्+अ। उ+वाच्+अ। उवाच।

यहां 'वच परिभाषणे' (अ०प०) धातु से लिट् प्रत्यय है। उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से तिप् आदेश और उसे 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से णल् अदेश होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'वच्' धातु को द्वित्व

होकर इस सूत्र से उसके अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से अंग को वृद्धि होती है। ऐसे ही थल् प्रत्यय करने पर-उवचिथ। इसके सहाय से 'सुष्वाप' आदि पदों की सिद्धि करें।

(२) जग्राह। ग्रह्+लिट्। ग्रह्+तिप्। ग्रह्+णल्। ग्रह्+ग्रह्+अ। ग+ग्राह्+अ। ज+ग्राह+अ। जग्राह।

यहां 'ग्रह उपादाने' (क्र्या०प०) धातु से लिट् प्रत्यय है। अभ्यास के गकार को 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) जश् जकार होता है। यहां अभ्यास को सम्प्रसारण-कार्य सम्भव नहीं है। ऐसे ही थल् प्रत्यय करने पर-जग्रहिथ।

(३) जिज्यौ। ज्या+लिट्। ज्या+तिप्। ज्या+णल्। ज्या+अ। ज्य्+औ। ज्या+ज्या+औ। ज्य+ज्या+औ। ज् इ अ+ज्य्+औ। जि+ज्यौ। जिज्यौ।

यहां 'ज्या वयोहानौ' (क्र्य०प०) धातु से लिट् प्रत्यय और उसके स्थान में पूर्ववत् तिप् और णल् आदेश होकर 'आत औ णलः' (७।१।३४) से णल् को औ-आदेश होता है। 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से ज्या का आकार का लोप हो जाता है। 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५८) से उस लोपादेश को स्थानिवत् मानकर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'ज्या' को द्वित्व होता है। इस सूत्र से 'ज्या' के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही थल् प्रत्यय करने पर-जिज्यिथ।

(४) उवाय, विव्याध, उवाश, विव्याच पदों की सिद्धि 'उवाच' की उपरिलिखित सिद्धि के सहाय से करें।

(५) वव्रश्च। व्रश्च्+लिट्। व्रश्च्+तिप्। व्रश्च+णल्। व्रश्च्+अ। व्रश्च्+व्रश्च्+अ। व् ऋ अ श् च्+व्रश्च्+अ। व् अर् अ श् च्+व्रश्च्+आ। व+व्रश्च्+अ। वव्रश्च।

यहां 'ओव्रश्चू छेदने' (तु०प०) धातु से लिट् प्रत्यय है। सूत्र में 'उभयेषाम्' पद के ग्रहण करने से 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) को रोककर प्रथम 'व्रश्च्' के रेफ को सम्प्रसारण होता है। 'व्रश्च्' के रेफ को सम्प्रसारण करके 'उरत्' (७।४।६६) से उसे अकार आदेश और 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व किया जाता है तब 'उरत्' (७।४।६६) के 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (१।१।५६) से स्थानिवत् होने से 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६।१।३६) से वकार को सम्प्रसारण नहीं होता है। अतः 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से आदि हल् वकार शेष रहता है तथा अन्य समस्त हलों (र् श् च्) का लोप हो जाता है।

(६) पप्रच्छ। प्रच्छ+लिट्। प्रच्छ्+तिप्। प्रच्छ्+णल्। प्रच्छ्+अ। प्रच्छ्+प्रच्छ्+अ। प् ऋ अ च् छ्+प्रच्छ्+अ। प् अर् अ च् छ्+प्रच्छ्+अ। प+प्रच्छ्+अ। पप्रच्छ।

यहां 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' (तु०प०) धातु से लिट् प्रत्यय है। इसके अभ्यास 'प्रच्छ्' को इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। शेष कार्य 'वव्रश्च' के समान है।

(७) बभ्रज। भ्रस्ज्+लिट्। भ्रस्ज्+तिप्। भ्रस्ज्+णल्। भ्रस्ज्+अ। भ्रस्ज्+भ्रस्ज्+अ। भ् ऋ अ स् ज्+भ्रस्ज्+अ। भ् अर् अ स् ज्+भ्रस्ज्+अ। भ+भ्रस्ज्+अ। ब+भ्र०ज्+अ। बभ्रज।

यहां 'भ्रस्ज पाके' (तु०प०) धातु से लिट् प्रत्यय है। इसके अभ्यास 'भ्रस्ज्' को इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'भ्रस्ज्' के सकार का लोप होता है। शेष कार्य 'वव्रश्च' के समान है।

चङि सम्प्रसारणम्–

(६) स्वापेश्चङि।१८।

प०वि०–स्वापेः ६।१ चङि ७।१।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तति।

अन्वयः–स्वापेर्धातोश्चङि सम्प्रसारणम्।

अर्थः–स्वापि-धातोश्चङि प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति। अत्र 'स्वापेः' इत्यनेन स्वपधातोर्णिजन्तस्य ग्रहणं क्रियते।

उदा०–असूषुपत्। असूषुपताम्। असूषुपन्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्वापेः) स्वापि (धातोः) धातु को (चङि) चङ् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

*उदा०–**असूषुपत्**। उसने सुलाया। **असूषुपताम्**। उन दोनों ने सुलाया। **असूषुपन्**। उन सबने सुलाया।*

सिद्धि-असूषुपत्। ञिष्वप्+णिच्। स्वप्+इ। स्वाप्+इ। स्वापि+लुङ्। अट्+स्वापि+च्लि+ल्। अ+स्वापि+चङ्+तिप्। अ+स्वापि+अ+ति। अ+स्वाप्+अ+त्। अ+स्वप्+अ+त्। अ+स् उ अ प्+अ+त्। अ+सुप्+अ+त्। अ+सुप्-सुप्+अ+त्। अ+सु+सुप्+अ+त्। अ+सू+षुप्+अ+त्। असूषुपत्।

यहां 'ञिष्वप् शये' (अ०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय है। णिजन्त 'स्वापि' धातु से लुङ् प्रत्यय करने पर 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) से च्लि के स्थान में 'चङ्' आदेश, 'णेरनिटि' (६।४।५१) से णिच् का लोप, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से 'स्वाप्' की उपधा को ह्रस्व होता है। 'चङि' से प्राप्त द्विर्वचन से पूर्व 'स्वप्' को सम्प्रसारण होकर पश्चात् द्विर्वचन होता है। 'दीर्घो लघोः' (७।४।९४) से अभ्यास के उकार को दीर्घ और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। ऐसे ही-असूषुपताम्, असूषुपन्।

यङि सम्प्रसारणम्–

(७) स्वपिस्यमिव्येञां यङि ।१९।

प०वि०–स्वपि-स्यमि-व्येञाम् ६।३ यङि ७।१।

स०–स्वपिश्च स्यमिश्च व्येञ् च ते स्वपिस्यमिव्येञः, तेषाम्-स्वपिस्यमिव्येञाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–स्वपिस्यमिव्येञां धातूनां यङि सम्प्रसारणम्।

अर्थः–स्वपिस्यमिव्येञां धातूनां यङि प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०–(**स्वपिः**) सोषुप्यते। (**स्यमिः**) सेसिम्यते। (**व्येञ्**) वेवीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्वपिस्यमिव्येञाम्) स्वपि, स्यमि, व्येञ् (धातोः) धातुओं को (यङि) यङ् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-(स्वपिः) ***सोषुप्यते।*** *वह पुनः-पुनः/अधिक सोता है। (स्यमिः)* ***सेसिम्यते।*** *वह पुनः-पुनः/अधिक शब्द करता है। (व्येञ्)* ***वेवीयते।*** *वह पुनः-पुनः/अधिक आच्छादित करता है।*

सिद्धि-(१) ***सोषुप्यते।*** *स्वप्+यङ्। स्वप्+य। स् उ अ प्+य। सुप्+य। सुप्य्+सुप्य। सु+सुप्य। सो+षुप्य। सोषुप्य+लट्। सोषुप्य+त। सोषुप्य+शप्+त। सोषुप्य+अ+ते। सोषुप्यते।*

यहां 'ञिष्वप् शये' (अदा०प०) धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। इस सूत्र से यङ् प्रत्यय परे होने पर 'स्वप्' धातु को सम्प्रसारण होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से उसे द्वित्व, 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) से अभ्यास के उकार को गुण और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। 'सोषुप्य' धातु से 'लट्' प्रत्यय है। ऐसे ही 'स्यमु शब्दे' (भ्वा०प०) धातु से सेसिम्यते और 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-वेवीयते।

यङि सम्प्रसारण-प्रतिषेधः–

(८) न वशः ।२०।

प०वि०–न अव्ययपदम्, वशः ६।१।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम्, यङि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–वशो यङि सम्प्रसारणं न।

अर्थः–वशो धातोर्यङि प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-वावश्यते, वावश्येते, वावश्यन्ते। 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) इत्यनेन प्राप्तं सम्प्रसारणं प्रतिषिध्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वशः) वश् (धातोः) धातु को (यङि) यङ् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**वावश्यते**। वह पुनः-पुनः/अधिक कामना करता है। **वावश्येते**। वे दोनों पुनः-पुनः/अधिक कामना करते हैं। **वावश्यन्ते**। वे सब पुनः-पुनः/अधिक कामना करते हैं।*

*सिद्धि-**वावश्यते**। वश्+यङ्। वश्+य। वश्य्+वश्य। व+वश्य। वा+वश्य। वावश्य+लट्। वावश्य+त। वावश्य+शप्+त। वावश्य+अ+ते। वावश्यते।*

*यहां 'वश कान्तौ' (अदा०प०) धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। यङ् प्रत्यय परे होने पर 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध होता है। 'दीर्घोऽकितः' (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'वावश्य' धातु से लट् प्रत्यय है। ऐसे ही-**वावश्येते, वावश्यन्ते**।*

की-आदेशः–

(६) चायः की।२१।

प०वि०-चायः ६।१ की १।१ (सु-लुक्)।

अनु०-धातोः, यङि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चायो धातोर्यङि कीः।

अर्थः-चायो धातोः स्थाने यङि प्रत्यये परतः की-आदेशो भवति।

उदा०-चेकीयते, चेकीयेते, चेकीयन्ते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चायः) चाय् (धातोः) धातु के स्थान में (यङि) यङ् प्रत्यय परे होने पर (की) की आदेश होता है।*

*उदा०-**चेकीयते**। वह पुनः-पुनः/अधिक पूजा करता है। **चेकीयेते**। वे दोनों पुनः-पुनः/अधिक पूजा करते हैं। **चेकीयन्ते**। वे सब पुनः-पुनः/अधिक पूजा करते हैं।*

*सिद्धि-**चेकीयते**। चाय्+यङ्। की+य। कीय्+कीय। की+कीय। के+कीय। चे+कीय। चेकीय+लट्। चेकीय+त। चेकीय+शप्+त। चेकीय+अ+ते। चेकीयते।*

यहां 'चाय़ पूजानिशामनयोः' (भ्वा०उ०) धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। यङ् प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'चाय्' के स्थान में 'की' आदेश होता है। 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) से अभ्यास को गुण और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास के ककार को चर् चकार होता है। तत्पश्चात् 'चेकीय' धातु से लट् प्रत्यय है।

स्फी-आदेशः–

(१०) स्फायः स्फी निष्ठायाम्।२२।

प०वि०-स्फायः ६।१ स्फी १।१ (सु-लुक्) निष्ठायाम् ७।१।

अनु०-धातोरित्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्फायो धातोः निष्ठायां स्फीः।

अर्थः-स्फायो धातोः स्थाने निष्ठायां परतः स्फी-आदेशो भवति।

उदा०-स्फीतः, स्फीतवान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्फायः) स्फाय (धातोः) धातु के स्थान में (निष्ठायाम्) निष्ठा=क्त, क्तवतु प्रत्यय परे होने पर (स्फी) स्फी-आदेश होता है।*

उदा०-स्फीतः, स्फीतवान्। वह बढ़ा।

सिद्धि-स्फीतः। स्फाय्+क्त। स्फी+त। स्फीत+सु। स्फीतः।

यहां 'स्फायी वृद्धौ' (भ्वा०उ०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। 'क्त' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'स्फाय्' धातु के स्थान में 'स्फी' आदेश होता है। ऐसे ही-स्फीतवान्। 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१।१।२५) से क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है।

सम्प्रसारणम्–

(११) स्त्यः प्रपूर्वस्य।२३।

प०वि०-स्त्यः ६।१ प्रपूर्वस्य ६।१।

स०-प्र पूर्वो यस्य स प्रपूर्वः, तस्य-प्रपूर्वस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, निष्ठायाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्रपूर्वस्य स्त्यो निष्ठायां सम्प्रसाराम्।

अर्थः-प्रपूर्वस्य स्त्यो धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान्। प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रपूर्वस्य) प्र उपसर्गपूर्वक (स्त्यः) स्त्या (धातोः) धातु को (निष्ठायाम्) निष्ठा=क्त, क्तवतु प्रत्यय परे होने पर, (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान्। उसने जोर से शब्द किया। प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान्। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) प्रस्तीतः। प्र+स्त्या+क्त। प्र+स्त्या+त। प्र+स्त् इ आ+त। प्र+स्त् इ+त। प्र+सत् ई+त। प्रस्तीत+सु। प्रस्तीतः।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में क्त प्रत्यय है। निष्ठा=क्त प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'स्त्या' धातु को सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप एकादेश और 'हलः' (६।४।२) से इकार को दीर्घ होता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय करने पर-प्रस्तीतवान्।

(२) प्रस्तीमः। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'स्त्या' धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' (८।२।५४) से निष्ठा (क्त-क्तवतु) के तकार को मकार आदेश होता है। ऐसे ही-प्रस्तीमवान्।

सम्प्रसारणम्-

(१२) द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः।२४।

प०वि०-द्रवमूर्त्ति-स्पर्शयोः ७।२ श्यः ६।१।

स०-द्रवस्य मूर्त्तिः=कठोरता, द्रवमूर्तिः। द्रवमूर्तिश्च स्पर्शश्च तौ द्रवमूर्तिस्पर्शौ, तयोः-द्रव्यमूर्तिस्पर्शयोः (षष्ठीतत्पुरुषगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, निष्ठायाम् इति चानुवतति।

अन्वयः-द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यो धातोर्निष्ठायां सम्प्रसारणम्।

अर्थः-द्रवमूर्तौ=द्रवकठोरतायां स्पर्शे चार्थे वर्तमानस्य श्यो धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-(द्रवमूर्तिः) शीनं घृतम्। शीना वसा। शीनं मेदः। **(स्पर्शः)** शीतं वर्तति। शीतो वायुः। शीतमुदकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(द्रवमूर्तिस्पर्शयोः) द्रवमूर्ति=द्रव पदार्थ का कठोर होना और स्पर्श अर्थ में विद्यमान (श्यः) श्या (धातोः) धातु को (निष्ठायाम्) निष्ठा प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-(द्रवमूर्ति) शीनं घृतम्। जमा हुआ घी। शीना वसा। जमी हुई चरबी। शीनं मेदः। जमी हुई चरबी। (स्पर्श) शीतं वर्तते। ठण्ड है। शीतो वायुः। ठण्डा वायु। शीतमुदकम्। ठण्डा जल।

सिद्धि-(१) शीनम्। श्या+क्त। श्या+त। श् इ आ+त। शि+न। शी+न। शीन+सु। शीनम्।

यहां 'श्यैङ् गतौ' (भ्वा०आ०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में निष्ठा=क्त प्रत्यय है। इस सूत्र से 'श्या' के यकार को इकार सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप एकादेश और 'हलः' (६।४।२) से इकार को दीर्घ होता है। 'श्योऽस्पर्शे' (८।२।४७) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

(२) शीतम्। यहां स्पर्श अर्थ में निष्ठा के तकार को नकार आदेश नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

सम्प्रसारणम्–

(१३) प्रतेश्च।२५।

प०वि०–प्रतेः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम्, निष्ठायाम्, श्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–प्रतेश्च श्यो धातोर्निष्ठायां सम्प्रसारणम्।

अर्थः–प्रतेरुत्तरस्य च श्यो धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०–प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रतेः) प्रति उपसर्ग से परे (च) भी (श्यः) श्या (धातोः) धातु को (निष्ठायाम्) निष्ठा प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान्। उसने धरना दिया।

सिद्धि-प्रतिशीनः। प्रति+श्या+क्त। प्रति+श् इ आ+त। प्रति+शि+न। प्रति+शी+नः। प्रतिशीन+सु। अतिशीनः।

यहां प्रति उपसर्ग से परे भी 'श्या' धातु को इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'श्योऽस्पर्शे' (८।२।४७) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-प्रतिशीनवान्।

सम्प्रसारणम्–

(१४) विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य।२६।

प०वि०–विभाषा १।१ अभि-अवपूर्वस्य ६।१।

स०–अभिश्च अवश्च तौ अभ्यवौ, अभ्यवौ पूर्वौ यस्य सोऽभ्यवपूर्वः, तस्य-अभ्यवपूर्वस्य।

अनु०–धातोः, सम्प्रसारणम्, निष्ठायाम्, श्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अभ्यवपूर्वस्य श्यो धातोर्निष्ठायां विभाषा सम्प्रसारणम्।

अर्थः-अभि-अवपूर्वस्य श्यो धातोर्निष्ठायां परतो विकल्पेन सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-(अभिः) अभिशीनम्, अभिश्यानम्। (अवः) अवशीनम्, अवश्यानम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अभ्यवपूर्वस्य) अभि, अव उपसर्गपूर्वक (श्यः) श्या (धातोः) धातु को (निष्ठायाम्) निष्ठा प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

*उदा०-(अभि) **अभिशीनम्, अभिश्यानम्।** अधिक जमा हुआ (कठोर)। (अव) **अवशीनम्, अवश्यानम्।** कम जमा हुआ (ढीला)।*

*सिद्धि-(१) **अभिशीनम्।** अभि+श्या+क्त। अभि+श् इ आ+त। अभि+शि+न। अभि+शी+न। अभिशीन+सु। अभिशीनम्।*

*यहां अभि उपसर्गपूर्वक 'श्या' धातु को निष्ठा प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'श्योऽस्पर्शे' (८।२।४७) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। ऐसे ही-**अवशीनम्।***

*(२) **अभिश्यानम्।** यहां अभि उपसर्गपूर्वक श्या धातु को निष्ठा प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से विकल्प पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-**अवश्यानम्।***

निपातनम्-

(१५) शृतं पाके।२७।

प०वि०-शृतम् १।१ पाके ७।१।

अनु०-विभाषा इत्यनुवर्तति।

अन्वयः-पाके शृतं विभाषा।

अर्थः-पाकेऽर्थे 'शृतम्' इति पदं विकल्पेन निपात्यते।

उदा०-शृतं क्षीरम्, शृतं हविः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पाके) पाक अर्थ में (शृतम्) शृत यह पद (विभाषा) विकल्प से निपातित है।*

*उदा०-**शृतं क्षीरम्।** पका हुआ दूध। **शृतं हविः।** पकी हुई आहुति।*

*सिद्धि-**शृतम्।** श्रा+क्त। शृ+त। शृत+सु। शृतम्।*

यहां 'श्रा पाके' (भ्वा०प०, अदा०प०) से निष्ठा प्रत्यय परे होने पर 'श्रा' को 'शृ' आदेश निपातित है। यह एक व्यवस्थित विभाषा है अत: क्षीर और हवि अर्थ अभिधेय में 'श्रा' को नित्य 'शृ' आदेश होता। अन्यत्र नहीं होता जैसे-श्राणा यवागू:। पकी हुई राबड़ी।

पी-आदेश:–

(१६) प्याय: पी।२८।

प०वि०-प्याय: ६।१ पी १।१ (सु-लुक्)।

अनु०-धातो:, निष्ठायाम्, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वय:-प्यायो धातोर्निष्ठायां विभाषा पी:।

अर्थ:-प्यायो धातो: स्थाने निष्ठायां परतो विकल्पेन पी-आदेशो भवति।

उदा०-पीनं मुखम्। पीनौ बाहू। पीनमुर:। आप्यानश्चन्द्रमा:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(प्याय:) प्याय (धातो:) धातु के स्थान में (निष्ठायाम्) निष्ठा प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (पी) पी-आदेश होता है।*

उदा०-पीनं मुखम्। मोटा मुख। पीनौ बाहू। मोटी भुजायें। पीनमुदरम्। मोटा पेट। आप्यानश्चन्द्रमा:। बढ़ा हुआ चन्द्रमा।

सिद्धि-(१) पीनम्। प्याय्+क्त। पी+त। पी+न। पीन+सु। पीनम्।

यहां 'ओप्यायी वृद्धौ' (भ्वा०आ०) से 'निष्ठा' (२।२।२६) से भूतकाल में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'प्याय्' धातु के स्थान में 'पी' आदेश है। 'ओदितश्च' (८।२।४५) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

(२) आप्यान:। यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'प्याय्' धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प पक्ष में 'प्याय्' के स्थान में 'पी' आदेश नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

यह एक व्यवस्थित विभाषा है, अत: यहां उपसर्गरहित 'प्याय्' धातु को नित्य 'पी' आदेश होता है और उपसर्गसहित 'प्याय्' धातु को 'पी' आदेश नहीं होता है।

पी-आदेश:–

(१७) लिड्यङोश्च।२९।

प०वि०-लिट्-यङो: ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-लिट् च यङ् च तौ लिड्यङौ, तयो:-लिड्यङो: (इतरेतर-योगद्वन्द्व:)।

अनु०-धातोः, प्यायः, पी इति चानुवर्तते, विभाषा इति निवृत्तम्।

अन्वयः-लिड्यङोश्च प्यायो धातोः पीः।

अर्थः-लिटि यङि च प्रत्यये परतः प्यायो धातोः स्थाने पी-आदेशो भवति।

उदा०-**(लिट्)** आपिप्ये। आपिप्याते। आपिप्यिरे। **(यङ्)** आपेपीयते। आपेयीयाते। आपेपीयन्ते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लिड्यङोः) लिट् और यङ् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (प्यायः) प्याय् (धातोः) धातु के स्थान में (पी) पी आदेश होता है।*

*उदा०-(लिट्) **आपिप्ये**। वह बढ़ा। **आपिप्याते**। वे दोनों बढ़े। **आपिप्यिरे**। वे सब बढ़े। (यङ्) **आपेपीयते**। वह पुनः-पुनः/अधिक बढ़ता है। **आपेयीयाते**। वे दोनों पुनः-पुनः/अधिक बढ़ते हैं। **आपेपीयन्ते**। वे सब पुनः-पुनः/अधिक बढ़ते हैं।*

*सिद्धि-**आपिप्ये**। आङ्+प्याय्+लिट्। आ+पी+त। आ+पी+एश्। आ+पी-पी+ए। आ+पि-प्य्+ए। आपिप्ये।*

*यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'ओप्यायी वृद्धौ' (भ्वा०आ०) धातु से लिट् प्रत्यय, उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'त' आदेश और 'लिटस्तझयोरेशिरेच्०' (३।४।८१) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश ओता है। इस सूत्र से 'प्याय्' के स्थान में 'पी' आदेश, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'पी' को दित्व, 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व और 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६।४।८२) से यण् आदेश होता है। ऐसे ही-**आपिप्याते, आपिप्यिरे**।*

*(२) **आपेपीयते**। आङ्+प्याय्+यङ्। आ+प्याय्+य। आ+पी+य। आ+पीय्-पीय। आ+पी-पीय। आ+पे-पीय। आपेपीय+लट्। आपेपीय+त। आ+पेपीय+शप्+त। आ+पेपीय+अ+ते। आपेपीयते।*

*यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'प्याय्' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'प्याय्' के स्थान में 'पी' आदेश, 'सन्यङोः' (६।१।९) से 'पीय्' को द्वित्व और 'गुणो यङ् लुकोः' (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होता है। तत्पश्चात् 'आपेपीय' यङन्त धातु से लट् प्रत्यय है। ऐसे ही-**आपेपीयाते, आपेपीयन्ते**।*

सम्प्रसारण-विकल्पः-

(१८) विभाषा श्वेः।३०।

प०वि०-विभाषा १।१ श्वेः ६।१।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, लिड्यङोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-लिड्यङोः श्वेर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणम्।

अर्थः-लिटि यङि च प्रत्यये परतः श्वेर्धातोर्विकल्पेन सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-**(लिट्)** शुशाव, शुशुवतुः, शुशुवुः। शिश्वाय, शिश्वियतुः, शिश्वियुः। **(यङ्)** शोशूयते। शोशूयेते। शोशूयन्ते। शेश्वीयते। शेश्वीयेते। शेश्वीयन्ते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लिड्यङोः) लिट् और यङ् प्रत्यय परे होने पर (श्वेः) श्वि (धातोः) धातु को (विभाषा) विकल्प से (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

*उदा०-(लिट्) **शुशाव**। उसने गति/वृद्धि की। **शुशुवतुः**। उन दोनों ने गति/वृद्धि की। **शुशुवुः**। उन सबने गति/वृद्धि की। **शिश्वाय, शिश्वियतुः, शिश्वियुः**। अर्थ पूर्ववत् है। यहां विकल्प-पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है। (यङ्) **शोशूयते**। वह पुनः-पुनः/अधिक गति/वृद्धि करता है। **शोशूयेते**। वे दोनों पुनः-पुनः/अधिक गति/वृद्धि करते हैं। **शोशूयन्ते**। वे सब पुनः-पुनः/अधिक गति/वृद्धि करते हैं। **शेश्वीयते। शेश्वीयेते। शेश्वीयन्ते**। अर्थ पूर्ववत् है। यहां विकल्प-पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है।*

*सिद्धि-(१) **शुशाव**। श्वि+लिट्। श्वि+तिप्। श्वि+णल्। श् उ इ+अ। शु+अ। शु-शु+अ। शु-शौ+अ। शुशाव।*

*यहां 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा०प०) धातु से लिट् प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'तिप्' आदेश, **'परस्मैपदानां णलतुसुस्०'** (३।४।८२) से तिप् के स्थान में 'णल्' आदेश होता है। इस सूत्र से 'श्वि' धातु को सम्प्रसारण और **'सम्प्रसारणाच्च'** (६।१।१०५) से इकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। तत्पश्चात् 'शु' को **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से द्वित्व **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से अंग को वृद्धि और **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७८) से 'आव्' आदेश होता है। ऐसे ही-**शुशुवतुः, शुशुवुः**।*

*(२) **शिश्वाय**। श्वि+लिट्। श्वि+तिप्। श्वि+णल्। श्वि+अ। श्वि-श्वि+अ। शि+श्वै+य। शि-श्वाय्+अ। शिश्वाय।*

*यहां 'श्वि' धातु से लिट् प्रत्यय है। यहां विकल्प पक्ष में 'श्वि' धातु को सम्प्रसारण नहीं है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से 'श्वि' को द्वित्व, पूर्ववत् अंग को वृद्धि और 'आय्' आदेश होता है। ऐसे ही-**शिश्वियतुः, शिश्वियुः**।*

*(३) **शोशूयते**। श्वि+यङ्। श्वि+य। श् उ इ+य। शु+य। शू+य। शूय-शूय। शू-शूय। शो-शूय। शोशूय+लट्। शोशूय+ज। शोशूय+शप्+त। शोशूय+अ+ते। शोशूयते।*

यहां 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा०प०) धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'श्वि' को सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से इकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) से 'शु' को दीर्घ और गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होता है। तत्पश्चात् 'शोशूय' धातु से लट् प्रतयय है। ऐसे ही-शोशूयेते, शोशूयन्ते।

(४) शेश्वीयते। श्वि+यङ्। श्वि+य। श्विय्+श्विय। शि-श्वि+य। शे-श्वीय। शेश्वीय+लट्। शेश्वीय+त। शेश्वीय+शप्+त। शेश्वीय+अ+ते। शेश्वीयते।

यहां 'श्वि' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प पक्ष में 'श्वि' धातु को सम्प्रसारण नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

सम्प्रसारण-विकल्पः–

(१६) णौ च सँश्चङोः।३१।

प०वि०-णौ ७।१ च अव्ययपदम्, सन्-चङोः ७।२।

स०-सन् च चङ् च तौ सन्चङौ, तयोः-सँश्चङोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, विभाषा, श्वेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ च सँश्चङोः श्वेर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणम्।

अर्थः-सन्परके चङ्परके च णौ प्रत्यये परतः श्वेर्धातोविकल्पेन सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-(सन्परके णौ) शुशावयिषति, शिश्वाययिषति। **(चङ्परके णौ)** अशूशवत्, अशिश्वयत्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(सँश्चङोः) सन्परक और चङ्परक (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (श्वेः) श्वि (धातोः) धातु को (विभाषा) विकल्प से (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-(सन्परक णिच्) शुशावयिषति, शिश्वाययिषति। वह गति/वृद्धि करना चाहता है। (चङ्परक णिच्) अशूशवत्, अशिश्वयत्। उसने गति/वृद्धि कराई।

सिद्धि-(१) शुशावयिषति। श्वि+णिच्। श्वि+इ। श्वि+इ+सन्। श् उ इ+इ+स। शु+इ+स। शौ+इ+स। शावि+इट्+स। शु-शावि+इ+स। शु-शावे+इ+स। शुशावयिष+लट्। शुशावयिष+तिप्। शुशावयिषति+शप्+ति। शुशावयिष+अ+ति। शुशावयिषति।

यहां 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय तत्पश्चात् णिजन्त 'श्वि+इ' धातु से 'धातोः कर्मणः कर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से सन् प्रत्यय करने पर, सन्परक णिच् प्रत्यय परे होने से इस सूत्र से 'श्वि' धातु को सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से इकार को पूर्वरूप एकादेश, 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से शु अंग को वृद्धि 'शौ' होती है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से सन् को 'इट्' आगम होता है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से प्रथम एकाच् समुदाय को द्वित्व प्राप्त होने पर 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५८) से अजादेश को स्थानिवत् मानकर 'शु' को द्विर्वचन होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होकर 'शुशावयिष' धातु से 'लट्' प्रत्यय है।

(२) शिश्वाययिषति। यहां 'श्वि' धातु से सन्परक णिच् प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से विकल्प पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अशूशवत्। श्वि+णिच्। श्वि+इ। श्व+इ। श्वि+इ लुङ्। अट्+श्वि+इ+च्लि+ल्। अ+श्वि+इ+चङ्+तिप्। अ+शउइ+इ+अ+त्। अ+शु+इ+अ+त्। अ+शौ+इ+अ+त्। अ+शाव्+इ+अ+त्। अ+शु-शाव्+अ+त्। अ+शू+शव्+अ+त्। अशूशवत्।

यहां प्रथम 'श्वि' धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय, तत्पश्चात् णिजन्त 'श्वि+इ' धातु से लुङ् प्रत्यय है। 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश होता है। इस सूत्र से चङ्परक णिच् प्रत्यय पर श्वि धातु को सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से इकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'चङि' (६।१।११) से द्विर्वचन प्राप्त होने पर 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५८) से अजादेश को स्थानिवत् मानकर 'शु' को द्वित्व होता है। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से उपधा को ह्रस्व और 'दीर्घो लघोः' (७।४।१) से अभ्यास को दीर्घ होता है।

(४) अशिश्वियत्। यहां श्वि धातु से प्रथम णिच् प्रत्यय और तत्पश्चात् णिजन्त श्वि धातु से लुङ् प्रत्यय है। यहां इस सूत्र से विकल्प पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

"सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवति" इस वचन प्रमाण से अन्तरंग वृद्धि आदि कार्य को सम्प्रसारण बाधित करता है। सम्प्रसारण करने पर प्राप्त वृद्धि और आवादेश होता है।

सम्प्रसारणम्–

(२०) ह्वः सम्प्रसारणम्।३२।

प०वि०-ह्वः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१।

अनु०-धातोः, णौ च संश्चङोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ च सँश्चङोर्ह्वो धातोः सम्प्रसारणम्।

अर्थः-सन्परके चङ्परके च णौ परतो ह्वो धातोः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-(सन्परके णौ) जुहावयिषति, जुहावयिषतः, जुहावयिषन्ति। (चङ्परके णौ) अजूहवत्, अजूहवताम्, अजूहवन्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सँश्चङोः) सन्परक और चङ्परक (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (ह्वः) ह्वा (धातोः) धातु को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

*उदा०-(सन्परक णिच्) **जुहावयिषति**। वह स्पर्धा/शब्द कराना चाहता है। **जुहावयिषतः**। वे दोनों स्पर्धा/शब्द कराना चाहते हैं। **जुहावयिषन्ति**। वे सब स्पर्धा/शब्द कराना चाहते हैं। (चङ्परक णिच्) **अजूहवत्**। उसने स्पर्धा/शब्द कराई। **अजूहवताम्**। उन दोनों ने स्पर्धा/शब्द कराई। **अजूहवन्**। उन सबने स्पर्धा/शब्द कराई।*

*सिद्धि-(१) **जुहावयिषति**। ह्वा+णिच्। ह्वा+इ। ह्वा+इ+सन्। ह् उ आ+इ+स। हु+इ+स। हौ+इ+स। हावि+इट्+स। हु-हावि+इ+स। झु+हावे+इ+स। जु+हावे+इ+ष। जुहावयिष+लट्। जुहावयिष+तिप्। जुहावयिष+शप्+ति। जुहावयिष+अ+ति। जुहावयिषति।*

*यहां **'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च'** (भ्वा०उ०) धातु से प्रथम **'हेतुमति च'** (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय है, तत्पश्चात् णिजन्त 'ह्वा+इ' धातु से **'धातोः कर्मणः समान-कर्तृकादिच्छायां वा'** (३।१।७) से सन् प्रत्यय होता है। सन्परक णिच् प्रत्यय परे होने पर 'ह्वा' धातु को सम्प्रसारण, **'सम्प्रसारणाच्च'** (६।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप एकादेश, **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से 'हु' अंग को वृद्धि 'हौ' होती है। **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से सन् को इट् आगम होता है। **'सन्यङोः'** (६।१।९) से प्रथम एकाच्समुदाय को द्वित्व प्राप्त होने पर **'द्विर्वचनेऽचि'** (१।१।५८) से अजादेश को स्थानिवत् मानकर 'हु' को द्विर्वचन होता है। **'कुहोश्चुः'** (७।४।६२) से अभ्यास के हकार को चवर्ग झकार और **'अभ्यासे चर्च'** (८।४।५३) से अभ्यास के झकार को जश् जकार होता है। **'आदेशप्रत्यययोः'** (८।३।५९) से षत्व होकर 'जुहावयिष' धातु से 'लट्' प्रत्यय है। ऐसे ही-**जुहावयिषतः, जुहावयिषन्ति**। सम्प्रसारण के बलवान् होने से **'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्'** (७।३।३७) से युक् आगम नहीं होता है।*

*(२) **अजूहवत्**। यहां **'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च'** (भ्वा०उ०) धातु से 'अशूशवत्' शब्द की सिद्धि के सहाय से 'अजूहवत्' शब्द की सिद्धि करें।*

विशेषः *'संम्प्रसारण' की अनुवृत्ति में पुनः सम्प्रसारण का ग्रहण 'विभाषा' की निवृत्ति के लिये है।*

सम्प्रसारणम्–

(२१) अभ्यस्तस्य च।३३।

प०वि०-अभ्यस्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, ह्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अभ्यस्तस्य च ह्वो धातोः सम्प्रसारणम्।

अर्थः-अभ्यस्तस्य=अभ्यस्तनिमित्तस्य च ह्वो धातोः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-जुहाव (लिट्)। जोहूयते (यङ्)। जुहूषति (सन्)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अभ्यस्तस्य) अभ्यस्त के निमित्त (ह्वः) ह्वा (धातोः) धातु को (च) भी (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-जुहाव (लिट्)। उसने स्पर्धा/शब्द किया। जोहूयते (यङ्)। वह पुनः-पुन स्पर्धा/शब्द करता है। जुहूषति (सन्)। वह स्पर्धा/शब्द करना चाहता है।

सिद्धि-(१) जुहाव। ह्वा+लिट्। ह्वा+तिप्। ह्वा+णल्। ह्वा+अ। ह् उ आ+अ। हु+अ। हु+हु+अ। झु+हु+अ। जु+हु+अ। जु+हौ+अ। जुहाव्+अ। जुहाव।

यहां 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा०उ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में तिप् आदेश और 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से तिप् के स्थान में 'णल्' आदेश होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'ह्वा' धातु को द्वित्व प्राप्त होता है अतः अभ्यस्त के निमित्त 'ह्वा' धातु को द्विर्वचन से पूर्व ही इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप एकादेश होकर 'हु' को द्विर्वचन, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से हकार को चवर्ग झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से झकार जश् जकार होता है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'हु' अंग को वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७६) सें आव् आदेश होता है।

(२) जोहूयते। यहां 'ह्वा' धातु से 'धातोरेकाचो०' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से 'ह्वा' धातु को द्विर्वचन प्राप्त होता है अतः अभ्यस्त के निमित्त 'ह्वा' धातु को द्विर्वचन से पूर्व ही इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से 'हु' को दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) जुहूषति। यहां 'ह्वा' धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से 'ह्वा' धातु को द्वित्व प्राप्त है। अतः अभ्यस्त के निमित्त 'ह्वा' धातु को द्विर्वचन से पूर्व ही इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'अज्झनगमां सनि' (६।४।१६) से 'हु' धातु को दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

बहुलं सम्प्रसारणम्–

(२२) बहुलं छन्दसि।३४।

प०वि०-बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, ह्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि ह्वो धातोर्बहुलं सम्प्रसारणम्।

अर्थः-छन्दसि विषये ह्वो धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-इन्द्राग्नी हुवे (ऋ० ५।४६।३)। देवीं सरस्वतीं हुवे (सम्प्रसारणम्)। न च भवति-ह्वयामि मरुतः शिवान्। ह्वयामि विश्वान् देवान् (ऋ० ७।३४।८)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (ह्वः) ह्वा (धातोः) धातु को (बहुलम्) प्रायशः (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-इन्द्राग्नी हुवे (ऋ० ५।४६।३)। मैं इन्द्र और अग्नि देवता का आह्वान करता हूं। देवीं सरस्वतीं हुवे। मैं सरस्वती देवी का आह्वान करता हूं (सम्प्रसारण)। बहुल-वचन से कहीं सम्प्रसारण नहीं होता है-ह्वयामि मरुतः शिवान्। मैं कल्याणकारी मरुत् देवताओं का आह्वान करता हूं। ह्वयामि विश्वान् देवान् (ऋ० ७।३४।८)। मैं सब देवताओं का आह्वान करता हूं।

सिद्धि-(१) हुवे। ह्व+लट्। ह्वा+इट्। ह्वा+शप्+इ। ह्वा+०+इ। ह् उ आ+इ। हु+ए। ह् उवङ्+ए। हुव्+ए। हुवे।

यहां 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में उत्तमपुरुष एकवचन में 'इट्' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय और 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से 'शप्' का लुक् होता है। इस सूत्र से 'ह्वा' को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (१।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप एकादेश होकर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (६।४।७७) से 'हु' को उवङ् आदेश और 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से एत्व होता है।

(२) ह्वयामि। ह्वेञ्+लट्। ह्वे+मिप्। ह्वे+शप्+मि। ह्वे+अ+मि। ह्वय्+आ+मि। ह्वयामि।

यहां 'ह्वेञ्' धातु को इस सूत्र से बहुल-पक्ष में सम्प्रसारण नहीं है। 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) से दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

की-आदेशः–

(२३) चायः की।३५।

प०वि०-चायः ६।१ की १।१ (सु-लुक्)।

अनु०-धातोः, बहुलम्, छन्दसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि चायो धातोर्बहुलं कीः।

अर्थः-छन्दसि विषये चायो धातोः स्थाने बहुलं की-आदेशो भवति।

उदा०-वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् (ऋ० १।१६४।३८)। की-आदेशः। न च भवति-अग्निज्योतिर्निच्चाय (यजु० ११।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (चायः) चाय् (धातोः) धातु के स्थान में (बहुलम्) प्रायशः (की) की आदेश होता है।*

उदा०-वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् (ऋ० १।१६४।३८) की-आदेश। की आदेश नहीं-अग्निज्योतिर्निच्चाय (यजु० ११।१)।

सिद्धि-(१) निचिक्युः। नि+चाय्+लिट्। नि+की+उस्। नि+की-की-उस्। नि+कि+की+उस्। नि+चि+क्य+उस्। निचिक्युः।

यहां नि उपसर्गपूर्वक 'चायृ पूजानिशामनयोः' (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'झि' आदेश, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से झि के स्थान में 'उस्' आदेश है। इस सूत्र से 'चाय्' के स्थान में 'की' आदेश होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व, और 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के ककार को चकार आदेश और 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६।४।८२) से यण् आदेश होता है।

(२) निचाय्य। नि+चाय्+क्त्वा। नि+चाय्+ल्यप्। नि+चाय्+य। निचाय्य+सु। निचाय्य+०। निचाय्य।

यहां नि उपसर्गपूर्वक 'चाय्' धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'क्तवा' को 'ल्यप्' आदेश है। सूत्र में बहुल-वचन से 'चाय्' के स्थान में की आदेश नहीं है।

निपातनम्–

(२४) अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्ताः ।३६।

प०वि०-अपस्पृधेथाम् क्रियापदम्, आनृचुः क्रियापदम्, आनृहुः क्रियापदम्, चिच्युषे क्रियापदम्, तित्याज क्रियापदम्, श्राताः १ ।३ श्रितम् १ ।१ आशीः १ ।१ आशीर्ताः १ ।३ ।

अनु०-छन्दसि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि अपस्पृधेथाम्०आशीर्ताः ।

अर्थः-छन्दसि विषये अपस्पृधेथाम्, आनृचुः, आनृहुः, चिच्युषे, तित्याज, श्राताः, श्रितम्, आशीः, आशीर्ता इत्येते शब्दा निपात्यन्ते।

उदा०-**(अपस्पृधेथाम्)** इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् (ऋ० ६ ।६९ ।८)। **(आनृचुः)** य उग्रा अर्कमानृचुः (ऋ० १ ।१९ ।४)। **(आनृहुः)** न वसून्यानृहुः (शौ०सं० २ ।३५ ।१)। **(चिच्युषे)** चिच्युषे (ऋ० ४ ।३० ।२२)। **(तित्याज)** तित्याज (ऋ० १० ।७१ ।६)। **(श्राताः)** श्रातास्त इन्द्र सोमाः (मै०सं० १ ।९ ।१)। **(श्रितम्)** सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ९ ।१२ ।३)। यदि श्रातो जुहोतन (ऋ० १० ।१७९ ।१)। **(आशीः)** तमाशीरादुहन्ति। **(आशीर्त)** आशीर्त ऊर्जम्। क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः (ऋ० ८ ।२ ।९)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (अपस्पृधेथाम्०आशीर्ताः) अपस्पृधेथाम्, आनृचुः, आनृहुः, चिच्युषे, तित्याज, श्राताः, श्रितम्, आशीः, आशीर्ताः शब्द निपातित हैं।*

उदा०-संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) अपस्पृधेथाम्। स्पर्ध्+लङ्। अट्+स्पर्ध्+आथाम्। अ+स्पर्ध्-स्पर्ध्+शप्+आथाम्। अ+प+स्पर्ध्+अ+इय् थाम्। अ+प+स्पृध्+अ+इ०थाम्। अपस्पृधेथाम्।

(क) यहां 'स्पर्ध सङ्घर्षे' (भ्वा०आ०) धातु से 'लङ्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३ ।४ ।७८) से लकार के स्थान में 'आथाम्' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३ ।१ ।६८) से शप् विकरण प्रत्यय है। यहां निपातन से धातु को द्विर्वचन, रेफ को सम्प्रसारण और धातुस्थ अकार का लोप होता है।

(ख) अन्य मत है कि यहां अप उपसर्गपूर्वक 'स्पर्ध्' धातु से 'लङ्' में 'आथाम्' प्रत्यय परे होने पर निपातन से रेफ को सम्प्रसारण और धातुस्थ अकार का लोप होता है। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) से अट् आगम नहीं होता है।

(२) आनृचुः। अर्च्+लिट्। अर्च्+झि। अर्च्+उस्। अ०ऋच्+उस्। ० ऋच्+उस्। ऋच्-ऋच्+उस्। ऋ-ऋच्+उस्। अर्-ऋच्+उस्। आ-ऋच्+उस्। आनुट् ऋच्+उस्। आ-न् ऋ च्+उस्। आनृचुः।

यहां 'अर्च पूजायाम्' (भ्वा०प०) धातु से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'झि' आदेश, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८) से 'झि' के स्थान में 'उस्' आदेश होता है। निपातन से 'अर्च्' के रेफ को सम्प्रसारण और धातुस्थ अकार का लोप होता है। तत्पश्चात् 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'ऋच्' को द्वित्व, 'उरत्' (७।४।६६) से अभ्यास के ऋकार को अत्त्व, 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से उसे रपरत्व, 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से आदि हल् का शेषत्व और 'अत आदेः' (७।४।७०) से उसे दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (७।४।७१) से नुट् आगम होता है।

(३) आनृहुः। 'अर्ह पूजायाम्' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(४) चिच्युषे। च्यु+लिट्। च्यु+से। च्यु-च्यु+से। च् इ उ-च्यु+से। चि-च्यु+षे। चिच्युषे।

यहां 'च्युङ् गतौ' (भ्वा०प०) धातु से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'थास्' आदेश और उसे 'थासः से' (३।४।८०) से 'से' आदेश होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) सें धातु को द्वित्व होकर निपातन से अभ्यास को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से उकार पूर्वरूप एकादेश होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से प्राप्त 'इट्' आगम निपातन से नहीं होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है।

(५) तित्याज। त्यज्+लिट्। त्यज्+तिप्। त्यज्+णल्। त्यज्-त्यज्+अ। त् इ अ ज्-त्याज्+अ। ति-त्याज्+अ। तित्याज।

यहां 'त्यज हानौ' (भ्वा०प०) धातु से लिट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'तिप्' आदेश, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व होकर निपातन से अभ्यास को सम्प्रसारण और इट् आगम नहीं होता है।

(६) श्राताः। श्री+क्त। श्रा+त। श्रात+जस्। श्राताः।

यहां 'श्रीञ् पाके' (क्र्या०उ०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। निपातन से 'श्री' के स्थान में 'श्रा' आदेश होता है।

(७) श्रितम्। श्री+क्त। श्रि+त। श्रित+सु। श्रितम्।

यहां 'श्रीञ् पाके' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। निपातन से 'श्री' को ह्रस्व आदेश होता है।

इस उक्त श्राभाव और श्रिभाव का वैयाकरण विषयविभाग चाहते हैं। सोम अर्थ के बहुवचन में श्राभाव और अन्यत्र श्रिभाव होता है।

(८) आशीः। आङ्+श्री+क्विप्। आ+श्री+वि। आ+शीर्+०। आशीः।

यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'श्रीञ् पाके' (क्र्या०उ०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय है। निपातन से 'श्री' के स्थान में 'शीर्' आदेश होता है।

(९) आशीर्तः। यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'श्री' धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से भूतकाल में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। निपातन से 'श्री' के स्थान में 'शीर्' आदेश और 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के तकार को नकार आदेश नहीं होता है।

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः–

(२५) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्।३७।

प०वि०–न अव्ययपदम्, सम्प्रसारणे ७।१ सम्प्रसारणम् १।१।

अनु०–धातोरित्यनुवर्तति।

अन्वयः–सम्प्रसारणे धातोः सम्प्रसारणं न।

अर्थः–सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः स्थाने सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०–**(व्यध)** विद्धः। **(व्यच)** विचितः। **(व्येञ्)** संवीतः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर पूर्ववर्ती यण् के स्थान में (धातोः) धातु को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

उदा०–(व्यध) विद्धः। ताडित किया हुआ। (व्यच) विचितः। ठगा हुआ। (व्येञ्) संवीतः। आच्छादित किया हुआ।

सिद्धि–(१) विद्धः। व्यध्+क्त। व्यध्+त। व् इ अ ध्+त। विध्+त। विध्+ध। विद्+ध। विद्ध+सु। विद्धः।

यहां 'व्यध ताडने' (दि०प०) धातु से 'निष्ठा' (२।२।३६) से निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' (६।१।१६) से 'व्यध्' धातु के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। इस सूत्र से यकार को सम्प्रसारण होने पर उसके पूर्ववर्ती 'वकार' को सम्प्रसारण का प्रतिषेध होता है। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से निष्ठा के तकार को धकार और 'झलां जश् झशि' (८।४।५२) से धातुस्थ धकार को जश् धकार आदेश होता है।

(२) विचितः। 'व्यच व्याजीकरणे' (तु०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) संवीतः। सम् उपसर्गपूर्वक 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः—

(२६) लिटि वयो यः।३८।

प०वि०-लिटि ७।१ वयः ६।१ यः ६।१।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लिटि वयो धातोर्यः सम्प्रसारणं न।

अर्थः-लिटि प्रत्यये परतो वयो धातोर्यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-उवाय, ऊयतुः, ऊयुः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (वयः) वय् (धातोः) धातु के (यः) यकार को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६।१।३७) इस ज्ञापक से 'वय्' धातु के यकार को सम्प्रसारण प्राप्त था, अतः इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है।

उदा०-उवाय। उसने कपड़ा बुना। ऊयतुः। उन दोनों ने कपड़ा बुना। ऊयुः। उन सबने कपड़ा बुना।

सिद्धि-(१) उवाय। वेञ्+लिट्। वय्+तिप्। वय्+णल्। वय्+अ। वय्-वय्+अ। उ अ य्-वाय्+अ। उ-वाय्+अ। उवाय।

यहां 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (भ्वा०प०) धातु से लिट् प्रत्यय, 'वेञो वयिः' (२।४।४१) से 'वेञ्' के स्थान में 'वयि' आदेश और इस सूत्र से 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण का प्रतिषेध होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'वय्' को द्वित्व होकर 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६।१।१७) से 'वय्' के अभ्यास को सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से उकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'वय्' को उपधावृद्धि होती है।

(२) ऊयतुः, ऊयुः पदों की सिद्धि पूर्ववत् है (६।१।१६)।

वकारादेश-विकल्पः—

(२७) वश्चास्यान्यतरस्यां किति।३९।

प०वि०-वः १।१ च अव्ययपदम्, अस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्, किति ७।१।

स०-क इद् यस्य स कित्, तस्मिन्-किति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-धातोः, लिटि, वयः, य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-किति लिटि अस्य वयो धातोर्योऽन्यतरस्यां वः।

अर्थः-किति लिटि प्रत्यये परतोऽस्य वयो धातोर्यकारस्य स्थाने विकल्पेन वकार आदेशो भवति।

उदा०-ऊवतुः, ऊवुः (वकारादेशः)। ऊयतुः, ऊयुः (वकारादेशो न)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(किति) कित् (लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (अस्य) इस (वयः) वय् (धातोः) धातु के (यः) यकार के स्थान में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (वः) वकार आदेश होता है।*

उदा०-ऊवतुः। उन दोनों ने कपड़ा बुना। ऊवुः। उन सबने कपड़ा बुना (वकार-आदेश)। ऊयतुः। उन दोनों ने कपड़ा बुना। ऊयुः। उन सबने कपड़ा बुना (वकार-आदेश नहीं)।

सिद्धि-(१) ऊवतुः। वेञ्+लिट्। वय्+तस्। वय्+अतुस्। वव्+अतुस्। उअव्+अतुस्। उव्-उव्+अतुस्। उ-उव्+अतुस्। ऊवतुः।

यहां 'वेञ् तन्तुसान्ते' (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय, उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से तस् आदेश और उसे 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से 'तस्' आदेश है। इस सूत्र से 'वय्' के यकार को वकार आदेश होता है। 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६।१।१७) से अभ्यास के वकार को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (१।१।१०५) से अकार को पूर्वरूप एकादेश और 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से दीर्घ होता है। ऐसे ही-ऊवुः।

(२) ऊयतुः, ऊयुः। यहां विकल्प पक्ष में 'वय्' के यकार को वकार आदेश नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है (६।१।१६)।

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः--

(२८) वेञः।४०।

वि०-वेञः ६।१।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, लिटि, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लिटि वेञो धातोः सम्प्रसारणं न।

अर्थः-लिटि प्रत्यये परतो वेञो धातोः सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-ववौ, ववतुः, ववुः।

आर्यभाषाः अर्थ-(लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (वेञः) वेञ् (धातोः) धातु को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।

उदा०-ववौ। उसने कपड़ा बुना। ववतुः। उन दोनों ने कपड़ा बुना। ववुः। उन सबने कपड़ा बुना।

सिद्धि-ववौ। वेञ्+लिट्। वा+ल्। वा+तिप्। वा+णल्। व्+अ। वा+वा+औ। व+वा+औ। ववौ।

यहां 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय, उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से तिप् आदेश, उसको 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' (३।४।८२) से णल् आदेश और उसे 'आत औ णलः' (७।४।३४) से औकार आदेश होता है। 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'वा' के आकार का लोप और उसे 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५८) से स्थानिवत् मानकर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'वा' धातु को द्वित्व होता है। यहां 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६।१।१७) से 'वेञ्' के अभ्यास को प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-ववतुः, ववुः।

वेञ्-धातुरूपाणि (लिटि)

परस्मैपदम्

उवाय	ऊयतुः	ऊयुः।
उवयिथ	ऊयथुः	ऊय।
उवाय-उवय	ऊयिव	ऊयिम।
		(वेञो वयि-आदेशः)।
ऊवाय	ऊवतुः	ऊवुः।
उवयिथ	ऊवथुः	ऊव।
उवाय-उवय	ऊविव	ऊविम।
		(वयो यकारस्य वकारादेशः)

आत्मनेपदम्

ऊये	ऊयाते	ऊयिरे।
ऊयिषे	ऊयाथे	ऊयिध्वे।
ऊये	ऊयिवहे	ऊयिमहे।
		(वेञो वयि-आदेशः)
ऊवे	ऊवाते	ऊविरे।
ऊविषे	ऊवाथे	ऊविध्वे।
ऊवे	ऊविवहे	ऊविमहे।
		(वयो यकारस्य वकारादेशः)

परस्मैपदम्

ववौ	ववतुः	ववुः
ववयिथ-ववाथ	ववथुः	वव
ववौ	वविव	वविम

(वेञो वयि-आदेशो न)

आत्मनेपदम्

ववे	ववाते	वविरे।
वविषे	ववाथे	वविध्वे।
ववे	वविवहे	वविमहे।

(वेञो वयि-आदेशो न)

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः–

(३६) ल्यपि च।४१।

प०वि०-ल्यपि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, न, वेञ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ल्यपि च वेञो धातोः सम्प्रसारणं न।

अर्थः-ल्यपि च प्रत्यये परतो वेञो धातोः सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-प्रवाय, उपवाय।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (वेञः) वेञ् (धातोः) धातु को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

उदा०-प्रवाय। कपड़ा बुनकर। उपवाय। कपड़ा बुनकर।

सिद्धि-प्रवाय। प्र+वेञ्+क्त्वा। प्र+वा+त्वा। प्र+वा+ल्यप्। प्र+वा+य। प्रवाय+सु। प्रवाय+०। प्रवाय।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (भ्वा०उ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध होता है। ऐसे ही-उपवाय।

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः–

(३०) ज्यश्च।४२।

प०वि०-ज्यः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, न, ल्यपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ज्यश्च धातोर्ल्यपि सम्प्रसारणं न।

अर्थः-ज्यश्च धातोर्ल्यपि प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-प्रज्याय। उपज्याय।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ज्यः) ज्या (धातोः) धातु को (च) भी (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

उदा०-प्रज्याय। वृद्ध होकर। उपज्याय। वृद्ध होकर।

सिद्धि-प्रज्याय। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'ज्या वयोहानौ' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय और उसे ल्यप् आदेश है। 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध होता है। ऐसे ही-उपज्याय।

सम्प्रसारण-प्रतिषेधः-

(३१) व्यश्च।४३।

प०वि०-व्यः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, न, ल्यपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-व्यश्च धातोर्ल्यपि सम्प्रसारणं न।

अर्थः-व्यश्च धातोर्ल्यपि प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-प्रव्याय। उपव्याय।

आर्यभाषाः *अर्थ-(व्यः) व्या (धातोः) धातु को (च) भी (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

उदा०-प्रव्याय। आच्छादित करके। उपव्याय। आच्छादित करके।

सिद्धि-प्रव्याय। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और उसे 'ल्यप्' आदेश है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध होता है। ऐसे ही-उपव्याय।

सम्प्रसारण-विकल्पः-

(३२) विभाषा परेः।४४।

प०वि०-विभाषा १।१ परेः ५।१।

अनु०-धातोः, सम्प्रसारणम्, न, ल्यपि, व्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-परेर्व्यो धातोर्ल्यपि विभाषा सम्प्रसारणं न।

अर्थः-परि-उपसर्गात् परस्य व्यो धातोर्ल्यपि प्रत्यये परतो विकल्पेन सम्प्रसारणं न भवति।

उदा०-परिवीय यूपम् (सम्प्रसारणम्)। परिव्याय यूपम् (सम्प्रसारणं न)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(परेः) परि उपसर्ग से परे (व्यः) व्या (धातोः) धातु को (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता है।*

उदा०-परिवीय यूपम् (सम्प्रसारण)। यूप=यज्ञस्थूणा को आच्छादित करके। परिव्याय यूपम् (सम्प्रसारण नहीं)। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) परिवीय। परि+व्या+क्त्वा। परि+व्या+ल्यप्। परि+व् इ आ+ल्यप्। परि+वि+य। परि+वी+य। परिवीय+सु। परिवीय+०। परिवीय।

यहां 'परि' उपसर्गपूर्वक 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय और उसे ल्यप् आदेश है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से प्रतिषेध नहीं है।

(२) परिव्याय। यहां परि-उपसर्गपूर्वक 'व्या' धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय और उसे 'ल्यप्' आदेश है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से प्राप्त सम्प्रसारण का इस सूत्र से विकल्प पक्ष में प्रतिषेध है।

'न वेति विभाषा' (१।१।४३) से निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा है। अतः यहां विभाषा-वचन से 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से प्राप्त सम्प्रसारण का 'न' से प्रतिषेध होकर 'वा' से विकल्प का विधान किया जाता है।

।। इति सम्प्रसारणप्रकरणम्।।

आकारादेशप्रकरणम्

शिति-

(१) आदेच उपदेशेऽशिति।४५।

प०वि०-आत् १।१ एचः ६।१ उपदेशे ७।१ अशिति ७।१।

स०-श चासौ इत् शित्, न शित् अशित्, तस्मिन्-अशिति (कर्मधारयगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-धातोरित्यनुवर्तति।

अन्वयः-उपदेशे एचो धातोराद् अशिति।

अर्थः-उपदेशे एजन्तस्य धातोराकारादेशो भवति, शिदादिभिन्ने प्रत्यये परतः।

उदा०-(ग्लै) ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम्। (शो) निशाता, निशातुम्, निशातव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) पाणिनिमुनि के उपदेश में (एचः) एच् जिसके अन्त में है उस (धातोः) धातु को (आत्) आकार आदेश होता है (अशिति) शित् जिसके आदि में है, उससे भिन्न प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-(ग्लै) ग्लाता। ग्लानि करनेवाला। ग्लातुम्। ग्लानि करने के लिये। ग्लातव्यम्। ग्लानि करनी चाहिये। (शो) निशाता। तीक्ष्ण करनेवाला। निशातुम्। तीक्ष्ण करने के लिये। निशातव्यम्। तीक्ष्ण करना चाहिये।

सिद्धि-(१) ग्लाता। ग्लै+तृच्। गला+तृ। ग्लातृ+सु। ग्लाता।

यहां 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) इस एजन्त धातु से 'ण्वुल् तृचौ' (३।१।१३३) से तृच् प्रत्यय है। इस अशित्-आदि प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'ग्लै' के एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। ऐसे ही 'नि' पूर्वक 'शो तनूकरणे' (दि०प०) धातु से तृच् प्रत्यय करने पर-निशाता।

(२) ग्लातुम्। यहां पूर्वोक्त 'ग्लै' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से तुमुन् प्रत्यय है। इस अशित्-आदि प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'ग्लै' के एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। ऐसे ही 'नि' पूर्वक 'शो' धातु से-निशातव्यम्।

यहां 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इस परिभाषा से 'अशिति' इस वचन में शिद्भाव जिसके आदि में नहीं है, वहां एजन्त धातु को आकार आदेश होता है, जैसे-जग्ले, मम्ले। यहां लिट् लकार के 'त' प्रत्यय को 'एश्' आदेश है, किन्तु वह प्रत्यय शित्-आदि नहीं अपितु शिदन्त है, अतः यहां 'ग्लै' धातु को आकार आदेश हो जाता है। शित्-आदि 'शप्' प्रत्यय परे होने पर तो आकार आदेश नहीं होता है जैसे-ग्लायति, म्लायति।

आकारादेश-प्रतिषेधः-

(२) न व्यो लिटि।४६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, व्यः ६।१ लिटि ७।१।

अनु०-धातोः आत्, एच इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लिटि व्यो धातोरेच आद् न।

अर्थः-लिटि प्रत्यये परतो व्यो धातोरेचः स्थाने आकारादेशो न भवति।

उदा०-संविव्याय, संविव्ययिथ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (व्यः) व्येञ् (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (आत्) आकार आदेश (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**संविव्याय।** उसने आच्छादित किया। **संविव्ययिथ।** तूने आच्छादित किया।*

*सिद्धि-**संविव्याय।** सम्+व्येञ्+लिट्। सम्+व्ये+तिप्। सम्+व्ये+णल्। सम्+व्ये-व्ये+अ। सम्+व् इ ए-व्यै+अ। सम्+वि-व्याय्+अ। संविव्याय।*

*यहां 'सम्' उपसर्गपूर्वक **'व्येञ् संवरणे'** (भ्वा०उ०) धातु से लिट् प्रत्यय, उसके लकार के स्थान में पूर्ववत् 'तिप्' आदेश तथा उसके स्थान में णल् आदेश है। **'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'** (६।१।११७) से अभ्यास के यकार को इकार सम्प्रसारण, **'सम्प्रसारणाच्च'** (६।१।१०५) से एकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से अंग को वृद्धि और उसे **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७६) से आय् आदेश होता है। ऐसे ही 'थल्' प्रत्यय परे होने पर-**संविव्ययिथ।** यहां **'इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्'** (७।२।६६) से थल् को इट् आगम होता है।*

घञि-

(३) स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि।४७।

प०वि०-स्फुरति-स्फुलत्योः ६।२ घञि ७।१।

स०-स्फुरतिश्च स्फुलतिश्च तौ स्फुरतिस्फुलती, तयोः-स्फुरति-स्फुलत्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-धातोः, आत्, एच इति चानुवर्तते।

अन्वयः-घञि स्फुरतिस्फुलत्योर्धात्वोरेच आत्।

अर्थः-घञि प्रत्यये परतः स्फुरतिस्फुलत्योर्धात्वोरेचः स्थाने आकारादेशो भवति।

उदा०-(स्फुरतिः) विस्फारः, विष्फारः। (स्फुलतिः) विस्फालः विष्फालः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(घञि) घञ् प्रत्यय परे होने पर (स्फुरतिस्फुलत्योः) स्फुरति और स्फुलति (धातोः) धातुओं के (एचः) एच् के स्थान में (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-(स्फुरतिः) विस्फारः, विष्फारः। स्फुरण होना (सूझना)। (स्फुलतिः) विस्फालः विष्फालः। प्रकट होना।

सिद्धि-विस्फारः। वि+स्फुर्+घञ्। वि+स्फोर्+अ। वि+स्फार्+अ। विस्फार+सु। विस्फारः।

यहां वि उपसर्गपूर्वक 'स्फुर स्फुरणे' (तु०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से स्फुर् को गुण होकर इस सूत्र से 'स्फोर' के एच् के स्थान में आकार आदेश होता है।

(२) विष्फारः। यहां 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' (८।३।७६) से षत्व होता है।

ऐसे ही 'स्फल संचलने' (तु०प०) धातु से-विस्फालः, विष्फालः।

णिचि-

(४) क्रीङ्जीनां णौ।४८।

प०वि०-क्री-इङ्-जीनाम् ६।३ णौ ७।१।

स०-क्रीश्च इङ् च जिश्च ते क्रीङ्जयः, तेषाम्-क्रीङ्जीनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-धातोः, आत्, एच इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ क्रीङ्जीनां धातूनामेच आत्।

अर्थः-णौ प्रत्यये परतः क्रीङ्जीनां धातूनामेचः स्थाने आकारादेशो भवति।

उदा०-(क्रीः) क्रापयति। (इङ्) अध्यापयति। (जिः) जापयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (क्रीङ्जीनाम्) क्री, इङ्, जि (धातोः) धातुओं के (एचः) एच् के स्थान में (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-(क्री) क्रापयति। वह खरीदवाता है। (इङ्) अध्यापयति। वह-पढ़ाता है। (जि) जापयति। वह जितवाता है।

सिद्धि-(१) क्रापयति। क्री+णिच्। क्रै+इ। क्रा+इ। क्रा+पुक्+इ। क्रा+प्+इ। क्रापि+लट्। क्रापि+तिप्। क्रापि+शप्+ति। क्रापे+अ+ति। क्रापय्+अ+ति। क्रापयति।

यहां 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या०उ०) धातु से 'हेतुमति' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय और 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अंग को वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'क्रै' के एच् को आकार आदेश होता है। 'अर्तिह्री०' (७।३।३६) से 'क्रा' को पुक् आगम होकर 'क्रापि' धातु से लट् प्रत्यय है।

(२) अध्यापयति। अधि+इङ्+णिच्। अधि+ऐ+इ। अधि+आ+इ। अधि+आ+पुक्+इ। अधि+आ+प्+इ। अध्यापि+लट्। अध्यापयति।

यहां नित्य-अधिपूर्वक 'इङ् अध्ययने' (अदा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से इङ् को वृद्धि ऐ और इस सूत्र से उसके एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) जापयति। यहां 'जि जये' (भ्वा०प०) धातु से णिच् प्रत्यय, 'जि' धातु को पूर्ववत् वृद्धि 'जै' होकर इस सूत्र से उसके एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

णौ–

(५) सिध्यतेरपारलौकिके।४६।

प०वि०–सिध्यतेः ६।१ अपारलौकिके ७।१।

स०–परलोकः प्रयोजनमस्य तत् पारलौकिकम्, अत्र **'प्रयोजनम्'** (५।१।१०८) इति ठक् प्रत्ययः, **'अनुशतिकादीनां च'** (७।३।२०) इत्युभयपदवृद्धिर्भवति। न पारलौकिकम् अपारलौकिकम्, तस्मिन्-अपारलौकिके (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–धातोः, एचः, आद्, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–णावपारलौकिके सिध्यतेरेच आत्।

अर्थः–णौ प्रत्यये परतोऽपारलौकिकेऽर्थे वर्तमानस्य सिध्यतेर्धातोरेचः स्थाने आकारादेशो भवति।

उदा०–अन्नं साधयति देवदत्तः। ग्रामं साधयति यज्ञदत्तः। अपारलौकिके इति किम्-तपस्तापसं सेधयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (अपारलौकिके) अपारलौकिक अर्थ में विद्यमान (सिध्यतेः) सिध्यति (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (आत्) आकार आदेश होता है।*

*उदा०-**अन्नं साधयति देवदत्तः।** देवदत्त अन्न को सिद्ध करता है। **ग्रामं साधयति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त ग्राम को सिद्ध (ठीक) करता है। अपारलौकिक का कथन इसलिये किया है कि यहां आकार आदेश न हो-**तपस्तापसं सेधयति।** तप तपस्वी को पारलौकिक सुख प्रदान करता है।*

सिद्धि-साधयति। सिध्+णिच्। सेध्+इ। साध्+इ। साधि+लट्। साधयति।

यहां 'षिधु संराद्धौ' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय और 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'सेध्' गुण होकर इस सूत्र से उसके एच् (ए) को आकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

ल्यपि+एज्विषये–

(६) मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च।५०।

प०वि०–मीनाति-मिनोति-दीङाम् ६।३ ल्यपि ७।१ च अव्ययपदम्।

स०–मीनातिश्च मिनोतिश्च दीङ् च ते मीनातिमीनोतिदीङः, तेषाम्-मीनातिमिनोतिदीङाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–धातोः, आद्, एच, उपदेशे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–उपदेशे ल्यपि, एचश्च विषये मिनातिमीनोतिदीङां धातूनां आत्।

अर्थः–उपदेशावस्थायामेव ल्यपि, एचश्च विषये मिनातिमीनोतिदीङां धातूनामेचः स्थाने आकारादेशो भवति।

उदा०–**(मिनातिः)** ल्यपि-प्रमाय। एचो विषये-प्रमाता, प्रमातुम्, प्रमातव्यम्। **(मिनोतिः)** ल्यपि-निमाय। एचो विषये-निमाता, निमातुम्, निमातव्यम्। **(दीङ्)** ल्यपि-उपदाय। एचो विषये-उपदाता, उपदातुम्, उपदातव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) उपदेश-अवस्था में ही (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय के विषय में (च) और एच्-भाव विषय में (मिनातिमीनोतिदीङाम्) मिनाति, मिनोति, दीङ् धातुओं के (एचः) एच् के स्थान में (आत्) आकार आदेश होता है।*

*उदा०–(मिनाति) ल्यप् विषय में-**प्रमाय**। हिंसा करके। एच् विषय में-**प्रमाता**। हिंसा करनेवाला। **प्रमातुम्**। हिंसा करने के लिये। **प्रमातव्यम्**। हिंसा करनी चाहिये। (मिनोति) ल्यप् विषय में-**निमाय**। प्रक्षेप करके। एच् विषय में-**निमाता**। प्रक्षेप करनेवाला। **निमातुम्**। प्रक्षेप करने के लिये। **निमातव्यम्**। प्रक्षेप करना चाहिये। (दीङ्) ल्यप् विषय में-**उपदाय**। क्षय करके। **उपदाता**। क्षय करनेवाला। **उपदातुम्**। क्षय करने के लिये। **उपदातव्यम्**। क्षय करना चाहिये।*

*सिद्धि-(१) **प्रमाय**। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'मीञ् हिंसायाम्' (क्र्या०उ०) धातु से क्त्वा प्रत्यय और उसके स्थान में ल्यप् का विषय प्रस्तुत होने पर उपदेश अवस्था में ही मीञ् धातु के ईकार को इस सूत्र से आकार होता है।*

(२) प्रमाता। यहां प्र उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'मीञ्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय और उसके परे होने पर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'मीञ्' धातु को गुण रूप एच् विषय प्रस्तुत होने पर उपदेश अवस्था में ही 'मीञ्' धातु के एच् (ए) को इस सूत्र से आकार आदेश होता है।

(३) प्रमातुम्। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'मीञ्' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से तुमुन् प्रत्यय है।

(४) प्रमातव्यम्। यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'मीञ्' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से तव्यत् प्रत्यय है।

(५) निमाय। नि-उपसर्गपूर्वक 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' (स्वा०उ०) धातु से ल्यप्-विषय में पूर्ववत्।

(६) निमाता। नि-उपसर्गपूर्वक 'मि' धातु से एच्-विषय में पूर्ववत्। ऐसे ही-निमातुम्, निमातव्यम्।

(७) उपदाय। उप-उपसर्गपूर्वक 'दीङ् क्षये' (दि०आ०) धातु से ल्यप्-विषय में पूर्ववत्।

(८) उपदाता। उप-उपसर्गपूर्वक 'दीङ्' धातु से एच्-विषय में पूर्ववत् । ऐसे ही-उपदातुम्, उपदातव्यम्।

यहां उपदेश अवस्था में आकार आदेश विधान करने का यह प्रयोजन है कि इन 'मीञ्' आदि धातुओं से 'एरच्' (३।३।५६) से इकारान्त-लक्षण अच् प्रत्यय नहीं होता है और 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) से आकारान्त लक्षण युक् आगम होता है-उपदायो वर्तते और 'आतो युच्' (३।३।१२८) से आकारान्त लक्षण 'युच्' प्रत्यय होता है-ईषदुपदानम्।

आकारादेश-विकल्पः-

(७) विभाषा लीयतेः।५१।

प०वि०-विभाषा १।१ लीयतेः ६।१।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, उपदेशे, ल्यपि च इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपदेशे ल्यपि एचश्च विषये लीयतेर्धातोरेचो विभाषा आत्।

अर्थः-उपदेशावस्थायामेव ल्यपि एचश्च विषये लीयतेर्धातोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०-ल्यपि विषये-विलाय, विलीय। एचो विषये-विलाता, विलातुम्, विलातव्यम्। विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) उपदेश अवस्था में ही (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय के विषय में (च) और एच्-भाव विषय में (लीयतेः) लीयति (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-ल्यप् विषय में-**विलाय, विलीय।** विलीन होकर। एच् विषय में-**विलाता।** विलीन होकर। **विलातुम्।** विलीन होने के लिये। **विलातव्यम्।** विलीन होना चाहिये। **विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्।** अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) विलायः। यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'लीङ् श्लेषणे' (क्र्या०आ०) धातु को ल्यप्-प्रत्यय के विषय में उपदेश अवस्था में ही आकार आदेश है।

(२) विलीय। यहां पूर्वोक्त 'लीङ्' धातु को ल्यप्-प्रत्यय के विषय में आकार आदेश नहीं है।

(३) विलाता और विलेता आदि पदों में पूर्वोक्त 'लीङ्' धातु को एच् विषय में इस सूत्र से विकल्प से आकार आदेश स्पष्ट है। जहां आकार आदेश नहीं होता वहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से लीङ् धातु को गुण हो जाता है।

आकारादेश-विकल्पः-

(८) खिदेश्छन्दसि।५२।

प०वि०-खिदेः ६।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि खिदेर्धातोरेचो विभाषा आत्।

अर्थः-छन्दसि विषये खिदेर्धातोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०-चित्तं चिखाद। चित्तं चिखेद।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (खिदेः) खिद् (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-**चित्तं चिखाद।** उसने चित्त को खिन्न किया। **चित्तं चिखेद।** अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) चिखाद। खिद्+लिट्। खिद्+तिप्। खिद्+णल्। खिद्-खिद्+अ। खि-खेद्+अ। चि-खाद्+अ। चिखाद।

यहां 'खिद् दैन्ये' (दि०आ०) धातु से लिट् प्रत्यय और उसके स्थान में तिप् और उसे णल् आदेश है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से खिद् धातु को द्वित्व होकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से लघूपध गुण होता है। इस सूत्र से छन्द विषय में

'खेद्' के एच् (ए) के स्थान में आकार आदेश होता है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के खकार को चुत्व होता है।

(२) चिखेद। यहां 'खिद्' धातु के एच् को छन्द विषय में विकल्प पक्ष में आकार आदेश नहीं है।

आकारादेश-विकल्पः–

(६) अपगुरो णमुलि।५३।

प०वि०-अपगुरः ६।१ णमुलि ७।१।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णमुलि अपगुरो धातोरेचो विभाषा आत्।

अर्थः-णमुलि प्रत्यये परतोऽप-पूर्वस्य गुरो धातोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०-अपगारमपगारम्, अपगोरमपगोरम्।

अत्र **'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च'** (३।४।२२) इत्यनेन णमुल् प्रत्ययः। असि-अपगारं युध्यन्ते, असि-अपगोरं युध्यन्ते इत्यत्र **'द्वितीयायां च'** (३।४।५३) इत्यनेन णमुल् प्रत्ययः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णमुलि) णमुल् प्रत्यय परे होने पर (अपगुरः) अप-उपसर्गपूर्वक गुर् (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-अपगारमपगारम्। उठा-उठाकर। अपगोरमपगोरम्। अर्थ पूर्ववत् है।

यहां 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से णमुल् प्रत्यय है। असि-अपगारं युध्यन्ते, असि-अपगोरं युध्यन्ते। तलवार को उठा-उठाकर युद्ध करते हैं। यहां 'द्वितीयायां च' (३।४।५३) से णमुल् प्रत्यय है।

सिद्धि-(१) अपगारम्। अप+गुर्+णमुल्। अप+गोर्+अम्। अप+गार्+अम्। अपगारम्+सु। अपगारम्+०। अपगारम्।

यहां अप-उपसर्गपूर्वक 'गुरी उद्यमने' (दि०आ०) धातु से 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से णमुल् प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'गुर्' को लघूपध-गुण होता है। इस सूत्र से 'गोर्' के एच् (ओ) को आकार होता है। वा०-आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' (८।१।१२) से द्वित्व होता है-अपगोरमपगोरम्।

(२) अपगोरम्। यहां इस सूत्र से विकल्प पक्ष में 'अपगुर्' के एच् (ओ) को आकार आदेश नहीं है।

आकारादेश-विकल्पः-

(१०) चिस्फुरोर्णौ ।५४।

प०वि०-चि-स्फुरोः ६ ।२ णौ ७ ।१ ।

स०-चिश्च स्फुर् च तौ चिस्फुरौ, तयोः-चिस्फुरोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ चिस्फुरोर्धात्वोरेचो विभाषा आत्।

अर्थः-णौ प्रत्यये परतश्चिस्फुरोर्धात्वोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०-(चिः) चापयति, चाययति। (स्फुर्) स्फारयति, स्फोरयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (चिस्फुरोः) चि और स्फुर् (धातोः) धातुओं के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-(चि) चापयति, चाययति। चयन कराता है। (स्फुर्) स्फारयति, स्फोरयति। सुझाता है।

सिद्धि-(१) चापयति। चि+णिच्। चै+इ। चा+इ। चा+पुक्+इ। चापि+लट्। चापयति।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'हेतुमति च' (३ ।१ ।२६) से णिच् प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७ ।२ ।११५) से 'चि' को 'चै' वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'चि' धातु के एच् (ऐ) के स्थान में आकार आदेश होता है। 'अर्तिह्री०' (७ ।३ ।३६) से उसे पुक् आगम होकर 'चापि' धातु से 'लट्' प्रत्यय है।

(२) चाययति। यहां णिच् प्रत्यय परे होने पर 'चि' धातु के 'एच्' को इस सूत्र से विकल्प पक्ष में आकार आदेश नहीं है। अतः 'चायि' धातु से लट् प्रत्यय है।

(३) स्फारयति। स्फुर्+णिच्। स्फोर्+इ। स्फार्+इ। स्फारि+लट्। स्फारयति।

यहां 'स्फुर स्फुरणे' (तु०प०) धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७ ।३ ।८६) से 'स्फुर्' को 'स्फोर्' गुण होता है। इस सूत्र से 'स्फुर्' के 'एच्' (ओ) को आकार आदेश होता है, तत्पश्चात् 'स्फारि' धातु से लट् प्रत्यय है।

(४) स्फोरयति। यहां इस सूत्र से विकल्प पक्ष में 'स्फुर्' धातु के एच् (ओ) को आकार आदेश नहीं है।

आकारादेश-विकल्पः–

(११) प्रजने वीयतेः।५५।

प०वि०–प्रजने ७।१ वीयतेः ६।१।

अनु०–धातोः, आत्, एचः, विभाषा, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–णौ प्रजने वीयतेर्धातोरेचो विभाषा आत्।

अर्थः–णौ प्रत्यये परतः प्रजनेऽर्थे वर्तमानस्य वीयतेर्धातोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०–पुरोवातो गाः प्रवापयति। पुरावातो गाः प्रवाययति। गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः। प्रजनः=जन्मन उपक्रमो गर्भग्रहणम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (प्रजने) गर्भग्रहण अर्थ में विद्यमान (वीयतेः) वीयति (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-पुरोवातो गाः प्रवापयति। पुरावातो गाः प्रवाययति। पूर्व का वायु गौओं का गर्भधारण कराता है।

सिद्धि-(१) प्रवापयति। प्र+वी+णिच्। प्र+वै+इ। प्र+वा+इ। प्र+वा+पुक्+इ। प्रवापि+लट्। प्रवापयति।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक प्रजनार्थक 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय और 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'वी' को 'वै' वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'वी' धातु के एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। इस सूत्र से उसे 'अर्तिह्री०' (७।३।३६) से पुक् आगम होता है, तत्पश्चात् 'प्रवापि' धातु के लट् प्रत्यय है।

(२) प्रवाययति। यहां प्र-उपसर्गपूर्वक प्रजनार्थक 'वी' धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से विकल्प-पक्ष में 'वी' धातु के 'एच्' को आकार आदेश नहीं है।

आकारादेश-विकल्पः–

(१२) बिभेतेर्हेतुभये।५६।

प०वि०–बिभेतेः ६।१ हेतुभये ७।१।

स०–'तत्पयोज्रको हेतुश्च' (१।४।५५) इत्यनेन स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकस्य हेतुसंज्ञा विहिता, तस्येदं ग्रहणम्। हेतोर्भयम्-हेतुभयम्, तस्मिन्-हेतुभये (पञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, विभाषा, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ हेतुभये बिभेतेर्धातोर्विभाषा आत्।

अर्थः-णौ प्रत्यये परतो हेतुभयेऽर्थे वर्तमानस्य बिभतेर्धातोरेचः स्थाने विकल्पेनाकारादेशो भवति।

उदा०-मुण्डो भापयते, जटिलो भापयते। मुण्डो भीषयते, जटिलो भीषयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (हेतुभये) हेतु से भय होना अर्थ में विद्यमान (बिभेतेः) बिभेति (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-मुण्डो भापयते, जटिलो भापयते। शिर मुंडवाया हुआ/जटाधारी पुरुष बालक को डराता है। मुण्डो भीषयते, जटिलो भीषयते। शिर मुंडवाया हुआ/जटाधारी पुरुष बालक को डराता है।

सिद्धि-(१) भापयते। भी+णिच्। भै+इ। भा+इ। भा+पुक्+इ। भापि+लट्। भापयते।

यहां 'ञिभी भये' (जु०प०) धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'भी' को 'भै' वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'भी' के एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। 'अर्तिही०' (७।३।३६) से उसे पुक् आगम होता है, तत्पश्चात् 'भापि' धातु से लट् प्रत्यय है।

(२) भीषयते। यहां 'भी' धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प पक्ष में 'भी' धातु के 'एच्' को आकार आदेश नहीं है अतः 'भियो हेतुभये षुक्' (७।३।४०) से 'भी' धातु को षुक् आगम होता है, तत्पश्चात् 'भीषि' धातु से लट् प्रत्यय है। 'भीस्म्योर्हेतुभये' (१।३।६८) से आत्मनेपद ही होता है।

नित्यमाकारादेशः-

(१३) नित्यं स्मयतेः।५७।

प०वि०-नित्यम् १।१ स्मयतेः ६।१।

अनु०-धातोः, आत्, एचः, णौ, हेतुभये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णौ हेतुभये स्मयतेर्धातोरेचो नित्यम् आत्।

अर्थः-णौ प्रत्यये परतो हेतुभयेऽर्थे वर्तमानस्य स्मयतेर्धातोरेचः स्थाने नित्यमाकारादेशो भवति।

उदा०-मुण्डो विस्मापयते। जटिलो विस्मापयते।

आर्यभाषाः अर्थ-(णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (हेतुभये) हेतु से भय होना अर्थ में विद्यमान (स्मयतेः) स्मयति (धातोः) धातु के (एचः) एच् के स्थान में (नित्यम्) सदा (आत्) आकार आदेश होता है।

उदा०-मुण्डो विस्मापयते। शिर मुंडवाया हुआ पुरुष बालक को डराता है। जटिलो विस्मापयते। जटाधारी पुरुष बालक को डराता है।

सिद्धि-विस्मापयते। वि+स्मि+णिच्। वि+स्मै+इ। वि+स्मा+इ। वि+स्मा+पुक्+इ। विस्मापि+लट्। विस्मापयते।

यहां वि-उपसर्गपूर्वक हेतुभय' अर्थ में विद्यमान **'ष्मिङ् ईषद्धसने'** (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'स्मि' को 'स्मै' वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'स्मि' के एच् (ऐ) को आकार आदेश होता है। **'अर्तिही०'** (७।३।३६) से उसे पुक् आगम है। 'विस्मापि' धातु से 'लट्' प्रत्यय है। **'भीस्म्योर्हेतुभये'** (१।३।६८) से आत्मनेपद ही होता है।

पाणिनीय धातुपाठ में स्मिङ् धातु ईषद्धसने (मुस्कराना) अर्थ में पठित है किन्तु 'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति' (महाभाष्य) के प्रमाण से यहां 'स्मि' धातु हेतुभय अर्थ में विद्यमान है। धातुपाठ में धातुओं के निर्दिष्ट अर्थ केवल उदाहरणमात्र हैं।

।। इति आकारादेशप्रकरणम् ।।

अमागमविधिः

अम्-आगमः–

(१) सृजिदृशोर्झल्यमकिति।५८।

प०वि०-सृजि-दृशोः ६।२ झलि ७।१ अकिति ७।१।

स०-सृजिश्च दृश् च तौ सृजिदृशौ, तयोः-सृजिदृशोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)। क इद् यस्य स कित्, न कित् अकित्, तस्मिन्-अकिति (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-धातोरित्यनुवर्तति।

अन्वयः-सृजिदृशोर्धात्वोरकिति झलि अम्।

अर्थः-सृजिदृशोर्धात्वोः किद्भिन्ने झलादौ प्रत्यये परतोऽमागमो भवति।

उदा०-(सृजिः) स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्। (दृश्) द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(सृजिदृशोः) सृज् और दृश् (धातोः) धातुओं को (अकिति) कित् से भिन्न (झलि) झलादि प्रत्यय परे होने पर (अम्) अम् आगम होता है।

उदा०-(सृजि) स्रष्टा। बनानेवाला। स्रष्टुम्। बनाने के लिये। स्रष्टव्यम्। बनाना चाहिये। (दृश्) द्रष्टा। देखनेवाला। द्रष्टुम्। देखने के लिये। द्रष्टव्यम्। देखना चाहिये।

सिद्धि-(१) स्रष्टा। सृज्+तृच्। सृ अम् ज्+तृ। स् र् अ ज्+तृ। स्रज्+तृ। स्रष्+टृ। स्रष्टृ+सु। स्रष्टा।

यहां 'सृज् विसर्गे' (तु०प०) धातु से 'ण्वुल् तृचौ' (३।१।१३३) से तृच् प्रत्यय है। कित् से भिन्न, झलादि तृच् प्रत्यय परे होने पर 'सृज्' धातु को इस सूत्र से 'अम्' आगम होता है और वह मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (१।१।४६) से 'सृज्' धातु के अन्तिम अच् से परे होता है। 'इको यणचि' (६।१।७५) से सृज् के ऋकार को रेफ आदेश होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'सृज्' के जकार को षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से तकार को टुत्व होता है।

(२) स्रष्टुम्। यहां 'सृज्' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से कित्-भिन्न, झलादि 'तुमुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) स्रष्टव्यम्। यहां 'सृज्' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से कित्-भिन्न झलादि 'तव्यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) 'सृज्' धातु के सहाय से 'दृश्' धातुओं के द्रष्टा आदि पदों की सिद्धि करें।

अमागम-विकल्पः-

(२) अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्तरस्याम्।५६।

प०वि०-अनुदात्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्, ऋदुपधस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-ऋद् उपधा यस्य स ऋदुपधः, तस्य-ऋदुपधस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०-धातोः, उपदेशे, झलि, अम्, अकिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋदुपधस्य च धातोरकिति झल्यन्यतरस्याममम्।

अर्थः-उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋकारोपधस्य च धातोः किद्भिन्ने झलादौ प्रत्यये परतो विकल्पेनामागमो भवति।

उदा०-तृप प्रीणने (दि०प०) त्रप्ता, तर्प्ता, तर्पिता। दृप हर्षमोहनयोः (दि०प०) द्रप्ता, दर्प्ता, दर्पिता।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) पाणिनिमुनि के उपदेश धातुपाठ में (अनुदात्त) अनिट् (च) और (ऋदुपधस्य) ऋकार उपधावाली (धातोः) धातु को (अकिति) कित् से भिन्न (झलि) झलादि प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अम्) अम् आगम होता है।*

*उदा०-तृप प्रीणने (दि०प०) **त्रप्ता, तर्प्ता, तर्पिता।** तृप्त करनेवाला। दृप हर्षमोहनयोः (दि०प०) द्रप्ता, दर्प्ता, **दर्पिता।** अभिमान करनेवाला।*

*सिद्धि-(१) **त्रप्ता।** तृप्+तृच्। तृप्+तृ। तृ अम् प्+तृ। तृ अ प्+तृ। त् र् अ प्+तृ। त्रप्तृ+सु। त्रप्ता।*

*यहां 'तृप प्रीणने' (दि०प०) इस अनुदात्त और ऋकार उपधावाली धातु से **'ण्वुल्तृचौ'** (३।१।१३३) से कित्-भिन्न, झलादि 'तृच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'तृप्' धातु को अम् आगम होता है और वह मित् होने से **'मिदचोऽन्त्यात् परः'** (१।१।४६) से 'तृप्' के अन्तिम अच् ऋकार से परे होता है। **'इको यणचि'** (६।१।७५) से 'तृप्' के ऋकार को रेफ आदेश होता है।*

*(२) **तर्प्ता।** यहां पूर्वोक्त 'तृप्' धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय है। यहां विकल्प-पक्ष में 'तृप्' धातु को अम् आगम नहीं है अतः **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से 'तृप्' धातु को लघूपध गुण 'अर्' होता है।*

*(३) **तर्पिता।** यहां पूर्वोक्त 'तृप्' धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय है। यहां **'रधादिभ्यश्च'** (७।२।४५) से 'तृच्' प्रत्यय को 'इट्' आगम होता है। इट् आगम से 'तृप्' धातु के अनुदात्त न रहने से उसे इस सूत्र से अम् आगम नहीं होता है।*

(४) 'तृप्' धातु के सहाय से 'दृप्' धातु के पदों की सिद्धि करें।

विशेषः *पाणिनीय धातुपाठ में उदात्त आदि शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है—उदात्त=सेट्। अनुदात्त=अनिट्। स्वरित=वेट्। उदात्तेत्=परस्मैपद। अनुदात्तेत्=आत्मनेपद। स्वरितेत्=उभयपद।*

आदेशप्रकरणम्

निपातनम्—

(१) शीर्षँश्छन्दसि।६०।

प०वि०-शीर्षन् १।१ छन्दसि ७।१।

अन्वयः-छन्दसि शीर्षन्।

अर्थः-छन्दसि विषये शिरःस्थाने शीर्षन् आदेशो निपात्यते।

उदा०-शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं वहन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (शीर्षन्) शीर्षन् आदेश निपातित है।*

उदा०-शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं वहन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम्।

सिद्धि-(१) शीर्ष्णा। शिरस्+टा। शीर्षन्+आ। शीर्षन्+आ। शीर्ष्ण्+आ। शीर्ष्णा।

यहां छन्दविषय में 'शीर्षन्' शब्द से तृतीया-विभक्ति का एकवचन 'टा' प्रत्यय है। 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से शीर्षन् के अकार का लोप और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से णत्व होता है।

(२) शीर्ष्णः। यह षष्ठीविभक्ति का एकवचन है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

विशेषः *(१) काशिकाकार पं० जयादित्य का मत है कि यह 'शीर्षन्' शब्द छन्द में 'शिरः' शब्द का समानार्थक शब्द है। यह 'शिरः' शब्द के स्थान में शीर्षन् आदेश निपातित नहीं है अपितु यह शब्दान्तर है। यदि शिरः शब्द को शीर्षन् आदेश माना जाये तो 'शिरः' शब्द का छन्द में प्रयोग नहीं होना चाहिये किन्तु वह भी छन्द में प्रयुक्त है।*

(२) न्यासकार पं० जिनेन्द्रबुद्धि का मत है कि 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति करने पर 'शीर्षन्' आदेश पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।

(३) 'शिरः' शब्द के स्थान में 'शीर्षन्' आदेश निपातित करना उचित है। यह 'ये च तद्धिते' (६।१।६०) में 'चकार' 'च' पद के पाठ से ध्वनित होता है। 'वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' इस वचन-प्रमाण से छन्द में दोनों शब्दों का व्यवहार साधु है।

शीर्षन्-आदेशः-

(२) ये च तद्धिते।६१।

प०वि०-ये ७।१ च अव्ययपदम्, तद्धिते ७।१।

अनु०-शीर्षन् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तद्धिते ये च {शिरसः} शीर्षन्।

अर्थः-यकारादौ तद्धिते प्रत्यये च परतः शिरःशब्दस्य स्थाने शीर्षन्-आदेशो भवति।

उदा०-शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(यि) यकारादि (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (च) भी शिरस् शब्द के स्थान में (शीर्षन्) शीर्षन् आदेश होता है।*

उदा०-शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः। शीर्षण्यः=मुख्य (प्रधान)।

सिद्धि-शीर्षण्यः। शिरस्+यत्। शीर्षन्+य। शीर्षण्+य। शीर्षण्य+सु। शीर्षण्यः।

यहां 'शिरस्' शब्द से 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) से भव-अर्थ में यकारादि, तद्धित 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'शिरस्' के स्थान में 'शीर्षन्' आदेश होता है। 'ये चाभावकर्मणोः' (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव और 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से नकार का णत्व होता है।

शीर्ष-आदेशः-

(३) अचि शीर्षः।६२।

प०वि०-अचि ७।१ शीर्षः १।१।

अनु०-तद्धिते इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अचि तद्धिते {शिरसः} शीर्षः।

अर्थः-अजादौ तद्धिते प्रत्यये परतः शिरःशब्दस्य स्थाने शीर्ष आदेशो भवति।

उदा०-हस्तिशिरसोऽपत्यम्-हास्तिशीर्षिः। स्थूलशिरस इदम्-स्थौलशीर्षम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अचि) अजादि (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (शिरसः) शिरस् शब्द के स्थान में (शीर्षः) शीर्ष आदेश होता है।*

उदा०-हस्तिशिरा का अपत्य (पुत्र)-हास्तिशीर्षि। हस्तिशिरा का यह-हास्तिशीर्ष।

सिद्धि-(१) हास्तिशीर्षिः। हस्तिशिरस्+ङस्+इञ्। हस्तिशीर्ष+इ। हास्तिशीर्षि+सु। हास्तिशीर्षिः।

यहां 'हस्तिशिरस्' शब्द से अपत्य अर्थ में 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) से 'इञ्' प्रत्यय है, इस अजादि तद्धित प्रत्यय परे होने पर 'शिरस्' शब्द के स्थान में इस सूत्र से 'शीर्ष' आदेश होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि और 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अंग के अकार का लोप होता है। शीर्षन् आदेश होने पर 'अन्' (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होता, अतः शीर्ष आदेश किया गया है।

(२) स्थौलशीर्षम्। यहां 'स्थूलशिरस्' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।११९) से अजादि तद्धित 'अण्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

पदादि-आदेशाः–

(४) पद्दन्नोमास्हृन्निशन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ।६३ ।

प०वि०– पद्-दत्-नस्-मास्-हृद्-निशन्-यूषन्-दोषन्-यकन्-शकन्-उदन्-आसन् १ ।१ शस्प्रभृतिषु ७ ।३ ।

स०–पच्च दच्च नश्च माश्च हृच्च निशँश्च यूषँश्च दोषँश्च यकँश्च शकँश्च उदँश्च आसँश्च एतेषां समाहारः-पद्दन्नोमास्हृन्निशन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासन् (समाहारद्वन्द्वः)। शस् प्रभृतिर्येषां ते शस्प्रभृतयः, तेषु-शस्प्रभृतिषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'अन्यतरस्याम्' (६ ।१ ।५९) इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि भाषायां च शस्प्रभृतिषु {पाद-दन्त-नासिका-मास-हृदय-निशा-असृज्-यूष-दोष-यकृत्-शकृत्-उदक-आसनानाम्} अन्यतरस्यां पद्दन्मास्हृन्निशन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासन्।

अर्थः–शस्प्रभृतिषु प्रत्ययेषु परतः पाद-दन्त-नासिका-मास-हृदय-निशा-असृज्-यूष-दोष-यकृत्-शकृत्-उदक-आसनानां शब्दानां स्थाने विकल्पेन यथासंख्यम् पद्-दत्-नस्-मास्-हृत्-निश्-असन्-यूषन्-यकन्-शकन्-उदन् आसन्-आदेशा भवन्ति। **उदाहरणम्–**

स्थानी	आदेशः	रूपम् (शसि)	प्रयोगः
पाद	पद्	पादान् (पदः)	निपदश्चतुरो जहि। पदा वर्तय गोदुहम्।
दन्त	दत्	दन्तान् (दतः)	या दतो धावते तस्यै श्यावदन्। (तै०सं० २ ।५ ।१ ।७)
नासिका	नस्	नासिका (नस्)	सूकरस्त्वा खनन्नसः (शौ०सं० २ ।२ ।७ ।२)।
मास	मास्	मासान् (मासः)	मासि त्वा पश्यामि चक्षुषि (तै०सं० २ ।१ ।६ ।६)

स्थानी	आदेशः	रूपम् (शसि)	प्रयोगः
हृदय	हृद्	हृदयानि (हृदः)	हृदा पूतं मनसा जातवेदो० (शौ०सं० ४ ।३९ ।१०)।
निशा	निश्	निशाः (निशः)	अमावस्यायां निशि {यजेत} (खि० २ ।१ ।८)
असृक्	असन्	असृजः (अस्नः)	असिक्तोऽस्ना {वरोहति} (मै०सं० ३ ।१ ।८)
यूष	यूषन्	यूषान् (यूष्णः)	या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि (ऋ० १ ।१६२ ।१३)
दोष	दोषन्	दोषान् (दूष्णः)	यत्ते दोष्णो {दौर्भाग्यम्} (मै०सं० ३ ।१० ।३)
यकृत्	यकन्	यकृतः (यक्नः)	यक्नोऽवद्यति (मै०सं० ३ ।१० ।३)
शकृत्	शकन्	शकृतः (शक्नः)	शक्नोऽवद्यति (शौ०सं० १२ ।४ ।४)
उदक	उदन्	उदकानि (उद्नः)	उद्नो दित्यस्य {नो धेहि} (तै०सं०२ ।४ ।८ ।२)
आसन	आसन्	आसनानि (आस्नः)	आसनि {किं लभे मधूनि} (ऋ० १५ ।७५ ।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-छन्द और भाषा में (शस्प्रभृतिषु) शस् आदि प्रत्यय परे होने पर पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृक्, यूष, यकृत्, शकृत्, उदक, आसन शब्दों के स्थान में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (पद्०आसन्) यथासंख्य पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन् आदेश होते हैं।*

उदा०-उदाहरण और उनका प्रयोग संस्कृतभाग में देख लेवें।

सिद्धि-पदः। पाद+शस्। पद्+अस्। पद्+अरु। पद्+अर्। पदः।

यहां शस् प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से पाद के स्थान में पद् आदेश होता है। ऐसे ही-दतः आदि।

पाठकों की सुविधा के लिये 'पाद' आदि सब शब्दों के समस्त रूप यहां लिखे जाते हैं-

(१) पादशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	पादः	पादौ	पादाः
आमन्त्रितम्	हे पाद (सम्बुद्धिः)	हे पादौ !	हे पादाः !
द्वितीया	पादम्	पादौ	पादान् (पदः)
तृतीया	पादेन (पदा)	पादाभ्याम् (पद्भ्याम्)	पादैः (पद्भिः)
चतुर्थी	पादाय (पदे)	पादाभ्याम् (पद्भ्याम्)	पादेभ्यः (पद्भ्यः)
पञ्चमी	पादात् (पदः)	पादाभ्याम् (पद्भ्याम्)	पादेभ्यः (पद्भ्यः)
षष्ठी	पादस्य (पदः)	पादयोः (पदोः)	पादानाम् (पदाम्)
सप्तमी	पादे (पदि)	पादयोः (पदोः)	पादेषु (पत्सु)

(२) दन्तशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	दन्तः	दन्तौ	दन्ताः
आमन्त्रितम्	हे दन्त (सम्बुद्धिः)	हे दन्तौ !	हे दन्ताः !
द्वितीया	दन्तम्	दन्तौ	दन्तान् (दतः)
तृतीया	दन्तेन (दता)	दन्ताभ्याम् (दद्भ्याम्)	दन्तैः (दद्भिः)
चतुर्थी	दन्ताय (दते)	दन्ताभ्याम् (दद्भ्याम्)	दन्तेभ्यः (दद्भ्यः)
पञ्चमी	दन्तात् (दतः)	दन्ताभ्याम् (दद्भ्याम्)	दन्तेभ्यः (दद्भ्यः)
षष्ठी	दन्तस्य (दतः)	दन्तयोः (दतोः)	दन्तानाम् (दताम्)
सप्तमी	दन्ते (दति)	पादयोः (दतोः)	दन्तेषु (दत्सु)

(३) नासिका-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	नासिका	नासिके	नासिकाः
आमन्त्रितम्	हे नासिके (सम्बुद्धिः)	हे नासिके !	हे नासिकाः !
द्वितीया	नासिकाम्	नासिके	नासिकाः (नसः)
तृतीया	नासिकया (नसा)	नासिकाभ्याम् (नाभ्याम्)	नासिकाभिः (नोभिः)
चतुर्थी	नासिकायै (नसे)	नासिकाभ्याम् (नाभ्याम्)	नासिकाभ्यः (नोभ्यः)
पञ्चमी	नासिकायाः (नसः)	नासिकाभ्याम् (नाभ्याम्)	नासिकाभ्यः (नोभ्यः)
षष्ठी	नासिकायाः (नसः)	नासिकयोः (नसोः)	नासिकानाम् (नसाम्)
सप्तमी	नासिकायाम् (नसि)	नासिकयोः (नसोः)	नासिकासु (नस्सु)

(४) मासशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	मासः	मासौ	मासाः
आमन्त्रितम्	हे मास (सम्बुद्धिः)	हे मासौ !	हे मासाः !
द्वितीया	मासम्	मासौ	मासान् (मासः)
तृतीया	मासेन (मासा)	मासाभ्याम् (माभ्याम्)	मासैः (माभिः)
चतुर्थी	मासाय (मासे)	मासाभ्याम् (माभ्याम्)	मासेभ्यः (माभ्यः)
पञ्चमी	मासात् (मासः)	मासाभ्याम् (माभ्याम्)	मासेभ्यः (माभ्यः)
षष्ठी	मासस्य (मासः)	मासयोः (मासोः)	मासानाम् (मासाम्)
सप्तमी	मासे (मासि)	मासयोः (मासोः)	मासेषु (मास्सु)

(५) हृदयशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	हृदयम्	हृदये	हृदयानि
आमन्त्रितम्	हे हृदय (सम्बुद्धिः)	हे हृदये !	हे हृदयानि !
द्वितीया	हृदयम्	हृदये	हृदयानि (हृदः)
तृतीया	हृदयेन (हृदा)	हृदयाभ्याम् (हृद्भ्याम्)	हृदयैः (हृद्भिः)
चतुर्थी	हृदयाय (हृदे)	हृदयाभ्याम् (हृद्भ्याम्)	हृदयेभ्यः (हृद्भ्यः)
पञ्चमी	हृदयात् (हृदः)	हृदयाभ्याम् (हृद्भ्याम्)	हृदयेभ्यः (हृद्भ्यः)
षष्ठी	हृदयस्य (हृदः)	हृदययोः (हृदोः)	हृदयेभ्यः (हृद्भ्यः)
सप्तमी	हृदये (हृदि)	हृदययोः (हृदोः)	हृदयेषु (हृत्सु)

(६) निशा-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	निशा	निशे	निशाः
आमन्त्रितम्	हे निशे (सम्बुद्धिः)	हे निशे !	हे निशाः !
द्वितीया	निशाम्	निशे	निशाः (निशः)
तृतीया	निशया (निशा)	निशाभ्याम् (निड्भ्याम्)	निशाभिः (निड्भिः)
चतुर्थी	निशायै (निशे)	निशाभ्याम् (निड्भ्याम्)	निशाभ्यः (निड्भ्यः)
पञ्चमी	निशायाः (निशः)	निशाभ्याम् (निड्भ्याम्)	निशाभ्यः (निड्भ्यः)
षष्ठी	निशायाः (निशः)	निशयोः (निशोः)	निशानाम् (निशाम्)
सप्तमी	निशायाम् (निशि)	निशयोः (निशोः)	निशासु (निट्सु)

(७) असृक्-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	असृक्	असृजौ	असृजः
आमन्त्रितम्	हे असृक् (सम्बुद्धिः)	हे असृजौ !	हे असृजः !
द्वितीया	असृजम्	असृजौ	असृजः (अस्नः)
तृतीया	असृजा (अस्ना)	असृग्भ्याम् (असभ्याम्)	असृग्भिः (असभिः)
चतुर्थी	असृजे (अस्ने)	असृग्भ्याम् (असभ्याम्)	असृग्भ्यः (असभ्यः)
पञ्चमी	असृजः (अस्नः)	असृग्भ्याम् (असभ्याम्)	असृग्भ्यः (असभ्यः)
षष्ठी	असृजः (अस्नः)	असृजोः (अस्नोः)	असृजाम् (अस्नाम्)
सप्तमी	असृजि (अस्नि)	असृजोः (अस्नोः)	असृक्षु (अससु)

(८) यूष-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	यूषः	यूषौ	यूषाः
आमन्त्रितम्	हे यूष (सम्बुद्धिः)	हे यूषौ !	हे यूषाः !
द्वितीया	यूषम्	यूषौ	यूषान् (युष्णः)
तृतीया	यूषेण (यूष्णा)	यूषाभ्याम् (यूषभ्याम्)	यूषैः (यूषभिः)
चतुर्थी	यूषाय (यूष्णे)	यूषाभ्याम् (यूषभ्याम्)	यूषेभ्यः (यूषभ्यः)
पञ्चमी	यूषात् (यूष्णः)	यूषाभ्याम् (यूषभ्याम्)	यूषेभ्यः (यूषभ्यः)
षष्ठी	यूषस्य (यूष्णः)	यूषयोः (यूष्णोः)	यूषाणाम् (यूष्णाम्)
सप्तमी	यूषे (यूष्णि, यूषणि)	यूषयोः (यूष्णोः)	यूषेषु (यूषसु)

यूषः=रसः, जूष, शोरवा इति भाषायाम्।

(९) दोषशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	दोषः	दोषौ	दोषाः
आमन्त्रितम्	हे दोष (सम्बुद्धिः)	हे दोषौ !	हे दोषाः !
द्वितीया	दोषम्	दोषौ	दोषान् (दोष्णः)
तृतीया	दोषेण (दोष्णा)	दोषाभ्याम् (दोषभ्याम्)	दोषैः (दोषभिः)
चतुर्थी	दोषाय (दोष्णे)	दोषाभ्याम् (दोषभ्याम्)	दोषेभ्यः (दोषभ्यः)
पञ्चमी	दोषात् (दोष्णः)	दोषाभ्याम् (दोषभ्याम्)	दोषेभ्यः (दोषभ्यः)
षष्ठी	दोषस्य (दोष्णः)	दोषयोः (दोष्णोः)	दोषाणाम् (दोष्णाम्)
सप्तमी	दोषे (दोष्णि, दोषणि)	दोषयोः (दोष्णोः)	दोषेषु (दोषसु)

दोषः=बाहुरित्यर्थः।

(१०) यकृत्-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	यकृत्	यकृतौ	यकृतः
आमन्त्रितम्	हे यकृत् (सम्बुद्धिः)	हे यकृतौ !	हे यकृतः !
द्वितीया	यकृतम्	यकृतौ	यकृतः (यक्नः)
तृतीया	यकृता (यक्ना)	यकृद्भ्याम् (यकभ्याम्)	यकृद्भिः (यकभिः)
चतुर्थी	यकृते (यक्ने)	यकृद्भ्याम् (यकभ्याम्)	यकृद्भ्यः (यकभ्यः)
पञ्चमी	यकृतः (यक्नः)	यकृद्भ्याम् (यकभ्याम्)	यकृद्भ्यः (यकभ्यः)
षष्ठी	यकृतः (यक्नः)	यकृतोः (यक्नोः)	यकृताम् (यक्नाम्)
सप्तमी	यकृति (यक्नि, यकनि)	यकृतोः (यक्नोः)	यकृत्सु (यकसु)

यम्=संयमं करोतीति यकृत्। जिगर इति भाषायाम्।।

(११) शकृत्-शब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	शकृत्	शकृतौ	शकृतः
आमन्त्रितम्	हे शकृत् (सम्बुद्धिः)	हे शकृतौ !	हे शकृतः !
द्वितीया	शकृतम्	शकृतौ	शकृतः (शक्नः)
तृतीया	शकृता (शक्ना)	शकृद्भ्याम् (शकभ्याम्)	शकृद्भिः (शकभिः)
चतुर्थी	शकृते (शक्ने)	शकृद्भ्याम् (शकभ्याम्)	शकृद्भ्यः (शकभ्यः)
पञ्चमी	शकृतः (शक्नः)	शकृद्भ्याम् (शकभ्याम्)	शकृद्भ्यः (शकभ्यः)
षष्ठी	शकृतः (शक्नः)	शकृतोः (शक्नोः)	शकृताम् (शक्नाम्)
सप्तमी	शकृति (शक्नि, शकनि)	शकृतोः (शक्नोः)	शकृत्सु (शकसु)

शकृत्=विशेषतः पशूनां मलम्, विष्ठा इत्यर्थः।

(१२) उदकशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा	उदकम्	उदके	उदकानि
आमन्त्रितम्	हे उदक (सम्बुद्धिः)	हे उदके !	हे उदकानि !
द्वितीया	उदकम्	उदके	उदकानि (उद्नः)
तृतीया	उदकेन (उद्ना)	उदकाभ्याम् (उद्भ्याम्)	उदकैः (उदभिः)
चतुर्थी	उदकाय (उद्ने)	उदकाभ्याम् (उद्भ्याम्)	उदकेभ्यः (उद्भ्यः)
पञ्चमी	उदकात् (उद्नः)	उदकाभ्याम् (उद्भ्याम्)	उदकेभ्यः (उद्भ्यः)
षष्ठी	शकृतः (उद्नः)	उदकयोः (उद्नोः)	उदकानाम् (उद्नाम्)
सप्तमी	उदके (उद्नि, उदनि)	उदकयोः (उद्नोः)	उदकेषु (उदसु)

उदकम्=पानीयमित्यर्थः।

(१३) आसनशब्दस्य रूपाणि

विभक्ति	*एकवचनम्*	*द्विवचनम्*	*बहुवचनम्*
प्रथमा	*आसनम्*	*आसने*	*आसनानि*
आमन्त्रितम्	*हे आसन (सम्बुद्धि:)*	*हे आसने !*	*हे आसनानि !*
द्वितीया	*आसनम्*	*आसने*	*आसनानि (आस्न:)*
तृतीया	*आसनेन (आस्ना)*	*आसनाभ्याम् (आसभ्याम्)*	*आसनै: (आसभि:)*
चतुर्थी	*आसनाय (आस्ने)*	*आसनाभ्याम् (आसभ्याम्)*	*आसनेभ्य: (आसभ्य:)*
पञ्चमी	*आसनात् (आस्न:)*	*आसनाभ्याम् (आसभ्याम्)*	*आसनेभ्य: (आसभ्य:)*
षष्ठी	*आसनस्य (आस्न:)*	*आसनयो: (आस्नो:)*	*आसनानाम् (आस्नाम्)*
सप्तमी	*आसने (आस्नि,आसनि)*	*आसनयो: (आस्नो:)*	*आसनेषु (आससु)*

आसनम्=उपवेशनमित्यर्थ: ।

स-आदेश:–

(५) धात्वादे: ष: स: ।६४।

प०वि०–धात्वादे: ६ ।१ ष: ६ ।१ स: १ ।१ ।

स०–धातोरादि:–धात्वादि:, तस्य–धात्वादे: (षष्ठीतत्पुरुष:) ।

अर्थ:–धात्वादे: षकारस्य स्थाने सकारादेशो भवति ।

उदा०–षह–सहते । षिच्–सिञ्चति ।

आर्यभाषाः *अर्थ–(धात्वादे:) धातु के आदि के (ष:) षकार के स्थान में (स:) सकार आदेश होता है।*

उदा०–षह–सहते। वह सहन करता है। षिच्–सिञ्चति। वह सींचता है।

सिद्धि–(१) सहते। षह्+लट्। सह्+त। सह्+शप्+त। सह्+अ+ते। सहते।

यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'षह्' के षकार को सकार आदेश होता है। 'कर्तरि शप्' (३ ।१ ।६८) से शप् विकरण प्रत्यय और 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३ ।४ ।७९) से 'त' के टि-भाग (अ) को एकारादेश होता है।

(२) सिञ्चति। षिच्+लट्। सिच्+तिप्। सिच्+श+ति। सि नुम् च्+अ+ति। सिन्च्+अ+ति। सिञ्च्+अ+ति। सिञ्चति।

यहां 'षिच् क्षरणे' (तु०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'षिच्' के षकार को सकार आदेश होता है। 'तुदादिभ्य: श:' (३ ।१ ।७७) से 'श' विकरण-प्रत्यय और 'शे मुचादीनाम्' (७ ।१ ।५९) 'षिच्' को 'नुम्' आगम होता है और वह मित् हो जाता

है। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (१।१।४६) से 'षिच्' के अन्तिम अच् से उत्तर होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से नकार को चुत्व ञकार होता है।

विशेषः *पाणिनि मुनि ने धातुपाठ में 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व-व्यवस्था के लिये कुछ धातुओं को षकारादि पढ़ा है। उन षकारादि धातुओं के षकार को इस सूत्र से सकार आदेश विधान किया गया है।*

न-आदेशः–

(६) णो नः।६५।

प०वि०-णः ६।१ नः १।१।

अनु०-धात्वादेरित्यनुवर्तते।

अन्वयः-धात्वादेर्णो नः।

अर्थः-धात्वादेर्णकारस्य स्थाने नकरादेशो भवति।

उदा०-णीञ्-नयति। णम-नमति। णह-नह्यति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(धात्वादेः) धातु के आदि के (णः) णकार के स्थान में (नः) नकार आदेश होता है।*

*उदा०-**णीञ्-नयति।** वे ले जाता है। **णम-नमति।** वह झुकता है। **णह-नह्यति।** वह बांधता है।*

*सिद्धि-(१) **नयति।** णीञ्+लट्। नी+तिप्। नी+शप्+ति। नी+अ+ति। ने+अ+ति। नय्+अ+ति। नयति।*

यहां 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा०उ०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से णीञ् धातु के आदिम णकार को नकार आदेश होता है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से अंग को गुण और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७६) से अय् आदेश होता है।

*(२) **नमति।** यहां 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'णम' धातु के आदिम णकार को नकार आदेश होता है।*

*(३) **नह्यति।** यहां 'णह बन्धने' (दि०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'णह' धातु के आदिम णकार को नकार आदेश होता है।*

विशेषः *पाणिनि मुनि ने धातुपाठ में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से णत्व-विधि की व्यवस्था के लिये कुछ धातुओं को णकारादि पढ़ा है। इस सूत्र से उनके णकार को नकार आदेश विधान किया गया है।*

लोपादेशः–

(७) लोपो व्योर्वलि।६६।।

प०वि०–लोपः १।१ व्योः ६।२ वलि ७।१।

स०–वश्च यश्च तौ व्यौ, तयोः–व्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः–वलि व्योर्लोपः।

अर्थः–वलि परतो वकार–यकारयोर्लोपो भवति।

उदा०–(**वकारः**) दिव्–दिदिवान्, दिदिवांसौ, दिदिवांसः। जीरदानुः। आस्त्रेमाणम्। (**यकारः**) उयी–ऊतम्। क्नूयी–क्नूतम्। गौधेरः। पचेरन्। यजेरन्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वलि) वल् वर्ण परे होने पर (व्योः) वकार और यकार का (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-(वकारः) दिव्–दिदिवान्। क्रीडा आदि करनेवाला। दिदिवांसौ। दो क्रीडा आदि करनेवाले। दिदिवांसः। सब क्रीडा आदि करनेवाले। जीरदानुः। प्राण-धारण करनेवाला। आस्त्रेमाणम्। गति/शोषण करनेवाले को। (यकार) उयी–ऊतम्। बुना हुआ (कपड़ा)। क्नूयी–क्नूतम्। शब्द/गीला किया हुआ। गौधेरः। गोधा का पुत्र (गोहेरा)। पचेरन्। वे सब पकावें। यजेरन्। वे सब यज्ञ करें।

सिद्धि-(१) दिदिवान्। दिव्+लिट्। दिव्+क्वसु। दिव्+वस्। दिव्-दिव्+वस्। दि-दि०+वस्। दिदिवस्+सु। दिदिव नुम् स्+स्। दिदिवान्स्+स्। दिदिवान्स्+०। दिदिवान्०। दिदिवान्।

यहां 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' (दि०प०) धातु से लिट् प्रत्यय और 'क्वसुश्च' (३।२।१०७) से लिट् के स्थान में 'क्वसु' आदेश है। इस सूत्र से वल् वर्ण (वस्) परे होने पर 'दिव्' के वकार का लोप होता है। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से 'नुम्' आगम, 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।१०) से नकार की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६६) से 'सु' का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से सकार का लोप होता है। ऐसे ही-दिदिवांसौ, दिदिवांसः।

(२) जीरदानुः। जीव्+रदानुक्। जी०+रदानु। जीरदानु+सु। जीरदानुः।

यहां 'जीव प्राणधारणे' (भ्वा०प०) धातु से 'जीवेरदानुक्' (दशपादी उ० १।१६३) से 'रदानुक्' प्रत्यय है। इस सूत्र से वल् वर्ण (रदानुक्) परे होने पर 'जीव्' के वकार का लोप होता है।

(३) आस्रेमाणम्। आङ्+स्रिवु+मनिन्। आ+सि०+मन्। आ+स्रे+मन्। आस्रेमन्+अम्। आस्रेमान्+अम्। आस्रेमाणम्।

यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'स्रिवु गतिशोषणयोः' (दि०प०) धातु से औणादिक मनिन् प्रत्यय है। इस सूत्र से वल् वर्ण (मनिन्) परे होने पर 'स्रिव्' धातु से वकार का लोप होता है। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ और 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से णत्व होता हैं। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) में बहुल-वचन से 'छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) से 'स्रिव्' धातु के वकार को ऊठ् आदेश नहीं होता है।

(४) ऊतम्। ऊयी+क्त। ऊय्+त। ऊ०+त। ऊत+सु। ऊतम्।

यहां 'ऊयी तन्तुसन्ताने' (भ्वा०आ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से वल् वर्ण (त) परे होने पर 'ऊय्' धातु के यकार का लोप होता है। ऐसे ही 'क्नूयी शब्दे उन्दे च' (भ्वा०आ०) धातु से-क्नूतम्।

(५) गौधेरः। गोधा+ङस्+ढ्रक्। गौधा+एय्र। गौध्+ए०र। गौधेर+सु। गौधेरः।

यहां षष्ठी-समर्थ 'गोधा' शब्द से अपत्य अर्थ में 'गोधाया ढ्रक्' (४।१।१२९) से ढ्रक् प्रत्यय है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'ढ्' के स्थान में 'एय्' आदेश इस सूत्र से वल् वर्ण (र) परे होने पर यकार का लोप होता है। 'किति च' (७।२।११८) से अंग को आदिवृद्धि और 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अंग के आकार का लोप होता है।

(६) पचेरन्। पच्+लिङ्। पच्+सीयुट्+ल्। पच्+शप्+सीय्+झ। पच्+अ+ईय्+रन्। पच्+अ+ई०+रन्। पचेरन्।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से लिङ् प्रत्यय और 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) से उसे 'सीयुट्' आगम होता है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय है। 'झस्य रन्' (३।४।१०५) से 'झ' के स्थान में 'रन्' आदेश होता है। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (७।२।७९) से 'सीयुट्' के सकार का लोप होता है। इस सूत्र से वल् वर्ण (र) परे होने पर 'ईय्' के यकार का लोप होता है। ऐसे ही-'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) से-यजेरन्।

लोपादेशः-

(८) वेरपृक्तस्य।६७।

प०वि०-वेः ६।१ अपृक्तस्य ६।१।

अनु०-लोप इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अपृक्तस्य वेर्लोपः।

अर्थः-अपृक्तसंज्ञकस्य वि-प्रत्ययस्य लोपो भवति।

उदा०-ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (३।२।८७)-ब्रह्महा, भ्रूणहा। स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८) घृतस्पृक्, तैलस्पृक्। भजो ण्विः (३।२।६२) अर्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अपृक्तस्य) अपृक्त-संज्ञक (विः) वि प्रत्यय का (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (३।२।८७) **ब्रह्महा**। ब्राह्मण को मारनेवाला। **भ्रूणहा**। गर्भ को नष्ट करनेवाला। स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८) **घृतस्पृक्**। घृत का स्पर्श करनेवाला। **तैलस्पृक्**। तैल का स्पर्श करनेवाला। भजो ण्विः (३।२।६२) **अर्धभाक्**। आधा भाग प्राप्त करनेवाला। **पादभाक्**। चौथा भाग प्राप्त करनेवाला। **तुरीयभाक्**। चौथा भाग प्राप्त करनेवाला।*

*सिद्धि-(१) **ब्रह्महा**। ब्रह्मन्+अम्+हन्+क्विप्। ब्रह्म+हन्+वि। ब्रह्म+हन्+०। ब्रह्महन्+सु। ब्रह्महान्+स्। ब्रह्महान्+०। ब्रह्महा०। ब्रह्महा।*

*यहां ब्रह्मन् कर्म उपपद होने पर 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से 'ब्रह्मभ्रूण वृत्रेषु क्विप्' (३।२।८७) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अपृक्तसंज्ञक 'वि' प्रत्यय का लोप होता है। 'वि' में इकार उच्चारणार्थ है। वस्तुतः 'व्' का लोप होता है। 'वेदपृक्तस्य' (६।१।६५) से 'व्' की अपृक्त संज्ञा है। ऐसे ही-**भ्रूणहा**।*

*(२) **घृतस्पृक्**। घृत+अम्+स्पृश्+क्विन्। घृत+स्पृश्+वि। घृत+स्पृश्+०। घृतस्पृख्। घृतस्पृग्। घृतस्पृक्+सु। घृतस्पृक्।*

*यहां घृत सुबन्त उपपद होने पर 'स्पृश स्पर्शने' (तु०प०) धातु से 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३।२।५८) से 'क्विन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अपृक्त संज्ञक 'वि' प्रत्यय का लोप होता है। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।२।६२) से 'स्पृश्' के 'श्' को कुत्व 'ख्', 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से 'ख्' को 'ग्' और 'वाऽवसाने' (८।४।५५) से 'ग्' को 'क्' होता है। ऐसे ही-**तैलस्पृक्**।*

*(३) **अर्धभाक्**। अर्ध+अम्+भज्+ण्वि। अर्ध+भाज्+वि। अर्ध+भाज्+०। अर्धभाज्। अर्धभाग्। अर्धभाक्+सु। अर्धभाक्।*

*यहां अर्ध सुबन्त उपपद होने पर 'भज सेवायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से 'भजो ण्विः' (३।२।६२) से 'ण्वि' प्रत्यय है। इस सूत्र से अपृक्त संज्ञक 'वि' प्रत्यय का लोप होता है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'भज्' को उपधावृद्धि, 'चोः कुः' (८।२।३०) से 'ज्' को कुत्व ग् और 'वाऽवसाने' (८।४।५५) से 'ग्' को चर्त्व क् होता है। ऐसे ही-**पादभाक्**, **तुरीयभाक्**।*

लोपादेशः–

(६) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्।६८।

प०वि०–हल्-ङी-आब्भ्यः ५।३ दीर्घात् ५।१ सु-ति-सि १।१ अपृक्तम् १।१ हल् १।१।

स०–हल् च ङीश्च आप् च ते हल्ङ्यापः, तेभ्यः–हल्ङ्याब्भ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। सुश्च तिश्च सिश्च एतेषां समाहारः–सुतिसि (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–लोप इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिसि अपृक्तं हल् लोपः।

अर्थः–हलन्ताद् ङी-अन्ताद् आबन्ताच्च दीर्घात् परं सु, ति, सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते।

उदा०–हलन्तात् सुलोपः–राजा, तक्षा, उखास्रत्, पर्णध्वत्। ङ्यन्तात् सुलोपः–कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। आबन्तात् सुलोपः–खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या। तिलोपः सिलोपश्च हलन्तादेव भवति। तिलोपः–अबिभर्भवान्। अजागर्भवान्। सिलोपः–अभिनोऽत्र। अच्छिनोऽत्र।

आर्यभाषाः *अर्थ–(हल्ङ्याब्भ्यः) हलन्त, ङी-अन्त और आबन्त (दीर्घात्) दीर्घ शब्द से परे (सुतिसि) सु, ति, सि इन (अपृक्तम्) अपृक्तसंज्ञक (हल्) हल् रूप प्रत्ययों (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०–हलन्त से सु-लोप-राजा (भूपाल)। तक्षा (खाती)। **उखास्रत्।** उखा (हण्डिया) से गिरनेवाला पदार्थ। **पर्णध्वत्।** पत्तों को गिरानेवाला। ङी-अन्त से सुलोप-**कुमारी।** अविवाहिता कन्या। **गौरी।** पार्वती। **शार्ङ्गरवी।** ऋषि-कन्या का नाम। आबन्त से सु-लोप-**खट्वा।** खाट। **बहुराजा।** बहुत राजाओंवाली। **कारीषगन्ध्या।** करीषगन्धि की पुत्री। ति और सि का लोप हलन्त से परे ही होता है। ति-लोप-**अभिनोऽत्र।** तूने यहां भेदन किया। **अच्छिनोऽत्र।** तूने यहां छेदन किया।*

सिद्धि–राजा। राजन्++सु। राजान्+स्। राजान्+०। राजा०। राजा।

यहां 'राजन्' शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'सु' प्रत्यय है। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से नकारान्त 'राजन्' अंग की उपधा को दीर्घ होता है। हलन्त 'राजान्' शब्द से परे इस सूत्र से अपृक्त संज्ञक 'सु' का लोप होता है। 'अपृक्त

एकाल्प्रत्ययः' (१।३।४१) से एकाल् प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा है। अतः 'सु' का उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) से इत् होकर अपृक्त 'स्' का लोप होता है। ऐसे ही-तक्षा, उखास्रत्, पर्णध्वत्।

(२) कुमारी। कुमारी+सु। कुमारी+स्। कुमारी+०। कुमारी।

यहां प्रथम 'कुमार' शब्द से 'वयसि प्रथमे' (४।१।२०) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय है। इस सूत्र से ङी-अन्त 'कुमारी' शब्द से अपृक्तसंज्ञक 'सु' प्रत्यय का लोप होता है।

(३) गौरी। यहां 'गौर' शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) शाङ्‌र्गरवी। यहां 'शाङ्‌र्गरव' शब्द से 'शाङ्गरवाद्यञो ङीन्' (४।१।७३) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीन्' प्रत्यय है। शेष कार्य-पूर्ववत् है।

(५) खट्वा। खट्वा+सु। खट्वा+स्। खट्वा+०। खट्वा।

यहां 'खट्व' शब्द से 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आबन्त 'खट्वा' शब्द से अपृक्तसंज्ञक 'सु' प्रत्यय का लोप होता है।

(६) बहुराजा। यहां 'बहुराजन्' शब्द से 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' (४।१।११३) से 'डाप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) कारीषगन्ध्या। यहां 'कारीषगन्ध्य' शब्द से 'यङश्चाप्' (४।१।७४) से स्त्रीलिङ्ग में 'चाप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(८) अबिभः। भृ+लङ्। अट्+भृ+तिप्। अ+भृ+शप्+ति। अ+भृ+०+ति। अ+भ् इर्-भृ+त्। अ+ब् इ भर्+त्। अ+बि+भर्+०। अबिभः।

यहां 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से लङ् प्रत्यय है। 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में तिप् आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप्-विकरण प्रत्यय और 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से शप् को श्लु (लोप) होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से 'भृ' धातु को द्वित्व, 'भृञामित्' (७।४।७५) से 'भृ' धातु के अभ्यास को इकार आदेश और वह 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपर होता है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास भकार को जश् बकार आदेश होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'भृ' को गुण 'अ' और उसे पूर्ववत् रपर 'अर्' होता है। इस सूत्र से अपृक्तसंज्ञक ति-प्रत्यय (त्) का लोप होता है। 'खरवासनयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से रेफ को विसर्जनीय आदेश होता है। ऐसे ही 'जागृ निद्राक्षये' (अदा०प०) धातु से-अजागः।

(९) अभिनः। भि[illegible] [illegible]। अट्+भिद्+सिप्। अ+अभि श्नम् द्+सि। अ+भिन द्+स। अ+भिनद्+[illegible]+स। अभिनद्+०। अभिनर्। अभिनः।

यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से लङ् प्रत्यय और 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में सिप् आदेश है। 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८) से 'श्नम्' विकरण-प्रत्यय है। 'दश्च' (८।२।७५) से दकार को रुत्व और इस सूत्र से अपृक्तसंज्ञक 'सि' प्रत्यय (स्) का लोप होता है। ऐसे ही 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा०प०) धातु से-अच्छिन्नः।

तोपादेशः—

(१०) एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः।६६।

प०वि०-एङ्-ह्रस्वात् ५।१ सम्बुद्धेः ६।१।

स०-एङ् च ह्रस्वश्च एतयोः समाहारः एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्-एङ्ह्रस्वात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-लोपः, हल् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेर्हलो लोपः।

अर्थः-एङन्ताद् हलन्ताच्च प्रातिपदिकात् परस्य सम्बुद्धेर्हलो लोपो भवति।

उदा०-एङन्तात्-हे अग्ने ! हे वायो ! ह्रस्वान्तात्-हे देवदत्त ! हे नदि ! हे वधु ! हे कुण्ड !

***आर्यभाषाः** अर्थ-(एङ्ह्रस्वात्) एङन्त और ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से परे (सम्बुद्धेः) सम्बुद्धिसंज्ञक (हल्) हल् वर्ण का (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-एङन्त-हे अग्ने ! हे वायो ! ह्रस्वान्त-हे देवदत्त ! हे नदि ! हे वधू ! हे कुण्ड !

सिद्धि-(१) अग्ने। अग्नि+सु। अग्ने+स्। अग्ने+०। अग्ने।

यहां 'अग्नि' शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) से सम्बुद्धि-संज्ञक 'सु' प्रत्यय है इसकी 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (२।३।४९) से सम्बुद्धि संज्ञा है। इस सूत्र से एङन्त 'अग्ने' शब्द से परे सम्बुद्धि-संज्ञक हल् 'स्' का लोप होता है। ऐसे ही 'वायु' शब्द से-हे वायो !

(२) देवदत्त। देवदत्त+सु। देवदत्त+स्। देवदत्त+०। देवदत्त।

यहां देवदत्त' शब्द से पूर्ववत् 'सु' प्रत्यय और उसकी सम्बुद्धि संज्ञा है। इस सूत्र से ह्रस्वान्त देवदत्त' शब्द से परे सम्बुद्धि-संज्ञक हल् 'स्' का लोप होता है।

(३) नदि। नदी+सु। नदि+स्। नदि+०। नदि।

हे 'नदी' शब्द को 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७।३।१०७) से ह्रस्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-हे वधु !

(४) कुण्ड। कुण्ड+सु। कुण्ड+अम्। कुण्ड+म्। कुण्ड+०। कुण्ड।

हे 'कुण्ड' शब्द से पूर्ववत् 'सु' प्रत्यय है और उसे 'अतोऽम्' (७।१।२४) से 'अम्' आदेश होता है। 'अमि पूर्वः' (६।१।१०४) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होकर इस सूत्र से ह्रस्वान्त 'कुण्ड' शब्द से परे सम्बुद्धि-संज्ञक हल् 'म्' का लोप होता है।

लोपादेशः-

(११) शेश्छन्दसि बहुलम्।७०।

प०वि०-शेः ६।१ छन्दसि ७।१ बहुलम् १।१।

अनु०-लोप इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि शेर्बहुलं लोपः।

अर्थः-छन्दसि विषये 'शि' इत्येतस्य प्रत्ययस्य बहुलं लोपो भवति।

उदा०-या क्षेत्रा, यानि क्षेत्राणि (शौ०सं० १४।२।७) या वना (शौ०सं० १४।२।७)। यानि वनानि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (शेः) 'शि' इस प्रत्यय का (बहुलम्) प्रायशः (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-या क्षेत्रा, यानि क्षेत्राणि (शौ०सं० १४।२।७) या वना (शौ०सं० १४।२।७)। यानि वनानि।

सिद्धि-(१) या। यत्+जस्। यत्+शि। य अ+इ। य+०। य नुम्+०। यन्+०। यान्+०। या०। या।

यहां 'यत्' शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'जस्' प्रत्यय, उसके स्थान में 'जश्शसोः शि' (७।१।२०) से 'शि' आदेश और 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से 'यत्' को अकार आदेश होता है। इस सूत्र से छन्द में 'शि' प्रत्यय का लोप होता है। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१।१।६१) से प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण कार्य की चिकीर्षा में 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से 'नुम्' आगम, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।१।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही 'क्षेत्र' शब्द से-क्षेत्रा और 'वन' शब्द से-वना।

(२) यानि। यहां 'यत्' शब्द से पूर्ववत् 'शि' प्रत्यय और बहुल-पक्ष में उसका लोप नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'क्षेत्र' शब्द से-क्षेत्राणि और 'वन' शब्द से-वनानि।

।। इति आदेशप्रकरणम् ।।

तुक्-आगमविधिः

तुक्–

(१) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्।७१।

प०वि०–ह्रस्वस्य ६।१ पिति ७।१ कृति ७।१ तुक् १।१।

स०–प इद् यस्य स पित्, तस्मिन्–पिति (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः–पिति कृति ह्रस्वस्य तुक्।

अर्थः–पिति कृति प्रत्यये परतो ह्रस्वान्तस्य धातोस्तुक्-आगमो भवति।

उदा०–अग्निचित्। सोमसुत्। प्रकृत्य। प्रहृत्य। उपस्तुत्य।

आर्यभाषाः *अर्थ–(पिति) पित् (कृति) कृत्-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त धातु को (तुक्) तुक् आगम होता है।*

*उदा०–**अग्निचित्।** अग्नि का चयन करनेवाला। **सोमसुत्।** सोम का सवन करनेवाला (निचोड़नेवाला)। **प्रकृत्य।** यथावत् करके। **प्रहृत्य।** प्रहार करके। **उपस्तुत्य।** प्रशंसा करके।*

सिद्धि–(१) अग्निचित्। अग्नि+अम्+चि+क्विप्। अग्नि+चि+वि। अग्नि+चि+०। अग्नि+चि तुक्+०। अग्निचित्। अग्निचित्+सु। अग्निचित्।०। अग्निचित्।

यहां अग्नि कर्म उपपद होने पर 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'अग्नौ चेः' (३।२।९१) से क्विप् प्रत्यय है। इस पित् एवं कृत्-संज्ञक प्रत्यय के परे होने पर ह्रस्वान्त 'चि' धातु को 'तुक्' आगम होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (७।१।६६) से 'सु' का लोप हो जाता है।

(२) सोमसुत्। यहां सोम कर्म उपपद होने पर 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०उ०) धातु से 'सोमे सुञः' (३।२।९०) से 'क्विप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) प्रकृत्य। प्र+कृ+क्त्वा। प्र+कृ+ल्यप्। प्र+कृ तुक्+य। प्र+कृत्+य। प्रकृत्य+सु। प्रकृत्य+०। प्रकृत्य।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय है। यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादि-तत्पुरुष समास है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है। इस पित् कृत् प्रत्यय के परे होने पर ह्रस्वान्त 'कृ' धातु को 'तुक्' आगम होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से प्रहृत्य और 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा०उ०) धातु से–उपस्तुत्य।

संहिता (सन्धि) प्रकरणम्

अधिकारः–

(१) संहितायाम् ।७२।

वि०-संहितायाम् ७ ।१ ।

अर्थः- **'संहितायाम्'** इत्यधिकारोऽयम्, **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (६ ।१ ।१५८) इति यावत्। इतोऽग्रे यद् वक्ष्यति **'संहितायाम्'** इत्येवं तद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति- **'इको यणचि'** (६ ।१ ।७७) इति-दध्यत्र, मध्वत्र।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) 'संहितायाम्' इसका 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६ ।१ ।१५८) इस सूत्र तक अधिकार है। इससे आगे जो कहेंगे उसे (संहितायाम्) सन्धि विषय में समझें। पाणिनि मुनि कहेंगे– 'इको यणचि' (६ ।१ ।७७) अर्थात् संहिता विषय में अच् वर्ण परे होने पर इक् के स्थान में यण् आदेश ओता है। जैसे–दध्यत्र। दधि=दही यहां है। मध्वत्र। मधु=शहद यहां है।*

तुक्-आगमः–

(२) छे च ।७३।

प०वि०-छे ७ ।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-ह्रस्व, तुक्, संहितायाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां छे ह्रस्वस्य तुक्।

अर्थः-संहितायां विषये छकारे परतो ह्रस्वस्य तुक्-आगमो भवति।

उदा०-स इच्छति। स गच्छति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि विषय में (छे) छकार वर्ण परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्व वर्ण को (तुक्) तुक् आगम होता है।*

उदा०-स इच्छति। वह चाहता है। स गच्छति। वह जाता है।

सिद्धि-इच्छति। इष्+लट्। इष्+तिप्। इष्+शप्+ति। इछ्+अ+ति। इ तुक्+छ्+अ+ति। इत्छ्+अ+ति। इच्छ्+अ+ति। इच्छति।

यहां 'इषु इच्छायाम्' (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३ ।४ ।७८) से लकार के स्थान में 'तिप्' आदेश और 'कर्तरि शप्' (३ ।१ ।६८) से शप् विकरण-प्रत्यय है। 'इषुगमियमां छः' (७ ।३ ।७७) से 'इष्' के षकार को छकार आदेश होता है उस छकार वर्ण के परे होने पर 'इछ्' के ह्रस्व वर्ण इकार को इस सूत्र से 'तुक्' आगम होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८ ।४ ।३९) से तकार को चुत्व चकार होता है। ऐसे ही 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से-गच्छति।

तुक्-आगमः–

(३) आङ्माङोश्च ।७४।

प०वि०–आङ्-माङोः ६ ।२ च अव्ययपदम्।

स०–आङ् च माङ् च तौ आङ्माङौ, तयोः-आङ्माङोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०–तुक्, संहितायाम्, छे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां छे आङ्माङोश्च तुक्।

अर्थः–संहितायां विषये छकारे परत आङ्माङोः शब्दयोस्तुक्-आगमो भवति। ईषदादिषु चतुर्ष्वर्थेषु य आङ्शब्दः सोऽत्र गृह्यते।

उदा०–(आङः) ईषदर्थे ईषच्छाया=आच्छाया। क्रियायोगे आच्छादयति। मर्यादायाम् आच्छायायाः। अभिविधौ आच्छायाम्। **(माङ्)** माच्छैत्सीत्। माच्छिदत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (छे) छकार परे होने पर (आङ्माङोः) आङ् और माङ् शब्दों को (तुक्) आगम होता है। ईषत् आदि चार अर्थों में जो 'आङ्' शब्द है यहां उसका ग्रहण किया जाता है।*

*उदा०-(आङ्) ईषत्-**ईषच्छाया=आच्छाया।** थोड़ी छाया। **क्रियायोग-आच्छादयति।** वह ढकता है। **अभिविधि-आच्छायाम्।** छाया तक (छाया सहित सीमा)। **मर्यादायाम् आच्छायायाः।** छाया तक (छाया रहित सीमा)। **(माङ्) माच्छैत्सीत्।** उसने छेदन नहीं किया। **माच्छिदत्।** उसने छेदन नहीं किया।*

*सिद्धि-(१) **आच्छाया।** आङ्+छाया। आ तु क्+छाया। आत्+छाया।आच्+छाया। आच्छाया।*

यहां संहिता विषय में छकार परे होने पर ईषत् अर्थ में विद्यमान 'आङ्' शब्द को इस सूत्र से 'तुक्' आगम होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से तकार को चुत्व चकार होता है।

*(२) **आच्छादयति।** यहां 'आङ्' शब्द क्रियायोग में है अतः इसकी 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) से उपसर्ग संज्ञा है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **आच्छायायाः।** यहां 'आङ्' शब्द की 'आङ्मर्यादावचने' (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। और 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) से उसके योग में पञ्चमी विभक्ति है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(४) आच्छायाम्। यहां आङ् और छाया शब्दों का 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) माच्छैत्सीत्। यहां 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा०प०) धातु से 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) से लुङ् प्रत्यय है। संहिता विषय में छकार परे होने पर इस सूत्र से 'माङ्' शब्द को तुक् आगम होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(६) माच्छिदत्। यहां 'छिदिर्' धातु से पूर्ववत् लुङ् प्रत्यय है। 'इरितो वा' (३।१।५७) से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

तुक्-आगमः–

(४) दीर्घात्।७५।

वि०–दीर्घात् ५।१।

अनु०–तुक्, संहितायाम्, छे इति चानुवर्तति।

अन्वयः–संहितायां दीर्घाच्छे तुक्।

अर्थः–संहितायां विषये दीर्घाद् वर्णाच्छकारे परतस्तस्य दीर्घस्य तुक्-आगमो भवति।

उदा०–स ह्रीच्छति। स म्लेच्छति। सोऽपचाच्छायते। स विचाच्छायते।

आर्यभाषाः *अर्थ*–(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (दीर्घात्) दीर्घ वर्ण से उत्तर (छे) छकार परे होने पर उस दीर्घ वर्ण को (तुक्) तुक् आगम होता है।

उदा०–स ह्रीच्छति। वह लज्जा करता है। स म्लेच्छति। वह अव्यक्त शब्द करता है। सोऽपचाच्छायते। वह पुनः-पुनः/अधिक अपछेद करता है। स विचाच्छायते। वह पुनः-पुनः/अधिक विच्छेद करता है।

सिद्धि–*(१) ह्रीच्छति।* ह्री+तुक्+छ्। ह्रीत्+छ्। ह्रीच्+छ्। ह्रीच्छ्+लट्। ह्रीच्छ्+तिप्। ह्रीच्छ्+शप्+ति। ह्रच्छ्+अ+ति। ह्रीच्छति।

यहां संहिता विषय में दीर्घ 'ह्री' से उत्तर छकार परे होने पर इस सूत्र से 'ह्री' को तुक् आगम होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से तकार को चुत्व चकार होता है। 'ह्री लज्जायाम्' (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। ऐसे ही 'म्लेछ अव्यक्ते शब्दे' (भ्वा०प०) धातु को 'तुक्' आगम और उससे 'लट्' प्रत्यय है।

(२) अपचाच्छायते। अप+छा+यङ्। अप+छाय्-छाय। अप+छा-छाय। अप+चा तुक्-छाय। अप+चात्-छाय। अप+चाच्+छाय। अपचाच्छाय+लट्। अपचाच्छाय+तिप्। अपचाच्छाय+शप्+ति। अपचाच्छाय+अ+ति। अपचाच्छायति।

यहां अप-उपसर्गपूर्वक 'छो छेदने' (दि०प०) धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय, 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से 'छो' को आकार आदेश होकर 'सन्यङोः' (६।१।९) से उसे द्वित्व होता है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास के छकार को चकार आदेश होता है। दीर्घ 'चा' से उत्तर छकार परे होने पर इस सूत्र से उस दीर्घ 'चा' को 'तुक्' आगम होता है और उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से चुत्व चकार होता है। यङन्त 'अपच्छाय' धातु से 'लट्' प्रत्यय है। ऐसे ही-विचाच्छायते।

तुक्-आगमः–

(५) पदान्ताद् वा।७६।

प०वि०-पदान्तात् ५।१ वा अव्ययपदम्।

अनु०-तुक्, संहितायाम्, छे, दीर्घाद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां पदान्ताद् दीर्घाच्छे वा तुक्।

अर्थः-संहितायां विषये पदान्ताद् दीर्घवर्णाच्छकारे परतस्तस्य दीर्घस्य विकल्पेन तुक् आगमो भवति।

उदा०-कुटीच्छाया, कुटीछाया। कुवलीच्छाया, कुवलीछाया।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (पदान्तात्) पदान्त (दीर्घात्) दीर्घ वर्ण से उत्तर (छे) छकार परे होने पर उस दीर्घ वर्ण को (वा) विकल्प से (तुक्) तुक् आगम होता है।*

उदा०-कुटीच्छाया, कुटीछाया। कुटी=झोंपड़ी की छाया। कुवलीच्छाया, कुवलीछाया। कुई (मोतिया) नामक लता की छाया।

सिद्धि-(१) कुटीच्छाया। कुटी+ङस्+छाया। कुटी+तुक्+छाया। कुटीत्+छाया। कुटीच्+छाया। कुटीछाया।

यहां कुटी और छाया शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। अन्तर्वर्तिनी 'ङस्' विभक्ति को मानकर 'सुप्तिङन्तपदम्' (१।४।१४) से 'कुटी' शब्द की पद-संज्ञा है। 'कुटी' पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ वर्ण ईकार को इस सूत्र से तुक् आगम होता है। और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से उस तकार को चुत्व चकार होता है। ऐसे ही-कुवलीच्छाया।

(२) कुटीछाया। यहां 'कुटी' शब्द के पदान्त दीर्घ वर्ण ईकार को विकल्प पक्ष में इस सूत्र से तुक् आगम नहीं है। ऐसे ही-कुवलीछाया।

यण्-आदेशः–

(६) इको यणचि।७७।

प०वि०–इकः ६।१। यण् १।१ अचि ७।१।

अनु०–संहितायाम् इत्यनुवर्तति।

अन्वयः–संहितायामचि इको यण्।

अर्थः–संहितायां विषयेऽचि परत इकः स्थाने यथासंख्यं यण् आदेशो भावति। **उदाहरणम्**–

	इक्	यण्	प्रयोगः	भाषार्थ
(१)	इ	य्	दधि+अत्र=दध्यत्र	दधि=दही यहां है।
(२)	उ	व्	मधु+अत्र=मध्वत्र	मधु=शहद यहां है।
(३)	ऋ	र्	कर्तृ+अर्थम्=कर्त्रर्थम्	कर्ता के लिये।
(४)	लृ	ल्	लृ+आकृतिः=लाकृतिः	लृ की आकृति (आकार)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (इकः) इक् के स्थान में यथासंख्य (यण्) यण् आदेश होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) दध्यत्र। दधि+अत्र। दध् य्+अत्र। दध्यत्र।

यहां संहिता विषय में अच् वर्ण परे होने पर इस सूत्र से इक् (इ) के स्थान में यण् (य्) आदेश है।

(२) मध्वत्र। मधु+अत्र। मध्व्+अत्र। मध्वत्र।

यहां इस सूत्र से इक् (उ) के स्थान में यण् (व्) आदेश है।

(३) कर्त्रर्थम्। कर्तृ+अर्थम्। कर्त्र्+अर्थम्। कर्त्रर्थम्।

यहां इक् (ऋ) के स्थान में यण् (र्) आदेश है।

(४) लाकृतिः। लृ+आकृतिः। ल्+आकृतिः। लाकृतिः।

यहां इक् (लृ) के स्थान में यण् (ल्) आदेश है।

अयादि-आदेशाः–

(७) एचोऽयवायावः।७८।

प०वि०–एचः ६।१ अय्-अव्-आय्-आवः १।३।

स०–अय् च अव् च आय् च आव् च ते-अयवायावः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितामचि एचोऽयवायावः

अर्थः-संहितायां विषयेऽचि परत एचः स्थाने यथासंख्यम् अयवायाव आदेशा भवन्ति। उदाहरणम्-

	एच्	अयादयः	प्रयोगः	भाषार्थ
(१)	ए	अय्	चे+अनम्=चयनम्	चुनना।
(२)	ओ	अव्	लो+अनम्=लवनम्	काटना।
(३)	ऐ	आय्	चै+अकः=चायकः	चुननेवाला।
(४)	औ	आव्	लौ+अकः=लावकः	काटनेवाला।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि विषय में (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (एचः) एच=ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में यथासंख्य (अयवायावः) अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) चयनम्। चि+ल्युट्। चि+यु। चे+अन। च् अय्+अन। चयन+सु। चयनम्।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'ल्युट् च' (३।३।११५) से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से इगन्त अंग (चि) को गुण होता है। इस सूत्र से संहिता-विषय में अच् वर्ण परे होने पर एच् (ए) के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। ऐसे ही-के+एते=कयेते। ये+एते=ययेते।

(२) लवनम्। लू+ल्युट्। लू+यु। लो+अन। ल् अव्+अन। लवन+सु। लवनम्।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् ल्युट् प्रत्यय है। पूर्ववत् 'लू' को गुण होकर इस सूत्र से एच् (ओ) के स्थान में 'अव्' आदेश होता है।

(३) चायकः। चि+ण्वुल्। चि+वु। चै+अक। च् आय्+अक। चायक+सु। चायकः।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अजन्त अंग 'चि' को वृद्धि (ऐ) होती है। इस सूत्र से एच् (ऐ) के स्थान में 'आय्' आदेश होता है।

लावकः। लू+ण्वुल्। लू+वु। लौ+अक। ल् आव्+अक। लावक+सु। लावकः।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् 'ण्वुल्' प्रत्यय है। इस सूत्र से एच् (औ) के स्थान में आव् आदेश होता है। ऐसे ही-वायौ+अवरुणद्धि=वायाववरुणद्धि। वह वायु में रोकता है।

वान्त-आदेशः–

(८) वान्तो यि प्रत्यये।७६।

प०वि०-वान्तः १।१ यि ७।१ प्रत्यये ७।१।

स०-वोऽन्ते यस्य स वान्तः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, एच इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां यि प्रत्यये एचो वान्तः।

अर्थः-संहितायां विषये यकारादौ प्रत्यये परत एचः स्थाने वान्त आदेशो भवति। वान्तः=अव्-आवावित्यर्थः।

उदा०-(**अव्**) बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः (**आव्**) नाव्यो ह्रदः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (यि) यकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (एचः) एच्=ओ और औ के स्थान में (वान्तः) वकारान्त=अव् और आव् आदेश होते हैं।*

*उदा०-(अव्) **बाभ्रव्यः**। बभ्रु का पौत्र (कौशिक)। **माण्डव्यः**। मण्डु का पौत्र। **शङ्कव्यं दारु**। शङ्कु=खूटे के लिये हितकारी लकड़ी। **पिचव्यः कार्पासः** पिचु=रूई के लिये हितकारी कपास। (आव्) **नाव्यो ह्रदः**। नौका से तरने योग्य तालाब।*

*सिद्धि-(१) **बाभ्रव्यः**। बभ्रु+यञ। बाभ्रो+य। बाभ्र् अव्+य। बाभ्रव्य+सु। बाभ्रव्यः।*

*यहां 'बभ्रु' शब्द से **'मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः'** (४।१।१०६) से गोत्रापत्य (कौशिक) अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। **'ओर्गुणः'** (६।४।१४६) से अंग को गुण और **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है। इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'बाभ्रो' के एच् (ओ) के स्थान में वान्त (अव्) आदेश होता है।*

*(२) **माण्डव्यः**। यहां 'मण्डु' शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४।१।१०५) से 'यञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **शङ्कव्यम्**। यहां 'शङ्कु' शब्द से **'उगवादिभ्यो यत्'** (५।१।२) से हित-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(४) **पिचव्यः**। यहां 'पिचु' शब्द से **'उगवादिभ्यो यत्'** (५।१।२) से हित-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(५) **नाव्यः**। नौ+यत्। न् आव्+य। नाव्य+सु। नाव्यम्।*

*यहां 'नौ' शब्द से **'नौवयोधर्म०'** (४।४।९१) से तार्य-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर एच् (औ) के स्थान में वान्त (आव्) आदेश होता है।*

वान्त-आदेशः–

(९) धातोस्तन्निमित्तस्यैव।८०।

प०वि०-धातोः ६।१ तन्निमित्तस्य ६।१ एव अव्ययपदम्।

स०- स निमित्तं यस्य स तन्निमित्तः, तस्य-तन्निमित्तस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, एचः, वान्तः, यि, प्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां यि प्रत्यये धातोस्तन्निमित्तस्यैवैचो वान्तः।

अर्थः-संहितायां विषये यकारादौ प्रत्यये परतो धातोस्तंन्निमित्तस्य=यकारादिप्रत्ययनिमित्तस्यैव एचः स्थाने वान्त आदेशो भवति।

उदा०-(अव्) लव्यम्, पव्यम्। (आव्) अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (यि) यकारादि प्रत्यय परे होने पर (धातोः) धातु के (तन्निमित्तस्य) उस यकारादि प्रत्यय निमित्तक (एव) ही (एचः) एच्=ओ और औ के स्थान में (वान्तः) वान्त=अव् और आव् आदेश होते हैं।*

*उदा०-(अव्) **लव्यम्।** छेदन करने योग्य। **पव्यम्।** पवित्र करने योग्य। (आव्) **अवश्यलाव्यम्।** अवश्य छेदन करने योग्य। **अवश्यपाव्यम्।** अवश्य पवित्र करने योग्य।*

*सिद्धि-(१) **लव्यम्।** लू+यत्। लो+य। ल् अव्+य। लव्य+सु। लव्यम्।*

*यहां **'लूञ् छेदने'** (क्र्या०उ०) धातु से **'अचो यत्'** (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।१।८४) से लू इगन्त अंग को गुण (ओ) होता है। यह 'लू' धातु का ओकार यकारादि प्रत्ययनिमित्तक है। अतः इस सूत्र से उसे वान्त (अव्) आदेश होता है। ऐसे ही **'पूञ् पवने'** (क्र्या०उ०) धातु से-**पव्यम्।***

*(२) **अवश्यलाव्यम्।** अवश्यम्+लू+ण्यत्। अवश्यम्+लौ+य। अवश्यम्+ल् आव्+य। अवश्यलाव्य+सु। अवश्यलाव्यम्।*

*यहां 'अवश्यम्' उपपद होने पर **'लूञ् छेदने'** (क्र्या०उ०) धातु से **'ओरावश्यके'** (३।१।१२५) से 'ण्यत्' प्रत्यय है। **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से 'लू' को वृद्धि (औ) होती है। यह 'लू' धातु का औकार यकारादि प्रत्ययनिमित्तक है। अतः इस सूत्र से उसे वान्त (आव्) आदेश होता है। ऐसे ही **'पूञ् पवने'** (क्र्या०उ०) धातु से-**अवश्यपाव्यम्।***

निपातनम्–

(१०) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे।८१।

प०वि०-क्षय्य-जय्यौ १।२ शक्यार्थे ७।१।

स०-क्षय्यश्च जय्यश्च तौ क्षय्यजय्यौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। शक्यश्चासावर्थः शक्यार्थः, तस्मिन्-शक्यार्थे (कर्मधारयतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, यि, प्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां शक्यार्थे क्षय्यजय्यौ यि प्रत्यये।

अर्थः-संहितायां विषये शक्यार्थे क्षय्यजय्यौ शब्दौ यकारादौ प्रत्यये परतो निपात्येते।

उदा०-**(क्षय्यः)** क्षेतुं शक्यः-क्षय्यः। **(जय्यः)** जेतुं शक्यः-जय्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (शक्यार्थे) शक्य अर्थ में (क्षय्यजय्यौ) क्षय्य और जय्य शब्द (यि) यकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर निपातित हैं।*

उदा०-(क्षय्य) क्षीण कर सकने योग्य-क्षय्य। (जय्य) जीत सकने योग्य-जय्य।

सिद्धि-क्षय्यः। क्षि+यत्। क्षे+य। क्ष् अय्+य। क्षय्य+सु। क्षय्यः।

यहां 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'क्षि' इगन्त अंग को गुण (ए) होता है। इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर एच् (ए) के स्थान में 'अय्' आदेश निपातित है। वैयाकरण 'क्षि निवासगत्योः' (तु०प०) 'क्षि हिंसायाम्' (स्वा०प०) धातु से भी 'क्षय्यः' शब्द की सिद्धि मानते हैं। ऐसे ही 'जि जये' (भ्वा०प०) धातु से-जय्यः।

निपातनम्–

(११) क्रय्यस्तदर्थे।८२।

प०वि०-क्रय्यः १।१ तदर्थे ७।१।

स०-तस्यार्थः-तदर्थः, तस्मिन्-तदर्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, यि, प्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां तदर्थे क्रय्यो यि प्रत्यये।

अर्थः-संहितायां विषये-तदर्थे=क्रयार्थे क्रय्यः शब्दो यकारादौ प्रत्यये परतो निपात्यते।

उदा०-क्रेतुं योग्यः-क्रय्यः गौः। क्रय्यः कम्बलः। क्रयार्थं य आपणे प्रसारितः स क्रय्यः कम्बल इत्युच्यते।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (तदर्थे) उसी क्री-धातु के अर्थ में (क्रय्यः) क्रय्य शब्द (यि) यकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर निपातित हैं।

उदा०-क्रय करने योग्य-क्रय्य गौ (बैल)। क्रय्यः कम्बलः। क्रय करने के लिये जो आपण=दुकान में फैलाया जाता है वह 'क्रय्य' कम्बल कहाता है। मूल्य से ग्रहण करने योग्य 'क्रेय' कहाता है।

सिद्धि-(१) क्रय्यः। क्री+यत्। क्रे+य। क्र् अय्+य। क्रय्य+सु। क्रय्यः।

यहां 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या०उ०) धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से यत् प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से क्री इगन्त अंग को गुण (क्रे) होता है। इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर एच् (ए) के स्थान में अय् आदेश निपातित है।

निपातनम्—

(१२) भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि।८३।

प०वि०-भय्य-प्रवय्ये १।२ च अव्ययपदम् छन्दसि ७।१।

स०-भय्यश्च प्रवय्या च ते-भय्यप्रवय्ये (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, यि, प्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां छन्दसि भय्यप्रवय्ये च यि प्रत्यये।

अर्थः-संहितायां छन्दसि च विषये भय्यप्रवय्याशब्दौ यकारादौ प्रत्यये परतो निपात्येते।

उदा०-भय्यं किलासीत् (द्र०-का० सं० ३३।४)। वत्सतरी प्रवय्या।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में एवं (छन्दसि) वेदविषय में (भय्यप्रवय्ये) भय्य और प्रवय्या शब्द (यि) यकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर निपातित हैं।

उदा०-भय्यं किलासीत् (द्र०-का० सं० ३३।४)। वत्सतरी प्रवय्या।

सिद्धि-(१) भय्यम्। भी+यत्। भे+य। भ् अय्+य। भय्य+सु। भय्यम्।

यहां 'ञिभी भये' (जु०प०) धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) से अपादान कारक में 'यत्' प्रत्यय है। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'

(७।३।८४) से 'भि' इगन्त अंग को गुण (भे) होता है। इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर एच् (ए) के स्थान में अय् आदेश निपातित है।

*(२) **प्रवय्या**। प्र+वी+यत्। प्र+वे+य। वे+व् अय+य। प्रवय्य+टाप्। प्रवय्या+सु। प्रवय्या।*

*यहां प्र-उपसर्गपूर्वक **'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** (अदा०प०) धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। 'वी' धातु को पूर्ववत् गुण होकर इस सूत्र से यकारादि प्रत्यय परे होने पर एच् (ए) के स्थान में 'अय्' आदेश निपातित है। यह शब्द स्त्रीलिङ् में ही निपातित है। **वत्सतरी प्रवय्या**। गर्भ-ग्रहण करने योग्य बछड़ी।*

एकादेश-अधिकारः–

(१३) एकः पूर्वपरयोः।८४।

प०वि०–एकः १।१ पूर्व-परयोः ६।२।

स०–पूर्वश्च परश्च तौ पूर्वपरौ, तयोः–पूर्वपरयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–संहितायाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां पूर्वपरयोरेकः।

अर्थः–संहितायां विषये पूर्वपरयोः स्थाने एक आदेशो भवति, इत्यधिकारोऽयम्, **'ऋत उत्'** (६।१।१०७) इति यावत्। यथा वक्ष्यति-**'आद्गुणः'** (६।१।८४) इति। तत्रावर्णादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने गुणरूप एकादेशो भवति।

उदा०–खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर वर्णों के स्थान में (एकः) एक वर्णरूप आदेश होता है। इसका **'ऋत उत्'** (६।१।१७७) तक अधिकार है। जैसे पाणिनि मुनि कहेंगे–**'आद्गुणः'** (६।१।८४)। वहां अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर वर्णों के स्थान में गुण रूप एक-आदेश होता है।*

*उदा०–**खट्वेन्द्रः**। खाट का स्वामी। **मालेन्द्रः**। माला का स्वामी।*

*सिद्धि–**खट्वेन्द्रः**। खट्वा+इन्द्र। खट्व्-ए-न्द्रः। खट्वेन्द्रः।*

*यहां 'आद्गुणः' (६।१।८४) से पूर्ववर्ती खट्वा के आकार और परवर्ती इन्द्र के इकार इन दोनों के स्थान में गुण रूप एकार आदेश होता है। ऐसे ही–**मालेन्द्रः**।*

अन्तादिवद्भावः–

(१४) अन्तादिवच्च।८५।

प०वि०–अन्तादिवत् अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्।

स०–अन्तश्च आदिश्च तौ अन्तादी, ताभ्याम्-अन्तादिभ्याम्, अन्तादिभ्यां तुल्यम्-अन्तादिवत् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) अत्र **'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः'** (५।१।११४) इति तुल्यार्थे वतिः प्रत्ययः।

अनु०–संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां पूर्वपरयोरेकोऽन्तादिवच्च।

अर्थः–संहितायां विषये यः पूर्वपरयोरेकादेशो विधीयते स पूर्वस्यान्तवत् परस्य चादिवद् भवति।

उदा०–ब्रह्मबन्धूः, वृक्षौ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में जो (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर वर्णों के स्थान में (एकः) एकादेश किया जाता है वह (अन्तादिवत्) पूर्व वर्ण का अन्तवत् और पर वर्ण का आदिवत् (च) भी होता है।*

उदा०-ब्रह्मबन्धूः। पतित ब्राह्मणी। वृक्षौ। दो वृक्ष।

सिद्धि-(१) ब्रह्मबन्धूः। ब्रह्मबन्धु+ऊङ्। ब्रह्मन्धु+ऊ। ब्रह्मबन्धू+सु। ब्रह्मबन्धूः।

यहां ब्रह्मबन्धु के पूर्व उकार और ऊङ् प्रत्यय के पर ऊकार को 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से दीर्घ ऊकार रूप एकादेश है। यह एकादेश इस सूत्र से पूर्व का आदिवत् और पर का अन्तवत् होता है, अर्थात् 'ब्रह्मबन्धु' यह प्रातिपदिक है और ऊङ् अप्रातिपदिक (प्रत्यय) है। इन प्रातिपदिक और अप्रातिपदिक दोनों का जो एकादेश है वह प्रातिपदिक का अन्तवत् होता है। इससे 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (८।१।१) से 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं।

(२) वृक्षौ। वृक्ष+औ। वृक्षौ।

यहां 'वृक्ष' शब्द का अकार असुप् है और औ प्रत्यय का औकार सुप् है। इन दोनों असुप् अकार तथा सुप् औकार के स्थान में 'वृद्धिरेचि' (६।१।८५) से वृद्धिरूप औकार एकादेश होता है। इस सूत्र से सुप् औकार को आदिवत् मानकर 'वृक्षौ' की 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से पद संज्ञा होती है।

एकादेशस्यासिद्धत्वम्–

(१५) षत्वतुकोरसिद्धः।८६।

प०वि०–षत्व-तुकोः ७।२ असिद्धः १।१।

स०–षत्वं च तुक् च षत्वतुकौ, तयोः–षत्वतुकोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न सिद्धः–असिद्धः (नञ्तत्पुरुषः)। असिद्धः–अनिष्पन्न इत्यर्थः।

अनु०–संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां षत्वतुकोः पूर्वपरयोरेकोऽसिद्धः।

अर्थः–संहितायां विषये षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये यः पूर्वपरयोर्वर्णयोः स्थाने एकादेशः सोऽसिद्धो भवति।

उदा०–(षत्वे) कोऽसिचत्, कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै। **(तुकि)** अधीत्य, प्रेत्य।

आर्यभाषाः *अर्थ–(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (षत्वतुकोः) षत्वविधि और तुक्-विधि के करने में (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर वर्ण के स्थान में किया हुआ (एकः) एकादेश (असिद्धः) असिद्ध होता है, न किया हुआ समझा जाता है।*

उदा०–(षत्वविधि) ***कोऽसिचत्।*** *किसने सींचा।* ***कोऽस्य।*** *इसका कौन है।* ***योऽस्य।*** *इसका जो है।* ***कोऽस्मै।*** *इसके लिये कौन है।* ***योऽस्मै।*** *इसके लिये जो है।* ***(तुक्विधि) अधीत्य।*** *पढ़कर।* ***प्रेत्य।*** *मरकर।*

सिद्धि–(१) ***कोऽसिचत्।*** *क+सु+असिच्। क+रु+असिचत्। क+र्+असिचत्। क+उ+असिचत्। को+असिच्। कोऽसिचत्।*

यहां 'क' शब्द से ***'स्वौजस०'*** *(४।१।२) से 'सु' प्रत्यय,* ***'ससजुषो रुः'*** *(८।२।६६) से सकार को रुत्व,* ***अतो रोरप्लुतादप्लुते'*** *(६।१।११०) से उत्व,* ***'आद्गुणः'*** *(६।१।८५) से अकार, उकार को गुणरूप (ओ) एकादेश और* ***'एङः पदान्तादति'*** *(६।१।१०६) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। 'को+सिचत्' इस अवस्था में* ***'इणः षः'*** *(८।३।३९) से षत्व प्राप्त होता है। इस सूत्र से उक्त एकादेश को असिद्ध=अनिष्पन्न होकर षत्व नहीं होता है। ऐसे ही–* ***कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै।***

(२) ***अधीत्य।*** *अधि+इङ्+क्त्वा। अधि+इ+ल्यप्। अधी+य। अधी तुक्+य। अधीत्+य। अधीत्य+सु। अधीत्य+०। अधीत्य।*

यहां नित्य अधि-उपसर्ग पूर्वक ***(इङ् अध्ययने'*** *(अदा०आ०) धातु से* ***'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'*** *(३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय और उसे* ***'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'*** *(७।१।३७)*

से ल्यप् आदेश होता है। अधि के इकार और इङ् धातु के इकार को 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से दीर्घरूप एकादेश होता है। 'अधी+य' इस स्थिति में 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।६९) से 'इङ्' धातु को तुक् आगम प्राप्त नहीं होता है किन्तु इस सूत्र से उक्त एकादेश को असिद्ध मानकर तुक् आगम होता है।

गुण-एकादेशः–

(१६) आद् गुणः।८७।

प०वि०-आत् ५।१ गुणः १।१।

अनु०-संहितायाम्, अचि, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आदचि पूर्वपरयोर्गुण एकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने गुणरूप एकादेशो भवति।

उदा०-(ए) तवेदम्, खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः, तवेहते, खट्वेहते। (ओ) तवोदकम्, खट्वोदकम्। (अर्) तवर्श्यः, खट्र्श्यः। (अल्) तवल्कारः, खट्वल्कारः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से उत्तर (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर वर्णों के स्थान में (गुणः) गुणरूप (एकः) एकादेश होता है।*

*उदा०-(ए) **तवेदम्**। तेरा यह। **खट्वेन्द्रः**। खाट का स्वामी। **मालेन्द्रः**। माला का स्वामी। **तवेहते**। तेरा चेष्टा करता है। **खट्वेहते**। खाट चेष्टा करती है। (ओ) **तवोदकम्**। तेरा जल। **खट्वोदकम्**। खाट और जल। (अर्) **तवर्श्यः**। तेरा बारहसिंघा। **खट्र्श्यः**। खट्वा=खाट, ऋश्यः=बारहसिंघा। (अल्) **तवल्कारः**। तव=तेरा लृकारः=लृवर्ण। **खट्वल्कारः**। खट्वा=खाट, लृकारः=लृवर्ण।*

*सिद्धि-(१) **तवेदम्**। तव+इदम्। तव्+ए+दम्। तवेदम्।*

यहां 'तव' के अवर्ण से परे इदम् के इकार अच् को इस सूत्र से गुण रूप (ए) एकादेश होता है। ऐसे ही-खट्वा+इन्द्रः=खट्वेन्द्रः, माला+इन्द्रः=मालेन्द्रः, तव+ईहते=तवेहते। खट्वा+ईहते=खट्वेहते।

*(२) **तवोदकम्**। तव+उदकम्। तव्-ओ-दकम्। तवोदकम्।*

यहां 'तव' के अवर्ण से परे उदक के उकार अच् को इस सूत्र से गुण रूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही-खट्वा+उदकम्=खट्वोदकम्।

(३) तवर्श्यः। तव+ऋश्यः। तव्-अर्-श्यः। तवर्श्यः।

यहां 'तव' के अवर्ण से परे ऋश्य के ऋकार अच् को इस सूत्र से गुणरूप (अर्) गुण होता है जो कि 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से तत्काल रपर (अर्) हो जाता है। ऐसे ही-खट्वा+ऋश्यः=खट्वर्श्यः।

(४) तवल्कारः। तव+लृकारः। तव्-अल्+कारः। तवल्कारः।

यहां 'तव' के अवर्ण से पर लृकार के लृ अच् को सूत्र से गुणरूप (अ) एकादेश होता है। 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से लृकार के स्थान में विधीयमान अण् (अ) लपर होता है (अल्)। ऐसे ही-खट्वा+लृकारः=खट्वल्कारः। 'अदेङ् गुणः' (१।१।२) से तपर अकार, एकार, ओकार की गुण संज्ञा है।

वृद्धि-एकादेशः–

(१७) वृद्धिरेचि।८८।

प०वि०-वृद्धिः १।१ एचि ७।१।

अनु०-संहितायाम्, आत्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् एचि पूर्वपरयोर्वृद्धिरेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णाद् एचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूप एकादेशो भवति।

उदा०-(ऐ) ब्रह्मैडका, खट्वैडका, ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः। (औ) ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः, ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से उत्तर (एचि) एच्=ए, ओ, ऐ, औ वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर वर्णों के स्थान में (वृद्धिः) वृद्धि रूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-(ऐ) ब्रह्मैडका। ब्राह्मण की भेड़। खट्वैडका। खट्वा=खाट, एडका=भेड़। ब्रह्मैतिकायनः। ब्राह्मण ऐतिकायन (इतिक का पुत्र)। खट्वैतिकायनः। खट्वा=खाट, ऐतिकायन (इतिक का पुत्र)। (औ) ब्रह्मौदनः। ब्रह्म=ब्राह्मण, ओदन=चावल। खट्वौदनः। खट्वा=खाट, ओदन=चावल। ब्रह्मौपगवः। ब्राह्मण औपगव (उपगु का पुत्र)। खट्वौपगवः। खाट, औपगव=उपगु का पुत्र।

सिद्धि-(१) ब्रह्मैडका। ब्रह्म+एकडा। ब्रह्म्-ऐ-डका। ब्रह्मैडका।

यहां ब्रह्म के अवर्ण से उत्तर एडका के एच् (ए) को इस सूत्र से वृद्धिरूप (ऐ) एकादेश होता है। ऐसे ही-खट्वैडका, ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः।

(२) ब्रह्मौदनः। ब्रह्म+ओदनः। ब्रह्म्-औ-दनः। ब्रह्मौदनः।

यहां ब्रह्म के अ-वर्ण से उत्तर ओदन के एच् (ओ) को इस सूत्र से वृद्धिरूप (औ) एकादेश होता है। ऐसे ही-ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः। 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) से तपर आकार, ऐकार, औकार की वृद्धि संज्ञा की है।

वृद्धि-एकादेशः–

(१८) एत्येधत्यूठ्सु।८६।

प०वि०-एति-एधति-ऊठ्सु ७।३।

स०-एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च ते-एत्येधत्यूठः, तेषु-एत्येधत्यूठ्सु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आत्, वृद्धिः, एचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् एत्येधत्यूठ्सु एचि पूर्वपरयोर्वृद्धिरेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णाद् एति-एधति-ऊठ्सु एचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूप एकादेशो भवति।

उदा०-**(एतिः)** उपैति, उपैषि, उपैमि। **(एधतिः)** उपैधते, प्रैधते। **(ऊठ्)** प्रष्ठौहः, प्रौष्ठोहा, प्रष्ठौहे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से पर (एत्येधत्यूठ्सु) एति, एधति, ऊठ् विषयक (एचि) एच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व, पर के स्थान में (वृद्धिः) वृद्धिरूप (एक) एकादेश होता है।*

उदा०-(एति) उपैति। वह प्राप्त करता है। उपैषि। तू प्राप्त करता है। उपैमि। मैं प्राप्त करता हूं। (एधति) उपैधते। वह बढ़ता है। प्रैधते। वह बढ़ता है। (ऊठ्) प्रष्ठौहः। आगे ले जानेवालों को।

सिद्धि-(१) उपैति। उप+एति। उप्-ऐ-ति। उपैति।

यहां 'उप' के अ-वर्ण से उत्तर 'एति' के एच् (ए) को इस सूत्र से वृद्धि रूप (ऐ) एकादेश होता है। ऐसे ही-उपैषि, उपैमि। यह 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) का अपवाद है।

(२) उपैधते। उप+एधते। उप्-ऐ-धते। उपैधते।

यहां 'उप' के अ-वर्ण से उत्तर 'एधते' के एच् (ए) को इस सूत्र से वृद्धि रूप (ऐ) एकादेश होता है। यह 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) का अपवाद है।

(३) प्रष्ठौहः। प्रष्ठवाह्+शस्। प्रष्ठवह्+अस्। प्रष्ठ ऊठ् आह्+अस्। प्रष्ठ् अ आह्+अस्। प्रष्ठ ऊ ह्+अस्। प्रष्ठौवहः।

यहां 'प्रष्ठवाह्' शब्द से 'स्वौजस्०' (४।१।२) से शस् प्रत्यय है। 'वाह ऊठ्' (६।४।१३२) से 'वाह्' के वकार को सम्प्रसारण रूप 'ऊठ्' आदेश और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०४) से आकार को पूर्वरूप ऊकार आदेश होता है। इस सूत्र से प्रष्ठ के अकार और ऊठ् के ऊकार को वृद्धिरूप (औ) एकादेश होता है। यह 'आद् गुणः' (६।१।८७) का अपवाद है। 'एचि' का सम्बन्ध केवल एति और एधति से है, ऊठ् से नहीं, सम्भव न होने से। ऐसे ही-प्रष्ठौहा (टा), प्रष्ठौहे (ङे)।

वृद्धि-एकादेशः-

(१६) आटश्च।९०।

प०वि०-आटः ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, वृद्धिरिति चानुवर्तते, एचि इति निवृत्तम्।

अन्वयः-संहितायाम् आटश्चाऽचि पूर्वपरयोर्वृद्धिरेकः।

अर्थः-संहितायां विषये आट उत्तरस्मादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूप एकादेशो भवति।

उदा०-ऐक्षत, ऐक्षिष्ट, ऐक्षिष्यत, औभीत्, औब्जीत्, आर्ध्नोत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आटः) आट् आगम से उत्तर (अचि) अच् परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व, पर के स्थान में (वृद्धिः) वृद्धि रूप (एकः) एकादेश होता है।*

*उदा०-**ऐक्षत**। उसने देखा। **ऐक्षिष्ट**। उसने देखा। **ऐक्षिष्यत**। यदि वह देखता। **औभीत्**। उसने पूरण किया। **औब्जीत्**। उसने आर्जव=सरल व्यवहार किया। **आर्ध्नोत्**। वह बढ़ा।*

सिद्धि-(१) ऐक्षत। ईक्ष+लङ्। आट्+ईक्ष्+त। आ+ईक्ष्+शप्+त। आ+ईक्ष्+अ+त। ऐक्ष्+अ+त। ऐक्षत।

यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से लङ् प्रत्यय है। 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से 'आट्' आगम होता है। इस सूत्र से आट् के आकार और ईक्ष के ईकार को वृद्धिरूप (ऐ) एकादेश होता है।

(२) ऐक्षिष्ट। यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से 'लुङ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) ऐक्षिष्यत। यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से 'लृङ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) औभीत्। उभ्+लुङ्। आट्+उभ्+च्लि+ल्। आ+उभ्+सिच्+तिप्। आ+उभ्+इट्+स्+ईट्+त्। आ+उभ्+इ+०ई+त्। औभीत्।

यहां 'उभ पूरणे' (तु०प०) धातु से लुङ् प्रत्यय है और 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से आट् आगम होता है। इस सूत्र से आट् के आकार और उभ के उकार को वृद्धिरूप (औ) एकादेश होता है। 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) से 'तिप्' को ईट् आगम और 'इट ईटि' (८।२।२८) से सिच् के सकार का लोप होता है। ऐसे ही 'उब्ज आर्जवे' (तु०प०) धातु से-औब्जीत्।

(५) आर्ध्नोत्। ऋध्+लङ्। आट्+ऋध्+तिप्। आ+ऋध्+श्नु+ति। आ+ऋध्+श्नु+त्। आर् ध्+नो+त्। आर्ध्नोत्।

यहां 'ऋधु वृद्धौ' (स्वा०प०) धातु से लङ् प्रत्यय और 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से आट् आगम है। इस सूत्र से आट् के आकार और ऋध् धातु के ऋकार को वृद्धिरूप (आ) एकादेश होता है और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व (आर्) होता है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से श्नु विकरण-प्रत्यय और 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण होता है।

वृद्धि-एकादेशः–

(२०) उपसर्गादृति धातौ।६१।

प०वि०-उपसर्गात् ५।१ ऋति ७।१ धातौ ७।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आद्, वृद्धिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् उपसर्गाद् ऋति धातौ पूर्वपरयोर्वृद्धिरेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूप एकादेशो भवति।

उदा०-उपार्च्छति। प्रार्च्छति। उपार्ध्नोति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अकारान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से उत्तर (ऋति) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व, पर के स्थान में (वृद्धिः) वृद्धिरूप (एकः) एकादेश होता है।*

*उदा०-**उपार्च्छति।** वह प्राप्त करता है। **प्रार्च्छति।** वह प्राप्त करता है। **उपार्ध्नोति।** वह बढ़ता है।*

सिद्धि-(१) उपार्च्छति। उप+ऋच्छ्+लट्। उप+ऋच्छ्+तिप्। उप+ऋच्छ्+शप्+ति। उप+ऋच्छ्+अ+ति। उपार्च्छति।

यहां उप-उपसर्ग के अकार और ऋकारादि ऋच्छ् धातु के ऋकार को इस सूत्र से वृद्धिरूप (आ) एकादेश होता है और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपत्व (आर्) होता है। ऐसे ही-प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति।

(२) उपार्ध्नोति। उप+ऋध्+लट्। उप+ऋध्+तिप्। उप+ऋध्+श्नु+ति। उप+ऋध्+नो+ति। उपार्ध्नोति।

यहां उप-उपसर्ग के अकार और ऋकारादि ऋध् धातु के ऋकार को इस सूत्र से वृद्धिरूप (आ) एकादेश और उसे पूर्ववत् रपरत्व होता है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से श्नु विकरण-प्रत्यय और 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण होता है।

वृद्धि-एकादेशविकल्पः—

(२१) वा सुप्यापिशलेः।६२।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, सुपि ७।१ आपिशलेः ६।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आत्, वृद्धिः, उपसर्गात्, ऋति, धाताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् उपसर्गात् सुपि ऋति धातौ पूर्वपरयोर्वा वृद्धिरेक आपिशलेः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽकारान्ताद् उपसर्गात् सुबन्तावयवे ऋकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने विकल्पेन वृद्धिरूप एकादेशो भवति, आपिशलेराचार्यस्य मतेन।

उदा०-उपार्षभीयति, उपर्षभीयति। उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति। 'वा' इत्यनेनैव विकल्पे सिद्धे आपिशालिग्रहणं पूजार्थं वेदितव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अकारान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से उत्तर (सुपि) सुबन्त के अवयव (ऋति) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व, पर के स्थान में (वा) विकल्प से (वृद्धिः) वृद्धिरूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-उपार्षभीयति, उपर्षभीयति। ऋषभ=बैल के समान आचरण करता है। उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति। लृकार के समान उच्चारण करता है। यहां 'वा' वचन से ही विकल्प सिद्ध है अतः आपिशलि का ग्रहण पूजा (आचार्य-सम्मान) के लिये किया गया है।

सिद्धि-(१) उपार्षभीयति। उप+ऋषभ+क्यच्। उप+ऋषभ+य। उप+ऋषभी+य। उपर्षभीय+लट्। उपार्षभीय+तिप्। उपार्षभीय+शप्+ति। उपार्षभीय+अ+ति। उपार्षभीयति।

यहां उप-उपसर्ग से उत्तर सुबन्त के अवयव 'ऋषभीय' धातु के ऋकार का इस सूत्र से वृद्धिरूप (आ) एकादेश है और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व (आर्) होता है।

(२) उपर्षभीयति। यहां विकल्प पक्ष में उक्त अकार और ऋकार को वृद्धिरूप एकादेश नहीं होता है अपितु 'आद् गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप (अ) एकादेश और उसे पूर्ववत् रपरत्व होता है।

(३) उपाल्कारीयति। उप+लृकारीयति। उप्-आल्कारीयति। उपाल्कारीयति।

यहां उप-उपसर्ग से उत्तर सुबन्त के अवयव 'लृकारीय' धातु के लृ को इस सूत्र से वृद्धिरूप (आ) एकादेश और उसे पूर्ववत् लपरत्व होता है।

(४) उपल्कारीयति। यहां विकल्प पक्ष में उक्त अकार और लृकार को वृद्धिरूप एकादेश नहीं होता है अपितु 'आद् गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप एकादेश (अ) और उसे पूर्ववत् लपरत्व होता है।

"ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः" इस वचन प्रमाण से ऋकार और लृकार वर्णों का सावर्ण्य है अतः ऋकार के ग्रहण से लृकार का भी ग्रहण किया जाता है। अतः यह लृकार का उदाहरण दिया गया है। 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से ऋकार को रपरत्व और लृकार को लपरत्व होता है।

आकार-एकादेशः—

(२२) औतोऽम्शसोः।६३।

प०वि०-आ १।१ (सु-लुक्) ओतः ५।१ अम्शसोः ७।२।

स०-अम् च शस् च तौ अम्शसौ, तयोः-अम्शसोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् ओतोऽम्शसोः पूर्वपरयोरा एकः।

अर्थः-संहितायां विषये ओकाराद् अमि शसि च प्रत्यये परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकाररूप एकादेशो भवति।

उदा०-त्वं गां पश्य, त्वं गाः पश्य। त्वं द्यां पश्य, त्वं द्याः पश्य।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (ओतः) ओ-वर्ण से उत्तर (अम्शसोः) अम् और शस् प्रत्यय परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (आः) आकार रूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-त्वं गां पश्य। तू गौ को देख। त्वं गाः पश्य। तू गौओं को देख। त्वं द्यां पश्य। तू द्युलोक को देख। त्वं द्याः पश्य। तू द्युलोकों को देख।

सिद्धि-(१) गाम्। गो+अम्। ग् आ+अम्। गा+अम्। गाम्।

यहां 'गो' शब्द के ओकार से उत्तर 'अम्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में आकार रूप एकादेश होता है।

(२) गाः। गो+शस्। ग् आ+अस्। गा+अस्। गाः।

यहां 'गो' शब्द के ओकार से उत्तर शस् प्रत्यय परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में आकार रूप एकादेश होता है। ऐसे ही ओकारान्त 'द्यो' शब्द से-त्वं द्यां पश्य, त्वं द्याः पश्य।

'गाम्' यहां 'गोतो णित्' (७।१।९०) से अम् को णिद्वत् होकर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त है, वृद्धि होने पर आकार-आदेश सम्भव नहीं है, अतः वृद्धि को बाध कर यह आकार आदेश होता है।

पररूप-एकादेशः-

(२३) एङि पररूपम्।६४।

प०वि०-एङि ७।१ पररूपम् १।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आत्, उपसर्गात्, धाताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् उपसर्गाद् एङि धातौ पूर्वपरयोः पररूपमेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽकारान्ताद् उपसर्गाद् एङादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। **'वृद्धिरेचि'** (६।१।८८) इत्यस्यायमपवादः।

उदा०-उपेलयति। प्रेलयति। उपोषति। प्रोषति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अकारान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से उत्तर (एङि) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है। यह 'वृद्धिरेचि' (६।१।८८) का अपवाद है।*

उदा०-उपेलयति। वह प्रेरणा करता है। प्रेलयति। वह प्रेरणा करता है। उपोषति। वह जलता है। प्रोषति। वह जलता है।

सिद्धि-(१) उपेलयति। उप+इल्+णिच्। उप+एल्+इ। उपेलि+लट्। उपेलि+तिप्। उपेलि+शप्+ति। उपेलि+अ+ति। उपेलयति।

यहां उप-उपसर्गपूर्वक 'इल प्रेरणे' (चु०उ०) धातु से 'सत्यापपाश०' (३।१।२५) से णिच् प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'इल्' को लघूपध गुण होता है। 'उप+एलि' इस स्थिति में अकारान्त उपसर्ग से उत्तर एङादि धातु परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (ए) एकादेश होता है। ऐसे ही-प्र+एलयति=प्रेलयति।

(२) उपोषति। उप+उष्+लट्। उप+उष्+तिप्। उप+उष्+शप्+ति। उप+ओष्+अ+ति। उपोषति।

यहां उप-उपसर्ग पूर्वक 'उष दाहे' (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'उष्' को लघूपध गुण होता है। 'उप+ओषति' इस स्थिति में अकारान्त उपसर्ग से उत्तर एङादि धातु परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही-प्र+ओषति=प्रोषति।

पररूप-एकादेशः-

(२४) ओमाङोश्च।९५।

प०वि०-ओम्-आङोः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-ओम् च आङ् च तौ-ओमाङौ, तयोः-ओमाङोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आत्, पररूपम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् ओमाङोश्च पूर्वपरयोः पररूपमेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णाद् ओमि आङि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति।

उदा०-(ओम्) कन्योमित्यवोचत्। (आङ्) आङ्+ऊढा=ओढा। अद्य+ओढा=अद्योढा। कदा+ओढा=कदोढा। तदा+ओढा=तदोढा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से उत्तर (ओमाङोः) ओम् और आङ् शब्द परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-(ओम्) कन्योमित्यवोचत्। कन्या ने 'ओम्' ऐसा कहा। (आङ्) आङ्+ऊढा=ओढा। अद्य+ओढा=अद्योढा। आज विवाहिता। कदा+ओढा=कदोढा। कब विवाहिता। तदा+ओढा=तदोढा। तब विवाहिता।

सिद्धि-(१) कन्योम्। कन्या+ओम्। कन्योम्।

यहां कन्या के अ-वर्ण (आ) से उत्तर 'ओम्' शब्द के परे होने पर इस सूत्र से पररूप (ओ) एकादेश होता है।

(२) अद्योढा। आङ्+ऊढा=ओढा। अद्य+ओढा। अद्योढा।

यहां प्रथम आङ् और ऊढा शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास होकर 'आद् गुणः' (६।१।८५) से आकार और ऊकार को गुण रूप (ओ) एकादेश होता है। 'अद्य+ओढा' इस स्थिति में अ-वर्ण से उत्तर आङ् परे होने पर इस सूत्र से पररूप (ओ) एकादेश होता है। 'आङ्+ऊढा=ओढा' यहां आङ् और अनाङ् के एकादेश को 'अन्तादिवच्च' (६।१।८३) से पूर्व का अन्तवत् मानकर 'आङ्' के ग्रहण से गृहीत किया जाता है। ऐसे ही-कदोढा, तदोढा।

पररूप-एकादेशः—

(२५) उस्यपदान्तात्।९६।

प०वि०-उसि ७।१ अपदान्तात् ५।१।

स०-पदस्यान्तः-पदान्तः, न पदान्तः-अपदान्तः, तस्मात्-अपदान्तात् (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, आत्, पररूपमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् उसि पूर्वपरयोः पररूपमेकः।

अर्थः-संहितायां विषये अ-वर्णाद् उसि प्रत्यये परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति।

उदा०-ते भिन्द्युः। ते छिन्द्युः। तेऽदुः। तेऽयुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से उत्तर (उसि) उस् प्रत्यय परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-ते भिन्द्युः। वे सब विदारण करें। ते छिन्द्युः। वे सब छेदन करें। तेऽदुः। उन्होंने दान किया। तेऽयुः। उन्होंने प्राप्त किया।

सिद्धि-(१) भिन्द्युः। भिद्+लिङ्। भिद्+यासुट्+ल्। भिद्+यासुट्+झि। भिश्नम् द्+यासुट्+जुस्। भि न द्+यास्+उस्। भिन्द्+या०+उस्। भिन्द्या+उस्। भिन्द्युः।

यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से लिङ् प्रत्यय, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३।४।१०३) से यासुट् आगम, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'झि' आदेश, 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) से 'झि' के स्थान में जुस् आदेश और 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८) से श्नम् विकरण-प्रत्यय है। 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'श्नम्' के अकार का लोप और 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (७।२।७९) से 'यासुट्' के सकार का लोप होता है। 'भिन्द्या+उस्' ऐसी स्थिति में अपदान्त अ-वर्ण से उत्तर उस् प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (उ) एकादेश होता है। 'आद् गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप (ओ) एकादेश प्राप्त था। ऐसे ही 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा०प०) धातु से-छिन्द्युः।

(२) अदुः। दा+लुङ्। अट्+दा+च्लि+ल्। अ+दा+सिच्+झि। अ+दा+स्+उस्। अ+दा+०+उस्। अ+दा+उस्। अदुः।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से लुङ् प्रत्यय, 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् आदेश होता है। 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) से 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है। 'गातिस्थाघु०' (२।४।७७) से 'सिच्' का लुक् होकर 'अ+दा+उस्' इस स्थिति में अपदान्त अ-वर्ण से उत्तर 'उस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (उ) एकादेश होता है।

(३) अयुः। या+लङ्। अट्+या+झि। अ+या+शप्+झि। अ+या+०+जुस्। अ+या+उस्। अयुः।

यहां 'या प्रापणे' (अदा०प०) धातु से लङ् प्रत्यय है। 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'झि' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।२।७२) से 'शप्' का लुक् होता है। 'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।११) से 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है। 'अ+या+उस्' ऐसी स्थिति में अपदान्त अ-वर्ण से उत्तर 'उस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (उ) एकादेश होता है।

पररूप-एकादेशः-

(२६) अतो गुणे।६७।

प०वि०-अतः ५।१ गुणे ७।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, पररूपम्, अपदान्तादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अपदान्ताद् अतो गुणे पूर्वपरयोः पररूपमेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽपदान्ताद् अकाराद् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति।

उदा०-ते पचन्ति। ते यजन्ति। अहं पचे। अहं यजे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अपदान्तात्) अपदान्त (अतः) अकार से उत्तर (गुणे) गुण=अ, ए, ओ वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है।*

*उदा०-**ते पचन्ति।** वे सब पकाते हैं। **ते यजन्ति।** वे सब यज्ञ करते हैं। **अहं पचे।** मैं पकाता हूं। **अहं यजे।** मैं यज्ञ करता हूं।*

सिद्धि-(१) पचन्ति। पच्+लट्। पच्+झि। पच्+शप्+अन्ति। पच्+अ+अन्ति। पच्+अन्ति। पचन्ति।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से लट् प्रत्यय है। उसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'झि' आदेश और 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय होता है। 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झ्' के स्थान में 'अन्त' आदेश होता है। 'पच्+अ+अन्ति' इस स्थिति में अकार से उत्तर गुण (अ) परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (अ) एकादेश होता है। ऐसे ही 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) धातु से-यजन्ति।

(२) पचे। पच्+लट्। पच्+इट्। पच्+शप्+इ। पच्+अ+ए। पच्+ए। पचे।

यहां पूर्वोक्त 'पच्' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'इट्' आदेश है। उसे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से एत्व होता है। 'पच्+अ+ए' इस स्थिति में अकार से उत्तर गुण (ए) परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पररूप (ए) एकादेश होता है। ऐसे ही 'यज्' धातु से-यजे।

पररूप-एकादेशः-

(२७) अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ।६८।

प०वि०-अव्यक्तानुकस्य ६।१ अतः ५।१ इतौ ७।१।

स०-अपरिस्फुटवर्णम्=अव्यक्तम्। अव्यक्तस्यानुकरणम्-अव्यक्तानुकरणम्, तस्य-अव्यक्तानुकरणस्य (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, पररूपम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ पूर्वपरयोः पररूपमेकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽव्यक्तध्वनेरनुकरणस्य योऽत्-शब्दस्तस्माद् इति-शब्दे परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति।

उदा०-पटत् इति=पटिति। घटत् इति=घटिति। झटत् इति=झटिति। छमत् इति=छमिति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संन्धि-विषय में (अव्यक्तानुकरणस्य) अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण के (अतः) 'अत्' शब्द से उत्तर (इतौ) इति शब्द परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-पटत् इति=पटिति। पटत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि-पटिति। घटत् इति=घटिति। घटत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि-घटिति। झटत् इति=झटिति। झटत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि-झटिति। छमत्=इति छमिति। छमत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि-छमिति।

सिद्धि-पटिति। पटत्+इति। पट्+इति। पटिति।

यहां 'पटत्' यह किसी अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण है, इसके 'अत्' शब्द से उत्तर 'इति' शब्द परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पररूप (इ) एकादेश होता है। ऐसे ही-घटिति, झटिति, छमिति।

पररूप-प्रतिषेधः-

(२८) नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा।६६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, आम्रेडितस्य ६।१ अन्त्यस्य ६।१ तु अव्ययपदम्, वा अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, पररूपम्,, अव्यक्तानुकरस्य, अतः, इताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आम्रेडितस्याव्यक्तानुकरणस्यात इतौ पूर्वपरयोः पररूपमेको न, अन्त्यस्य तु वा।

अर्थः-संहितायां विषये आम्रेडितसंज्ञकस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽत्-शब्दस्तस्माद् इतौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो न भवति, तस्यान्त्यस्य तकारस्य तु विकल्पेन पररूपमेकादेशो भवति।

उदा०-पटत्-पटत् इति=पटत्पटदिति, पटत्पटेति।

आर्यभाषाः *अर्थः-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आम्रेडितस्य) आम्रेडित-संज्ञक (अव्यक्तानुकरणस्य) अव्यक्त ध्वनि के अनुकरणात्मक शब्द के (अतः) अत् शब्द से उत्तर (इतौ) इति शब्द परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश (न) नहीं होता है (तु) किन्तु उसके (अन्त्यस्य) अन्तिम तकार को (वा) विकल्प से (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-पटत्-पटत् इति=पटत्पटदिति। पटत्-पटत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि-पटत्-पटदिति, पटत्पटेति।

सिद्धि-(१) पटत्पटदिति। पटत्+इति। पटत्-पटत्+इति। पटपटदिति।

यहां अव्यक्त ध्वनि के अनुकरणात्मक 'पटत्' शब्द को 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से वीप्सा-अर्थ में द्वित्व होता है। 'तस्य परमाम्रेडितम्' (८।१।२) से परवर्ती 'पटत्' शब्द की आम्रेडित-संज्ञा है। इस आम्रेडित-संज्ञक 'पटत्' शब्द से उत्तर 'इति' शब्द परे होने पर उसके 'अत्' शब्द और 'इति' के इकार के स्थान में इस सूत्र से पररूप एकादेश नहीं होता है।

(२) पटत्पटेति। पटत्+इति। पटत्-पटत्+इति। पटत्-पट+इति। पटत्पटेति।

यहां आम्रेडित-संज्ञक 'पटत्' शब्द के अन्त्य तकार को इस सूत्र से विकल्प से पररूप (इ) एकादेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

विशेषः *काशिकाकार पं० जयादित्य ने 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' (६।१।१००) इस वार्तिक की पाणिनीय सूत्र मानकर व्याख्या की है। "वार्तिकमेवेदम्, वृत्तिकृता सूत्ररूपेण पठितम्" इति पदमञ्जर्यां पण्डितहरदत्तमिश्रः।*

दीर्घ-एकादेशः—

(२६) अकः सवर्णे दीर्घः।१००।

प०वि०-अकः ५।१ सवर्णे ७।१ दीर्घः १।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते। 'अचि' इति च मण्डूकोत्प्लुत्यानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-संहितायाम् अकः सवर्णेऽचि पूर्वपरयोर्दीर्घ एकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽक उत्तरस्मात् सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घरूप एकादेशो भवति।

उदा०-दण्डाग्रम्, दधीन्द्रः, मधूदके, होतृश्यः।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अकः) अक् वर्ण से उत्तर (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (दीर्घः) दीर्घरूप (एकः) एकादेश होता है।

उदा०-दण्डाग्रम्। दण्ड का अग्रभाग (ठोरा)। दधीन्द्रः। दधि=दही का स्वामी। मधूदके। मधु=शहद और उदक=जल। होतॄश्यः। होता का ऋश्य=सफेद पैरोंवाला बारहसिंघा।

सिद्धि-(१) दण्डाग्रम्। दण्ड+अग्रम्। दण्डाग्रम्।

यहां दण्ड के अक् (अ) से उत्तर सवर्ण अच् (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से दीर्घरूप (आ) एकादेश होता है।

(२) दधीन्द्रः। दधि+इन्द्रः। दधीन्द्रः।

यहां दधि के अक् (इ) से उत्तर सवर्ण अच् (इ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से दीर्घरूप (ई) एकादेश होता है।

(३) मधूदके। मधु+उदकम्। मधूदके।

यहां मधु के अक् (उ) से उत्तर सवर्ण अच् (उ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से दीर्घरूप (ऊ) एकादेश होता है।

(४) होतॄश्यः। होतृ+ऋश्यः। होतॄश्यः।

यहां होतृ के अक् (ऋ) से उत्तर सवर्ण अच् (ऋ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से दीर्घरूप (ॠ) एकादेश होता है।

'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१।१।९) से अकार आदि वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है।

पूर्वसवर्ण-एकादेशः–

(३०) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः।१०१।

प०वि०-प्रथमयोः ७।२ पूर्वसवर्णः १।१।

स०-प्रथमा च प्रथमा च ते, प्रथमे, तयोः-प्रथमयोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)। पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, अचि, एकः, पूर्वपरयोः, अकः, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अकः प्रथमयोरचि पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णो दीर्घ एकः

अर्थः-संहितायां विषयेऽक उत्तरस्मात् प्रथमयोः=प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घरूप एकादेशो भवति।

उदा०-अग्नी। वायू। वृक्षाः। प्लक्षाः। वृक्षान्। प्लक्षान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अकः) अक् वर्ण से उत्तर (प्रथमयोः) प्रथमा और द्वितीया विभक्ति विषयक (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वसवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घरूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-अग्नी। दो अग्नियों ने/को। वायू। दो वायुओं ने/को। वृक्षाः। बहुत वृक्ष। प्लक्षाः। बहुत प्लक्ष (पिलखण)। वृक्षान्। बहुत वृक्षों को। प्लक्षान्। बहुत प्लक्षों को।

सिद्धि-(१) अग्नी। अग्नि+औ। अग्नी।

*यहां अग्नि शब्द के अक् (इ) से उत्तर प्रथमा-विभक्ति के अच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ (ई) एकादेश होता है। ऐसे ही **'औट्'** (द्वितीया-द्विवचन) परे होने पर भी-अग्नी।*

(२) वायू। वायु+औ। वायू।

*यहां वायु शब्द के अक् (उ) से उत्तर प्रथमा-विभक्ति के अच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ (ऊ) एकादेश होता है। ऐसे ही **'औट्'** (द्वितीया-द्विवचन) परे होने पर-वायू।*

(३) वृक्षाः। वृक्ष+जस्। वृक्ष+अस्। वृक्षास्। वृक्षारु। वृक्षार्। वृक्षाः।

यहां वृक्ष शब्द के अक् (अ) से उत्तर प्रथमा-विभक्ति के अच् (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ (आ) एकादेश होता है। ऐसे ही-प्लक्ष शब्द से-प्लक्षाः।

(४) वृक्षान्। वृक्ष+शस्। वृक्ष+अस्। वृक्षास्। वृक्षान्।

*यहां वृक्ष शब्द के अक् (अ) से उत्तर द्वितीया-विभक्ति के अच् (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ (आ) एकादेश होकर **'तस्माच्छसो नः पुंसि'** (६।१।१००) से शस् के सकार को नकार आदेश होता है। ऐसे ही प्लक्ष शब्द से-प्लक्षान्।*

नकार-आदेशः-

(३१) तस्माच्छसो नः पुंसि।१०२।

प०वि०-तस्मात् ५।१ शसः ६।१ नः १।१ पुंसि ७।१।

अनु०-संहितायाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां तस्मात् {पूर्वसवर्णदीर्घात्} शसः पुंसि नः।

अर्थः-संहितायां विषये तस्मात्=पूर्वोक्तसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य स्थाने पुंसि नकारादेशो भवति।

उदा०-वृक्षान्। अग्नीन्। वायून्। कर्तॄन्। हर्तॄन्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (तस्मात्) उस पूर्वोक्त सवर्ण दीर्घ एकादेश से उत्तर (शसः) शस् के अवयव सकार के स्थान में (पुंसि) पुंलिङ्ग में (नः) नकार आदेश होता है।*

उदा०-वृक्षान्। सब वृक्षों को। अग्नीन्। सब अग्नियों को। वायून्। सब वायुओं को। कर्तॄन्। सब कर्ताओं को। हर्तॄन्। सब हर्ताओं को।

सिद्धि-(१) वृक्षान्। वृक्ष+शस्। वृक्ष+अस्। वृक्षास्। वृक्षान्।

यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।९९) से पूर्वसवर्ण दीर्घ रूप (आ) एकादेश होकर इस सूत्र से 'शस्' के सकार को नकार आदेश होता है।

(२) अग्नीन्। अग्नि+शस्। अग्नि+अस्। अग्नीस्। अग्नीन्।

यहां पूर्ववत् पूर्वसवर्ण दीर्घ (ई) एकादेश होकर इस सूत्र से 'शस्' के सकार को नकार आदेश होता है।

(३) वायून्। वायु+शस्। वायु+अस्। वायूस्। वायून्।

यहां पूर्ववत् पूर्वसवर्ण दीर्घ (ऊ) एकादेश होकर इस सूत्र से 'शस्' के सकार को नकार आदेश होता है।

(४) कर्तॄन्। कर्तृ+शस्। कर्तृ+अस्। कर्तॄस्। कर्तॄन्।

यहां पूर्ववत् पूर्वसवर्ण दीर्घ (ॠ) एकादेश होकर इस सूत्र से 'शस्' के सकार को नकार आदेश होता है। ऐसे ही हर्तृ शब्द से-हर्तॄन्।

पूर्वसवर्णदीर्घ-प्रतिषेधः-

(३२) नादिचि।१०३।

प०वि०-न अव्ययपदम्, आत् ५।१ इचि ७।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, दीर्घः, पूर्वसवर्ण इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् आद् इचि पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णो दीर्घ एको न।

अर्थः-संहितायां विषयेऽवर्णाद् इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति।

उदा०-वृक्षौ। प्लक्षौ। खट्वे। कुण्डे।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (आत्) अ-वर्ण से उत्तर (इचि) इच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वसवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घ रूप (एकः) एकादेश (न) नहीं होता है।

उदा०-वृक्षौ। दो वृक्ष/को। प्लक्षौ। दो प्लक्ष/को (पलखण)। खट्वे। दो खाट/को। कुण्डे। दो कुण्ड/को।

सिद्धि-(१) वृक्षौ। वृक्ष+औ। वृक्षौ।

यहां वृक्ष शब्द के अ-वर्ण से उत्तर इच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता है। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।९९) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। अतः यहां 'वृद्धिरेचि' (६।१।८६) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। ऐसे ही वृक्ष शब्द से औट् (द्वितीया-द्विवचन) प्रत्यय करने पर-वृक्षौ। ऐसे ही प्लक्ष शब्द से-प्लक्षौ।

(२) खट्वे। खट्वा+औ। खट्वा+शी। खट्वा+ई। खट्वे।

यहां खट्वा शब्द के अ-वर्ण (आ) से उत्तर इच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का प्रतिषेध होकर 'औङः शी' (७।१।१८) से 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होता है। पश्चात् 'आद् गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप एकादेश होता है। ऐसे ही 'खट्वा' शब्द से औट् (द्वितीया-द्विवचन) प्रत्यय करने पर-खट्वे।

(३) कुण्डे। कुण्ड+औ। कुण्ड+शी। कुण्ड+ई। कुण्डे।

यहां कुण्ड शब्द के अ-वर्ण से उत्तर एच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का प्रतिषेध होकर 'नपुंसकाच्च' (७।१।१९) से 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होता है। पश्चात् 'आद् गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप एकादेश होता है। ऐसे ही कुण्ड शब्द से औट् (द्वितीया-द्विवचन) प्रत्यय करने पर-कुण्डे।

पूर्वसवर्णदीर्घ-प्रतिषेधः-

(३३) दीर्घाज्जसि च।१०४।

प०वि०-दीर्घात् ५।१ जसि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, दीर्घः, पूर्वसवर्णः, न, इचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां दीर्घाद् इचि जसि च पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णो दीर्घो न।

अर्थः-संहितायां विषये दीर्घवर्णाद् इचि जसि च प्रत्यये परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति।

उदा०-कुमार्यौ, कुमार्यः। ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (दीर्घात्) दीर्घ वर्ण से उत्तर (इचि) इच् वर्ण और (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वसवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घ (एकः) एकादेश (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**कुमार्यौ**। दो कुमारियों ने/को। **कुमार्यः**। सब कुमार्यों ने/को। **ब्रह्मबन्ध्वौ**। दो पतित ब्राह्मणियों ने/को। **ब्रह्मबन्ध्वः**। सब पतित ब्राह्मणियों ने/को।*

सिद्धि-(१) कुमार्यौ। कुमारी+औ। कुमार्य्+औ। कुमार्यौ।

*यहां कुमारी शब्द के दीर्घ वर्ण (ई) से उत्तर इच् (औ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है, अतः '**इको यणचि**' (६।१।७५) से यण् आदेश होता है। ऐसे ही कुमारी शब्द से औट् (द्वितीया-द्विवचन) प्रत्यय करने पर-**कुमार्यौ**।*

(२) कुमार्यः। कुमारी+जस्। कुमारी+अस्। कुमार्य्+अस्। कुमार्यः।

*यहां कुमारी शब्द के दीर्घ वर्ण (ई) से उत्तर जस् प्रत्यय परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है, अतः पूर्ववत् यण् आदेश होता है। ऐसे ही 'ब्रह्मबन्धू' शब्द से-**ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः**।*

पूर्वसवर्णदीर्घ-विकल्पः-

(३४) वा छन्दसि।१०५।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, छन्दसि ७।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, दीर्घः, पूर्वसवर्णः, न, इचि, दीर्घात्, जसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां छन्दसि दीर्घाद् इचि जसि च पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णो वा दीर्घो एको न।

अर्थः-संहितायां छन्दसि च विषये दीर्घ-वर्णाद् इचि जसि च प्रत्यये परतः पूर्वपरयोः स्थाने विकल्पेन पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति।

उदा०-मारुतीश्चतस्रः (का०सं० ११।१०)। मारुत्यश्चतस्रः। पिण्डीः, पिण्ड्यः। वाराही, वाराह्यौ। उपानही (मै०सं० ४।४।६)। उपनह्यौ (लौ०गृ० ३।७)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय एवं (छन्दसि) वेदविषय में (दीर्घात्) दीर्घ-वर्ण से उत्तर (इचि) इच् और (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (वा) विकल्प से (पूर्वसवर्णः) पूर्वसवर्ण (दीर्घः) दीर्घ (एकः) एकादेश (न) नहीं होता है।*

उदा०-मारुतीश्चतस्रः (का०सं० ११।१०)। मारुत्यश्चतस्रः। चार मारुतियां। पिण्डीः, पिण्ड्यः। सब पिण्डियां। वाराही, वाराह्यौ। दो वाराहियां। उपानही (मै०सं० ४।४।६)। उपनह्यौ (लौ०गृ० ३।७)। दो उपानह्रियां (जूतियां)।

सिद्धि-(१) मारुतीः। मारुती+जस्। मारुती+अस्। मारुतीस्। मारुतीः।

यहां मारुती शब्द के दीर्घ वर्ण (ई) से उत्तर जस् प्रत्यय परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में छन्दविषय में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। ऐसे ही 'पिण्डी' शब्द से-पिण्डीः।

(२) मारुत्यः। मारुती+जस्। मारुती+अस्। मारुत्य्+अस्। मारुत्यः।

यहां विकल्प पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं है, अपितु 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण् आदेश होता है। ऐसे ही 'पिण्डी' शब्द से-पिण्ड्यः।

(३) वाराही। वाराही+औ। वाराही।

यहां 'वाराही' शब्द के दीर्घ-वर्ण (ई) से उत्तर इजादि औ/औट् प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। ऐसे ही 'उपानही' शब्द से-उपानही।

(४) वाराह्यौ। यहां विकल्प-पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं है, अपितु इको यणचि' (६।१।७५) से यण् आदेश होता है। ऐसे ही 'उपानही' शब्द से-उपानह्यौ।

पूर्वरूप-एकादेशः-

(३५) अमि पूर्वः।१०६।

प०वि०-अमि ७।१ पूर्वः १।१।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अकोऽमि पूर्वपरयोः पूर्व एकः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽक उत्तरस्माद् अमि प्रत्यये परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूप एकादेशो भवति।

उदा०-वृक्षम्, प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अकः) अक्-वर्ण से उत्तर (अमि) अम् प्रत्यय परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वः) पूर्वरूप (एकः) एकादेश होता है।

उदा०-**वृक्षम्।** वृक्ष को। **प्लक्षम्।** प्लक्ष (पिलखण) को। **अग्निम्।** अग्नि को। **वायुम्।** वायु को।

सिद्धि-**वृक्षम्।** वृक्ष+अम्। वृक्षम्।

यहां वृक्ष शब्द के अक्-वर्ण (अ) से उत्तर अम् प्रत्यय परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में इस सूत्र से पूर्वरूप (अ) एकादेश होता है। ऐसे ही-**प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम्।**

पूर्वरूप-एकादेशः-

(३६) सम्प्रसारणाच्च।१०७।

प०वि०-सम्प्रसारणात् ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, अचि, एकः, पूर्वपरयोः, पूर्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां सम्प्रसारणाच्चाऽचि पूर्वपरयोरेकः पूर्वः।

अर्थः-संहितायां विषये सम्प्रसारणाच्चोत्तरस्माद् अचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूप एकादेशो भवति।

उदा०-(यजिः) इष्टम्। (वपिः) उप्तम्। (ग्रहिः) गृहीतम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से उत्तर (च) भी (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वः) पूर्वरूप (एकः) एकादेश होता है।

उदा०-(यजि) **इष्टम्।** यज्ञ किया। (स्वपि) **सुप्तम्।** शयन किया। (ग्रहि) **गृहीतम्।** ग्रहण किया।

सिद्धि-(१) **इष्टम्।** यज्+क्त। यज्+त। इ अ ज्+त। इज्+त। इष्+ट। इष्ट+सु। इष्टम्।

यहां 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से 'यज्' के यकार को सम्प्रसारण (इ) होता है। इस सूत्र से सम्प्रसारण (इ) से उत्तर अच् वर्ण (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (इ) एकादेश होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'ज्' को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से तकार को टुत्व टकार होता है।

(२) उप्तम्। वप्+क्त। वप्+त। उ अ प्+त। उप्+त। उप्त+सु। उप्तम्।

यहां 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् क्त प्रत्यय है। पूर्ववत् 'वप्' के वकार को सम्प्रसारण (उ) होता है। इस सूत्र से सम्प्रसारण (उ) से उत्तर अच् वर्ण (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (उ) एकादेश होता है।

(३) गृहीतम्। ग्रह्+क्त। ग्रह्+त। ग् ऋ अ ह्+त। गृह्+इट्+त। गृह्+ई+त। गृहीत+सु। गृहीतम्।

यहां 'ग्रह उपादाने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। 'ग्रहिज्यावयि०' (६।१।१६) से 'ग्रह्' के रेफ को सम्प्रसारण (ऋ) होता है। इस सूत्र से सम्प्रसारण (ऋ) से उत्तर अच् वर्ण (अ) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (ऋ) एकादेश होता है।

'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (१।१।४४) से यण् के स्थान में भूत और भावी इक् की सम्प्रसारण संज्ञा होती है।

पूर्वरूप-एकादेशः–

(३७) एङः पदान्तादति।१०८।

प०वि०-एङः ५।१ पदान्तात् ५।१ अति ७।१।

स०-पदस्यान्तः पदान्तः, तस्मात्-पदान्तात् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, पूर्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां पदान्ताद् एङोऽति पूर्वपरयोः पूर्व एकः।

अर्थः-संहितायां विषये पदान्ताद् एङ उत्तरस्माद् अति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूप एकादेशो भवति।

उदा०-अग्नेऽत्र। वायोऽत्र।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ्-वर्ण से उत्तर (अति) अ-वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वः) पूर्वरूप (एकः) एकादेश होता है।*

उदा०-अग्नेऽत्र। हे अग्ने ! यहां (आ)। वायोऽत्र। हे वायो ! यहां (आ)।

सिद्धि-अग्नेऽत्र। अग्ने+अत्र। अग्नेऽत्र।

यहां अग्ने शब्द के पदान्त एङ् वर्ण (ए) से उत्तर अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (ए) एकादेश होता है। यहां 'एचोऽयवायावः' (६।१।७६) से 'अय्' आदेश प्राप्त था, यह उसका अपवाद है। ऐसे ही-वायोऽत्र।

पूर्वरूप-एकादेशः–

(३८) ङसिङसोश्च।१०६।

प०वि०–ङसि-ङसोः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०–ङसिश्च ङस् च तौ ङसिङसौ, तयोः–ङसिङसोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०–संहितायाम्, एकः, पूर्वपरयोः, पूर्वः, एङः, अति इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् एङो ङसिङसोश्चाति पूर्वपरयोः पूर्व एकः।

अर्थः–संहितायां विषये एङ उत्तरयोर्ङसिङसोश्चाति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूप एकादेशो भवति।

उदा०–**(ङसि)** अग्नेरागच्छति, वायोरागच्छति। **(ङस्)** अग्नेः स्वम्, वायोः स्वम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (एङः) एङ् वर्ण से उत्तर (ङसिङसोः) ङसि और ङस् प्रत्ययविषयक (अति) अ-वर्ण परे होने पर (च) भी (पूर्वपरयोः) पूर्व-पर के स्थान में (पूर्वः) पूर्वरूप (एकः) एकादेश होता है।*

*उदा०-(ङसि) अग्नेरागच्छति। अग्नि से {प्रकाश} आता है। **वायोरागच्छति।** वायु से {स्पर्श} आता है। (ङस्) अग्नेः स्वम्। अग्नि का स्व=धन। **वायोः स्वम्।** वायु का स्व=धन।*

सिद्धि-(१) अग्नेः। अग्नि+ङसि। अग्नि+अस्। अग्ने+अस्। अग्ने+स्। अग्नेः।

यहां 'अग्नि' शब्द से 'ङसि' प्रत्यय है। 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से 'अग्नि' शब्द को गुण (ए) होता है। इस सूत्र से 'अग्ने' के एङ्-वर्ण (ए) से उत्तर ङसि प्रत्यय विषयक अ-वर्ण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (ए) एकादेश होता है। ऐसे ही 'ङस्' प्रत्यय में भी-अग्नेः।

(२) वायोः। वायु+ङसि। वायु+अस्। वायो+अस्। वायो+स्। वायोः।

यहां वायु शब्द से ङसि प्रत्यय है और पूर्ववत् उसे गुण (ओ) होता है। इस सूत्र से वायो के एङ् वर्ण (ओ) से उत्तर ङसि प्रत्ययविषयक अ-वर्ण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही 'ङस्' प्रत्यय में भी-वायोः।

उकार-एकादेश:–

(३६) ऋत उत्।११०।

प०वि०–ऋत: ५।१ उत् १।१।

अनु०–संहितायाम्, एक:, पूर्वपरयो:, अति, ङसिङसोरिति चानुवर्तते।

अन्वय:–संहितायाम् ऋतो ङसिङसोरति पूर्वपरयोरुद् एक:।

अर्थ:–संहितायां विषये ऋकारादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परत: पूर्वपरयो: स्थाने उकारादेशो भवति।

उदा०–(ङसि) होतुरागच्छति। (ङस्) होतु: स्वम्।

आर्यभाषा: *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (ऋत:) ऋ-वर्ण से उत्तर (ङसिङसो:) ङसि और ङस् प्रत्ययविषयक (अति) अ-वर्ण परे होने पर (पूर्वपरयो:) पूर्व-पर के स्थान में (उत्) उकार आदेश होता है।*

उदा०-(ङसि) होतुरागच्छति। होता से आता है। (ङस्) होतु: स्वम्। होता का स्व=धन। होता=ऋग्वेद का ज्ञाता ऋत्विक्।

सिद्धि-होतु:। होतृ+ङसि। होतृ+अस्। होतुरस्। होतुर्०। होतु:।

यहां 'होतृ' शब्द से 'ङसि' प्रत्यय है। इस सूत्र से होतृ शब्द के ऋ-वर्ण से उत्तर ङसि प्रत्ययविषयक अ-वर्ण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में उकार रूप एकादेश होता है। जो दो षष्ठी-निर्दिष्टों के स्थान में होता है उसका उनमें से किसी एक से कथन किया जा सकता है। पुत्र का माता वा पिता किसी एक से कथन हो सकता है। अत: यहां एक 'ऋ' के स्थान में उकार-आदेश मानकर 'उरण् रपर:' (१।१।५०) से उकार आदेश रपर होता है और 'रात् सस्य' (८।२।२४) से सकार का लोप होता है। 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:' (८।३।१५) से रेफ को विसर्जनीय आदेश होता है।

सूचना:- 'एक: पूर्वपरयो:' (६।१।८४) का अधिकार समाप्त हुआ।

उकार-आदेश:–

(४०) ख्यत्यात् परस्य।१११।

प०वि०–ख्य-त्यात् ५।१ परस्य ६।१।

स०–ख्यश्च त्यश्च एतयो: समाहार:-ख्यत्यम्, तस्मात्-ख्यत्यात् (समाहारद्वन्द्व:)।

अनु०–संहितायाम्, अति, ङसिङसो:, उद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां ख्यत्यात् परस्य ङसिङसोरत उत्।

अर्थः-संहितायां विषये ख्य-त्यात् परयोर्ङसिङसोरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति।

उदा०-(ख्यः) सख्युः। (त्यः) पत्युः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (ख्य-त्यात्) ख्य और त्य से (परस्य) उत्तर (ङसिङसोः) ङसि और ङस् प्रत्ययविषयक (अति) अकार के स्थान में (उत्) उकार आदेश होता है।*

उदा०-(ख्य) सख्युः। सखा से/का। (त्य) पत्युः। पति से/का।

सिद्धि-सख्युः। सखि+ङसि। सखि+अस्। सख्य्+अस्। सख्य्+उस्। सख्युस्। सख्युरु। सख्युर्। सख्युः।

यहां 'सखि' शब्द से 'ङसि' प्रत्यय है। 'इको यणचि' (६।१।७५) से 'सखि' के इकार को यण् (य्) आदेश होता है। इस सूत्र से 'सख्य्' के 'ख्य' अवयव से उत्तर 'ङसि' के अ-वर्ण के स्थान में उकार आदेश होता है। 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से रेफ को विसर्जनीय आदेश होता है। ऐसे ही 'ङस्' प्रत्यय परे होने पर भी-सख्युः। ऐसे ही 'पति' शब्द से ङसि और ङस् प्रत्यय में-पत्युः।

उकार-आदेशः-

(४१) अतो रोरप्लुतादप्लुते।११२।

प०वि०-अतः ५।१ रोः ६।१ अप्लुतात् ५।१ अप्लुते ७।१।

स०-न प्लुतः-अप्लुतः, तस्मात्-अप्लुतात् (नञ्तत्पुरुषः)। न प्लुतः-अप्लुतः, तस्मिन्-अप्लुते (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, अति, उद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अप्लुताद् अतो रोरुद् अप्लुतेऽति।

अर्थः-संहितायां विषयेऽप्लुताद् अकारादुत्तरस्य रो रेफस्य स्थाने उकारादेशो भवति, अप्लुतेऽकारे परतः।

उदा०-वृक्षोऽत्र। प्लक्षोऽत्र।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अप्लुताद्) प्लुत से रहित (अतः) अ-वर्ण से उत्तर (रोः) रु के रेफ के स्थान में (उत्) उकार आदेश होता है (अप्लुते) प्लुत से रहित (अति) अ-वर्ण परे होने पर।*

उदा०-वृक्षोऽत्र। वृक्ष यहां है। प्लक्षोऽत्र। प्लक्ष (पिलखण) यहां है।

सिद्धि-वृक्षोऽत्र। वृक्ष+सु+अत्र। वृक्ष्+स्+अत्र। वृक्ष+रु+अत्र। वृक्ष+र्+अत्र। वृक्ष+उ+अत्र। वृक्षो+अत्र। वृक्षोऽत्र।

यहां 'वृक्ष' शब्द से 'सु' प्रत्यय, 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रुत्व और इस सूत्र से 'रु' के रेफ को उत्व होता है। पश्चात् 'आद्गुणः' (६।१।७५) से गुणरूप (ओ) एकादेश होकर 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से पूर्वरूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही-प्लक्षोऽत्र।

उकार-आदेशः-

(४२) हशि च।११३।

प०वि०-हशि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, उत्, अतः, रोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अतो रोरुद् हशि च।

अर्थः-संहितायां विषयेऽतः उत्तरस्य रो रेफस्य स्थाने उकारादेशो भवति, हशि च परतः।

उदा०-पुरुषो याति। पुरुषो हसति। पुरुषो ददाति, इत्यादिकम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अतः) अ-वर्ण से उत्तर (रोः) रु के रेफ के स्थान में (उत्) उकार आदेश होता है (हशि) हश् वर्ण परे होने पर (च) भी।*

उदा०-पुरुषो याति। पुरुष जाता है। पुरुषो हसति। पुरुष हंसता है। पुरुषो ददाति। पुरुष देता है।

सिद्धि-पुरुषो याति। पुरुष+सु+याति। पुरुष+स्+याति। पुरुष+र्+याति। पुरुष+उ+याति। पुरुषो याति।

यहां पुरुष शब्द से 'सु' प्रत्यय है। 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रुत्व होता है। इस सूत्र से पुरुष के अ-वर्ण से उत्तर रेफ को हश्-वर्ण (य्) परे होने पर उत्व होता है। 'आद्गुणः' (६।१।७५) से पूर्व-पर के स्थान में गुणरूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही-पुरुषो हसति, पुरुषो ददाति इत्यादि।

प्रकृतिभावः-

(४३) प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे।११४।

प०वि०-प्रकृत्या ३।१ अन्तःपादम् १।१ अव्यपरे ७।१।

स०-पादस्यान्तः (मध्ये) अन्तःपादम् **'अव्ययं विभक्ति०'** (२।१।६) इति सप्तमीविभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अन्तःशब्दोऽव्ययमधिकरणभूतं मध्यमार्थमाचष्टे। वश्च यश्च तौ व्यौ, व्यौ परौ यस्मात् स व्यपरः, न व्यपरः-अव्यपरः, तस्मिन्-अव्यपरे (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, एङः, अति इति चानुवर्तते। 'एङः' इति पञ्चम्यन्तं पदमर्थवशादिह प्रथमायां विपरिणम्यते।

अन्वयः-संहितायाम् एङ् प्रकृत्या व्यपरेऽति अन्तःपादम्।

अर्थः-संहितायां विषये य एङ् स प्रकृत्या भवति, अवकारयकारपरकेऽति परतः, अन्तःपादं चेत्।

उदा०-ते अग्रे अश्वमयुञ्जन् (यजु० ९।७)। ते अस्मिन् जवमादधुः (यजु० ९।७)। उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१)। शिरो अपश्यम् (ऋ० १।१६३।६)। सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१)। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् (ऋ० ९।५१।१)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में जो (एङः) एङ् वर्ण है वह (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है (अव्यपरे) वकार-यकारपरक वर्जित (अति) अ-वर्ण परे होने पर (अन्तःपादम्) यदि वह मन्त्र के पाद=चरण के मध्य में हो।*

उदा०-उदाहरण संस्कृत-भाग में देख लेवें।

*सिद्धि-**ते अग्रे०।** यहां 'ते' शब्द के एङ् वर्ण (ए) से उत्तर अ-वर्ण है और ऋचा के पाद=चरण के मध्य में है, अतः वह इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् इस संहिता-प्रकरण में विहित कार्य नहीं होता है। यहां 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। ऐसे ही 'ते **अस्मिन् जवमादधुः**' (यजु० ९।७) इत्यादि।*

***विशेषः** (१) प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव एवं कारण है, अपने स्वरूप अर्थ में रहना है। अन्तः शब्द अव्यय है और यह मध्यम अर्थ का वाचक है। पाद शब्द से ऋचा के पाद का ही ग्रहण किया जाता है, श्लोक के पाद (चरण) का नहीं।*

(२) कई वैयाकरण इस सूत्र को 'नान्तःपादमव्यपरे' ऐसा पढ़ते हैं। उनका मत है कि ऋचा पाद के मध्य में कोई संहिता-कार्य नहीं होता है।

प्रकृतिभावः—

(४४) अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च।११५।

प०वि०- अव्यात्-अवद्यात्-अवक्रमु:-अव्रत-अयम्-अवन्तु-अवस्युषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०-अव्याच्च अवद्याच्च अवक्रमुश्च अव्रतश्च अयं च, अवन्तुश्च अवस्युश्च ते-अव्यात्०अवस्यवः, तेषु-अव्यात्०अवस्युषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या, अन्तःपादम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् एङ् प्रकृत्या अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्व-वस्युषु चाति, अन्तःपादम्।

अर्थः-संहितायां विषये एङ् प्रकृत्या भवति, अवद्यावद्यादवक्रमुर-व्रतायमवन्त्ववस्युष्वति परतः, अन्तःपादं चेत् तद् भवति।

उदा०-(अव्यात्) अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात् (तै०सं० २।१।११।२)। **(अवद्यात्)** मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० ४।४।१५)। **(अवक्रमुः)** मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० ७।३२।२७)। **(अव्रतः)** ते नो अव्रताः। **(अयम्)** शातवारो अयं मणिः (शौ०सं० १९।३६।५)। **(अवन्तु)** ते नो अवन्तु पितरः (ऋ० १०।१५।१)। **(अवस्युः)** कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (एङ्) एङ् वर्ण (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है (अव्यात्०अवस्युषु) अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु शब्द विषयक (अति) अ-वर्ण परे होने पर, (अन्तःपादम्) यदि वह एङ् ऋचा के पाद=चरण के मध्य में हो।*

उदा०-उदाहरण संस्कृत-भाग में देख लेवें।

***सिद्धि-नो अव्यात्।** यहां 'नो' शब्द का एङ् वर्ण (ओ) अव्यात् शब्द के अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है। 'प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे' (६।१।११४) से वकार-यकारपरक अ-वर्ण परे होने पर प्रकृतिभाव का प्रतिषेध किया गया है। यहां 'अव्यात्' आदि में वकार-यकारपरक अ-वर्ण परे होने पर भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है।*

प्रकृतिभावः–

(४५) यजुष्युरः ।११६।

प०वि०–यजुषि ७ ।१ उरः १ ।१ ।

अनु०–संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–संहितायां यजुषि एङन्त उरोऽति प्रकृत्या ।

अर्थः–संहितायां यजुषि च विषये एङन्त उरःशब्दोऽति परतः प्रकृत्या भवति ।

उदा०–उरो अन्तरिक्षं सजूः (तै०सं० १ ।३ ।८ ।१) । यजुषि पादानामभावादनन्तःपदार्थमिदं वचनं वेदितव्यम् ।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (यजुषि) यजुर्वेद विषय में (यङः) एङन्त (उरः) उरः शब्द (अति) अ-वर्ण परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-उरो अन्तरिक्ष सजूः (तै०सं० १ ।३ ।८ ।१)। यजुर्वेद में पाद व्यवस्था न होने से यह अनन्तः पाद के लिये कथन किया गया है।

सिद्धि-उरो अन्तरिक्ष। यहां याजुष विषय में एङन्त उरः शब्द (उरो) से अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव होता है।

प्रकृतिभावः–

(४६) आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे ।११७।

प०वि०–आपो १ ।१ (सु-लुक्) जुषाणो १ ।१ (सु-लुक्) वृष्णो १ ।१ (सु-लुक्) वर्षिष्ठे १ ।१ (सु-लुक्) अम्बे १ ।१ (सु-लुक्) अम्बाले १ ।१ (सु-लुक्) अम्बिकेपूर्वे १ ।२ ।

स०–अम्बिके शब्दात् पूर्वम्-अम्बिकेपूर्वम्, ते-अम्बिकेपूर्वे (पञ्चमीतत्पुरुषः) ।

अनु०–संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या, यजुषि इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–संहितायां यजुषि आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, अम्बिकेपूर्वे अम्बे, अम्बाले इत्यत्र एङ अति प्रकृत्या ।

अर्थः-संहितायां यजुषि च विषये आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, इत्यत्र अम्बिकेपूर्वे अम्बे, अम्बाले इत्यत्र च य एङ् सोऽति परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-(**आपो**) आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु (यजु० ४।२)। (**जुषाणो**) जुषाणो अप्तुराज्यस्य (यजु० ५।३५)। (**वृष्णो**) वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (यजु० ७।१)। (**वर्षिष्ठे**) वर्षिष्ठे अधिनाके (तै०सं० १।१।८।२)। अम्बे अम्बाले अम्बिके (यजु० २३।१८)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में और (यजुषि) यजुर्वेद विषय में (आपो०अम्बिकेपूर्वे) आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे यहां जो (एङ्) एङ् वर्ण है वह और (अम्बिकेपूर्वे) अम्बिके शब्द से पूर्व जो (अम्बे, अम्बालिके) अम्बे और अम्बालिके शब्दों में (एङ्) एङ्-वर्ण है वह (अति) अ-वर्ण परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-उदाहरण संस्कृत भाग में देख लेवें।

सिद्धि-आपो अस्मान्। यहां 'आपो' शब्द का एङ् वर्ण (ओ) अ-वर्ण परे होने पर याजुष विषय में इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। ऐसे ही-जुषाणो अप्तुराज्यस्य इत्यादि।

प्रकृतिभावः-

(४७) अङ्गे इत्यादौ च।११८।

प०वि०-अङ्गे ७।१ इत्यादौ ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-इति=अङ्गशब्दः, तस्यादिः-इत्यादिः, तस्मिन्-इत्यादौ (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, यजुषि, एङः, अति, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां यजुषि अङ्गे एङ् अति प्रकृत्या, इत्यादौ चाति एङ् प्रकृत्या।

अर्थः-संहितायां यजुषि च विषये 'अङ्गे' इत्यत्र य एङ् वर्णः सोऽकारे परतः प्रकृत्या भवति, इत्यादौ=अङ्गशब्दादौ चाकारे परत एङ् वर्णः प्रकृत्या भवति।

उदा०-(अङ्गे) ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्। ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्। (इत्यादौ=अङ्गशब्दादौ) ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् (यजु० ६।२०)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (यजुषि) यजुर्वेद विषय में (अङ्गे) अङ्गे इस शब्द में विद्यमान जो एङ् है वह (अति) अकार वर्ण परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है तथा (इत्यादौ) अङ्ग शब्द के आदि में विद्यमान (अति) अकार वर्ण परे होने पर (एङ्) एङ् वर्ण (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-(अङ्गे) ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्। ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम् (इत्यादौ=अङ्शब्दादौ) ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् (यजु० ६।२०)।

*सिद्धि-(१) **अङ्गे अदीध्यत्।** यहां 'अङ्गे' शब्द में विद्यमान एङ्-वर्ण (ए) अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् **'एङः पदान्तादति'** (६।१।१०८) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। ऐसे ही-**अङ्गे अशोचिषम्।***

*(२) **प्राणो अङ्गे अङ्गे।** यहां 'प्राणो' शब्द का एङ् वर्ण (ओ) अङ्ग शब्द के अ-वर्ण परे होने पर प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् **'एङः पदान्तादति'** (६।१।१०८) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। 'अङ्गे अङ्गे' यहां 'अङ्गे' शब्द का एङ् वर्ण (ए) अङ्ग शब्द के अ-वर्ण परे होने पर इसी सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है।*

प्रकृतिभावः–

(४८) अनुदात्ते च कुधपरे।११६।

प०वि०-अनुदात्ते ७।१ च अव्ययपदम्, कु-धपरे ७।१।

स०-कुश्च धश्च तौ कुधौ, कुधौ परौ यस्मात् स कुधपरः, तस्मिन्-कुधपरे (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या, यजुषि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां यजुषि एङ् अनुदात्ते कुधपरे चाति प्रकृत्या।

अर्थः-संहितायां यजुषि च विषये य एङ्वर्णः सोऽनुदात्ते कवर्ग-धकारपरकेऽति परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-कवर्गपरकेऽति-अयं नो अग्निः (यजु० ५।३७)। धकार-परकेऽति-अयं सो अध्वरः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (यजुषि) यजुर्वेद विषय में जो (एङ्) एङ् वर्ण है वह (अनुदात्ते) अनुदात्त (कु-धपरे) कवर्गपरक और धकारपरक (अति) अ-वर्ण परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

*उदा०-कवर्गपरक अकार-**अयं नो अग्निः** (यजु० ५।३७)। धकारपरक अकार-**अयं सो अध्वरः।***

*सिद्धि-(१) **नो अग्निः।** यहां 'नो' शब्द का एङ्-वर्ण (ओ) 'अग्नि' शब्द के अनुदात्त एवं कवर्गपरक अ-वर्ण परे होने पर याजुष विषय में इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०८) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। 'अग्नि' शब्द अनुदात्तादि है।*

*(२) **सो अध्वरः।** यहां 'सो' शब्द का एङ् वर्ण (ओ) 'अध्वर' शब्द के अनुदात्त एवं धकारपरक अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् पूर्ववत् प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। 'अध्वर' शब्द अनुदात्तादि है।*

प्रकृतिभावः–

(४६) अवपथासि च।१२०।

प०वि०-अवपथासि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या, यजुषि, अनुदात्ते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां यजुषि एङ् अनुदात्तेऽवपथासि चाति प्रकृत्या।

अर्थः-संहितायां यजुषि च विषये य एङ्-वर्णः सोऽनुदात्तेऽवपथासि चाति परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः (का०सं० ३०।६।३२)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (यजुषि) यजुर्वेद विषय में (एङ्) एङ्-वर्ण (अनुदात्ते) अनुदात्त (अवपथासि) 'अवपथाः' शब्द विषयक (अति) अ-वर्ण परे होने पर (च) भी (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

*उदा०-**त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः** (का०सं० ३०।६।३२)।*

*सिद्धि-**रुद्रेभ्यो अवपथाः।** यहां 'रुद्रेभ्यो' शब्द का एङ्-वर्ण (ओ) अवपथासि शब्द विषयक अनुदात्त अ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०८) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है।*

*'अवपथाः' यहां '**डुवप बीजसन्ताने छेदने च**' (भ्वा०उ०) धातु से लङ् प्रत्यय और उसके स्थान में 'थास्' आदेश है और 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से अनुदात्त होता है।*

प्रकृतिभाव-विकल्पः–

(५०) सर्वत्र विभाषा गोः।१२१।

प०वि०–सर्वत्र अव्ययपदम्, विभाषा १।१ गोः ६।१।

अनु०–संहितायाम्, एङः, अति, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां सर्वत्र गोरेङ् अति विभाषा प्रकृत्या।

अर्थः–संहितायां सर्वत्र=छन्दसि भाषायां च गोरेङ् अति परतो विकल्पेन प्रकृत्या भवति।

उदा०–(छन्दसि) अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवः गो अश्वान् (तै०सं० ५।२।९।४) **(भाषायाम्)** गोऽग्रम्, गो अग्रम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (सर्वत्र) छन्द और लोकभाषा में (गोः) गो शब्द का (एङ्) एङ्-वर्ण (अति) अ-वर्ण परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-(छन्द) अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवः गो अश्वान् (तै०सं० ५।२।९।४)। (भाषा) गोऽग्रम्, गो अग्रम्। गौ का अगला भाग (मुख)।

सिद्धि-(१) गो अश्वान्। यहां छन्दविषय में 'गो' शब्द का एङ् वर्ण (ए) 'अश्व' शब्द के अ-वर्ण के परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है। अर्थात् 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है। ऐसे ही-गो अश्वान्।

(२) गोऽग्रम्। यहां लोकभाषा विषय में 'गो' शब्द का एङ् वर्ण (ओ) अश्व शब्द के अ-वर्ण के परे होने पर इस सूत्र से विकल्प से प्रकृतिभाव से रहता है। अतः विकल्प पक्ष में 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से पूर्वरूप एकादेश (ओ) होता है।

(३) गो अग्रम्। यहां 'गो' शब्द को एङ् वर्ण (ओ) 'अग्रे' शब्द के अ-वर्ण परे होने पर लोकभाषा में प्रकृतिभाव से रहता है। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) से प्राप्त पूर्वरूप एकादेश नहीं होता है।

अवङ्-आदेशः–

(५१) अवङ् स्फोटायनस्य।१२२।

प०वि०–अवङ् १।१ स्फोटायनस्य ६।१।

अनु०–संहितायाम्, एङः, अचि, गोरिति चानुवर्तते। 'अति' इति च निवृत्तम्।

अन्वयः-संहितायाम् अचि गोरेङोऽवङ्, स्फोटायनस्य।

अर्थः-संहितायां विषयेऽचि परतो गोरेङः स्थानेऽवङ् आदेशो भवति, स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेन।

उदा०-गवाग्रम्, गोऽग्रम्। गवाजिनम्, गोऽजिनम्। गवौदनम्, गवोदनम्। गवोष्ट्रम्। गवुष्ट्रम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अचि) अच्-वर्ण परे होने पर (गोः) गो शब्द के (एङः) एङ्-वर्ण के स्थान में (अवङ्) अवङ् आदेश होता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।*

*उदा०-**गवाग्रम्, गोऽग्रम्।** गौ का अगला भाग (मुख)। **गवाजिनम्, गोऽजिनम्।** गौ का चर्म (चमड़ा)। **गवौदनम्, गवोदनम्।** गौ के लिये निकाला हुआ ओदन (भात)। **गवोष्ट्रम्। गवुष्ट्रम्।** गौ और उष्ट्र (ऊंट)।*

*सिद्धि-(१) **गवाग्रम्।** गो+अग्रम्। ग् अवङ्+अग्रम्। गव+अग्रम्। गवाग्रम्।*

*यहां 'गो' शब्द के एङ् वर्ण (ओ) का अच्-वर्ण (अ) परे होने पर इस सूत्र से स्फोटायन आचार्य के मत में अवङ् आदेश होता है। **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६।१।९८) से दीर्घ रूप (आ) एकादेश होता है।*

*(२) **गोऽग्रम्।** गो+अग्रम्। गो+ग्रम्। गोऽग्रम्।*

*यहां पाणिनिमुनि के मत में **'एङः पदान्तादति'** (६।१।१०६) से पूर्वरूप (ओ) एकादेश होता है। ऐसे ही-गो+अजिनम्=गोऽजिनम्।*

*(३) **गवौदनम्।** गो+ओदनम्=गवौदनम्।*

यहां स्फोटायन आचार्य के मत में अवङ् आदेश है। ऐसे ही गो+अजिनम्=गवाजिनम्। गो+उष्ट्रम्=गवोष्ट्रम्।

*(४) **गवोदनम्।** गो+ओदनम्=गवोदनम्।*

*यहां पाणिनिमुनि के मत में **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७६) से अव् आदेश है। ऐसे ही-गो+उष्ट्रम्=गवुष्ट्रम्।*

अवङ्-आदेशः-

(५२) इन्द्रे च।१२३।

प०वि०-इन्द्रे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, अचि, एङः, गोः, अवङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् इन्द्रे च अचि गोरेङोऽवङ्।

अर्थः-संहितायां विषे इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोरेङः स्थानेऽवङ् आदेशो भवति।

उदा०-गवेन्द्रः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (इन्द्रे) इन्द्र शब्द में अवस्थित (अचि) अच्-वर्ण परे (च) भी (गोः) गो शब्द के (एङः) एङ्-वर्ण के स्थान में (अवङ्) अवङ् आदेश होता है।*

उदा०-गवेन्द्रः। गौओं का राजा (सांड)।

सिद्धि-गवेन्द्रः। गो+इन्द्र। ग् अवङ्+इन्द्र। गव+इन्द्र। गवेन्द्र+सु। गवेन्द्रः।

यहां इन्द्र शब्द में अवस्थित अच्-वर्ण (इ) परे होने पर 'गो' शब्द के एङ् वर्ण (ओ) को इस सूत्र से अवङ् आदेश होता है। तत्पश्चात् 'आद्गुणः' (६।१।८५) से गुणरूप (ए) एकादेश होता है।

प्रकृतिभावः-

(५३) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।१२४।

प०वि०-प्लुत-प्रगृह्याः १।३ अचि ७।१ नित्यम् १।१।

स०-प्लुताश्च प्रगृह्याश्च ते प्लुतप्रगृह्याः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यं प्रकृत्या।

अर्थः-संहितायां विषये प्लुताः प्रगृह्यसंज्ञकाश्च शब्दा अति परतो नित्यं प्रकृत्या भवन्ति।

उदा०-(प्लुताः) देवदत्त३ अत्र न्वसि? यज्ञदत्त३ इदमानय। (प्रगृह्याः) अग्नी इति। वायू इति। खट्वे इति। माले इति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (प्लुतप्रगृह्याः) प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक शब्द (अचि) अच् वर्ण परे होने पर (नित्यम्) सदा (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहते हैं अर्थात् वहां इस संहिता प्रकरण में विहित कार्य नहीं होता है।*

उदा०-(प्लुत) देवदत्त३ अत्र न्वसि? हे देवदत्त३ क्या तू यहां है? यज्ञदत्त३ इदमानय। हे यज्ञदत्त३ तू यह वस्तु ला। (प्रगृह्य) अग्नी इति। अग्नी यह शब्द। वायू इति। वायू यह शब्द। खट्वे इति। खट्वे यह शब्द। माले इति। माले यह शब्द (उसने कहा)।

सिद्धि-(१) देवदत्त३ अत्र। यहां 'देवदत्त' शब्द 'दूराद्धूते च' (८।२।८५) से प्लुत है-देवदत्त३। यह अच्-वर्ण (अ) परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से प्राप्त दीर्घरूप (आ) एकादेश नहीं होता है। यहां 'दूराद्धूते च' (८।२।८५) से किया गया-प्लुत-कार्य इस सूत्र से प्रकृतिभाव करने में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) से असिद्ध नहीं होता है क्योंकि यह प्रकृतिभाव प्लुत के ही आश्रित है।

(२) यज्ञदत्त३ इदम्। यहां यज्ञदत्त शब्द पूर्ववत् प्लुत है-यज्ञदत्त३। यह अच्-वर्ण (इ) परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'आद्गुणः' (६।१।८५) से प्राप्त गुणरूप (ए) एकादेश नहीं होता है।

(३) अग्नी इति। 'अग्नी' शब्द की 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) से प्रगृह्य संज्ञा है। अतः यह अच्-वर्ण (इ) परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से प्राप्त दीर्घरूप (ई) एकादेश नहीं होता है।

(४) वायू इति। यहां 'वायू' शब्द की पूर्ववत् प्रगृह्य संज्ञा है। अतः यह अच्-वर्ण (इ) परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'इको यणचि' (६।१।७५) से प्राप्त इक् (उ) के स्थान में यण् (व्) आदेश नहीं होता है।

(५) खट्वे इति। यहां 'खट्वे' शब्द की पूर्ववत् प्रगृह्य संज्ञा है। अतः यह अच्-वर्ण (इ) परे होने पर प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'एचोऽयवायावः' (६।१।७६) से प्राप्त अय्-आदेश नहीं होता है। ऐसे ही-माले इति।

प्रकृतिभावः-

(५४) आङोऽनुनासिकश्छन्दसि।१२५।

प०वि०-आङः ६।१ अनुनासिकः १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-संहितायाम्, छन्दसि, प्रकृत्या, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अचि आङोऽनुनासिकः प्रकृत्या।

अर्थः-संहितायां छन्दसि च विषयेऽचि परत आङोऽनुनासिकादेशो भवति, स च प्रकृत्या भवति।

उदा०-अभ्र आँ अपः (ऋ० ५।४।८।१)। गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः (ऋ० ८।६७।११)।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में और (छन्दसि) वेदविषय में (अचि) अच्-वर्ण परे होने पर (आङः) आङ् शब्द को (अनुनासिकः) अनुनासिक आदेश होता है और वह (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।

उदा०-अभ्र आँ अपः (ऋ० ५।४।८।१)। गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः (ऋ० ८।६७।११)।

सिद्धि-(१) आँ अपः। यहां छन्दविषय में 'आङ्' शब्द को इस सूत्र से अनुनासिक आदेश होता है और वह प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से प्राप्त दीर्घरूप (आ) एकादेश नहीं होता है।

(२) आँ उग्रपुत्रे। यहां छन्दविषय में 'आङ्' शब्द को इस सूत्र से अनुनासिक आदेश होता है और वह प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'आद्गुणः' (६।१।८५) से प्राप्त गुणरूप (ओ) एकादेश नहीं होता है।

प्रकृतिभावः–

(५५) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च।१२६।

प०वि०-इकः १।३ (६।१) असवर्णे ७।१ शाकल्यस्य ६।१ ह्रस्वः १।१ च अव्ययपदम्।

स०-न सवर्णः-असवर्णः, तस्मिन्-असवर्णे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, प्रकृत्या, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् असवर्णेऽचि इकः प्रकृत्या शाकल्यस्य, इकश्च ह्रस्वः।

अर्थः-संहितायां विषयेऽसवर्णेऽचि परत इकः प्रकृत्या भवन्ति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, इकश्च ह्रस्वो भवति।

उदा०-दधि अत्र, दध्यत्र। मधु अत्र, मध्वत्र। कुमारि अत्र, कुमार्यत्र, किशोरि अत्र, किशोर्यत्र।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच्-वर्ण परे होने पर (इकः) इक्-वर्ण (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहते हैं (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में (च) और उस (इकः) इक् के स्थान में (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-दधि अत्र (शाकल्य) दध्यत्र। (पाणिनि) दही यहां है। मधु अत्र (शाकल्य) मध्वत्र। (पाणिनि) मधु यहां है। कुमारी अत्र (शाकल्य) कुमार्यत्र। (पाणिनि) कुमारी यहां है। किशोरि अत्र (शाकल्य) किशोर्यत्र। (पाणिनि) किशोरी यहां है।

सिद्धि-(१) दधि अत्र। दधि+अत्र। दधि अत्र।

यहां 'दधि' शब्द का इक्-वर्ण (इ) असवर्ण अच्-वर्ण (अ) परे होने पर इस सूत्र से शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव से रहता है और उसे पर्जन्यवत् ह्रस्व होता है। ऐसे ही-कुमारि अत्र। किशोरि अत्र।

(२) दध्यत्र। दधि+अत्र। दध्यत्र।

यहां 'दधि' शब्द के इक्-वर्ण (इ) को असवर्ण अच्-वर्ण (अ) परे होने पर इस सूत्र से पाणिनिमुनि के मत में 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण् (य्) आदेश होता है। ऐसे ही-कुमार्यत्र, किशोर्यत्र। मधु अत्र, मध्वत्र को भी ऐसे ही समझें।

प्रकृतिभावः–

(५६) ऋत्यकः।१२७।

प०वि०–ऋति ७।१ अकः १।३ (६।१)।

अनु०–संहितायाम्, प्रकृत्या, शाकल्यस्य, ह्रस्वः, च इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् ऋति अकः प्रकृत्या, शाकल्यस्य, ह्रस्वश्च।

अर्थः–संहितायां विषये ऋकारे परतोऽकः प्रकृत्या भवन्ति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अकश्च ह्रस्वो भवति।

उदा०–खट्व ऋश्यः, खट्वर्श्यः। माल ऋश्यः, मालर्श्यः। होतृ ऋश्यः, होतृश्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (ऋति) ऋ-वर्ण परे होने पर (अकः) अक्-वर्ण (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहते हैं (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में (च) और उस (अकः) अक्-वर्ण के स्थान में (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-खट्व ऋश्यः (शा०) खट्वर्श्यः (पा०)। माल ऋश्यः (शा०) मालर्श्यः (पा०)। होतृ ऋश्यः (शा०) होतृश्यः (पा०)। ऋश्यः=सफेद पैरोंवाला बारहसिंघा।

सिद्धि-(१) खट्व ऋश्यः। खट्वा+ऋश्यः। खट्व ऋश्यः।

यहां 'खट्वा' शब्द का अक्-वर्ण (आ) ऋ-वर्ण परे होने पर इस सूत्र से शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव से रहता है और उसे ह्रस्व आदेश (अ) होता है। ऐसे ही-माला+ऋश्यः=माल ऋश्यः। होतृ+ऋश्यः=होतृ ऋश्यः।

(२) खट्वर्श्यः। खट्वा+ऋश्यः। खट्व्-अर्-श्यः। खट्वर्श्यः।

यहां खट्वा शब्द के आ-वर्ण से उत्तर ऋ-वर्ण परे होने पर पाणिनि मुनि के मत में 'आद्गुणः' (६।१।८५) से पूर्व-पर के स्थान में गुणरूप (अ) एकादेश होता है और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व (अर्) होता है। ऐसे माला+ऋश्यः=मालर्श्यः।

(३) होतृश्यः। यहां पाणिनि मुनि के मत में 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।९८) से पूर्व-पर के स्थान में दीर्घरूप (ॠ) एकादेश होता है।

अप्लुवद्भावः–

(५७) अप्लुतवदुपस्थिते।१२८।

प०वि०–अप्लुतवत् अव्ययपदम्, उपस्थिते ७।१।

स०–न प्लुतः-अप्लुतः, अप्लुतेन तुल्यं वर्तते इति अप्लुतवत् (नञ्तत्पुरुषः)। **'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'** (५।१।११५) इति वतिः प्रत्ययः। उपस्थितं नामानार्षः=अवैदिक इतिकरणः। येन समुदायादवच्छिद्य पदं स्वरूपे उपस्थाप्यते तद् उपस्थितम्।

अनु०–संहितायाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् उपस्थितेऽप्लुतवत्।

अर्थः–संहितायां विषये उपस्थिते=अनार्षे (अवैदिके) इति-शब्दे परतः प्लुतोऽप्लुतवद् भवति।

उदा०–सुश्लोक३ इति=सुश्लोकेति। सुमङ्गल३ इति=सुमङ्गलेति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (उपस्थिते) अनार्ष=अवैदिक इति-शब्द परे होने पर प्लुत-वर्ण (अप्लुतवत्) अप्लुत-वर्ण के तुल्य होता है।*

उदा०-सुश्लोक३ इति=सुश्लोकेति। सुश्लोक३ यह शब्द। सुमङ्गल३ इति=सुमङ्गलेति। सुमङ्गल३ यह शब्द (उसने कहा)।

सिद्धि-सुश्लोकेति। सुश्लोक३+इति। सुश्लोक+इति। सुश्लोक्+ए+ति। सुश्लोकेति।

यहां 'सुश्लोक३' का प्लुत अ-वर्ण (अ३) उपस्थित=अनार्ष इति शब्द परे होने पर इस सूत्र से अप्लुतवत्=अप्लुत-वर्ण के तुल्य (अ) हो जाता है। इससे 'प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यम्' (६।१।१२२) से प्रकृतिभाव नहीं होता है, अपितु 'आद्गुणः' (६।१।८५) से पूर्व-पर के स्थान में गुणरूप (ए) एकादेश होता है। ऐसे ही-सुमङ्गल३ इति=सुमङ्गलेति।

अप्लुतवद्भावः–

(५८) ई३ चाक्रवर्मणस्य।१२६।

प०वि०–ई३ १।१ (सु-लुक्) चाक्रवर्मणस्य ६।१।

अनु०–संहितायाम्, अचि, अप्लुतवद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् अचि ई३ अप्लुतवत्, चाक्रवर्मणस्य।

अर्थः-संहितायां विषयेऽचि परतः प्लुत ई३-वर्णोऽप्लुतवद् भवति, चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेन।

उदा०-अस्तु ही३त्यब्रूताम्, अस्तु हि३ इत्यब्रूताम्। चिनुही३दम्, चिनु हि३ इदम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अचि) अच्-वर्ण परे होने पर (ई३) प्लुत ई३ वर्ण (अप्लुतवत्) अप्लुत के तुल्य होता है, (चाक्रवर्मणस्य) चाक्रवर्मण आचार्य के मत में।*

उदा०-अस्तु हीत्यब्रूताम् (चा०) अस्तु हि३ इत्यब्रूताम् (पा०)। अच्छा! उन दोनों ने 'हि' ऐसा कहा। चिनुही३दम् (चा०) चिनु हि३ इदम् (पा०)। तू इसे चुन।

सिद्धि-(१) ही३ति। हि+इति। ही३ति।

*यहां 'हि' शब्द का ई३ वर्ण इस सूत्र से चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् होता है। अप्लुतवत् होने से **'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'** (६।१।१२२) से प्रकृतिभाव नहीं होता है अपितु **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६।१।९८) से पूर्व-पर के स्थान में दीर्घरूप (ई३) एकादेश होता है। ऐसे ही-**चिनुही३दम्।***

*(२) **हि३इति।** यहां हि३ शब्द इ३ वर्ण पाणिनि मुनि के मत में अप्लुतवत् नहीं होता है अपितु प्लुतवत् ही रहकर **'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'** (६।१।१२२) से प्रकृतिभाव से रहता है।*

यहां चाक्रवर्मण का ग्रहण विकल्प के लिये किया गया है। यह सूत्र उपस्थित=अनार्ष इति तथा अनुपस्थित=आर्ष (वैदिक) 'इति' शब्द परे होने पर भी विकल्प विधान करता है, अतः यह उभयत्र-विभाषा है।

उत्-आदेशः-

(५६) दिव उत्।१३०।

प०वि०-दिवः ६।१ उत् १।१।

अनु०-संहितायाम् इत्यनुवर्तते। **'एङः पदान्तादति'** (६।१।१०६) इत्यस्माद् इति मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवर्तते, तच्चार्थवशात् पदान्तात् षष्ठ्यां विपरिणम्यते।

अन्वयः-संहितायां दिवः पदान्तस्य उत्।

अर्थः-संहितायां विषये दिवः पदान्तस्य उत्=उकारादेशो भवति।

उदा०-दिवि कामो यस्य सः-द्युकामः, द्युमान्। विमलद्यु दिनम्। द्युभ्याम्। द्युभिः।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (दिवः) दिव् के (पदान्तस्य) पदान्त वकार को (उत्) उकार आदेश होता है।

उदा०-दिवि कामो यस्य सः-द्युकामः। दिव्=(द्यौः) स्वर्ग में काम=इच्छा जिसकी वह-द्युकाम। द्युमान्। द्युलोकवाला। विमलद्यु दिनम्। विमल द्युलोकवाला दिन। द्युभ्याम्। दो द्युलोकों के द्वारा। द्युभिः। सब द्युलोकों के द्वारा।

सिद्धि-(१) द्युकामः। दिव्+ङि+काम+सु। दिव्+काम। दि उ+काम। द्युकाम+सु। द्युकामः।

यहां दिव् और काम शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। 'दिव्' शब्द में अन्तवर्तिनी विभक्ति (ङि) का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) सु लुक् हो जाता है, 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से उसकी पदसंज्ञा मानकर इस सूत्र से 'दिव्' को उकार आदेश और वह 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।४१) से अन्त्य वकार के स्थान में होता है।

(२) द्युमान्। दिव्+मतुप्। दिव्+मत्। दि उ+मत्। द्युमत्+सु। द्यु म नुम् त्+सु। द्युमन् त्+सु। द्युमान्त्+सु। द्युमान्त्+०। द्युमान्०। द्युमान्।

यहां 'दिव्' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय है। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) से दिव् की पदसंज्ञा होकर इस सूत्र से 'दिव्' के वकार को उकार आदेश होता है। तत्पश्चात् 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण् आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) विमलद्यु। विमला द्यौः (आकाशम्) यस्य तद् विमलद्यु दिनम्। विमल+दिव्+सु। विमलदिव्+०। विमलदि उ। विमलद्य् उ। विमलद्यु+सु। विमलद्यु+०। विमलद्यु।

यहां 'विमलदिव्' शब्द से 'सु' प्रत्यय, 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) से 'सु' का लुक् होकर इस सूत्र से वकार को उकार आदेश होता है। तत्पश्चात् 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण् (य्) आदेश होता है।

(४) द्युभ्याम्। दिव्+भ्याम्। दि उ+भ्याम्। द् य् उ+भ्याम्। द्युभ्याम्।

यहां 'दिव्' शब्द से 'भ्याम्' प्रत्यय है। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) से 'दिव्' शब्द की पदसंज्ञा होकर इस सूत्र से वकार को उकार आदेश होता है। तत्पश्चात् पूर्ववत् यण् (य्) आदेश होता है। ऐसे ही 'भिस्' प्रत्यय करने पर-द्युभिः।

सु-लोपः-

(६०) एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि।१३१।

प०वि०-एतत्-तदोः ६।२ सु-लोपः १।१ अकोः ६।२ अनञ्-समासे ७।१ हलि ७।१।

स०-एतच्च तच्च तौ-एतत्तदौ, तयोः-एतत्तदोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)। सोर्लोपः सुलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)। न विद्यते को ययोस्तौ-अकौ, तयोः-अकोः (बहुव्रीहिः)। नञः समास इति नञ्समासः, न नञ्समास इति अनञ्समासः, तस्मिन्-अनञ्समासे (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां हलि अनञ्समासेऽकोरेतत्तदोः सुलोपः।

अर्थः-संहितायां विषये हलि परतोऽनञ्समासे वर्तमानयोः ककार-रहितयोरेतत्तदोः शब्दयोः सु-लोपो भवति।

उदा०-(एतत्) एष ददाति, एष भुङ्क्ते। (तत्) स ददाति, स भुङ्क्ते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (हलि) हल्-वर्ण परे होने पर (अनञ्समासे) नञ्समास से भिन्न (अकोः) अकच् प्रत्यय से रहित (एतत्तदोः) एतत् और तत् शब्दों से सम्बन्धित (सुलोपः) 'सु' प्रत्यय का लोप होता है।*

उदा०-(एतत्) एष ददाति। यह देता है। एष भुङ्क्ते। यह खाता-पीता है। (तत्) स ददाति। वह देता है। स भुङ्क्ते। वह खाता-पीता है।

सिद्धि-एष ददाति। एतत्+सु। एत अ+स्। एष+स्। एषस्+ददाति। एष०+ददाति। एष ददाति।

यहां प्रथम 'एतत्' शब्द से 'सु' प्रत्यय है। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से 'एतत्' के तकार को अकार आदेश और उसे 'अतो गुणे' (६।१।९५) से पूर्वरूप एकादेश होता है। 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'एतत्' के अनन्त्य तकार को सकार आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से उसे षत्व होता है। 'एषस्+ददाति' ऐसी स्थिति में हल्-वर्ण (द्) परे होने पर इस सूत्र से 'सु' का लोप होता है। ऐसे ही-एष भुङ्क्ते। ऐसे ही 'तत्' शब्द से-स ददाति, स भुङ्क्ते।

बहुलं सु-लोपः-

(६१) स्यश्छन्दसि बहुलम्।१३२।

प०वि०-स्यः १।१ (षष्ठ्यर्थे) छन्दसि ७।१ बहुलम् १।१।

अनु०-संहितायाम्, सुलोपः, हलि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां छन्दसि हलि स्यो बहुलं सुलोपः।

अर्थः-संहितायां छन्दसि च विषये हलि परतः 'स्यः' इत्येतस्य बहुलं सुलोपो भवति।

उदा०-उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० ४।४०।४)। एष स्य पवत इन्द्र सोमः (ऋ० ९।९७।४६)। बहुलवचनान्न च भवति-यत्र स्यो निपतेत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (छन्दसि) वेदविषय में (हलि) हल्-वर्ण परे होने पर (स्यः) 'स्यः' इस शब्द का (बहुलम्) प्रायशः (सुलोपः) 'सु' प्रत्यय का लोप होता है।*

उदा०-उदाहरण संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) स्य वाजी। त्यत्+सु। त्य अ+स्। त्य+स्। स्यस्+वाजी। स्य०+वाजी। स्य वाजी।

यहां 'त्यत्' शब्द से 'सु' प्रत्यय है। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से 'त्यत्' के तकार को अकार आदेश और उसे 'अतो गुणे' (६।१।९५) से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप (अ) एकादेश होता है। 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'त्यत्' के अनत्य तकार को सकार आदेश होता है। 'स्यस्+वाजी' इस स्थिति में इस सूत्र से हल् वर्ण परे होने पर 'सु' प्रत्यय का लोप होता है। ऐसे ही-स्य पवते।

(२) स्यो निपतेत्। 'स्यस्+निपतेत्' ऐसी स्थिति में इस सूत्र से बहुल-वचन से 'सु' प्रत्यय का लोप नहीं होता है। अतः 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से सकार को रुत्व, 'हशि च' (६।१।१११) से रेफ को उत्व और 'आद्गुणः' (६।१।८५) से पूर्व-पर के स्थान में गुणरूप (ओ) एकादेश होता है।

सु-लोपः (पादपूर्तिः)-

(६२) सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्।१३३।

प०वि०-सः १।१ (षष्ठ्यर्थे) अचि ७।१ लोपे ७।१ चेत् अव्ययपदम्, पादपूरणम् १।१।

स०-पादस्य पूरणम्-पादपूरणम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, सुलोपः, छन्दसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां छन्दसि अचि सः सुलोपः, लोपे चेत् पादपूरणम्।

अर्थः-संहितायां छन्दसि च विषयेऽचि परतः 'सः' इत्येतस्य सुलोपो भवति, लोपे सति चेत् पादः पूर्यते।

उदा०-सेदुराजा क्षयति चर्षणीनाम् (ऋ० १।३२।१५)। सौषधीरनुरुध्यसे (ऋ० ८।४३।३)।

अत्र पादग्रहणेन श्लोकपादस्यापि ग्रहणं केचिदिच्छन्ति। तेनेदमपि सिद्धं भवति-

सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (छन्दसि) वेदविषय में (अचि) अच्-वर्ण परे होने पर (सः) 'सः' इस शब्द के (सुलोपः) 'सु' प्रत्यय का लोप होता है। (लोपे) लोप होने पर (चेत्) यदि वहां (पादपूरणम्) पाद=मन्त्रचरण की पूर्ति होती हो।*

उदा०-सेदुराजा क्षयति चर्षणीनाम् (ऋ० १।३२।१५)। सौषधीरनुरुध्यसे (ऋ० ८।४३।३)।

यहां कई वैयाकरण 'पाद' शब्द के ग्रहण से श्लोकपाद का भी ग्रहण मानते हैं। उससे यह पद्य भी सिद्ध हो जाता है-

सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः।।

सिद्धि-(१) सेद्। तत्+सु। त अ+स्। त+स्। सस्+इत्। स०+इत्। सेत्। सेद्।

यहां 'तद्' शब्द से 'सु' प्रत्यय है। 'सस्+इत्' इति स्थिति में इत् शब्द का अच्-वर्ण (इ) परे होने पर 'सस्' के 'सु' प्रत्यय का इस सूत्र से पादपूर्ति में लोप होता है। तत्पश्चात् 'आद्गुणः' (६।१।८५) से पूर्व-पर के स्थान में गुणरूप (ए) एकादेश होता है। इस सन्धि से मन्त्र में छन्द की पादपूर्ति होती है।

(२) सौषधीः। सस्+औषधीः। स०+औषधीः।

यहां इस सूत्र से पादपूर्ति में 'सु' प्रत्यय का लोप होकर 'वृद्धिरेचि' (६।१।८६) से पूर्व-पर के स्थान में वृद्धिरूप (औ) एकादेश होता है। इस सन्धि से मन्त्र में गायत्री छन्द की पादपूर्ति होती है।

सैषः। सस्+एषः। स०+एषः। सैषः।

यहां 'सस्' शब्द के 'सु' प्रत्यय का इस सूत्र से श्लोक की पादपूर्ति में कई वैयाकरण लोप मानते हैं। तत्पश्चात् पूर्व-पर के स्थान में वृद्धिरूप (ऐ) एकादेश होता है। 'सु' प्रत्यय के लोप होने पर उक्त सन्धि होने से अनुष्टुप् छन्द का अष्टाक्षरी पाद (चरण) पूरण हो जाता है।

सुट्-आगमप्रकरणम्

अधिकारः–

(६३) सुट् कात् पूर्वः। १३४।

प०वि०–सुट् १।१ कात् ५।१ पूर्वः १।१।

अनु०–संहितायाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः–संहितायां विषये इत उत्तरं कात् पूर्वः सुडागमो भवतीत्यधिकारोऽयम् **'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (६।१।१५१) इति यावत्। वक्ष्यति- **'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'** (६।१।१३७) इति। सँस्कर्ता, संस्कर्तुम्, संस्कर्तव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में इससे आगे (कात्) ककार से (पूर्व) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है, यह 'पारस्करप्रभृतीनि च' (६।१।१५) तक अधिकार है। पाणिनिमुनि कहेंगे-'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' (६।१।१३७)।* ***संस्कर्ता।*** *शुद्ध करनेवाला।* ***संस्कर्तुम्।*** *शुद्ध करने के लिये।* ***संस्कर्तव्यम्।*** *शुद्ध करना चाहिये।*

सिद्धि-सँस्कर्ता आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

सूचना-काशिकाकार पं० वामन ने 'अड्व्याय उपसंख्यानम्' और 'अभ्यासव्यवाये च' इन दो वर्तिकों का सम्मिश्रण करके 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' (६।१।१३६) इनकी पाणिनीय सूत्र रूप में व्याख्या की है।

सूट्–

(६४) सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे।१३५।

प०वि०–सम्-परिभ्याम् ५।२ करोतौ ७।१ भूषणे ७।१।

स०–सम् च परिश्च तौ सम्परी, ताभ्याम्-सम्परिभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां सम्परिभ्यां भूषणे करोतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये सम्परिभ्याम् उत्तरस्मिन् भूषणेऽर्थे करोतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति।

उदा०-(**सम्**) सँस्कर्ता, सँस्कर्तुम्, सँस्कर्तव्यम्। (**परिः**) परिष्कर्ता, परिष्कर्तुम्, परिष्कर्तव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (सम्परिभ्याम्) सम् और परि से उत्तर (भूषणे) भूषण अर्थ में (करोतौ) कृ धातु के परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

*उदा०-(सम्) **सँस्कर्ता**। भूषित करनेवाला। **सँस्कर्तुम्**। भूषित करने के लिये। **सँस्कर्तव्यम्**। भूषित करना चाहिये। (परि) **परिष्कर्ता**। भूषित करनेवाला। **परिष्कर्तुम्**। भूषित करने के लिये। **परिष्कर्तव्यम्**। भूषित करना चाहिये।*

*सिद्धि-**सँस्कर्ता**। सम्+कृ+तृच्। सम्+कर्तृ+सु। सम्+कर्ता। सम्+सुट्+कर्ता। स रु+स्+कर्ता। सँ र्+स्+कर्ता। सँ स्+स्+कर्ता। सँस्स्कर्ता। सँस्कर्ता।*

यहां सम् शब्द से उत्तर भूषणार्थक 'कृ' धातु के परे होने पर इस सूत्र से क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। 'समः सुटि' (८।३।५) से 'सम्' के मकार को रुत्व, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से रेफ को विसर्जनीय और 'वा शरि' (८।३।३६) से व्यवस्थित-विभाषा मानकर विसर्जनीय को सकार ही आदेश होता है। 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) से 'स्' से पूर्ववर्ती अ-वर्ण को अनुनासिक तथा द्वितीय पक्ष में 'अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः' (८।३।४) से अनुस्वार भी होता है। 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) से प्रथम सकार का लोप होता है। वा०-'अयोगवाहानामट्सु' (प्र०हरवरट्) इस भाष्यवार्तिक से अयोगवाह (अँ) का अट् में उपदेश होने से उसे हल् मानकर उक्त सूत्र से सकार का लोप हो जाता है और अयोगवाहों (अँ) को अचों में भी परिगणित करके 'अनचि च' (८।४।४६) से 'स्' को द्वित्व भी होता है। इस प्रकार इसके निम्नलिखित रूप बनते हैं-

(१) सँस्कर्ता (संस्कर्ता)। (२) सँस्स्कर्ता (संस्स्कर्ता)। (३) सँस्स्स्कर्ता (संस्स्कर्ता)।

*ऐसे ही 'कृ' धातु से तुमुन् और तव्यत् प्रत्यय करने पर-**सँस्कर्तुम्, सँस्कर्तव्यम्**।*

*(२) **परिष्कर्ता**। परि+कर्ता। परि+सुट्+कर्ता। परि+स्+कर्ता। परि+ष्+कर्ता। परिष्कर्ता।*

यहां परि शब्द से उत्तर भूषणार्थक 'कृ' धातु को इस सूत्र से 'सुट्' आगम होता है। 'परिनिविभ्यः सेव०' (८।३।७०) से सुट् के सकार को षत्व होता है।

सुट्–

(६५) समवाये च।१३६।

प०वि०–समवाये ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्वः, सम्परिभ्याम्, करोताविति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां सम्परिभ्यां समवाये च करोतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः–संहितायां विषये सम्परिभ्याम् उत्तरस्मिन् समवाये च करोतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति। समवायः समुदाय इत्यर्थः।

उदा०–**(सम्)** तत्र नः संस्कृतम्। **(परिः)** तत्र नः परिष्कृतम्। समुदितमित्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (सम्परिभ्याम्) सम् और परि शब्दों से उत्तर (समवाये) समुदाय अर्थ में (च) भी (करोतौ) 'कृ' धातु के परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

उदा०-(सम्) तत्र नः संस्कृतम्। वहां हमारा समुदाय है। (परि) तत्र न परिष्कृतम्। वहां हमारा समुदाय है।

सिद्धि-सँस्कृतम्। सम्+कृ+क्त। सम्+सुट्+कृ+त। सम्+स्+कृ+त। सस्+स्+कृ+तम्। सँरु+स्+कृ+त। सँस्+स्+कृ+त। सँस्कृत+सु। सँस्कृतम्।

यहां 'सम्' उत्तर समवायार्थक 'कृ' धातु से निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। शेष कार्य 'सँस्कर्ता' के समान है।

(२) परिष्कृतम्। यहां 'परि' शब्द से उत्तर 'कृ' धातु को इस सूत्र से क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। 'परिनिविभ्यः सेव०' (८।३।७०) से 'सुट्' के सकार को षत्व होता है।

सुट्–

(६६) उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु।१३७।

प०वि०–उपात् ५।१ प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु ७।३।

स०–सतो गुणान्तराधानमाऽऽधिक्याय, वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय समीहा-प्रतियत्नः। विकृतमेव वैकृतम्, **'प्रज्ञादिभ्यश्च'** (५।४।३८) इति

स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। गम्यमानार्थस्य वाक्यस्य स्वरूपेणोपादानम्-वाक्याध्याहारः। प्रतियत्नश्च, वैकृतं च वाक्याध्याहारश्च ते-प्रतियत्नवैकृतवाक्याहाराः, तेषु-प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्वः, करोताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु करोतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये उपाद् उत्तरस्मिन् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेष्वर्थेषु करोतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति।

उदा०-(प्रतियत्नः) एधो दकस्योपस्कुरुते। काण्डं गुडस्योपस्कुरुते। **(वैकृतम्)** उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति। **(वाक्याध्याहारः)** उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धिविषय में (उपात्) उप शब्द से उत्तर (प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु) प्रतियत्न, वैकृत, वाक्याध्याहार अर्थों में विद्यमान (करोतौ) 'कृ' धातु के परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

किसी पदार्थ में आधिक्य के लिये गुणान्तरों का आधान करना अथवा बढ़े हुये गुणों को उसी अवस्था में रखने के लिये जो चेष्टा करना है वह 'प्रतियत्न' कहाता है। विकृत को ही वैकृत कहते हैं, यहां 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५।४।३८) से स्वार्थ में अण् प्रत्यय है। प्रतीयमान अर्थवाले वाक्य का स्वरूप से कथन करना-वाक्याध्याहार कहाता है।

उदा०-(प्रतियत्न) ***एधो दकस्योपस्कुरुते।*** *एध=इन्धन जल के गुणों को बदलता है। शीतल से उष्ण बनाता है।* ***काण्डं गुडस्योपस्कुरुते।*** *काण्ड गुड के गुणों को बदलता है। (वैकृत)* ***उपस्कृतं भुङ्क्ते।*** *बिगाड़कर खाता है।* ***उपस्कृतं गच्छति।*** *बिगाड़कर चलता है। (वाक्याध्याहार)* ***उपस्कृतं जल्पति।*** *वाक्य-अध्याहारपूर्वक जैसे-तैसे बकता है।* ***उपस्कृतमधीते।*** *वाक्य-अध्याहारपूर्वक जैसे-तैसे पढ़ता है।*

सिद्धि-(१) उपस्कुरुते। उप+कुरुते। उप+सुट्+कुरुते। उप+स्+कुरुते। उपस्कुरुते।

यहां 'उप' उपसर्ग से उत्तर प्रतियत्नार्थक 'कृ' धातु परे होने पर इस सूत्र से क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। 'एधो दकस्योपस्कुरुते' यहां 'कृञः प्रतियत्ने' (२।३।५३) से षष्ठीविभक्ति और 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' (१।३।३२) से आत्मनेपद होता है। ऐसे ही-काण्डं गुडस्योपस्कुरुते।

(२) उपस्कृतम्। उप+कृ+क्त। उप+सुट्+कृ+त। उप+स्+कृ+त। उपस्कृत+सु। उपस्कृतम्।

*यहां उप-उपसर्ग से उत्तर वैकृत और **वाक्याध्याहार** अर्थ में विद्यमान 'कृ' धातु परे होने पर इस सूत्र से क-वर्ण से पूर्व **'सुट्' आगम होता** है।*

सुट्–

(६७) किरतौ लवने।१३८।

प०वि०-किरतौ ७।१ लवने ७।१।

अनु०-संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्वः, उपाद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् उपाद् लवने किरतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये उपाद् उत्तरस्माद् लवनेऽर्थे किरतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति।

उदा०-उपस्कारं मद्रका लुनन्ति। उपस्कारं काश्मीरा लुनन्ति।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (उपात्) उप-उपसर्ग से उत्तर (लवने) काटने अर्थ में विद्यमान (किरतौ) 'कृ' धातु परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

उदा०-उपस्कारं मद्रका लुनन्ति। मद्र जनपद के लोग फैंक-फैंककर काटते हैं उपस्कारं काश्मीरा लुनन्ति। काश्मीर जनपद के लोग फैंक-फैंककर काटते हैं (लावनी) करते हैं।

सिद्धि-उपस्कारम्। उप+कॄ+णमुल्। उप+कॄ+अम्। उप+सुट्+कार+अम्। उप+स्+कार्+अम्। उपस्कारम्+सु। उपस्कारम्।

यहां उप-उपसर्ग से उत्तर लवन अर्थ में विद्यमान 'कॄ विक्षेपे' (तु०प०) धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) में बहुल-वचन से णमुल् प्रत्यय है। इस सूत्र से लवनार्थक 'कॄ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। 'अचो ञ्णिति' ७।२।११५) से 'कॄ' धातु को वृद्धि (कार्) होती है।

सुट्–

(६८) हिंसायां प्रतेश्च।१३९।

प०वि०-हिंसायाम् ७।१ प्रतेः ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्वः, उपाद्, किरताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां प्रतेरुपाच्च हिंसायां किरतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये प्रतेरुपाच्च उत्तरस्मिन् हिंसायामर्थे किरतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति।

उदा०-(प्रतिः) प्रतिस्कीर्णं हं ते वृषल ! भूयात्। (उपः) उपस्कीर्णं हं ते वृषल ! भूयात्। हे वृषल ! ते हिंसानुबद्धो विक्षेपो भूयादित्यर्थः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (प्रतेः) प्रति और (उपात्) उप-उपसर्ग से (च) भी उत्तर (हिंसायाम्) हिंसा अर्थ में विद्यमान (किरतौ) कॄ धातु परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

उदा०-(प्रति) प्रतिस्कीर्णं हं ते वृषल ! भूयात्। (उप) उपस्कीर्णं हं ते वृषल ! भूयात्। हे वृषल=नीच तेरा हिंसायुक्त विक्षेप (बिखराव) हो। हम्=कोप-द्योतक है।

सिद्धि-प्रतिस्कीर्णम्। प्रति+कॄ+क्त। प्रति+सुट्+कॄ+त। प्रति+स्+किर्+त। प्रति+स्+किर्+न। प्रति+स्+कीर्+ण। प्रतिस्कीर्ण+सु। प्रतिस्कीर्णम्।

यहां प्रति-उपसर्ग से उत्तर 'कॄ विक्षेपे' (तु०प०) धातु से 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से हिंसार्थक 'कॄ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। 'ॠत इद्धातोः' (७।१।१००) से इत्त्व और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व होकर 'रदाभ्यां निष्ठातो०' (८।२।४२) से निष्ठा-तकार को नत्व और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से णत्व होता है। ऐसे ही-उपस्कीर्णम्।

सुट्-

(६६) अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने।१४०।

प०वि०-अपात् ५।१ चतुष्पात्-शकुनिषु ७।३ आलेखने ७।१।

स०-चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पात्, ते चतुष्पादः, चतुष्पादश्च शकुनयश्च ते-चतुष्पाच्छकुनयः, तेषु-चतुष्पाच्छकुनिषु (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट्, कात्, पूर्वः, किरताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अपात् चतुष्पात्-शकुनिष्वालेखने किरतौ कात् पूर्वः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये अपाद् उत्तरस्मिन् चतुष्पात्-शकुनिविषयके आलेखनेऽर्थे किरतौ परतः कात् पूर्वः सुडागमो भवति।

उदा०-(चतुष्पात्) अपस्किरते वृषभो हृष्टः। अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी। (शकुनिः) अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अपात्) अप-उपसर्ग से उत्तर (चतुष्पात्-शकुनिषु) चतुष्पात्=चौपाये और शकुनि=पक्षी (दोपाये) विषयक (आलेखने) खोदना अर्थ में विद्यमान (किरतौ) 'कॄ' धातु परे होने पर (कात्) क-वर्ण से (पूर्वः) पहले (सुट्) सुट् आगम होता है।*

*उदा०-(चतुष्पात्) **अपस्किरते वृषभो हृष्टः।** मस्त हुआ बैल मिट्टी को खोदकर इधर-उधर फैंकता है। **अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी।** आश्रय का इच्छुक श्वा=कुत्ता मिट्टी को खोदकर बाहर फैंकता है। (शकुनि) **अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी।** भक्ष्य=दाना आदि भक्ष्यपदार्थ का इच्छुक कुक्कुट=मुर्गा मिट्टी को खोदकर पीछे फैंकता है।*

*सिद्धि-**अपस्किरते।** अप+कृ+लट्। अप+सुट्+कॄ+त। अप+स्+किर्+श+त। अप+स्+किर्+अ+ते। अपस्किरते।*

*यहां अप-उपसर्ग से उत्तर चतुष्पाद् एवं शकुनि=पक्षीविषयक आलेखन=खोदना अर्थ में विद्यमान 'कॄ' धातु से 'लट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से उक्त लेखनार्थक 'कॄ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। वा०- **'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम्'** (१।३।२१) से 'कॄ' धातु से आत्मनेपद होता है। 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय, 'ऋत इद् धातोः' (७।१।१००) से धातु को इत्त्व और 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से इसे रपरत्व होता है।*

निपातनम् (सुट्)-

(७०) कुस्तुम्बुरूणि जातिः।१४१।

प०वि०-कुस्तुम्बुरूणि १।३ जातिः १।१।

स०-कुत्सितं तुम्बुरु इति कुस्तुम्बुरु, तानि-कुस्तुम्बुरूणि (तत्पुरुष-समासः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां कुस्तुम्बुरूणि सुड् जातिः।

अर्थः-संहितायां विषये 'कुस्तुम्बुरूणि' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते, जातिश्चेत् तद् भवति।

उदा०-कुस्तुम्बुरूणि नाम ओषधिजातिः=धान्यकम्। कुत्सितानि तुम्बुरूणि=कुस्तुम्बुरूणि। तुम्बुरूशब्देनात्र तिन्दुकीफलान्युच्यन्ते, समासेन च तेषां कुत्सा=निन्दा विधीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (कुस्तुम्बुरूणि) 'कुस्तम्बुरु' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-कुत्सितानि तुम्बुरूणि-कुस्तुम्बुरूणि। तेन्दू नामक पेड़ के निन्दित फल।

सिद्धि-कुस्तुम्बुरु। कु+तुम्बुरु। कु+सुट्+तुम्बुरु। कु+स्+तुम्बुरु। कुस्तुम्बुरु+सु। कुस्तुम्बुरु।

यहां 'कु' और 'तुम्बुरु' शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'तुम्बुरु' शब्द के त-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम निपातित है।

निपातनम् (सुट्)–

(७१) अपरस्पराः क्रियासातत्ये।१४२।

प०वि०-अपरस्पराः १।३ क्रियासातत्ये ७।१।

स०-सततम्=निरन्तरम्, सततस्य भावः सातत्यम्। क्रियायाः सातत्यम् इति क्रियासातत्यम्, तस्मिन्-क्रियासातत्ये। क्रियाया नैरन्तर्यमित्यर्थः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां क्रियासातत्येऽपरस्पराः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये क्रियासातत्येऽर्थेऽपरस्परा इत्यत्र सुडागमो निपात्यते।

उदा०-अपरे च परे च ते अपरस्पराः। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति। सततम्=अविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (क्रियासातत्ये) क्रिया की निरन्तरता अर्थ में (अपरस्पराः) 'अपरस्परा' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति। सार्थ=व्यापारी-समूह इस महापथ पर निरन्तर जाते हैं।

सिद्धि-अपरस्पराः। अपर+जस्+पर+जस्। अपर+पर। अपर+सुट्+पर। अपर+स्+पर। अपरस्पर+जस्। अपरस्पराः।

यहां अपर और पर शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से 'पर' शब्द के प-वर्ण से पूर्व सुट् आगम निपातित है। 'अल्पाच्तरम्' (२।२।३४) से द्वन्द्वसमास में 'पर' शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त है किन्तु इसी निपातन से उसका परनिपात समझना चाहिये।

निपातनम् (सुट्)–

(७२) गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु।१४३।

प०वि०–गोष्पदम् १।१ सेवित–असेवित–प्रमाणेषु ७।३।

स०–न सेवितम्–असेवितम्। सेवितं च असेवितं च प्रमाणं च तानि–सेवितासेवितप्रमाणानि, तेषु–सेवितासेवितप्रमाणेषु (नञ्गर्भित–इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां सेवितासेवितप्रमाणेषु गोष्पदं सुट्।

अर्थः–संहितायां विषये सेवितासेवितप्रमाणेष्वर्थेषु गोष्पदम् इत्यत्र सुडागमो निपात्यते।

उदा०–**(सेवितम्)** गोष्पदो देशः। गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पद इत्युच्यते। **(असेवितम्)** अगोष्पदान्यरण्यानि। **(प्रमाणम्)** गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(संहितायाम्) सन्धि–विषय में (सेवितासेवितप्रमाणेषु) सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थों में (गोष्पदम्) 'गोष्पदम्' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०–(सेवित) गोष्पदो देशः। जिस देश में गौवें घूमती हैं वह गौओं के द्वारा सेवित देश। (असेवित) अगोष्पदान्यरण्यानि। गौओं के द्वारा असेवित देश अर्थात् वे महारण्य जहां गौओं का जाना अत्यन्त असम्भव है। (प्रमाणम्) गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्। गौओं के पांवों की लम्बाई प्रमाण खेत। गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। गौ के खुर–भर प्रमाण की इन्द्रदेव ने वर्षा की।

सिद्धि–(१) गोष्पदम्। गो+ङस्+पद+सु। गो+सुट्+पद। गो+स्+पद। गो+ष्+पद। गोष्पद+सु। गोष्पदम्।

यहां गो और पद शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थों में सुट् आगम और उसे षत्व निपातित है। गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे सः–गोष्पदः। यहां 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) से अधिकरण कारक में 'घ' प्रत्यय है।

(२) अगोष्पदम्। यहां असेवित अर्थ के बल से 'गोष्पद' शब्द में नञ्तत्पुरुष समास है।

(३) गोष्पदमात्रम्। यहां 'गोष्पद' शब्द से 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३७) से प्रमाण अर्थ में 'मात्रच्' प्रत्यय है।

(४) गोष्पदपूरम्। यहां 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' (३।४।३२) से 'पूरि' धातु से वर्ष-प्रमाण अर्थ में 'णमुल्' प्रत्यय है।

निपातनम् (सुट्)–

(७३) आस्पदं प्रतिष्ठायाम्।१४४।

प०वि०–आस्पदम् १।१ प्रतिष्ठायाम् ७।१।

अनु०–संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां प्रतिष्ठायाम् आस्पदं सुट्।

अर्थः–संहितायां विषये प्रतिष्ठायामर्थे 'आस्पदम्' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते। आत्मयापनाय=प्राणधारणाय यत् स्थानं सा प्रतिष्ठा इत्युच्यते।

उदा०–आस्पदमनेन लब्धम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा अर्थ में (आस्पदम्) 'आस्पदम्' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है। आत्मयापन=जीवन-यापन के लिये जो स्थान है उसे 'प्रतिष्ठा' कहते हैं।*

उदा०-आस्पदमनेन लब्धम्। इसने जीवन-यापन के लिये स्थान प्राप्त कर लिया है।

सिद्धि-आस्पदम्। आङ्+पद्+घ। आ+सुट्+पद्+अ। आ+स्+पद्+अ। आस्पद+सु। आस्पदम्।

यहां आङ्-उपसर्गपूर्वक 'पद गतौ' (दि०आ०) धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) से 'घ' प्रत्यय है। इस सूत्र से प्रतिष्ठा अर्थ में 'पद' शब्द के प-वर्ण से पूर्व सुट् आगम निपातित है। सूत्रोक्त निपातन से यह नपुंसकलिङ्ग होता है।

निपातनम् (सुट्)–

(७४) आश्चर्यमनित्ये।१४५।

प०वि०–आश्चर्यम् १।१ अनित्ये ७।१।

स०–न नित्यम् अनित्यम्, तस्मिन्-अनित्ये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अनित्ये आश्चर्यं सुट्।

अर्थः-संहितायाम् अनित्येऽर्थे 'आश्चर्यम्' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते। अनित्यतया विषयभूतयाऽद्भुतत्वमत्र लक्ष्यते।

उदा०-आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अनित्ये) अद्भुत अर्थ में (आश्चर्यम्) 'आश्चर्यम्' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। आश्चर्य है यदि वह रोगी भोजन करे। आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत। आश्चर्य है यदि वह बहरा अध्ययन करे।

सिद्धि-आश्चर्यम्। आङ्+चर्+यत्। आ+सुट्+चर्+य। आ+स्+चर्+य। आ+श्+चर्+य। आश्चर्य+सु। आश्चर्यम्।

यहां आङ्-उपसर्ग पूर्वक 'चर गतौ भक्षणे च' (भ्वा०प०) धातु से वा०- 'चरेराङि चागुरौ' (३।१।१००) से यत् प्रत्यय है। इस सूत्र से अनित्य=अद्भुत अर्थ में 'चर्' धातु के च-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम निपातित है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से सकार को शत्व होता है।

निपातनम् (सुट्)-

(७५) वर्चस्केऽवस्करः।१४६।

प०वि०-वर्चस्के ७।१ अवस्करः १।१।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां वर्चस्केऽवस्करः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये वर्चस्केऽर्थे 'अवस्करः' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते। कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम्, अन्नमलमित्यर्थः।

उदा०-अवकीर्यति इत्यवस्करोऽन्नमलम्, तत्सम्बन्धाद् देशोऽपि 'अवस्करः' इत्युच्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (वर्चस्के) अन्न-मल अर्थ में (अवस्करः) 'अवस्करः' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-अवकीर्यते इत्यवस्करोऽन्नमलम्। जो वायु-बल से नीचे की ओर फैंका जाता है वह 'अवस्कर' अन्न-मल (विष्ठा) होता है। उसके सम्बन्ध से मल-स्थान को भी 'अवस्कर' कहते हैं।

सिद्धि-अवस्करः । अव+कॄ+अप् । अव+सुट्+कॄ+अ । अव+स्+कर्+अ । अवस्कर+सु । अवस्करः ।

यहां अव-उपसर्ग पूर्वक 'कॄ विक्षेपे' (तु०प०) धातु से 'ऋदोरप्' (३ ।३ ।५७) से कर्म में 'अप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से वर्चस्क=अन्न-मल अर्थ में 'कॄ' धातु के क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७ ।३ ।८४) से 'कॄ' धातु को गुण (अ) और उसे 'उरण् रपरः' (१ ।१ ।५०) से रपरत्व (अर्) होता है।

निपातनम् (सुट्)-

(७६) अपस्करो रथाङ्गम् ।१४७ ।

प०वि०-अपस्करः १ ।१ रथाङ्गम् १ ।१ ।

स०-रथस्य अङ्गम्-रथाङ्गम् (षष्ठीतत्पुरुषः) ।

अनु०-संहितायाम्, सुट्, इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-संहितायाम् अपस्करः सुड् रथाङ्गम् ।

अर्थः-संहितायां विषये अपस्कर इत्यत्र सुडागमो निपात्यते, रथाङ्गं चेत् स भवति ।

उदा०-अपस्करो रथावयवः (चक्रम्) ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (अपस्करः) 'अपस्करः' इस पद में (सुट्) सुट् आगम निपातित है (रथाङ्गम्) यदि वह रथ का अवयव हो।*

उदा०-अपस्करो रथावयवः (पहिया)।

सिद्धि-अपस्करः । अप+कॄ+अप् । अप+सुट्+कॄ+अ । अप+स्+कर्+अ । अपस्करः ।

यहां अप-उपसर्गपूर्वक 'कॄ विक्षेपे' (तु०प०) धातु से 'ऋदोरप्' (३ ।३ ।५७) से कर्म-कारक में 'अप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से रथाङ्ग अर्थ में 'कॄ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। **अपकीर्यते इत्यपस्करो रथाङ्गम्।** *जिसे आवश्यकता अनुसार रथ से दूर हटाया जाता है वह अपस्कर (रथ का चक्र)।*

निपातनम् (वा सुट्)-

(७७) विष्किरः शकुनौ वा ।१४८ ।

प०वि०-विष्किरः १ ।१ शकुनौ ७ ।१ वा अव्ययपदम् ।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-संहितायां शकुनौ विष्किरो वा सुट् ।

अर्थः-संहितायां विषये शकुनावर्थे विष्किर इत्यत्र विकल्पेन सुडागमो निपात्यते।

उदा०-विष्किरः शकुनिः। विकिरः शकुनिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (शकुनौ) पक्षी अर्थ में (विष्किरः) 'विष्किरः' इस पद में (वा) विकल्प से (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-विष्किरः शकुनिः। विष्किर=पक्षी। विकिरः शकुनिः। विकिर=पक्षी।

सिद्धि-(१) विष्किरः। वि+कॄ+क। वि+सुट्+कॄ+अ। वि+स्+किर्+अ। वि+ष्+किर्+अ। विष्किर+सु। विष्किरः।

यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'कॄ विक्षेपे' (तु०प०) धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) से 'क' प्रत्यय है। इस सूत्र से शकुनि अर्थ में 'कॄ' के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम और उसे षत्व निपातित है। 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) से इत्त्व और उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५०) से रपरत्व (इर्) होता है। विविधं किरति=विक्षिपति निजपक्षान् इति-विष्किरः शकुनिः।

(२) विकिरः। यहां विकल्प पक्ष में 'सुट्' आगम नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

विशेषः *काशिकावृत्ति में 'विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा' यह सूत्रपाठ है। महाभाष्य में 'विष्किरः शकुनौ वा' ऐसा सूत्रपाठ मिलता है। यहां महाभाष्य का श्रेष्ठ सूत्रपाठ स्वीकार किया गया है।*

निपातनम् (सुट्)-

(७८) ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे।१४६।

प०वि०-ह्रस्वात् ५।१ चन्द्रोत्तरपदे ७।१ मन्त्रे ७।१।

स०-चन्द्रश्चासौ उत्तरपदं च चन्द्रोत्तरपदम्, तस्मिन्-चन्द्रोत्तरपदे (कर्मधारयः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां मन्त्रे चन्द्रोत्तरपदे ह्रस्वात् सुट्।

अर्थः-संहितायां मन्त्रे च विषये चन्द्रशब्दे उत्तरपदे ह्रस्वात् परः सुडागमो निपात्यते।

उदा०-सुश्चन्द्र {युष्मान्} (ऋ० ५।६।५)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (मन्त्रे) मन्त्र-विषय में (चन्द्रोत्तरपदे) चन्द्र शब्द उत्तरपद परे होने पर (ह्रस्वात्) ह्रस्व-वर्ण से परे (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-सुश्चन्द्र {युष्मान्} (ऋ० ५।६।५)।

सिद्धि-(१) सुश्चन्द्रः। सु+चन्द्र। सु+सुट्+चन्द्र। सु+स्+चन्द्र। सु+श्+चन्द्र। सुश्चन्द्र+सु। सुश्चन्द्रः।

यहां मन्त्र-विषय में इस सूत्र से चन्द्र शब्द उत्तरपद होने पर 'सु' शब्द के ह्रस्व-वर्ण (उ) से परे 'चन्द्र' के च-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम निपातित है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से सकार को शकार आदेश होता है। सु और चन्द्र शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है-सुश्चन्द्रः।

निपातनम् (सुट्)-

(७६) प्रतिष्कशश्च कशेः।१५०।

प०वि०-प्रतिष्कशः १।१ च अव्ययपदम्, कशेः ६।१।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां प्रतिकशश्च कशेः सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये 'प्रतिकशः' इत्यत्र च कशेर्धातोः सुडागमो निपात्यते। **उदाहरणम्-**

ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः।।

वार्तापुरुषः, सहायः, पुरोयायी वा 'प्रतिष्कशः' इत्यभिधीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में 'प्रतिष्कशः' इस पद में (च) भी (कशेः) कश धातु को (सुट्) सुट् आगम निपातित है। उदाहरण-*

ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः।।

आज मैं ग्राम में प्रवेश करूंगा (जाऊंगा) तू मेरा प्रतिष्कश=वार्तापुरुष (सहाय) हो। दोनों वहां तक बातचीत करते हुये चलेंगे।

सिद्धि-प्रतिष्कशः। प्रति+कश्+अच्। प्रति+सुट्+कश्+अ। प्रति+स्+कश्+अ। प्रति+ष्+कश्+अ। प्रतिष्कश+सु। प्रतिष्कशः।

यहां प्रति-उपसर्गपूर्वक 'कश गतिशासनयोः' (भ्वा०उ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि 'अच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'कश्' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम और उसे षत्व भी निपातित है। यहां प्रति और कश शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है।

निपातनम् (सुट्)–

(८०) प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी।१५१।

प०वि०–प्रस्कण्व-हरिश्चन्द्रौ १।२ ऋषी १।२।

स०–प्रस्कण्वश्च हरिश्चन्द्रश्च तौ–प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)। ऋषिश्च ऋषिश्च तौ–ऋषी (एकशेषद्वन्द्वः)।

अनु०–संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ सुड् ऋषी।

अर्थः–संहितायां विषये 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते, ऋषी चेत् तौ भवतः।

उदा०–(**प्रस्कण्वः**) प्रगतं कण्वम्=पापं यस्मात् सः–प्रस्कण्व ऋषिः। (**हरिश्चन्द्रः**) हरिरिव चन्द्रो यस्य सः–हरिश्चन्द्र ऋषिः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ) प्रस्कण्व और हरिश्चन्द्र इन पदों में (सुट्) सुट् आगम निपातित है (ऋषी) यदि वे दोनों ऋषि हों।*

उदा०–(प्रस्कण्वः) प्रगतं कण्वम्=पापं यस्मात् सः–प्रस्कण्व ऋषिः। जिससे पापाचरण चला गया है वह–'प्रस्कण्व' ऋषि। (हरिश्चन्द्रः) हरिरिव चन्द्रो यस्य सः–हरिश्चन्द्र ऋषिः। हरि=विष्णु के समान चन्द्र है पूज्य जिसका वह–हरिश्चन्द्र ऋषि।

सिद्धि–(१) प्रस्कण्वः। प्र+कण्व। प्र+सुट्+कण्व। प्र+स्+कण्व। प्रस्कण्व+सु। प्रस्कण्वः।

यहां प्र और कण्व शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ऋषि अर्थ में 'कण्व' शब्द के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है।

(२) हरिश्चन्द्रः। हरि+चन्द्र। हरि+सुट्+चन्द्र। हरि+स्+चन्द्र। हरि+श्+चन्द्र। हरिश्चन्द्र+सु। हरिश्चन्द्रः।

यहां हरि और चन्द्र शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से ऋषि अर्थ में 'चन्द्र' शब्द के च-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से सकार को शकार आदेश होता है।

निपातनम् (सुट्)–

(८१) मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।१५२।

प०वि०–मस्कर-मस्करिणौ १।२ वेणु-परिव्राजकयोः ७।२।

स०–मस्करश्च मस्करी च तौ–मस्करमस्करिणौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

वेणुश्च परिव्राजकश्च तौ-वेणुपरिव्राजकौ, तयो:-वेणुपरिव्राजकयो: (इतरेतर-योगद्वन्द्व:)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वय:-संहितायां वेणुपरिव्राजकयोर्मस्करमस्करिणौ सुट्।

अर्थ:-संहितायां विषये वेणुपरिव्राजकयोरर्थयोर्यथासंख्यं 'मस्कर-मस्करिणौ' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते।

उदा०-**(मस्कर:)** मस्करो वेणु:। **(मस्करी)** मस्करी परिव्राजक:।

"न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजक:। किं तर्हि? मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि, शान्तिर्व: श्रेयसीत्याहाऽतो मस्करी परिव्राजक:" (महाभाष्यम् ६।१।१५२)।

आर्यभाषा: *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (वेणुपरिव्राजकयो:) वेणु=दण्ड और परिव्राजक=संन्यासी अर्थ में यथासंख्य (मस्करमस्करिणौ) मस्कर और मस्करी पदों में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-(मस्कर) मस्कर वेणु=दण्ड। (मस्करी) मस्करी परिव्राजक (संन्यासी)।

"जिसके पास मस्कर (दण्ड) है वह दण्डधारी पुरुष मस्करी संन्यासी नहीं कहाता है अपितु काम्य कर्म मत करो, काम्य कर्म मत करो, तुम्हारे लिये शान्ति श्रेयसी=कल्याणकारिणी हो ऐसा जो उपदेश करता है, इसलिये परिव्राजक (संन्यासी) 'मस्करी' कहाता है (महा० ६।१।१५२)। **'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:** *(गीता)।*

सिद्धि-(१) मस्कर:। माङ्+कृ+अप्। मा+सुट्+कर्+अ। मा+स्+कर्+अ। म+स्+कर्+अ। मस्कर+सु। मस्कर:।

यहां माङ्-पूर्वक 'कृ' धातु से 'ऋदोरप्' (३।३।५७) से करण कारक में 'अप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'कृ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम निपातित है। माङ् को निपातन से ह्रस्व (म) होता है। **मा क्रियते=प्रतिषिध्यते पापाचरणं येन स:-मस्करो** *वेणु: (दण्ड:)।*

(२) मस्करी। माङ्+कृ+इनि। मा+सुट्+कृ+इन्। म+स्+कर्+इन्। मस्करिन्+सु। मस्करी।

यहां माङ्-पूर्वक 'कृ' धातु से इनि प्रत्यय और माङ् को ह्रस्वत्व निपातित है। इस सूत्र से 'कृ' धातु के क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

निपातनम् (सुट्)-

(८२) कास्तीराजस्तुन्दे नगरे।१५३।

प०वि०-कास्तीर-अजस्तुन्दे १।२ नगरे ७।१।

स०-कास्तीरं च अजस्तुन्दं च ते-कास्तीराजस्तुन्दे (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां नगरे कास्तीराजस्तुन्दे सुट्।

अर्थः-संहितायां विषये नगरेऽभिधेये 'कास्तीराजस्तुन्दे' इत्यत्र सुडागमो निपात्यते।

उदा०-(कास्तीरम्) कास्तीरं नाम नगरम्। (अजस्तुन्दम्) अजस्तुन्दं नाम नगरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय में (नगरे) नगर अर्थ अभिधेय में (कास्तीराजस्तुन्दे) कास्तीर और अजस्तुन्द इन पदों में (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-(कास्तीर) कास्तीर नामक नगर। (अजस्तुन्द) अजस्तुन्द नामक नगर।

सिद्धि-(१) कास्तीरम्। आङ्+तीर। आ+सुट्+तीर। आ+स्+तीर। का+स्+तीर। कास्तीर+सु। कास्तीरम्।

यहां आङ् और तीर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। ईषत् तीरमस्य तत्-कास्तीरम्। आङ् के स्थान में 'का' आदेश निपातित है। इस सूत्र से नगर अर्थ में 'तीर' शब्द के त-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है।

(२) अजस्तुन्दम्। अज+तुन्द। अज+सुट्+तुन्द। अज+स्+तुन्द। अजस्तुन्द+सु। अजस्तुन्दम्।

यहां अज और तुन्द शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है-अजस्येव तुन्दमस्य-अजस्तुन्दम्। इस सूत्र से नगर अर्थ में 'तुन्द' शब्द के त-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है।

निपातनम् (सुट्)-

(८३) पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्।१५४।

प०वि०-पारस्कर-प्रभृतीनि १।३ च अव्ययपदम्, संज्ञायाम् ७।१।

स०-पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि पारस्करप्रभृतीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, सुट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां पारस्करप्रभृतीनि च सुट्।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषये 'पारस्करप्रभृतीनि' इत्यत्र च सुडागमो निपात्यते।

उदा०-पारस्करो देशः। कारस्करो वृक्षः। रथस्या नदी। किष्कुः प्रमाणम्। किष्किन्धा गुहा।

पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः। अविहितलक्षणः सुट् पारस्करप्रभृतिषु द्रष्टव्यो यथा-प्रायश्चित्तम्, प्रायश्चित्तिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) सन्धि-विषय और (संज्ञायाम्) संज्ञा-विषय में (पारस्करप्रभृतीनि) पारस्कर आदि पदों में (च) भी (सुट्) सुट् आगम निपातित है।*

उदा०-पारस्करो देशः। पारस्कर=देश। कारस्कर=वृक्ष। रथस्या=नदी। किष्कु=प्रमाण। किष्किन्धा=गुहा।

पारस्कर आदि आकृतिगण है। सूत्र से अविहित जो सुट् आगम हो उसे पारस्कर आदि में समझकर शब्दसिद्धि करनी चाहिये। जैसे-प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्ति शब्द में सुट् आगम इसी गण में पाठ मानकर सिद्ध किया जाता है।

सिद्धि-(१) पारस्करः। पार+कृ+ट। पार+सुट्+कृ+अ। पार+स्+कर्+अ। पारस्कर+सु। पारस्करः।

यहां पार शब्द उपपद होने पर 'कृ' धातु से 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) से 'ट' प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञा विषय में 'कृ' धातु के क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। यहां 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। पारं करोतीति-पारस्करः।

(२) कारस्करः। कार+कृ+ट। कार+सुट्+कृ+अ। कार+स्+कर्+अ। कारस्कर+सु। कारस्करः।

यहां कार शब्द उपपद होने पर 'कृ' धातु से 'दिवाविभा०' (३।२।२१) से 'ट' प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञा विषय में 'कृ' धातु के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है। कारं करोति-कारस्करो वृक्षः (उपपदतत्पुरुष)।

(३) रथस्या। रथ+या+क। रथ+सुट्+या+अ। रथ+स्+य्+अ। रथस्य+टाप्। रथस्या+सु। रथस्या।

यहां रथ उपपद होने पर 'या' धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञा-विषय में 'या' धातु के य-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है।

स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से टाप् प्रत्यय है। रथं यातीति-रथस्या (उपपदतत्पुरुष)।

(४) किष्कुः। किम्+कृ+डु। किम्+सुट्+कृ+उ। किम्+स्+क्+उ। कि०+स्+क्+उ। कि+ष्+क्+उ। किष्कु+सु। किष्कुः।

यहां 'किम्' शब्द उपपद होने पर 'कृ' धातु से औणादिक 'डु' प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञा-विषय में 'कृ' धातु के क-वर्ण से पूर्व 'सुट्' आगम होता है। वा०- 'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से 'कृ' के टि-भाग (ऋ) का लोप होता है। 'किम्' के मकार का लोप और सकार को षत्व निपातन से होता है। किं करोतीति किष्कुः (उपपदतत्पुरुष)।

(५) किष्किन्धा। किम्+धः+क। किम्-किम्+धा+अ। किम्+सुट्+किम्+ध्+अ। किष्किन्ध+टाप्। किष्किन्धा+सु। किष्किन्धा।

यहां 'किम्' शब्द उपपद होने पर 'धा' धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। 'किम्' शब्द को द्वित्व और उसके मकार का लोप निपातन से होता है। इस सूत्र से संज्ञा-विषय में 'किम्' के क-वर्ण से पूर्व सुट् आगम होता है और निपातन से षत्व होता है।

विशेषः (१) काशिकावृत्ति में 'कारस्करो वृक्षः' इसकी पाणिनीय सूत्र मानकर व्याख्या की है। यह 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' इसी सूत्र से सिद्ध है।

(२) पारस्कर। यह सिन्ध का पूर्वी जिला थर-पारकर जान पड़ता है। 'थर' रेगिस्तानवाची 'थल' का सिन्धी रूप है। कच्छ के इरिण या रन्न प्रदेश के उत्तर का समस्त भूभाग 'पारकर' देश था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६६)।

(३) रथस्या। महाभारत के आदिपर्व में सरस्वती और गंडकी के बीच की सात पावन नदियों में इसका नाम 'रथस्था' है। रथस्था पंचाल देश की रामगंगा नदी थी जो ऊपरले भाग में अब भी 'रुहुत' कहाती है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ५४)।

(४) किष्कु। अर्थशास्त्र के अनुसार ३२ अंगुल या दो फुट का साधारण किष्कु होता था। आराकश एवं राजबढ़ई का किष्कु ४२ अंगुल या साढ़े ३१ इंच लम्बा माना जाता था। किष्कु ही यहां का पुराना गज था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २४८)।

(५) किष्किन्धा। यह गोरखपुर के पास का प्राचीन खुखुदों था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ७६)।

।। इति संहिता (सन्धि) प्रकरणम्।।

पूर्व-स्वरप्रकरणम्

परिभाषा–

(१) अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।१५५।

प०वि०–अनुदात्तम् १।१ पदम् १।१ एकवर्जम् १।१।

तद्धितवृत्तिः–अनुदात्ता अस्य सन्तीति–अनुदात्तम्। **'अर्शआदिभ्योऽच्'** (५।२।१२७) इति मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः।

स०–एकं वर्जयित्वेति–एकवर्जम् (उपपदतत्पुरुषः) **'द्वितीयायां च'** (३।४।५३) इति णमुल् प्रत्ययः।

अन्वयः–एकवर्जं पदम् अनुदात्तम्।

अर्थः–अस्मिन् स्वरप्रकरणे यत्राऽन्यः स्वर उदात्तः स्वरितो वा विधीयते तत्रैकवर्जं पदमनुदात्तं भवतीत्येतदुपस्थितं द्रष्टव्यम्। परिभाषेयं स्वरविधानार्था। यथा वक्ष्यति **'धातोः'** (६।१।१५६) धातोरन्तोदात्तो भवति। अत्र धातोरन्त्यमचं वर्जयित्वा परिशिष्टमनुदात्तं भवति।

उदा०–गोपायति, धूपायति।

आर्यभाषाः *अर्थ–इस स्वर-प्रकरण में जहां कोई स्वर उदात्त वा स्वरित विधान किया जाता है वहां उस (एकवर्जम्) एक स्वर को छोड़कर शेष (पदम्) पद (अनुदात्तम्) अनुदात्त स्वरवाला होता है, यह जानना चाहिये। यह स्वरविधायिका परिभाषा है। जैसे पाणिनि मुनि कहेंगे–'धातोः' (६।१।१५६) अर्थात् धातु को अन्तोदात्त स्वर होता है। यहां धातु के अन्तिम अच्-वर्ण को छोड़कर शेष पद इस परिभाषा से अनुदात्त हो जाता है।*

उदा०–*गोपायति। वह रक्षा करता है। धूपायति। वह तपाता है।*

सिद्धि–*गोपायति। गुप्+आय। गोप्+आय। गोपाय+लट्। गोपाय+तिप्। गोपाय+शप्+ति। गोपाय+अ+ति। गोपायति।*

यहां 'गुपू रक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' (३।१।२८) से 'आय' प्रत्यय है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) से 'गोपाय' शब्द की धातु संज्ञा होती है। 'धातोः' (६।१।१५६) से धातु के अन्तिम अच्-वर्ण को अन्तोदात्त होकर इस परिभाषा सूत्र से शेष पद अनुदात्त होता है-गोपायति। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित हो जाता है-गोपायति। ऐसे ही 'धूप सन्तापे' (भ्वा०प०) धातु से-धूपायति।

अन्तोदात्तप्रकरणम्

अन्तोदात्तः–

(२) कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः।१५६।

प०वि०-कर्ष-आत्वतः ६।१ घञः ६।१ अन्तः १।१ उदात्तः १।१।

स०-आद् अस्मिन्नस्तीति-आत्वान्। कर्षश्च आत्वाँश्च एतयोः समाहारः-कर्षात्वत्, तस्य कर्षात्वतः (समाहारद्वन्द्वः)।

अन्वयः-कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः।

अर्थः-कर्षतिधातोराकारवतश्च धातोर्घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-**(कर्षतिः)** कर्षः। **(आत्वान्)** पाकः, त्यागः, रागः, दायः, धायः।

सूत्रपाठे 'कर्षः' इति विकृतनिर्देशः कृषतेर्निवृत्त्यर्थः। तौदादिकस्य घञन्तस्य कृषतिधातोर्घञन्तस्य 'कर्षः' इति **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** (६।१।१९१) इत्याद्युदात्त एव भवति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्षात्वतः) कर्षति (भ्वा०प०) धातु और आकारवान् धातु के (घञः) घञ्प्रत्ययान्त शब्दों का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-(कर्षति) कर्षः। हल चलाना। (आकारवान्) पाकः। पकाना। त्यागः। छोड़ना। रागः। रंगना। दायः। देना। धायः। धारण-पोषण करना।

सिद्धि-(१) कर्षः। कृष्+घञ्। कर्ष्+अ। कर्ष+सु। कर्षः।

यहां 'कृष विलेखने' (भ्वा०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'कृष्' धातु को लघूपध गुण होता है। इस सूत्र से घजन्त कर्षः' शब्द का अन्तोदात्त स्वर होता है।

सूत्रपाठ में 'कर्ष' यह विकृत-निर्देश 'कृष विलेखने' (तु०उ०) धातु के ग्रहण की निवृत्ति के लिये किया है। इससे 'कृष विलेखने' (भ्वा०प०) धातु का ही ग्रहण किया जाता है। तौदादिक 'कृष्' धातु का घजन्त 'कर्षः' शब्द 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त ही होता है-कर्षः।

(२) पाकः। पच्+घञ्। पाच्+अ। पाक्+अ। पाक+सु। पाकः।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'पच्' धातु को उपधावृद्धि होने से यह आकारवान् धातु होती है अतः इस

सूत्र से इसके घञन्त शब्द 'पाकः' को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से चकार को कुत्व गकार होता है। ऐसे ही 'त्यज हानौ' (भ्वा०प०) धातु से-त्यागः।

(३) रागः। यहां 'रञ्ज रागे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् घञ् प्रत्यय, 'घञि च भावकरणयोः' (६।४।२७) से अनुनासिक का लोप और 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) दायः। यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय और 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) से युक् आगम होता है। ऐसे ही 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से-धायः।

अन्तोदात्तः–

(३) उञ्छादीनां च।१५७।

प०वि०-उञ्छ-आदीनाम् ६।३ च अव्ययपदम्।

स०-उञ्छ आदिर्येषां ते उञ्छादयः, तेषाम्-उञ्छादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उञ्छादीनां च अन्त उदात्तः।

अर्थः-उञ्छादीनां शब्दानां च अन्त उदात्तो भवति।

उदा०-उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः इत्यादिकम्।

उञ्छ। म्लेच्छ। जञ्ज। जल्प। जप। व्यध। वध। युग कालविशेषे रथाद्युपकरणे च। गरो दूष्येऽबन्तः। वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे। स्तुयुद्रुवश्छन्दसि। परिष्टत्। संयुत्। परिद्रुत्। वर्तनिः स्तोत्रे। श्वभ्रे दरः। साम्बतापौ भावगर्हायाम्। उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र। भक्षमन्थभोगदेहाः। इत्युञ्छादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उञ्छादीनाम्) उञ्छ आदि शब्दों का (च) भी (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः इत्यादि।

सिद्धि-(१) उञ्छः। यहां 'उछि उञ्छे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् घञ् प्रत्यय है। इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।५३) से शेष अनुदात्त होता है। 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से नुम् आगम और उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।३९) से चुत्व ञकार होता है।

(२) म्लेच्छः। यहां 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) जञ्जः। यहां 'जजि युद्धे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से प्राप्त कुत्व इसी निपातन से नहीं होता है।

(४) जल्पः। यहां 'जल्प व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३।३।६१) से 'अप्' प्रत्यय है।

अन्तोदात्तः-

(४) अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः।१५८।

प०वि०-अनुदात्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्, यत्र अव्ययपदम् (सप्तम्यर्थे) उदात्तलोपः १।१।

स०-उदात्तस्य लोपः-उदात्तलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-अन्तः उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-यत्र=यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तलोपः, तस्यानुदात्तस्य चान्तोदात्तः।

अर्थः-यत्र=यस्मिन्ननुदात्ते परतोऽनुदात्तस्य लोपो भवति, तस्यानुदात्तस्य चान्तोदात्तो भवति।

उदा०-कुमारी। पथः। पथा। पथे। कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(यत्र) जिस अनुदात्त के परे होने पर (उदात्तलोपः) उदात्त का लोप होता है (अनुदात्तस्य) उस अनुदात्त को (च) भी (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-कुमारी। अविवाहिता। पथः। मार्गों को। पथा। मार्ग के द्वारा। पथे। मार्ग के लिये। कुमुद्वान्। श्वेत कमलवाला। नड्वान्। सरपतवाला। वेतस्वान्। बैंतवाला।

सिद्धि-(१) कुमारी। कुमार+ङीप्। कुमार्+ई। कुमारी+सु। कुमारी।

यहां कुमार शब्द से 'वयसि प्रथमे' (४।१।२०) से 'ङीप्' प्रत्यय है। यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है। उस अनुदात्त के परे होने पर 'यस्येति च' (६।४।१४८) से 'कुमार' शब्द के उदात्त अकार का लोप होता है। इस सूत्र से जिस अनुदात्त के परे होने पर उदात्त का लोप होता है उस अनुदात्त को अन्तोदात्त होता है अतः ङीप् (ई) प्रत्यय अन्तोदात्त हो जाता है। 'कुमार' शब्द 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट्० १।१) से अन्तोदात्त है।

(२) कुमुद्वान्। कुमुद+ड्मतुप्। कुमुद्+मत्। कुमुद्+वत्। कुमुद्वत्+सु। कुमुद्वान्।

यहां कुमुद शब्द से 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' (४।२।८६) से ड्मतुप् है। यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है। वा०- 'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से कुमुद के उदात्त अकार का लोप होता है। इस सूत्र से अनुदात्त के परे होने पर उदात्त का लोप होने से अनुदात्त को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'कुमुद' शब्द पूर्ववत् अन्तोदात्त है। ऐसे ही-नड्वान्, वेतस्वान्।

विशेषः *काशिकावृत्ति में इस सूत्र का आद्युदात्तपरक अर्थ किया है जो कि पाणिनिमुनि के प्रकरण के प्रतिकूल है। गुरुवर पं० विश्वप्रिय शास्त्री के शिष्य पं० वेदव्रत शास्त्री की हस्तलिखित वृत्ति में अन्तोदात्तपरक अर्थ है।*

अन्तोदात्तः-

(५) धातोः।१५६।

वि०-धातोः ६।१।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-धातोरन्त उदात्तः।

अर्थः-धातोरन्त उदात्तो भवति।

उदा०-पचति। पठति। ऊर्णोति। गोपायति। याति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(धातोः) धातु का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-पचति। वह पकाता है। पठति। वह पढ़ता है। ऊर्णोति। वह आच्छादित करता है। गोपायति। वह रक्षा करता है। याति। वह जाता है।

सिद्धि-(१) पचति। पच्+लट्। पच्+तिप्। पच्+शप्+ति। पच्+अ+ति। पचति।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से 'पच्' धातु को अन्तोदात्त होता है। 'शप्' और 'तिप्' प्रत्यय पित् होने से 'अन्तोदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त हैं। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से 'शप्' का अनुदात्त अकार स्वरित होता है। 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (१।३।३९) से 'तिप्' के अनुदात्त इकार को एकश्रुति स्वर होता है।

(२) पठति। 'पठ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) से पूर्ववत्।

(३) ऊर्णोति। यहां 'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् होता है।

(४) गोपायति। यहां 'गुपू रक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से 'गुपूधूप०' (३।१।२८) से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) याति। यहां 'या प्रापणे' (अदा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्तः—

(६) चितः।१६०।

वि०-चितः ६।१।

स०-च इद् यस्य स चित्, तस्य-चितः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चितोऽन्त उदात्तः।

अर्थः-चितः=प्रत्ययान्तस्य शब्दस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-भङ्गुरम्। भासुरम्। मेदुरम्। कुण्डिनाः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चितः) चित्-प्रत्ययान्त शब्द का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-भङ्गुरम्। टूटनेवाला। भासुरम्। चमकनेवाला। मेदुरम्। स्नेहवाला (चिकणा)। कुण्डिनाः। कुण्डिनी ऋषिका के बहुत पौत्र।

सिद्धि-(१) भङ्गुरम्। भञ्ज्+घुरच्। भञ्ज्+उर। भङ्गु+सु। भङ्गुरम्।

यहां 'भञ्जो आमर्दने' (रुधा०प०) धातु से 'भञ्जभासमिदो घुरच्' (३।२।१६१) से 'घुरच्' प्रत्यय है। इसके चित् होने से इस सूत्र से इसे अन्तोदात्त होता है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त होता है। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से जकार को कुत्व गकार होता है।

(२) भासुरम्। 'भासृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।

(३) मेदुरम्। 'ञिमिदा स्नेहने' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।

(४) कुण्डिनाः। कुण्डिनी+यञ्+जस्। कुण्डिनच्+०+अस्। कुण्डिन+अस्। कुण्डिनाः।

यहां कुण्डिनी प्रातिपदिक से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय होता है। कुण्डिनी के बहुत पौत्र अर्थ की विवक्षा में 'आगस्त्यकौण्डन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्' (२।४।७०) से 'कुण्डिनच्' आदेश होता है। इसके चित् होने से इस सूत्र से इसका अन्तोदात्त स्वर होता है।

अन्तोदात्तः–

(७) तद्धितस्य ।१६१।

वि०-तद्धितस्य ६ ।१।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, चित इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तद्धितस्य चितोऽन्त उदात्तः।

अर्थः-तद्धितसंज्ञकस्य चित्प्रत्ययस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-कौञ्जायनाः। भौञ्जायनाः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तद्धितस्य) तद्धित-संज्ञक (चितः) चित् प्रत्यय का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-कौञ्जायनाः। भौञ्जायनाः।

सिद्धि-कौञ्जायनाः। कुञ्ज+च्फञ्। कौञ्ज्+आयन। कौञ्जायन+जस्। कौञ्जायनाः।

यहां 'कुञ्ज' शब्द से 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' (४।१।९८) से च्फञ् प्रत्यय है। इसके चित् होने से इस सूत्र से इसका अन्तोदात्त स्वर होता है। इसके 'ञित्' होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से नित्य आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है किन्तु उसे बाधकर इस सूत्र से चित्-स्वर=अन्तोदात्त ही होता है। प्रत्यय के ञित् होने से 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'फ्' को 'आयन्' आदेश होता है। ऐसे ही 'भुञ्ज' शब्द से-भौञ्जायनाः।

अन्तोदात्तः–

(८) कितः ।१६२।

वि०-कितः ६ ।१।

स०-क इद् यस्य स कित्, तस्य-कितः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, तद्धितस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तद्धितस्य कितोऽन्त उदात्तः।

अर्थः-तद्धितसंज्ञकस्य कित्-प्रत्ययस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-नाडायनः, चारायणः। आक्षिकः, शालाकिकः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तद्धितस्य) तद्धित (कित्) कित् प्रत्यय का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-नाडायनः। नड का पौत्र। चारायणः। चर का पौत्र। आक्षिकः। अक्ष=पाशों से खेलनेवाला (जुआरी)। शालाकिकः। शलाका आकृति के पाशों से खेलनेवाला (जुआरी)।

सिद्धि-(१) नाडायनः। नड+फक्। नाड्+आयन। नाडायन+सु। नाडायनः।

यहां 'नड' शब्द से 'नडादिभ्यः फक्' (४।१।९९) से गोत्रापत्य अर्थ में 'फक्' प्रत्यय है। इस तद्धित प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है। 'किति च' (७।२।११८) से अंग को आदिवृद्धि भी होती है। पूर्ववत् 'फ्' को 'आयन्' आदेश होता है। ऐसे ही 'चर' शब्द से-चारायणः।

(२) आक्षिकः। अक्ष+ठक्। आक्ष्+इक। आक्षिक+सु। आक्षिकः।

यहां 'अक्ष' शब्द से 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (४।४।२) से दीव्यति-अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय है। इस तद्धित प्रत्यय के कित् होने से इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है और 'किति च' (७।२।११८) से अंग को आदिवृद्धि भी होती है। 'ठस्येकः' (७।३।५०) से 'ठ्' के स्थान में 'इक्' आदेश होता है। ऐसे ही 'शलाका' शब्द से-शालाकिकः।

अन्तोदात्तः-

(६) तिसृभ्यो जसः।१६३।

प०वि०-तिसृभ्यः ५।३ जसः ६।१।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तिसृभ्यो जसोऽन्त उदात्तः।

अर्थः-तिसृ-शब्दाद् उत्तरस्य जस्-प्रत्ययस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-तिस्रस्तिष्ठन्ति।

आर्यभाषाः अर्थ-(तिसृभ्यः) तिसृ शब्द से उत्तर (जसः) जस् प्रत्यय का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।

उदा०-तिस्रस्तिष्ठन्ति। तीन नारियां खड़ी हैं।

सिद्धि-तिस्रः। तिसृ+जस्। तिसृ+अस्। तिस् र्+अस्। तिस्रस्। तिस्ररु। तिस्रर्। तिस्रः।

यहां 'तिसृ' शब्द से 'जस्' प्रत्यय है। यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है। इसके परे रहने पर 'इको यणचि' (६।१।७५) से 'तिसृ' शब्द को यणादेश (र्) होता है। यह यणादेश उदात्त ऋ के स्थान में है। 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट्० १।१)

से 'त्रि' शब्द के स्थान में स्त्रीलिङ्ग में किया तिसृ आदेश भी स्थानिवद्भाव से अन्तोदात्त है। अतः 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से उदात्त यण् से उत्तर अनुदात्त जस् को स्वरित आदेश प्राप्त था, इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है।

अन्तोदात्तः-

(१०) चतुरः शसि।१६४।

प०वि०-चतुरः ६।१ शसि ७।१।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चतुरोऽन्त उदात्तः शसि।

अर्थः-चतुर्-शब्दस्यान्त उदात्तो भवति, शसि प्रत्यये परतः।

उदा०-चतुरः पश्य।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चतुरः) चतुर् शब्द का (अन्तः) अन्तिम अच् (उदात्तः) उदात्त होता है (शसि) शस् प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-चतुरः पश्य। तू चारों को देख।

सिद्धि-चतुरः। चतुर्+शस्। चतुर्+अस्। चतुरस्। चतुररु। चतुरर्। चतुरः।

*यहां इस सूत्र से 'चतुर्' शब्द 'शस्' प्रत्यय परे होने पर अन्तोदात्त है। **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त तथा **'अनुदात्तौ सुप्पितौ'** (३।१।४) से 'शस्' प्रत्यय भी अनुदात्त होकर **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** (८।४।६५) से स्वरित होता है। 'चतुर्' शब्द 'चतेरुरन्' (उणा० ५।५१) से उरन्-प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। इस सूत्र से 'शस्' विषय में अन्तोदात्त किया गया है।*

अन्तोदात्तः-

(११) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः।१६५।

प०वि०-सौ ७।१ एकाचः ५।१ तृतीयादिः १।१ विभक्तिः १।१।

स०-एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्मात्-एकाचः (बहुव्रीहिः)। तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अन्तः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-सौ परतो य एकाच् शब्दस्तस्माद् उत्तरा तृतीयादिर्विभक्ति-रन्तोदात्ता भवति। 'सौ' इति सप्तमीबहुवचनस्य सु-शब्दस्य ग्रहणं क्रियते।

उदा०-वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः। याता, याद्भ्याम्, याद्भिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सौ) सप्तमी-विभक्ति का बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर (एकाचः) जो एक अच्वाला शब्द है उससे उत्तर (तृतीयादिः) टा आदि विभक्तियां (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती हैं।*

उदा०-वाचा। वाणी के द्वारा। वाग्भ्याम्। दो वाणियों के द्वारा। वाग्भिः। सब वाणियों के द्वारा। याता। जाते हुये के द्वारा। याद्भ्याम्। दो जाते हुओं के द्वारा। याद्भिः। सब जाते हुओं के द्वारा।

सिद्धि-(१) वाचा। वाच्+टा। वाच्+आ। वाचा।

'वाक्' शब्द सु (७।३) प्रत्यय परे होने पर एकाच् है, अतः इससे उत्तर तृतीयादि 'टा' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त होता है। ऐसे ही-वाग्भ्याम्, वाग्भिः।

(२) याता। या+लट्। या+शतृ। या+अत्। यात्+सु। यात्। यात्+टा। यात्+आ। याता।

यहां 'या प्रापणे' (अदा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और 'लटः शतृशानचा०' (३।२।१२४) से 'लट्' के स्थान में शतृ आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-याद्भ्याम्, याद्भिः।

अन्तोदात्त-विकल्पः-

(१२) अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे।१६६।

प०वि०-अन्तोदात्तात् ५।१ उत्तरपदात् ५।१ अन्यतरस्याम् अव्यय-पदम्, अनित्यसमासे ७।१।

स०-अन्त उदात्तो यस्य सः-अन्तोदात्तः, तस्मात्-अन्तोदात्तात् (बहुव्रीहिः)। उत्तरं च तत् पदम्-उत्तरपदम्, तस्मात्-उत्तरपदात् (कर्मधारयः)। नित्यश्चासौ समासो नित्यसमासः, न नित्यसमासः-अनित्यसमासः, तस्मिन्-अनित्यसमासे (कर्मधारयगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, एकाचः, तृतीयादिः, विभक्तिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनित्यसमासे एकाचोऽन्तोदात्तात् उत्तरपदाद् तृतीयादि-र्विभक्तिरन्यतरस्यामन्तोदात्ता।

अर्थः-अनित्यसमासे एकाचोऽन्तोदात्ताद् उत्तरपदाद् उत्तरा तृतीयादिर्विभक्तिर्विकल्पेनान्तोदात्ता भवति, पक्षे च **'समासस्य'** (६।१।२२३) इत्यन्तोदात्ता भवति।

उदा०-परमवाचा, परमवाचे। **पक्षे**-परमवाचा॑, परमवाचे॑। परमत्वचा, परमत्वचे। **पक्षे**-परमत्वचा॑, परमत्वचे॑।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनित्यसमासे) अनित्य समास में (एकाचः) एक अच्वाले (अन्तोदात्तात्) अन्तोदात्त (उत्तरपदात्) उत्तरपद से परे (तृतीयादिर्विभक्तिः) तृतीया आदि विभक्ति (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अन्त-उदात्ता) अन्तोदात्त होती है और पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-परमवाचा। परमवाणी के द्वारा। परमवाचे। परमवाणी के लिये। पक्ष में-परमवाचा॑, परमवाचे॑। अर्थ पूर्ववत् है। परमत्वचा। परमत्वक् के द्वारा। परमत्वचे। परमत्वक् के लिये। पक्ष में-परमत्वचा॑, परमत्वचे॑। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) परमत्वचा। परमत्वच्+टा। परमत्वच्+आ। परमवाचा।

यहां परम और वाक् शब्दों का 'सन्महत्परम०' (२।१।६०) से कर्मधारय समास है और यह महाविभाषा अधिकार से अनित्य समास है क्योंकि पक्ष में वाक्य भी बना रहता है। इसके उत्तरपद में 'वाक्' शब्द एकाच् और अन्तोदात्त है। अतः 'परमवाक्' इस उक्त शब्द से उत्तर तृतीया आदि (टा) विभक्ति अन्तोदात्त होती है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त होता है। ऐसे ही-परमवाचे। परमत्वचा॑, परमत्वचे॑।

(२) परमवाचा। यहां विकल्प पक्ष में 'परमवाक्' शब्द 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त होता है। 'परमवाचा' इस स्थिति में 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से अनुदात्त 'टा' को स्वरित आदेश होता है-परमवाचा॑। ऐसे ही-परमवाचे॑, परमत्वचा॑, परमत्वचे॑।

अन्तोदात्ता-

(१३) अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्।१६७।

प०वि०-अञ्चेः ५।१ छन्दसि ७।१ असर्वनामस्थानम् १।१।

स०-न सर्वनामस्थानम्-असर्वनामस्थानम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि अञ्चेरसर्वनामस्थानं विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-छन्दसि विषयेऽञ्चेः पराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरन्तोदात्ता भवति।

उदा०-इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३)। प्रतीचो बाहून् प्रतिभङ्ध्येषाम् (ऋ० १०।८७।४)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में अञ्चेः) अञ्चु धातु से उत्तर (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान को छोड़कर शेष विभक्ति (अन्तोदात्ता) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३)। प्रतीचो बाहून् प्रतिभङ्ध्येषाम् (ऋ० १०।८७।४)।

सिद्धि-दधीचः। दधि+अञ्च्+क्विन्। दधि+अञ्च्+०। दधि+अच्+०। धि+०च्। दधीच्+ङस्। दधीच्+अस्। दधीचः।

यहां दधि उपपद होने पर 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६५) से 'वि' का सर्वहारी लोप, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'अञ्चु' के 'न्' का लोप होता है। 'अचः' (६।४।१३८) से अकार का लोप और 'चौ' (६।१।११६) से दीर्घ होता है। 'चौ' (६।१।१२२) से पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था। इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर का विधान किया गया है।

(२) प्रतीचः। यहां प्रति उपसर्गपूर्वक 'अञ्चु' धातु से पूर्ववत् 'क्विन्' प्रत्यय और तत्पश्चात् असर्वनामस्थान 'शस्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्ता–

(१४) ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः।१६८।

प०वि०-उठ्-इदं-पदादि-अप्-पुम्-रै-द्युभ्यः ५।३।

स०-पद् आदिर्येषां ते पदादयः, ऊठ् च इदं च पदादयश्च अप् च पुम् च रैश्च द्यौश्च ते ऊठ्०दिवः, तेभ्यः-ऊठ्०द्युभ्यः (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, असर्वनामस्थानम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्योऽसर्वनामस्थानं विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्य उत्तराऽसर्वनामस्थाविभक्तिरन्तोदात्ता भवति।

उदा०-(ऊठ्) प्रष्ठौहः। प्रष्ठौहे। (इदम्) आभ्याम्, एभिः। (पदादयः) 'पद्दन्नोमास०' (६।१।६३) इत्येवमादयो निश्-शब्दपर्यन्ता अत्र गृह्यन्ते। (पद्) नि पदश्चतुरो जहि। (दत्) या दतो धावते तस्यै श्यावदन् (तै०सं० २।५।१।७)। (नस्) सूकरस्त्वा खनन् नसा (शौ०सं० २।२७।२)। (मास्) मासि {त्वा पश्यामि चक्षुषा} (तै०सं० २।५।६।६)। (हृद्) हृदा पूतं मनसा जातवेदो०। (निश्) अमावस्यायां निशि {यजेत} (खि० २।१।८)। (अप्) अपः पश्य, अद्भिः, अद्भ्यः। (पुम्) पुंसा, पुंसे, पुंसः, पुम्भ्याम्, पुम्भ्यः। (रै) रायः पश्य, राभ्याम्, राभिः। (दिव्) दिवः पश्य, दिवा, दिवे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उद०द्युभ्यः) ऊठ, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव् शब्दों से उत्तर (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान से भिन्न (विभक्ति) विभक्ति (अन्तोदात्ता) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-(ऊठ्) प्रष्ठौहः। अग्रगामी पुरुष को वहन करनेवालों (हाथी) को। प्रष्ठौहे। अग्रगामी पुरुष को वहन करनेवालों (हाथी) के लिये। (इदम्) आभ्याम्। इन दोनों के द्वारा। एभिः। इन सबके द्वारा। (पदादयः) यहां 'पद्दन्नोमास०' (६।१।६३)। इस सूत्र में कथित पदादि शब्दों का निश् शब्दपर्यन्त ग्रहण किया जाता है। (पद्) नि पदश्चतुरो जहि। दत्-या दतो धावते तस्यै श्यावदन् (तै०सं० २।५।१।७)। नस्-सूकरस्त्वा खनन् नसा (शौ०सं० २।२७।२)। मास्-मासि {त्वा पश्यामि चक्षुषा} (तै०सं० २।५।६।६)। हृद्-हृदा पूतं मनसा जातवेदो०। निश्-अमावस्यायां निशि {यजेत} (खि० २।१।८)। (अप्) अपः पश्य। जलों को देख। अद्भिः। जलों के द्वारा। अद्भ्यः। जलों के लिये। (पुम्) पुंसा। पुरुष के द्वारा। पुंसे। पुरुष के लिये। पुंसः। पुरुष से। पुम्भ्याम्। दो पुरुषों से। पुम्भ्यः। सब पुरुषों से। (रै) रायः पश्य। तू धनों को देख। राभ्याम्। दो धनों के द्वारा। राभिः। सब धनों के द्वारा। (दिव्) दिवः पश्य। तू द्युलोकों को देख। दिवा। द्युलोक के द्वारा। दिवे। द्युलोक के लिये।

सिद्धि-(१) प्रष्ठौहः। प्रष्ठ+वाह्+शस्। प्रष्ठवाह्+अस्। प्रष्ठ ऊठ् आह्+अस्। प्रष्ठ् अ आह्+अस्। प्रष्ठ् ऊह्+अस्। प्रष्ठौहः।

यहां 'प्रष्ठवाह्' शब्द से असर्वनामस्थान 'शस्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है। 'वाह ऊठ्' (६।४।१३२) से वाह् के वकार को सम्प्रसारण रूप 'ऊठ्' आदेश, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से आकार को पूर्वरूप ऊकार आदेश और 'एत्येधत्यूठ्सु' (६।१।८९) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। ऐसे ही असर्वनामस्थान 'ङे' प्रत्यय परे होने पर-प्रष्ठौहे।

(२) आभ्याम्। इदम्+भ्याम्। इद अ+भ्याम्। ० अ अ+भ्याम्। अ+भ्याम्। आ+भ्याम्। आभ्याम्।

यहां 'इदम्' शब्द से असर्वनामस्थान 'भ्याम्' प्रत्यय है। यह इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से अकार-आदेश, 'हलि लोपः' (७।२।११३) से 'इद्' भाग का लोप, 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश (अ) और 'सुपि च' (७।३।१०२) से दीर्घ होता है।

(३) एभिः। यहां 'इदम्' शब्द से असर्वनामस्थान 'भिस्' प्रत्यय है। 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से अकार को एकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) पदः। पाद्+शस्। पद्+अस्। पदः।

यहां 'पाद' शब्द से असर्वनामस्थान 'शस्' प्रत्यय है। यह इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है। 'पद्दन्नोमास्०' (६।१।६१) से 'पाद' के स्थान में 'पद्' आदेश होता है।

(५) दतः। दन्त+शस्। दत्+अस्। दतः। पूर्ववत्।

(६) नसा। नासिका+टा। नस्+आ। नसा। पूर्ववत्।

(७) मासि। मास+ङि। मास्+इ। मासि। पूर्ववत्।

(८) हृदा। हृदय+टा। हृद्+आ। हृदा। पूर्ववत्।

(९) निशि। निशा+ङि। निश्+इ। निशि। पूर्ववत्।

(१०) अपः। अप्+शस्। अप्+अस्। अपः। पूर्ववत्। 'अद्भिः' यहां 'अपो भि' (७।४।४८) से पकार को तकार आदेश और 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से उसे जश् दकार होता है। ऐसे ही-अद्भ्यः।

(११) पुंसा। पुंस्+टा। पुंस्+आ। पुंसा। पूर्ववत्।। पुंसे (ङे)। पुंसः (ङसि)। पुंभ्याम् (भ्याम्)। पुंभ्यः (भ्यस्)।

(१२) रायः। रै+शस्। रै+अस्। राय्+अस्। रायः। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से आय् आदेश होता है। राभ्याम् (भ्याम्)। राभिः (भिस्)। पूर्ववत्।

(१३) दिवः। दिव्+शस्। दिव्+अस्। दिवः। दिवा (टा)। दिवे (ङे)। पूर्ववत्।

अन्तोदात्ता-

(१५) अष्टनो दीर्घात्।१६६।

प०वि०-अष्टनः ५।१ दीर्घात् ५।१।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, असर्वनामस्थानम् इति चानुवर्तति।

अन्वयः-दीर्घाद् अष्टनोऽसर्वनामस्थानं विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-दीर्घाद् अष्टन्-शब्दाद् उत्तराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरन्तोदात्ता भवति।

उदा०-अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टासु।

आर्यभाषाः *अर्थ-(दीर्घात्) दीर्घ (अष्टनः) अष्टन् शब्द से उत्तर (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान से भिन्न (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-अष्टाभिः। आठों के द्वारा। अष्टाभ्यः। आठों के लिये/से। अष्टासु। आठों में/पर।

सिद्धि-अष्टाभिः। अष्टन्+भिस्। अष्ट आ+भिस्। अष्टाभिस्। अष्टाभिः।

यहां 'अष्टन्' शब्द से असर्वनामस्थान 'भिस्' प्रत्यय है। 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से आकार आदेश होता है। दीर्घ 'अष्टा' शब्द से उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है। 'घृतादीनां च' (फिट्० १।२१) से 'अष्टन्' शब्द अन्तोदात्त है। 'झल्युपोत्तमम्' (६।१।१८०) से उपोत्तम (अन्तिम से पूर्ववर्ती) वर्ण उदात्त प्राप्त था, यह सूत्र उसका अपवाद है।

अन्तोदात्ता-

(१६) शतुरनुमो नद्यजादी।१७०।

प०वि०-शतुः ५।१ अनुमः ५।१ नदी-अजादी १।२।

स०-न विद्यते नुम् यस्मिन् सः-अनुम्, तस्मात्-अनुमः (बहुव्रीहिः)। अच् आदिर्यस्याः सा-अजादिः, नदी च अजादिश्च ते-नद्यजादी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, असर्वनामस्थानम् इति चानुवतति। 'अन्तोदात्ताद्' (१।१।६५) इति चानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-अन्तोदात्ताद् अनुमः शतुर्नदी, असर्वनामस्थानम् अजादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-अन्तोदात्ताद् नुम्-रहितात् शतृप्रत्ययान्ताद् उत्तरो नदीसंज्ञकप्रत्ययोऽसर्वनामस्थानम् अजादिर्विभक्तिश्चान्तोदात्ता भवति।

उदा०-(नदी) तुदती, नुदती, लुनती, पुनती। **(अजादिविभक्तिः)** तुदता, नुदता, लुनता, पुनता।

आर्यभाषाः अर्थ:-(अन्तोदात्तात्) अन्तोदात्त (अनुम्) नुम्-आगम से रहित (शतुः) शतृ-प्रत्ययान्त शब्द से उत्तर (नदी) नदी-संज्ञक प्रत्यय और (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान से भिन्न (अजादिः) अजादि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।

उदा०-(नदी) तुदती। पीड़ा देती हुई। नुदती। प्रेरणा करती हुई। लुनती। काटती हुई। पुनती। पवित्र करती हुई। (अजादि विभक्ति) तुदता। पीड़ा देते हुये के द्वारा। नुदता। प्रेरणा करते हुये के द्वारा। लुनता। काटते हुये के द्वारा। पुनता। पवित्र करते हुये के द्वारा।

सिद्धि-(१) तुदती। तुद्+लट्। तुद्+शतृ। तुद्+श+अत्। तुद्+अ+अत्। तुदत्+ङीप्। तुदत्+ई। तुदती+सु। तुदती।

यहां अन्तोदात्त, नुम-आगमरहित, शतृ-प्रत्ययन्त 'तुदत्' शब्द से 'उगितश्च' (४।१।६) नदी-संज्ञक 'ङीप्' प्रत्यय है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से 'ङीप्' की नदी संज्ञा है। इस सूत्र से यह प्रत्यय अन्तोदात्त होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से इसे अनुदात्त स्वर प्राप्त था।

(२) नुदती। 'णुद प्रेरणे' (तु०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) लुनती। 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् शतृ प्रत्यय, 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३।१।८१) से 'श्ना' विकरण-प्रत्यय और 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से 'श्ना' के आकार का लोप होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) पुनती। 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(५) तुदता। तुदत्+टा। तुदत्+आ। तुदता।

यहां पूर्वोक्त 'तुदत्' शब्द से असर्वनामस्थान अजादि 'टा' प्रत्यय (विभक्ति) है। इस सूत्र से इसे अन्तोदात्त होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त स्वर प्राप्त था।

(६) नुदता। 'णुद प्रेरणे' (तु०प०) धातु से पूर्ववत्।

(७) लुनता। 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(८) पुनता। 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत्।

अन्तोदात्ता-

(१७) उदात्तयणो हल्पूर्वात्।१७१।

प०वि०-उदात्तयणः ५।१ हल्पूर्वात् ५।१।

स०-उदात्तस्य यण्-उदात्तयण्, तस्मात्-उदात्तयणः (षष्ठीतत्पुरुषः)। हल् पूर्वो यस्मात् स हल्पूर्वः, तस्मात्-हल्पूर्वात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, असर्वनामस्थानम्, नद्यजादी इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उदात्तयणो हल्पूर्वाद् नदी, असर्वनामस्थानम् अजादि-र्विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः-उदात्तस्य स्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्माद् उत्तरो नदीसंज्ञक-प्रत्ययोऽसर्वनामस्थानमजादिर्विभक्तिश्चान्तोदात्ता भवति।

उदा०-**(नदी)** कर्त्री, हर्त्री, प्रलवित्री, प्रसवित्री **(अजादिविभक्तिः)** कर्त्रा, हर्त्रा, प्रलवित्रा। प्रसवित्रा। एते तृजन्ता अन्तोदात्ताः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उदात्तयणः) उदात्त के स्थान में जो यण् (हल्पूर्वात्) हल्-पूर्ववाला है, उससे उत्तर (नदी) नदी-संज्ञक प्रत्यय और (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान से भिन्न (अजादिः) अजादि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-(नदी) कर्त्री। करनेवाली। हर्त्री। हरनेवाली। प्रलवित्री। काटनेवाली। प्रसवित्री उत्पन्न करनेवाली। (अजादि विभक्ति) कर्त्रा। कर्ता के द्वारा। हर्त्रा। हर्ता के द्वारा। प्रलवित्रा। काटनेवाले के द्वारा। प्रसवित्रा। उत्पन्न करनेवाले के द्वारा।

सिद्धि-(१) कर्त्री। कर्तृ+ङीप्। कर्तर्+ई। कर्त्री+सु। कर्त्री।

यहां 'कर्तृ' शब्द से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय है। 'कर्तृ' शब्द तृच्-प्रत्ययान्त होने से 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त है। 'इको यणचि' (६।१।७५) से उदात्त 'ऋ' के स्थान में यण् (र्) आदेश है जो कि हल्पूर्व (त्) है। अतः नदी-संज्ञक 'ङीप्' प्रत्यय इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है। 'ङीप्' प्रत्यय को 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त प्राप्त था।

(२) हर्त्री। हर्तृ+ङीप्। हर्तर्+ई। हर्त्री+सु। हर्त्री। पूर्ववत्।

(३) प्रलवित्री। प्रलवितृ+ङीप्। प्रलवितर्+ई। प्रलवित्री+सु। प्रलवित्री। पूर्ववत्।

(४) प्रसवित्री। प्रसवितृ+ङीप्। प्रसवितर्+ई। प्रसवित्री+सु। प्रसवित्री। पूर्ववत्।

(५) कर्त्रा। कर्तृ+टा। कर्तर्+आ। कर्त्रा।

यहां 'कर्तृ' शब्द से असर्वनामस्थान, अजादि 'टा' प्रत्यय है। 'कर्तृ' शब्द पूर्ववत् अन्तोदात्त है। 'इको यणचि' (६।१।७५) से उदात्त 'ऋ' के स्थान में यण् (र्) आदेश है और वह हल्पूर्व (त्) है। अतः इससे उत्तर असर्वनामस्थान अजादि 'टा' प्रत्यय (विभक्ति) इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त प्राप्त था। ऐसे ही-हर्त्रा, प्रलवित्रा, प्रसवित्रा।

अन्तोदात्त-प्रतिषेधः–

(१८) नोङ्धात्वोः।१७२।

प०वि०–न अव्ययपदम्, ऊङ्–धात्वोः ६।२।

स०–ऊङ् च धातुश्च तौ–ऊङ्धातू, तयोः–ऊङ्धात्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, असर्वनामस्थानम्, तृतीयादिः, अजादिः, उदात्तयणः, हल्पूर्वाद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–ऊङ्धात्वोरुदात्तयणो हल्पूर्वात् तृतीयादिरजादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता न।

अर्थः–ऊङो धातोश्च य उदात्तस्य स्थाने यण् हल्पूर्वस्तस्मादुत्तरा तृतीयादिरजादिविभक्तिरन्तोदात्ता न भवति।

उदा०–(ऊङ्) ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै। वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वै। (धातुः) सकृल्ल्वा, सकृल्लवे। खलप्वा, खलप्वै।

आर्यभाषाः *अर्थ–(ऊङ्धात्वोः) ऊङ्प्रत्यय और धातु के स्थान में जो (उदात्तयणः) उदात्त-यण् (हल्पूर्वः) हल्पूर्व है, उससे उत्तर (असर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान से भिन्न (तृतीयादिः) तृतीया आदि (अजादिः) अजादि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदान्तः) अन्तोदात्त (न) नहीं होती है।*

उदा०–(ऊङ्) ब्रह्मबन्ध्वा। ब्रह्मबन्धू (पतित ब्राह्मणी) नारी के द्वारा। ब्रह्मबन्ध्वै। ब्रह्मबन्धू नारी के लिये। वीरबन्ध्वा। वीरबन्धू नारी के द्वारा। वीरबन्ध्वै। वीरबन्धू (पतित क्षत्रिया) नारी के लिये। (धातु) सकृल्ल्वा। एक बार काटनेवाले के द्वारा। सकृल्लवे। एक बार काटनेवाले के लिये। खलप्वा। खलिहान को शुद्ध करनेवाले के द्वारा। खलप्वै। खलिहान को शुद्ध करनेवाले के लिये।

सिद्धि–(१) ब्रह्मबन्ध्वा। ब्रह्मबन्धु+ऊङ्। ब्रह्मबन्धू+टा। ब्रह्मबन्ध् व्+आ। ब्रह्मबन्ध्वा।

*यहां 'ब्रह्मबन्धु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङुतः' (४।१।६६) से 'ऊङ्' प्रत्यय है। यह 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) से उदात्त है। इससे तृतीयादि अजादि 'टा' प्रत्यय है। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) से एकादेश (उ+ऊ) भी उदात्त है। इसके स्थान में 'इको यणचि' (६।१।७५) से 'यण्' आदेश होता है। इस ऊङ् के स्थान में जो उदात्तयण् (व्) है और वह हल्पूर्व (ध्) भी है उसे परे असर्वनामस्थान, अजादि प्रत्यय (विभक्ति) 'टा' अन्तोदात्त नहीं होता है। अतः 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से स्वरित होता है। ऐसे ही–**ब्रह्मबन्ध्वै, वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वै।***

(२) सकृल्ल्वा। सकृत्+लू+क्विप्। सकृत्+लू+वि। सकृत्+लू+०। सकृल्लू+टा। सकृल्व्+आ। सकृल्ल्वा।

यहां सकृत्-उपपदवान् 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से 'क्विप्' प्रत्यय है। वेरपृक्तस्य' (६।१।६५) से 'वि' का सर्वहारी लोप होता है। 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' क्विबन्त शब्द धातुभाव को नहीं छोड़ता है इस आप्त-वचन से यहां 'लू' धातुरूप ही है। यह 'धातोः' (६।१।१६२) से धातु-स्वर से अन्तोदात्त है और 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) से भी यह अन्तोदात्त ही ठहरता है। इससे तृतीयादि अजादि 'टा' प्रत्यय (विभक्ति) है। 'ओः सुपि' (६।४।८३) से यण्-आदेश (व्) होता है, जो हल्-पूर्व (ल्) है। इस सूत्र से यह अजादि प्रत्यय (विभक्ति) अन्तोदात्त नहीं होता है, अपितु 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से स्वरित होता है। ऐसे ही-सकृल्ल्वे, खलप्वा, खलप्वे।

अन्तोदात्तः-

(१६) ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्।१७३।

प०वि०-ह्रस्व-नुड्भ्याम् ५।२ मतुप् १।१।

स०-ह्रस्वश्च नुट् च तौ ह्रस्वनुटौ, ताभ्याम्-ह्रस्वनुड्भ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अन्तः, उदात्तः इति चानुवर्तते। **'अन्तोदात्ताद्'** (६।१।१६३) इति चानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-ह्रस्वाद् अन्तोदात्ताद् नुटश्च मतुब् अन्तोदात्तः।

अर्थः-ह्रस्वान्ताद् अन्तोदात्ताद् नुटश्चोत्तरो मतुप्-प्रत्ययोऽन्तोदात्तो भवति।

उदा०-**(ह्रस्वः)** अग्निमान्, वायुमान्, कर्तृमान्, हर्तृमान्। **(नुट्)** अक्षण्वता, शीर्षण्वता।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ह्रस्वात्) ह्रस्व-वर्णान्त, (अन्तोदात्तात्) अन्तोदात्त और (नुटः) नुट् से उत्तर (मतुप्) मतुप् प्रत्यय (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(ह्रस्व) अग्निमान्। अग्निवाला। वायुमान्। वायुवाला। कर्तृमान्। कर्तावाला। हर्तृमान्। हर्तावाला। (नुट्) अक्षण्वता। अक्ष (पाशा) वाले के द्वारा। शीर्षण्वता। उत्तम शिरवाले के द्वारा।

सिद्धि-(१) अग्निमान्। अग्नि+मतुप्। अग्नि+मत्। अग्निमत्+सु। अग्निमनुम्त्+सु। अग्निमनत्+सु। अग्निमन्०+सु। अग्निमान्+सु। अग्निमान्+०। अग्निमान्।

यहां ह्रस्वान्त, अन्तोदात्त 'अग्नि' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय है। यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है। इस सूत्र से इसे अन्तोदात्त होता है। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से नुम् आगम, 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से तकार का लोप, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् ·' (६।१।६६) से 'सु' का लोप होता है। ऐसे ही-वायुमान्, कर्तृमान्, हर्तृमान्।

(२) अक्षण्वता। अक्ष+मतुप्। अक्ष् अनङ्+मत्। अक्षन्+नुट्+मत्। अक्षन्+न् वत्। अक्ष+न वत्। अक्षणवत्+टा। अक्षण्वत्+आ। अक्षणवता।

यहां 'अक्ष' शब्द से पूर्ववत् 'मतुप्' प्रत्यय है। 'छन्दस्यपि दृश्यते' (६।४।७३) अक्ष के अकार को 'अनङ्' आदेश और 'अनो नुट्' (८।२।१६) से 'मतुप्' को 'नुट्' आगम, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से पूर्व नकार का लोप होता है। 'झयः' (८।२।१०) से 'मतुप्' के मकार को वकार आदेश होता है। इस सूत्र से 'नुट्' से उत्तर 'मतुप्' प्रत्यय को अन्तोदात्त होता है। 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से नकार को णत्व होता है।

(३) शीर्षण्वता। यहां 'शिरः' शब्द के स्थान में 'शीर्षंश्छन्दसि' (६।१।५९) से 'शीर्षन्' आदेश निपातित है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्त-विकल्पः–

(२०) नामन्यतरस्याम्।१७४।

प०वि०–नाम् १।१ अन्यतरस्याम् १।१।

अनु०–अन्तः, उदात्तः, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, मतुप् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–मतुपि ह्रस्वाद् अन्तोदात्ताद् नाम्-विभक्तिरन्यतरस्याम् अन्तोदात्ता।

अर्थः–मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्ताद् अन्तोदात्ताद् उत्तरा नाम्-विभक्ति-र्विकल्पेनान्तोदात्ता भवति।

उदा०–अग्नीनाम्, अग्नीनाम्। वायूनाम्, वायूनाम्। कर्तृणाम्, कर्तृणाम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(मतुपि) मतुप् प्रत्यय परे होने पर जो (ह्रस्वात्) ह्रस्व है, उस ह्रस्वान्त (अन्तोदात्तात्) अन्तोदात्त शब्द से उत्तर (नाम्) नाम् (विभक्तिः) विभक्ति (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०–अग्नीनाम्, अग्नीनाम्। सब अग्नियों का। वायूनाम्, वायूनाम्। सब वायुओं का। कर्तृणाम्, कर्तृणाम्। सब कर्ताओं का।

सिद्धि-(१) अग्नीनाम्। अग्नि+आम्। अग्नि+नुट् आम्। अग्नि+न् आम्। अग्नि+नाम्। अग्नी+नाम्। अग्नीनाम्।

यहां 'अग्नि' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व है। इस ह्रस्वान्त, अन्तोदात्त 'अग्नि' शब्द से उत्तर 'नाम्' प्रत्यय (विभक्ति) इस सूत्र से अन्तोदात्त होता है। ऐसे ही-वायूनाम्, कर्तॄणाम्, हर्तॄणाम्।

(२) अग्नीर्नाम्। यहां विकल्प पक्ष में अग्नि शब्द से उत्तर 'नाम्' विभक्ति अन्तोदात्त नहीं है। अतः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त होती है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से स्वरित होता है। ऐसे ही-वायूर्नाम्, कर्तॄर्णाम्, हर्तॄर्णाम्।

बहुलमन्तोदात्ता–

(२१) ङ्याश्छन्दसि बहुलम्।१७५।

प०वि०-ङ्याः ५।१ छन्दसि ७।१ बहुलम् १।१।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः नाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि ङ्या नाम् विभक्तिर्बहुलम् अन्तोदात्ता।

अर्थः-छन्दसि विषये ङ्यन्ताद् उत्तरा नाम्-विभक्तिर्बहुलमन्तोदात्ता भवति।

उदा०-देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८)। बह्वीनां पिता (६।७५।५)। बहुलवचनान्न च भवति-नदीनां पारे। जयन्तीनां मरुतः (ऋ० १०।१०३।८)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (ङ्याः) ङी-अन्त शब्द से उत्तर (नाम्) नाम् (विभक्तिः) विभक्ति (बहुलम्) प्रायशः (अन्तः उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८)। बह्वीनां पिता (ऋ० ६।७५।५)। बहुलवचन से अन्तोदात्त नहीं भी होता है-नदीनां पारे। जयन्तीनां मरुतः (ऋ० १०।१०३।८)।

सिद्धि-(१) अभिभञ्जतीनाम्। अभिभञ्जत्+ङीप्। अभिभञ्जत्+ई। अभिभञ्जती+आम्। अभिभञ्जती+नुट् आम्। अभिभञ्जती+न् आम्। अभिभञ्जतीनाम्।

यहां 'अभिभञ्जत्' इस शतृ-अन्त शब्द से 'उगितश्च' (४।१।६) से 'ङीप्' प्रत्यय है। 'अभिञ्जती' इस ङ्यन्त शब्द से उत्तर 'नाम्' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है।

(२) बह्वीनाम्। बहु+ङीष्। बह्व्+ई। बह्वी+आम्। बह्वी+नुट् आम्। बह्वी+न् आम्। बह्वीनाम्।

यहां 'बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) से 'ङीष्' प्रत्यय है। 'बह्वी' इस ङ्यन्त शब्द से उत्तर 'नाम्' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है।

(३) नदीनाम्। नदट्+अच्। नद्+अ। नद+ङीप्। नद+ई। नदी+आम्। नदी+नुट् आम्। नदी+न् आम्। नदीनाम्।

यहां 'नदट्' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि 'अच्' प्रत्यय है। 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। ङ्यन्त 'नदी' शब्द से उत्तर 'नाम्' विभक्ति इस सूत्र से बहुलवचन से अन्तोदात्त नहीं होती है, अपितु 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त होती है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से स्वरित होता है।

(४) जयन्तीनाम्। यहां 'जयन्त्' इस शतृ-अन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'उगितश्च' (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय होता है। ङ्यन्त 'जयन्ती' शब्द से उत्तर 'नाम्' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होती है, अपितु पूर्ववत् अनुदात्त होकर स्वरित होती है।

अन्तोदात्ता–

(२२) षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः।१७६।

प०वि०–षट्-त्रि-चतुर्भ्यः ५।३ हलादिः १।१।

स०–षट् च त्रिश्च चतुश्च ते षट्त्रिचतुरः, तेभ्यः–षट्त्रिचतुर्भ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। हल् आदिर्यस्याः सा हलादिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अन्तः, उदात्तः, विभक्तिरिति चानुवर्तते। 'अन्तोदात्ताद्' इति च निवृत्तम्।

अन्वयः–षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता।

अर्थः–षट्संज्ञकेभ्यस्त्रिचतुर्भ्यां चोत्तरा हलादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता भवति।

उदा०–(षट्) षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्। पञ्चानाम्, सप्तानाम्। (त्रिः) त्रिभिः। त्रिभ्यः, त्रयाणाम्। (चतुर्) चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(षट्त्रिचतुर्भ्यः) षट्-संज्ञक और त्रि, चतुर् शब्दों से उत्तर (हलादिः) हल्-आदि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होती है।*

उदा०-(षट्) षड्भिः। छहों के द्वारा। षड्भ्यः। छहों के लिये/से। षण्णाम्। छहों का। पञ्चानाम्। पांचों का। सप्तानाम्। सातों का। (त्रि) त्रिभिः। तीनों के द्वारा। त्रिभ्यः। तीनों के लिये/से। त्रयाणाम्। तीनों का। (चतुर्) चतुर्भिः। चारों के द्वारा। चतुर्भ्यः। चारों के लिये/से। चतुर्णाम्। चारों का।

सिद्धि-(१) षड्भिः। षष्+भिस्। षड्+भिः। षड्भिः।

यहां 'षष्' शब्द की 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२३) से 'षट्' संज्ञा है। इससे उत्तर हलादि 'भिस्' विभक्ति अन्तोदात्त होती है। 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से षकार को जश् डकार होता है। ऐसे ही-षष्+भ्यः=षड्भ्यः।

(२) षण्णाम्। षष्+आम्। षष्+नुट् आम्। षष्+न् आम्। षष्+नाम्। षष्+णाम्। षण्+णाम्। षण्णाम्।

यहां 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) से 'आम्' को नुट् आगम, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से णत्व 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४४) से विकल्प से अनुनासिक आदेश प्राप्ति में वा०- 'यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (८।४।४४) से नित्य अनुनासिक (ण्) आदेश होता हैं। शेष स्वर-कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-पञ्चानाम्, सप्तानाम्।

(३) त्रिभिः। त्रि+भिस्। त्रिभिः।

यहां 'त्रि' शब्द से उत्तर हलादि 'भिस्' विभक्ति अन्तोदात्त होती है। ऐसे ही-त्रि+भ्यस्=त्रिभ्यः। त्रि+आम्। त्रय+आम्। त्रय+नुट् आम्। त्रय+नाम्। त्रया+नाम् त्रयाणाम्। यहां 'त्रेस्त्रयः' (६।३।४८) से त्रि के स्थान में 'त्रय' आदेश होता है। 'नामि' (४।४।३) से दीर्घ और 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से णत्व होता है।

(४) चतुर्भिः। चतुर्+भिस्। चतुर्भिः।

यहां 'चतुर्' शब्द से उत्तर हलादि 'भिस्' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है। ऐसे ही-चतुर्+भ्यस्=चतुर्भ्यः। चतुर्+आम्। चतुर्+नुट् आम्। चतुर्+न् आम्। चतुर्+नाम्। चतुर्णाम्। यहां 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) से आम् को 'नुट्' आगम और उसे 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से णत्व होता है।

उपोत्तमोदात्तम्–

(२३) झल्युपोत्तमम्।१७७।

प०वि०-झलि ७।१ उपोत्तमम् १।१।

स०-त्रिप्रभृतीनामन्तिममक्षरमुत्तमम्, उत्तमस्य समीपम्-उपोत्तमम् (अव्ययीभावः)।

अनु०-उदात्तः, विभक्तिः, षट्त्रिचतुर्भ्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-षट्त्रिचतुर्भ्यो झलि विभक्तावुपोत्तममुदात्तम्।

अर्थः-षट्त्रिचतुर्भ्य उत्तरा या झलादिविभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तम-मक्षरमुदात्तं भवति।

उदा०-(षट्) प॒ञ्चभिः {तपस्तपति} (तै०सं० ५।२।७।५)। स॒प्तभिः परान् जयति। (त्रिः) ति॒सृभिश्च वहसे त्रिंशता (शौ०सं० ७।४।१)। (चतुर्) च॒तुर्भिः (यजु० २३।१३)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(षट्त्रिचतुर्भ्यः) षट्-संज्ञक त्रि और चतुर् शब्दों से उत्तर जो (झलि) झलादि (विभक्ति) है, उस पद में (उपोत्तमम्) उपोत्तम अक्षर (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-(षट्) प॒ञ्चभिः {तपस्तपति} (तै०सं० ५।२।७।५)। स॒प्तभिः परान् जयति। (त्रिः) ति॒सृभिश्च वहसे त्रिंशता (शौ०सं० ७।४।१)। (चतुर्) च॒तुर्भिः (यजु० २३।१३)।

सिद्धि-प॒ञ्चभिः। पञ्चन्+भिस्। पञ्च+भिस्। पञ्चभिः।

यहां 'पञ्चन्' शब्द की 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२३) से षट् संज्ञा है। इससे उत्तर झलादि 'भिस्' विभक्ति परे होने पर यहां 'पञ्चभिः' पद का उपोत्तम अक्षर उदात्त है। तीन अक्षरों में जो अन्तिम अक्षर होता है उसे उत्तम कहते हैं और उत्तम के समीपवर्ती अक्षर को 'उपोत्तम' कहा जाता है। अतः यहां उपोत्तम (अ) वर्ण उदात्त होकर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त होता है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उदात्त से उत्तरवर्ती अनुदात्त को स्वरित आदेश होता है। ऐसे ही-स॒प्तभिः।

(२) ति॒सृभिः। त्रि+भिस्। तिसृ+भिस्। तिसृभिः।

यहां स्त्रीत्व-विवक्षा में 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' (७।२।९९) से तिसृ-आदेश होता है। 'त्रिभिः' में तीन अक्षर न होने से 'उपोत्तम' अक्षर नहीं बनता है, अतः यह 'तिसृभिः' उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। स्वरकार्य पूर्ववत् है।

(३) च॒तुर्भिः। चतुर्+भिस्। चतुर्भिः। पूर्ववत्।

उपोत्तमोदात्त-विकल्पः—

(२४) विभाषा भाषायाम्।१७८।

प०वि०-विभाषा १।१ भाषायाम् ७।१।

अनु०-उदात्तः, विभक्तिः, षट्त्रिचतुर्भ्यः, झलि, उपोत्तमम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाषायां षट्त्रिचतुर्भ्यो झलि विभक्तावुपोत्तमं विभाषा उदात्तम्।

अर्थः-भाषायां विषये षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे विकल्पेनोपोत्तममुदात्तं भवति।

उदा०-(षट्) पञ्चभिः, पञ्चभिः। सप्तभिः, सप्तभिः। (त्रि) तिसृभिः, तिसृभिः। (चतुर्) चतुर्भिः, चतुर्भिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भाषायाम्) लौकिक भाषा विषय में (षट्त्रिचतुर्भ्यः) षट्-संज्ञक, त्रि और चतुर् शब्दों से उत्तर (झलि) जो झलादि (विभक्तिः) विभक्ति है, तदन्त पद में (विभाषा) विकल्प से (उपोत्तमम्) उपोत्तम अक्षर (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-(षट्) पञ्चभिः, पञ्चभिः। पांचों के द्वारा। सप्तभिः, सप्तभिः। सातों के द्वारा। (त्रि) तिसृभिः, तिसृभिः। तीन नारियों के द्वारा। (चतुर्) चतुर्भिः, चतुर्भिः। चारों के द्वारा।

सिद्धि-(१) पञ्चभिः। यहां षट्-संज्ञक 'पञ्चन्' शब्द से झलादि 'भिस्' प्रत्यय है। 'पञ्चभिः' इस पद में इस सूत्र से भाषा में उपोत्तम अक्षर उदात्त होता है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त होकर 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित आदेश होता है। ऐसे ही-सप्तभिः, तिसृभिः, चतुर्भिः।

(२) पञ्चभिः। इस पद में इस सूत्र से भाषा में विकल्प-पक्ष में उपोत्तम अक्षर उदात्त नहीं है। अतः 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (६।१।१७३) से हलादि 'भिस्' विभक्ति अन्तोदात्त होती है। शेष पद पूर्ववत् अनुदात्त होता है। ऐसे ही-सप्तभिः, तिसृभिः, चतुर्भिः।

उक्तस्वर-प्रतिषेधः-

(२५) न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः।१७६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, गो-श्वन्-साववर्ण (सौ+अवर्ण) राट्-अङ्-क्रुङ्-कृद्भ्यः ५।३।

स०-गौश्च श्वा च साववर्णश्च राट् च अङ् च क्रुङ् च कृच्च ते-गो०कृतः, तेभ्यः-गो०कृद्भ्यः।

अन्वयः-गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यो यदुक्तं तन्न।

अर्थः-अस्मिन् स्वरप्रकरणे गो, श्वन्, साववर्ण=सौ प्रथमैकवचने यद् अवर्णान्तम्, राट्, अङ्, क्रुङ्, कृद् इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो यदुक्तं तन्न भवति।

उदा०-(गौः) गवा, गवे, गोभ्याम्। सुगुना, सुगवे, सुगुभ्याम्। (श्वा) शुना, शुने, श्वभ्याम्। परमशुना, परमशुने, परमश्वभ्याम्। (सावर्णः) येभ्यः, तेभ्यः, केभ्यः। (राट्) राजा, परमराजे। (अङ्) प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम्। (क्रुङ्) क्रुञ्चा, परमक्रुञ्चा। (कृत्) कृता, परमकृता।

आर्यभाषाः *अर्थ*-इस स्वर प्रकरण में (गो०कृद्भ्यः) गो, श्वन्, सावर्ण= प्रथमा-विभक्ति के एकवचन 'सु' प्रत्यय परे होने पर जो अ-वर्णान्त है, वह शब्द, राट्, अङ्, क्रुङ् कृत् इन शब्दों से उत्तर जो स्वर विहित किया गया है, वह (न) नहीं होता है।

उदा०-(गौ) गवा। गौ के द्वारा। गवे। गौ के लिये। गोभ्याम्। दो गौओं के लिये/से। सुगुना। उत्तम गौ वाले के द्वारा। सुगवे। उत्तम गौवाले के लिये। सुगुभ्याम्। दो उत्तम गौवालों के लिये/से। (श्वन्) शुना। कुत्ते के द्वारा। शुने। कुत्ते के लिये। श्वभ्याम्। दो कुत्तों के लिये/से। परमशुना। उत्तम कुत्तेवाले के द्वारा। परमशुने। उत्तम कुत्तेवाले के लिये। परमश्वभ्याम्। दो उत्तम कुत्तेवालों के लिये/से। (सावर्ण) प्रथमा-विभक्ति के एकवचन 'सु' प्रत्यय परे होने पर जो अ-वर्णान्त है-येभ्यः। जिनके लिये/से। तेभ्यः। उनके लिये/से। केभ्यः। किनके लिये/से। (राट्) राजा। राजा के द्वारा। परमराजे। उत्तम राजा के लिये। (अङ्) प्राञ्चा। पूर्व दिशा से। प्राङ्भ्याम्। दो पूर्व-दिशाओं से। (क्रुङ्) क्रुञ्चा। क्रौंच पक्षी के द्वारा। परमक्रुञ्चा। उत्तम क्रौंच पक्षी के द्वारा। (कृत्) कृता। कर्ता के द्वारा। परमकृता। उत्तम कर्ता के द्वारा।

सिद्धि-(१) गवा। गो+टा। गव्+आ। गवा।

यहां 'गो' शब्द से 'टा' प्रत्यय है। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६२) से 'टा' विभक्ति को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था, उसका सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट्० १।१) से 'गो' शब्द अन्तोदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से टा-विभक्ति अनुदात्त है अतः यही स्वर रहता है। गवा। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से अनुदात्त को स्वरित आदेश होता है। ऐसे ही-गवे, गोभ्याम्।

(२) सुगुना। शोभना गावो यस्य सः-सुगुः, तेन-सुगुना।

यहां 'अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे' (६।१।१६३) से 'टा' विभक्ति को विकल्प से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था, उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। अतः 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७१) से प्राप्त उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सुगवे, सुगुभ्याम्।

(३) शुना। श्वन्+टा। श् उ अन्+आ। शुन्+आ। शुना।

यहां 'श्वन्' शब्द से 'टा' प्रत्यय है। 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (६।४।१३३) से सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०५) से अकार को पूर्वरूप एकादेश होता है। स्वर-कार्य 'गवा' के समान है।

(४) परमशुनो। यहां 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-परमशुने, परमश्वभ्याम्।

(५) येभ्यः। यत्+भ्यस्। य अ+भ्यः। य+भ्यस्। ये+भ्यस्। येभ्यः।

'यत्' शब्द 'सु' (१।१) प्रत्यय परे होने पर 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से अकार आदेश होने से अवर्णान्त है। 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से एकार आदेश होता है। स्वर-कार्य 'गवा' के समान है। ऐसे ही तत्+भ्यस्=तेभ्यः। किम्+भ्यस्=केभ्यः। 'किमः कः' (७।२।१०३) से 'किम्' के स्थान में 'क' आदेश होता है।

(६) राज्ञो। राज्+टा। राज्+आ। राजा।

यहां स्वर-कार्य 'गवा' के समान है।

(७) परमराजे। पूर्ववत्।

(८) प्राञ्चो। स्वर-कार्य 'गवा' के समान है। ऐसे ही-प्राञ्चे।

(९) क्रुञ्चो। स्वर-कार्य 'गवा' के समान है।

(१०) परमक्रुञ्चो। यहां 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है।

(११) कृतो। स्वर-कार्य 'गवा' के समान है।

(१२) परमकृतो। यहां 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है।

अन्तोदात्त-प्रतिषेधः–

(२६) दिवो झल्।१८०।

प०वि०-दिवः ५।१ झल् १।१।

अनु०-अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, न इति चानुवर्तति।

अन्वयः-दिवो झलादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता न।

अर्थः-दिव उत्तरा झलादिर्विभक्तिरन्तोदात्ता न भवति।

उदा०-द्युभ्याम्, द्युभिः।

आर्यभाषाः अर्थ-(दिवः) दिव् शब्द से उत्तर (झल्) झलादि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त (न) नहीं होती है।

उदा०-द्युभ्याम्। दो द्युलोकों से। द्युभिः। सब द्युलोकों से।

सिद्धि-द्युभ्याम्। दिव्+भ्याम्। दि उ+भ्याम्। द् य् उ+भ्याम्। द्युभ्याम्।

यहां 'दिव्' शब्द से 'भ्याम्' प्रत्यय है। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६२) तथा 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१६५) से 'भ्यास्' विभक्ति को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था, इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। अतः यहां 'गवा' के समान स्वर-कार्य होता है। ऐसे ही-द्युभिः।

अन्तोदात्त-प्रतिषेधः–

(२७) नृ चान्यतरस्याम्।१८१।

प०वि०–नृ ५।१ (लुप्तपञ्चमीनिर्देशः) च अव्ययपदम्, अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०–अन्तः, उदात्तः, विभक्तिः, न, झल् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–नृ झलादिर्विभक्तिरन्यतरस्यामन्तोदात्ता न।

अर्थः–'नृ' इत्येतस्माद् उत्तरा झलादिर्विभक्तिर्विकल्पेनान्तोदात्ता न भवति।

उदा०–नृभिः, नृभिः। नृभ्याम्, नृभ्याम्। नृभ्यः, नृभ्यः।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(नृ) 'नृ' इस शब्द से उत्तर (झल्) झलादि (विभक्तिः) विभक्ति (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त (न) नहीं होता है।*

उदा०–नृभिः, नृभिः। नरों के द्वारा। नृभ्याम्, नृभ्याम्। दो नरों के लिये/से। नृभ्यः, नृभ्यः। सब नरों के लिये/से।

सिद्धि–(१) नृभिः। यहां 'नृ' शब्द से उत्तर झलादि 'भिस्' विभक्ति विकल्प पक्ष में अन्तोदात्त नहीं होती है, अतः यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त होती है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से अनुदात्त के स्थान में स्वरित आदेश होता है। ऐसे ही–नृभ्याम्, नृभ्यः।

(२) नृभिः। नृ+भिस्। नृभिः।

यहां 'नृ' शब्द से उत्तर झलादि 'भिस्' विभक्ति इस सूत्र से अन्तोदात्त होती है। ऐसे ही–नृभ्याम्, नृभ्यः।

।। इति अन्तोदात्तप्रकरणम्।।

स्वरित-विधिः

अन्तस्वरितम्–

(२८) तित् स्वरितम्।१८२।

प०वि०–तित् १।१ स्वरितम् १।१।

स०–त इद् यस्य स तित् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अन्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तिद् अन्तः स्वरितम्।

अर्थः-तिद् अन्तः स्वरितो भवति।

उदा०-कर्तव्यम्, चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्, कार्यम्, हार्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तित्) 'त' जिसका इत् है वह शब्द (अन्तः स्वरितम्) अन्त-स्वरित होता है।*

उदा०-कर्तव्यम्। करना चाहिये। चिकीर्ष्यम्। चिकीर्षा के योग्य। जिहीर्ष्यम्। जिहीर्षा के योग्य। कार्यम्। करने के योग्य। हार्यम्। हरने के योग्य।

सिद्धि-(१) कर्तव्यम्। कृ+तव्यत्। कर्+तव्य। कर्तव्य+सु। कर्तव्यम्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से 'तव्यत्' प्रत्यय है। यह तित् होने से इस सूत्र से अन्त-स्वरित होता है, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से इगन्त अंग को गुण होता है।

(२) चिकीर्ष्यम्। चिकीर्ष+यत्। चिकीर्ष्+य। चिकीर्ष्य+सु। चिकीर्ष्यम्।

यहां 'चिकीर्ष' धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। यह तित् होने से अन्त-स्वरित होता है। ऐसे ही 'जिहीर्ष' धातु से-जिहीर्ष्यम्। चिकर्ष और जिहीर्ष सन्नन्त धातु हैं।

(३) कार्यम्। कृ+ण्यत्। कार्+य। कार्य+सु। कार्यम्।

यहां 'कृ' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय है। यह तित् होने से इस सूत्र से अन्त-स्वरित होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हार्यम्। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अंग को वृद्धि होती है।

अनुदात्त-विधिः

अन्तानुदात्तम्–

(२६) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः।१८३।

प०वि०-तासि-अनुदात्तेत्-ङित्-अदुपदेशात् ५।१ लसार्वधातुकम् १।१ अनुदात्तम् १।१ अह्नु-इङोः ६।२ (पञ्चम्यर्थे)।

स०-अनुदात्त इद् यस्य सः-अनुदात्तेत्। ङ इद् यस्य सः-ङित्। अच्चासावुपदेशः- अदुपदेशः। तासिश्च, अनुदात्तेच्च, ङिच्च, अदुपदेशश्च एतेषां समाहारः-तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशम्, तस्मात्-तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्

(बहुव्रीहिकर्मधारयगर्भितसमाहारद्वन्द्वः)। लस्य सार्वधातुकम्-लसार्वधातुकम् (षष्ठीतत्पुरुषः)। ह्नुश्च इङ् च तौ ह्नुविङौ, न ह्नुविङ्गौ-अह्नुविङौ, तयोः-अह्नुविङोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अन्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तासि-अनुदात्तेत्-ङित्-अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम् अन्तोऽनुदात्तम्, अह्नुविङोः।

अर्थः-तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारोपदेशाच्चोत्तरं ल-सार्वधातुकमन्तानुदात्तं भवति, ह्नु-इङ्भ्यां परं वर्जयित्वा।

उदा०-(तासिः) कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। **(अनुदात्तेत्)** आस्ते, वस्ते। **(ङित्)** सूते, शेते। **(अदुपदेशः)** तुदतः, नुदतः, पचतः, पठतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तासि०अदुपदेशात्) तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत् धातु, ङित् धातु और पाणिनीय उपदेश में अ-वर्णवान् शब्द से उत्तर (लसार्वधातुकम्) लकार के स्थान में जो सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय है, वह (अन्तः, अनुदात्तम्) अन्त अनुदात्त होता है।*

*उदा०-(तासि) **कर्ता**। वह कल करेगा। **कर्तारौ**। वे दोनों कल करेंगे। **कर्तारः**। वे सब कल करेंगे। (अनुदात्तेत्) **आस्ते**। वह बैठता है। **वस्ते**। वह ढकता है। (ङित्) **सूते**। वह सूती (ब्याती) है। **शेते**। वह सोता है। (अदुपदेश) **तुदतः**। वे दोनों पीड़ा देते हैं। **नुदतः**। वे दोनों प्रेरणा करते हैं। **पचतः**। वे दोनों पकाते हैं। **पठतः**। वे दोनों पढ़ते हैं।*

सिद्धि-(१) कर्ता। कृ+लुट्। कृ+तासि+त। कृ+तास्+त। कृ+तास्+डा। कृ+त्+आ। कर्+त्+आ। कर्ता।

*यहां 'कृ' धातु से 'लुट्' प्रत्यय है। **'स्यतासी लृलुटोः'** (३।१।३३) से 'तासि' विकरण प्रत्यय होता है। 'ल' के स्थान में **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से त-आदेश है और इसकी **'तिङ्शित् सार्वधातुकम्'** (३।४।११३) से सार्वधातुक संज्ञा है। 'तास्' से उत्तर यह ल-सार्वधातुक 'त' प्रत्यय इस सूत्र से अनुदात्त है। **'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'** (२।४।८५) से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश होता है। वा०-**'डित्यभस्यापि टेर्लोपः'** (६।४।१४३) से 'तास्' के टि-भाग (आस्) का लोप होता है। यहां अनुदात्त 'त' प्रत्यय के परे होने पर उदात्त 'आस्' का लोप होने से **'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः'** (६।१।१६१) से अनुदात्त 'त' उदात्त हो जाता है।*

*(२) **कर्तारौ**। यहां 'तासि' से उत्तर ल-सार्वधातुक 'आताम्' के स्थान में 'रौ' आदेश अनुदात्त है, इसे **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** (८।४।६५) से स्वरित होता है।*

'रि च' (७।४।५१) से 'तास्' के सकार का लोप होता है। ऐसे ही 'झ' के स्थान में 'रस्' आदेश होने पर-कर्तारः।

(३) आस्ते। आस्+लट्। आस्+त। आस्+शप्+त। आस्+०+त। आस्ते।

यहां अनुदात्तेत्=आत्मनेपद 'आस् उपवेशने' (अदा०आ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। इसके ल-सार्वधातुक 'त' प्रत्यय को इस सूत्र से अनुदात्त होता है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उसे स्वरित होता है। ऐसे ही- 'वस आच्छादने' (अदा०आ०) धातु से-वस्ते।

(४) सूते। सू+लट्। सू+त। सू+शप्+त। सू+०+त। सूते।

यहां 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (अदा०आ०) इस ङित् धातु से लट् प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही- 'शीङ् स्वप्ने' (अदा०आ०) धातु से-शेते।

(५) तुदतः। तुद्+लट्। तुद्+तस्। तुद्+श+तस्। तुद्+अ+तस्। तुदतः।

यहां 'तुद व्यथने' (तु०प०) इस उपदेश में अ-वर्णवान् धातु से 'लट्' प्रत्यय है। इस अ-वर्णवान् धातु से उत्तर ल-सार्वधातुक 'तस्' प्रत्यय इस सूत्र से अनुदात्त होता है। शेष स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(६) नुदतः। 'णुद प्रेरणे' (तु०प०) पूर्ववत्।

(७) पचतः। पच्+लट्। पच्+तस्। पच्+शप्+तस्। पच्+अ+तस्। पचतः।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से लट् प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय होता है। इस अ-वर्णवान् धातु से उत्तर है ल-सार्वधातुक 'तस्' प्रत्यय अनुदात्त होता है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से 'शप्' प्रत्यय भी अनुदात्त है। अतः 'धातोः' (६।१।१६२) से 'पच्' धातु को उदात्त होकर 'शप्' के अनुदात्त अकार को 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से स्वरित होता है और स्वरित से उत्तर 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (१।२।३९) से अनुदात्त 'तस्' प्रत्यय एकश्रुति स्वर में रहता है। ऐसे ही 'पठ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से-पठतः।

ह्नुङ् और इङ् धातु का प्रतिषेध इसलिये किया है कि यहां 'ल-सार्वधातुक' को अनुदात्त न हो-ह्नुते, अधीते।

आद्युदात्तप्रकरणम्

आद्युदात्त-विकल्पः-

(३०) आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्।१८४।

प०वि०-आदिः १।१ सिचः ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सिचोऽन्यतरस्याम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-सिज्वतः शब्दस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति।

उदा०-मा हि कार्ष्टाम्, मा हि का॒र्ष्टाम्। एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरोऽन्तोदात्तः। मा हि लाविष्टाम्, मा हि ला॒विष्टाम्। एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरो मध्योदात्तः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(सिचः) सिच्वाले शब्द को (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-मा हि कार्ष्टाम्। मा हि का॒र्ष्टाम्। उन दोनों ने नहीं किया। यहां पहला सिच्वाला शब्द आद्युदात्त और दूसरा अन्तोदात्त है। मा हि लाविष्टाम्, मा हि ला॒विष्टाम्। उन दोनों ने नहीं काटा। यहां पहला सिच्वाला शब्द आद्युदात्त और दूसरा मध्योदात्त है।

सिद्धि-(१) मा हि कार्ष्टाम्। माङ्+कृ+लुङ्। मा+कृ+च्लि+ल्। मा+कृ+सिच्+तस्। मा+कृ+स्+ताम्। मा+कार्+ष्+टाम्। मा कार्ष्टाम्।

यहां 'कृ' धातु से 'लुङ्' प्रत्यय, इसे च्लि विकरण-प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में सिच् आदेश है। यह सिच्वाला 'कार्ष्टाम्' शब्द इस सूत्र से आद्युदात्त होता है। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से अट् आगम नहीं होता है। 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) से अंग को वृद्धि (आर्) होती है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से टुत्व होता है।

(२) मा हि का॒र्ष्टाम्। यहां विकल्प पक्ष में सिच्वाला 'कार्ष्टाम्' शब्द 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) से 'ताम्' प्रत्यय आद्युदात्त होकर, अन्तोदात्त होता है।

(३) मा हि लाविष्टाम्। यहां सिच्वाला 'लाविष्टाम्' शब्द इस सूत्र से आद्युदात्त है।

(४) मा हि ला॒विष्टाम्। लू+लुङ्। लू+च्लि+ल्। लू+सिच्+तस्। लू+इट्+स्+ताम्। लौ+इ+ष्+टाम्। लाविष्टाम्।

यहां 'सिच्' के चित् होने से 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त होकर इसे मध्योदात्त स्वर होता है-ला॒विष्टाम्। इट् आगम 'सिच्' का भक्त होने से यह 'आगमा अनुदात्ता भवन्ति' इस आप्त-वचन से अनुदात्त नहीं होता है।

आद्युदात्त-विकल्पः-

(३१) स्वपादिहिंसामच्यनिटि।१८५।

प०वि०-स्वपादि-हिंसाम् ६।१ अचि ७।१ अनिटि ७।१।

स०-स्वप आदिर्येषां ते स्वपादयः, स्वपादयश्च, हिंस् च ते स्वपादिहिंसः, तेषाम्-स्वपादिहिंसाम् (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न इड् विद्यते यस्य सः-अनिट्, तस्मिन्-अनिटि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, लसार्वधातुकम्, आदिः, अन्यतरस्याम् इति चानुवर्तते। 'लसार्वधातुकम्' इति चार्थवशादिह सप्तम्यां विपरिणम्यते।

अन्वयः-स्वपादिहिंसाम् अच्यनिटि लसार्वधातुकेऽन्तरस्याम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-स्वपादीनां हिंसेश्च धातोरजादावनिटि लसार्वधातुके प्रत्यये परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति, पक्षे च प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तो भवति।

उदा०-(स्वपादिः) स्वपन्ति, स्वपन्ति। श्वसन्ति, श्वसन्ति, इत्यादिकम्। **(हिंसः)** हिंसन्ति, हिंसन्ति।

ञिष्वप् शये। श्वस प्राणने। अन च। जक्ष भक्षहसनयोः। जागृ निद्राक्षये। दरिद्रा दुर्गतौ। चकासृ दीप्तौ। शासु अनुशिष्टौ। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः। वेवीङ् वेतिना तुल्ये। षस, सस्ति स्वप्ने। वश कान्तौ। चर्करीतं च। ह्नुङ् अपनयने। इति अदादिगणान्तर्गताः स्वपादयो धातवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्वपादिहिंसाम्) स्वप आदि तथा हिंस धातु को (अचि) अजादि (अनिटि) इट् से रहित (लसार्वधातुके) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है और पक्ष में प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त होता है।*

उदा०-(स्वपादि) स्वपन्ति, स्वपन्ति। वे सब सोते हैं। श्वसन्ति, श्वसन्ति। वे सब सांस लेते हैं इत्यादि। (हिंस) हिंसन्ति, हिंसन्ति। वे सब हिंसा करते हैं।

सिद्धि-(१) स्वपन्ति। स्वप्+लट्। स्वप्+झि। स्वप्+अन्ति। स्वप्+शप्+अन्ति। स्वप्+०+अन्ति। स्वपन्ति।

यहां 'ञिष्वप् शये' (अदा०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। इस सूत्र से अजादि, अनिट्, लसार्वधातुक झि (अन्ति) प्रत्यय परे होने पर 'स्वप्' धातु को आद्युदात्त होता है। ऐसे ही-श्वसन्ति, हिंसन्ति।

*(२) स्वपन्ति। यहां 'स्वप्' धातु विकल्प पक्ष में आद्युदात्त नहीं होता, अपितु **'आद्युदात्तश्च'** (३।१।३) से झि (अन्ति) आद्युदात्त होता है। अतः इस प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-श्वसन्ति, हिंसन्ति।*

आद्युदात्तः-

(३२) अभ्यस्तानामादिः।१८६।

प०वि०-अभ्यस्तानाम् ६।३ आदिः १।१।

अनु०-उदात्तः, लसार्वधातुकम्, अचि, अनिटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अभ्यस्तानाम् अच्यनिटि लसार्वधातुके आदिरुदात्तः।

अर्थः-अभ्यस्तानां धातूनाम् अजादावनिटि लसार्वधातुके प्रत्यये परत आदिरुदात्तो भवति। आदिरित्यनुवर्तमाने पुनरादिवचनं नित्यार्थं वेदितव्यम्।

उदा०-दर्दति, दर्दतु। दर्धति, दर्धतु। जक्षति, जक्षतु। जाग्रति, जाग्रतु।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अभ्यस्तानाम्) अभ्यस्त-संज्ञक धातुओं को (अचि) अजादि (अनिटि) इट् से रहित (लसार्वधातुके) ल-सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय पर होने पर (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है। 'आदि' पद की अनुवृत्ति में पुनः 'आदि' शब्द का कथन नित्यविधि के लिये है।*

उदा०-दर्दति। वे सब देते हैं। दर्दतु। वे सब देवें। दर्धति। वे सब धारण-पोषण करते हैं। दर्धतु। वे सब धारण-पोषण करें। जक्षति। वे सब खाते/हंसते हैं। जक्षतु। वे सब खावें/हंसें। जाग्रति। वे सब जागते हैं। जाग्रतु। वे सब जागें।

सिद्धि-(१) दर्दति। दा+लट्। दा+झि। दा+शप्+झि। दा-दा+०+अति। द-द्+अति। ददति।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' ३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय और उसे 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से श्लु (लोप) होता है। 'श्लौ' से 'दा' धातु को द्वित्व होता है। 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) से इसकी अभ्यस्त संज्ञा होने से इस सूत्र से इसे आद्युदात्त होता है। 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'झि' के 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है। 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व (अ) और 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से आकार का लोप होता है।

(२) दर्धति। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) जक्षति। 'जक्ष भक्षहसनयोः' (अदा०प०)। 'जक्षित्यादयः षट्' (६।१।६) से 'जक्ष' धातु की अभ्यस्त संज्ञा है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(४) जाग्रति। 'जागृ निद्राक्षये' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत्।

'ददतु' आदि प्रयोग लोट् लकार के हैं। उन्हें 'एरुः' (३।४।८६) से 'झि' प्रत्यय के इकार को उकार आदेश होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तः–

(३३) अनुदात्ते च।१८७।

प०वि०-अनुदात्ते ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-अविद्यमानमुदात्तं यस्मिँस्तद् अनुदात्तम्, तस्मिन्-अनुदात्ते (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, आदिः, लसार्वधातुकम्, अभ्यस्तानाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अभ्यस्तानाम् अनुदात्ते लसार्वधातुके चादिरुदात्तः।

अर्थः-अभ्यस्तानां धातूनामनुदात्ते लसार्वधातुके च प्रत्यये परत आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-ददाति। जहाति। दधाति। जिहीते। मिमीते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अभ्यस्तानाम्) अभ्यस्त धातुओं को (अनुदात्ते) उदात्त से रहित (लसार्वधातुके) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-ददाति। वह देता है। जहाति। वह छोड़ता है। दधाति। वह धारण-पोषण करता है। जिहीते। वह गति करता है। मिमीते। वह मांपता है।

सिद्धि-(१) ददाति। दा+लट्। दा+तिप्। दा+शप्+ति। दा+०+ति। दा-दा+ति। द-दा+ति। ददाति।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से लट् प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय और 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से उसको श्लु (लोप) होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से 'दा' धातु को द्वित्व होकर 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) से इसकी अभ्यस्त संज्ञा होती है। इस सूत्र से इस अभ्यस्त-संज्ञक धातु को अनुदात्त ल-सार्वधातुक 'तिप्' प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त होता है। 'तिप्' 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है।

(२) जहाति। हा+लट्। हा+तिप्। हा+शप्+ति। हा+०+ति। हा-हा+ति। ह+हा+ति। झ-हा+ति। ज-हा+ति। जहाति।

यहां 'ओहाक् त्यागे' (जु०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से हकार को चुत्व झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से जश् जकार होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत्।

(३) दधाति। धा+लट्। धा+तिप्। धा+शप्+ति। धा+०+ति। धा-धा+ति। ध-धा+ति। द-धा+ति। दधाति।

यहां 'डुधाञ् धारण-पोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास को जश् दकार होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(४) जिहीते। हा+लट्। हा+त। हा+शप्+त। हा+०+त। हा-हा+त। ह-हा+त। हि-ही+त। झि-ही+त। जि+ही+ते। जिहीते।

यहां 'ओहाङ् गतौ' (जु०आ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास के अकार को इत्व और 'जहातेश्च' (६।४।११६) से 'हा' को इत्व होता है। शेष कार्य 'जहाति' के समान है। 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८०) से ल-सार्वधातुक 'त' प्रत्यय अनुदात्त है। शेष स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(५) मिमीते। यहां 'माङ् माने' (दि०आ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास के अकार को इत्व और 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से 'मा' को ईत्व होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

अनुदात्त पद में बहुव्रीहि समास इसलिये किया है कि 'मा हि स्म दधात्' यहां तिप् प्रत्यय का लोप होने पर भी आद्युदात्त हो जाये क्योंकि यहां 'तिप्' का 'त्' उदात्त गुण से रहित है।

आद्युदात्तः–

(३४) सर्वस्य सुपि।१८८।

प०वि०-सर्वस्य ६।१ सुपि ७।१।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-सर्वस्य सुपि आदिरुदात्तः।

अर्थः-सर्व-शब्दस्य सुपि प्रत्यये परत आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-सर्वः। सर्वौ। सर्वे।

आर्यभाषाः अर्थ-(सर्वस्य) सर्व शब्द को (सुपि) सुप् प्रत्ययों के परे होने पर (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।

उदा०-सर्वः। एक सब ने। सर्वौ। दो सबों ने। सर्वे। सबों ने।

सिद्धि-सर्वः। सर्व+सु। सर्व+स्। सर्वः।

यहां 'सर्व' शब्द से सुप्-संज्ञक 'सु' प्रत्यय है। इसके परे होने पर 'सर्व' शब्द इस सूत्र से आद्युदात्त होता है। ऐसे ही-सर्वौ, सर्वे।

प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम्–

(३५) भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति।१८६।

प०वि०– भी-ह्री-भृ-हु-मद-जन-धन-दरिद्रा-जागराम् ६।३ प्रत्ययात् ५।१ पूर्वम् १।१ पिति ७।१।

स०–भीश्च ह्रीश्च भृश्च हुश्च मदश्च जनश्च धनश्च दरिद्राश्च जागृश्च ते-भी०जागरः तेषाम्-भी०जागराम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। प इद् यस्य स पित्, तस्मिन्-पिति (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, लसार्वधातुकम्, अभ्यस्तानाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अभ्यस्तानां भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां पिति लसार्वधातुके प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम्।

अर्थः–अभ्यस्तसंज्ञकानां भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां धातूनां पिति लसार्वधातुके प्रत्यये परतः प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति।

उदा०–(भीः) बिभेति। **(ह्रीः)** जिह्रेति। **(भृः)** बिभर्ति। **(हुः)** जुहोति। **(मदः)** ममत्तु नः परिज्मा (तै०सं० २।१।११।१)। **(जनः)** जजनदिन्द्रम् (तै०आ० ३।२।१)। **(धनः)** दधनत् (तै०ब्रा० २।८।३।५)। **(दरिद्राः)** दरिद्राति। **(जागृः)** जागर्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अभ्यस्तानाम्) अभ्यस्त-संज्ञक (भी०जागराम्) भी, ह्री, भृ, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ धातुओं को (पिति) पित् (लसार्वधातुके) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर (प्रत्ययात्) प्रत्यय से (पूर्वम्) पूर्ववर्ती अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-(भी) बिभेति। वह डरता है। (ह्री) जिह्रेति। वह लज्जा करती है। (भृ) बिभर्ति। वह धारण-पोषण करता है। (हु) जुहोति। वह यज्ञ करता है। (मद) ममत्तु नः परिज्मा (तै०सं० २।१।११।१)। ममत्तु=वह हर्षित करे। (जन) जजनदिन्द्रम् (तै०आ० ३।२।१)। जजनत्=वह उत्पन्न करे। (धन) दधनत् (तै०ब्रा० २।८।३।५)। वह धनी होते हैं। (दरिद्रा) दरिद्राति। वह दुर्गत होता है। (जागृ) जागर्ति। वह जागता है।

सिद्धि-बिभेति। *भी+लट्। भी+तिप्। भी+शप्+ति। भी+०+ति। भी-भी+ति। बि+भे+ति। बिभेति।*

यहां 'ञिभी भये' (जु०प०) धातु से लट्' प्रत्यय है। 'श्लौ' (६।१।१०) से 'भी' धातु को द्वित्व होकर 'उभे अभ्यस्ताम्' (६।१।५) से इसकी अभ्यस्त संज्ञा होती है। इस अभ्यस्त 'भी' धातु को पित्, ल-सार्वधातुक 'तिप्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'तिप्' प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है। 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व, 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास के भकार को जश् बकार होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से इगन्त अंग को गुण होता है।

(२) जिह्रेति। ह्री+लट्। ह्री+तिप्। ह्री+शप्+ति। ह्री+०+ति। ह्री-ह्री+ति। झि+ह्री+ति। जिह्रे+ति। जिह्रेति।

यहां 'ह्री लज्जायाम्' (जु०प०) धातु से लट् प्रत्यय है। 'श्लौ' (६।१।१०) से 'ह्री' को द्वित्व, 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) से 'ह्री' शेष, 'ह्रस्वः' ७।४।५९) से ह्रस्व 'हि' 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से हकार को कवर्ग झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से झकार को जश् जकार होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(३) बिभर्ति। भृ+लट्। भृ+तिप्। भृ+शप्+ति। भृ+० ति। भृ-भृ+ति। भि-भर्+ति। बि-भर्+ति। बिभर्ति।

यहां 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(४) जुहोति। हु+लट्। हु+तिप्। हु+शप्+ति। हु+०+ति। हु-हु+ति। झु-हु+ति। जु-हो+ति। जुहोति।

यहां 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके' (जु०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के हकार को चवर्ग झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से झकार को जश् जकार होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(५) ममत्तु। मद्+लोट्। मद्+तिप्। मद्+श्यन्+ति। मद्+०+ति। मद्-मद्+तु। म-मद्+तु। ममत्तु।

यहां 'मदी हर्षे' (दि०प०) धातु से 'लोट्' प्रत्यय है। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से छन्द में बहुलवचन से 'श्यन्' को 'श्लु' होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से मद् धातु को द्वित्व और 'एरुः' (३।४।८६) से 'तिप्' के इकार को उकार आदेश होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(६) जजनत्। जन्+लेट्। जन्+तिप्। जन्+श्यन्+ति। जन्+० अट्+ति। जन्-जन्+अ+त्। ज+जन्+अ+त्। जजनत्।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'लेट्' प्रत्यय है। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से छन्द में बहुल-वचन से 'श्यन्' विकरण प्रत्यय को 'श्लु' होकर 'श्लौ'

(६।१।१०) से 'जन्' धातु को द्वित्व होता है। 'लेटोऽडाटौ' (३।४।९४) से 'अट्' आगम 'इतश्च' (३।४।१००) से 'तिप्' के इकार का लोप होता है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) से आत्मनेपद धातु से व्यत्यय से परस्मैपद होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(७) दधनत्। यहां 'धन धान्ये' (जु०प०) धातु से 'लेट्' प्रत्यय है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५३) से अभ्यास के धकार को जश् दकार आदेश होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(८) दरिद्राति। यहां 'दरिद्रा दुर्गतौ' (अ०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(९) जागर्ति। यहां 'जागृ निद्राक्षये' (अ०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम्–

(३६) लिति।१६०।

वि०-लिति ७।१।

स०-ल इद् यस्य स लित्, तस्मिन्-लिति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, प्रत्ययात्, पूर्वम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लिति प्रत्ययात् पूर्वम् उदात्तम्।

अर्थः-लिति=लकारेत्संज्ञके शब्दे प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति।

उदा०-चिकीर्षकः। जिहीर्षकः। भौरिकिविधम्। भौलिकिविधम्। ऐषुकारिभक्तम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लिति) लकार इत्संज्ञावाले शब्द में (प्रत्ययात्) प्रत्यय से (पूर्वम्) पूर्ववर्ती अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-चिकीर्षकः। करने का इच्छुक। जिहीर्षकः। हरने का इच्छुक। भौरिकिविधम्। भौरिकि जनों का देश। भौलिकिविधम्। भौलिकि जनों का देश। ऐषुकारिभक्तम्। ऐषुकारि जनों का देश।

सिद्धि-चिकीर्षकः। चिकीर्ष+ण्वुल्। चिकीर्ष+वु। चिकीर्ष्+अक। चिकीर्षक+सु। चिकीर्षकः।

यहां सन्नन्त 'चिकीर्ष' धातु से 'ण्वुलतृचौ' (३।१।१३३) से 'ण्वुल्' प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से इस सूत्र से 'चिकीर्षकः' इस पद में प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है। ऐसे ही-जिहीर्षकः।

(२) भौरिकिविधम्। भौरिकि+विधल्। भौरिकि+विध। भौरिकिविध+सु। भौरिकिविधम्।

यहां भौरिकि शब्द से विषय (देश) अर्थ में 'भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ' (४।२।५४) से 'विधल्' प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है। ऐसे ही-भौलिकिविधम्।

(३) ऐषुकारिभक्तम्। ऐषुकारि+भक्तल्। ऐषुकारि+भक्त। ऐषुकारिभक्त+सु। ऐषुकारिभक्तम्।

यहां 'ऐषुकारि' शब्द से विषय (देश) अर्थ में पूर्ववत् 'भक्तल्' प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से 'ऐषुकारिभक्तम्' इस पद में प्रत्यय से पूववर्ती अच् उदात्त होता है।

प्रत्ययात् पूर्वमुदात्त-विकल्पः-

(३७) आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्।१६१।

प०वि०-आदिः १।१ णमुलि ७।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-धातोणर्मुल्यन्यतरस्यामादिरुदात्तः।

अर्थः-धातोर्णमुलि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति, पक्षे च प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति।

उदा०-लोलूयंलोलूयम्, लोलूयंलोलूयम्। पोपूयंपोपूयम्, पोपूयं-पोपूयम्।

आर्यभाषाः *अर्थः-{धातोः} धातु को (णमुलि) णमुल् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

*उदा०-**लोलूयंलोलूयम्**। पुनः पुनः/अधिक काट-काटकर। **लोलूयंलोलूयम्**। अर्थ पूर्ववत् है। **पोपूयंपोपूयम्**। पुनः पुनः/अधिक पवित्र-पवित्र करके। **पोपूयंपोपूयम्**। अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-लोलूयंलोलूयम्। लू+यङ्। लूय-लूय। लो-लूय। लोलूय+णमुल्। लोलूय+अम्। लोलूयम्। लोलूयंलोलूयम्।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से प्रथम 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय है। यङन्त 'लोलूय' धातु से 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से 'णमुल्' प्रत्यय है। वा०-'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' (८।१।१२) से द्वित्व होता है। 'तस्य परमाम्रेडितम्' (८।१।२) द्विरुक्त के परवर्ती शब्द रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है और वह 'अनुदात्तं च' (८।१।३) से अनुदात्त होता है। इस सूत्र से 'लोलूय' धातु को णमुल् प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त होता है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) से शेष पद अनुदात्त और 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर

अनुदात्त को स्वरित होता है। 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (१।२।३९) से स्वरित से उत्तर समस्त अनुदात्तों की एकश्रुति होती है।

(२) लोलूयंलोलूयम्। यहां विकल्प पक्ष में 'णमुल्' प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है। शेष स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

ऐसे ही 'पूञ् पवने' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्-पोपूयंपोपूयम्, पोपूयंपोपूयम्।

आद्युदात्त-विकल्पः–

(३८) अचः कर्तृयकि।१६२।

प०वि०-अच: ५।१ कर्तृ-यकि ७।१।

स०-कर्तरि विहितो यक्-कर्तृयक्, तस्मिन्-कर्तृयकि (सप्तमी-तत्पुरुषः)।

अनु०-**'आदेच उपदेशेऽशिति'** (६।१।४४) इत्यस्माद् 'उपदेशे' इति पदं मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवर्तनीयम्। उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपदेशेऽचः कर्तृयकि अन्यतरस्यामादिरुदात्तः।

अर्थः-उपदेशे येऽजन्ता धातवस्तेषां कर्तृवाचिनि यकि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति, पक्षे च **'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०'** (६।१।१८०) इति लसार्वधातुकमनुदात्तं भवति।

उदा०-लूयते केदारः स्वयमेव, लूयते केदारः स्वयमेव। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) पाणिनि मुनि के उपदेश में (अजन्ताः) जो अजन्त धातु हैं उन्हें (कर्तृयकि) कर्तृवाची यक् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-लूयते केदारः स्वयमेव, लूयते केदारः स्वयमेव। केदार=खेत स्वयं ही कट रहा है। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव। केदार=खेत स्वयं ही आच्छादित हो रहा है।

सिद्धि-(१) लूयते। लू+लट्। लू+त। लू+यक्+त। लू+य+ते। लूयते।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से कर्मकर्तृवाच्य में लट् प्रत्यय है। कर्मवद्भाव से 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से यक् विकरण-प्रत्यय है। अतः कर्मकर्तृवाची 'यक्' प्रत्यय परे होने पर अजन्त 'लू' धातु को इस सूत्र से आद्युदात्त होता है।

(२) स्तीर्यते। यहां 'स्तॄञ् आच्छादने' (क्र्या०उ०) धातु से लट् प्रत्यय और पूर्ववत् यक् विकरण-प्रत्यय है। 'ऋत इद् धातोः' (७।१।१००) से इत्त्व और इसे 'हलि च' (८।२।७७) से दीर्घ होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(३) लूयते। यहां विकल्प पक्ष में 'तास्यनुदात्तेन्ङिन्ददुपदेशात्०' (६।१।१८०) से ल-सार्वधातुक 'त' प्रत्यय अनुदात्त होता है। 'यक्' विकरण-प्रत्यय 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) से उदात्त है। अतः 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से अनुदात्त को स्वरित आदेश होता है।

(४) स्तीर्यते। 'स्तॄञ् आच्छादने' (क्र्या०उ०) धातु से विकल्प पक्ष में पूर्ववत्।

आद्युदात्तादि-विकल्पः–

(३६) थलि च सेटीडन्तो वा।१६३।

प०वि०–थलि ७।१ च अव्ययपदम्, सेटि ७।१ इट् १।१ अन्तः १।१ वा अव्ययपदम्।

स०–इटा सह वर्तते इति सेट्, तस्मिन्–सेटि (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, आदिः, अन्यतरस्याम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–सेटि थलि इड् च उदात्तः, अन्तो वाऽऽदिरन्यतरस्याम्।

अर्थः–सेटि थलि च इडुदात्तो भवति, विकल्पेन चादिरुदात्तो भवति। पक्षे च 'लिति' इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति।

उदा०–(इट्–उदात्तः) लुलविथ। (अन्तोदात्तः) लुलविथ। (आद्युदात्तः) लुलविथ। (प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम्) लुलविथ। एवं पर्यायेण चत्वार उदात्ता भवन्ति।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(सेटि) इट्-सहित वाले (थलि) थलन्त पद में (च) भी (इट्) इट् (उदात्तः) उदात्त होता है और (वा) अथवा (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है और (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है और पक्ष में 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् (उदात्तः) उदात्त होता है। इस प्रकार पर्याय से चार उदात्त होते हैं।*

उदा०–(इट्–उदात्त) लुलविथ। (अन्तोदात्त) लुलविथ। (आद्युदात्त) लुलविथ। (प्रत्यय से पूर्व उदात्त) लुलविथ। तूने काटा।

सिद्धि–लुलविथ। लू+लिट्। लू+सिप्। लू+थल्। लू-लू+इट्+थ। लू-लो+इ+थ। लुलविथ।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'सिप्' आदेश 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'सिप्' के स्थान में 'थल्' आदेश है। 'कृसृभृ०' (७।२।१३) इस कृ-आदि नियम से थल् को इट् आगम होता है। 'लुलविथ' इस सेट् थलन्त पद में प्रथम 'इट्' उदात्त होता है-लुलविथ। तत्पश्चात् यह अन्तोदात्त होता है-लुलविथ। पुनः यह विकल्प से आद्युदात्त होता है-लुलविथ। विकल्प पक्ष में 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है-लुलविथ। इस प्रकार यहां पर्याय से चार उदात्त होते हैं।

नित्यमाद्युदात्तः-

(४०) ञ्नित्यादिर्नित्यम्।१६४।

प०वि०-ञ्निति ७।१ आदिः १।१ नित्यम् १।१।

स०-ञश्च नश्च तौ ञ्नौ, इच्च इच्च तौ-इतौ, ञ्नौ इतौ यस्य स ञ्नित्, तस्मिन्-ञ्निति (इतरेतरद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ञ्निति नित्यमादिरुदात्तः।

अर्थः-ञित्प्रत्ययान्ते नित्प्रत्ययान्ते च पदे नित्यमादिरुदात्तो भवति। प्रत्ययस्वरापवादोऽयम्।

उदा०-(ञित्) गार्ग्यः, वात्स्यः। **(नित्)** वासुदेवकः, अर्जुनकः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(ञ्निति) ञित्-प्रत्ययान्त और नित्-प्रत्ययान्त पद में (नित्यम्) सदा (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(ञित्) गार्ग्यः। गर्ग का पौत्र। वात्स्यः। वत्स का पौत्र। (नित्) वासुदेवकः। वासुदेव=कृष्ण का सेवक। अर्जुनकः। अर्जुन का सेवक।

सिद्धि-(१) गार्ग्यः। गर्ग+यञ्। गार्ग्+य। गार्ग्य+सु। गार्ग्यः।

यहां 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से 'यञ्' प्रत्यय है। इस ञित्-प्रत्ययान्त पद को इस सूत्र से नित्य आद्युदात्त होता है। ऐसे ही 'वत्स' शब्द से-वात्स्यः।

(२) वासुदेवकः। वासुदेव+कन्। वासुदेव+क। वासुदेवक+सु। वासुदेवकः।

यहां 'वासुदेव' शब्द से 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४।१।९८) से 'वुन्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। इस नित्-प्रत्ययान्त पद को इस सूत्र से नित्य आद्युदात्त होता है।

आद्युदात्तः-

(४१) आमन्त्रितस्य च।१६५।

प०वि०-आमन्त्रितस्य ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-आमन्त्रितस्य चादिरुदात्तः।

अर्थः-आमन्त्रितस्य पदस्य चादिरुदात्तो भवति।

उदा०-दे॑वदत्त ! दे॑वदत्तौ ! दे॑वदत्ताः !

आर्यभाषाः *अर्थ-(आमन्त्रितस्य) आमन्त्रित=सम्बोधन के पद को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-दे॑वदत्त ! हे एक देवदत्त ! दे॑वदत्तौ। हे दो देवदत्तो ! दे॑वदत्ताः। हे सब देवदत्तो !

सिद्धि-दे॑वदत्त ! देवदत्त+सु। देवदत्त+०। देवदत्त !

यहां देवदत्त' शब्द से प्रथमा-एकवचन 'सु' प्रत्यय है। 'साऽऽमन्त्रितम्' (२।३।४८) से प्रथमा-विभक्ति की आमन्त्रित संज्ञा भी है और उसके एकवचन की 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (२।३।४९) से सम्बुद्धि संज्ञा भी होती है। 'एङ्ह्स्वात् सम्बुद्धेः' (६।१।६७) से सम्बुद्धि-संज्ञक 'सु' का लोप होता है। देवदत्त ! इस आमन्त्रित पद को इस सूत्र से आद्युदात्त होता है। 'कारकाद् दत्तश्रुतयोरेवाशिषि' (६।२।१४८) से प्राप्त अन्तोदात्त स्वर नहीं होता है। ऐसे ही-दे॑वदत्तौ ! दे॑वदत्ताः !

आद्युदात्तः-

(४२) पथिमथोः सर्वनामस्थाने।१६६।

प०वि०-पथि-मथोः ६।२ सर्वनामस्थाने ७।१।

स०-पन्थाश्च मन्थाश्च तौ पथिमन्थानौ, तयोः-पथिमथोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-पथिमथोः सर्वनामस्थाने आदिरुदात्तः।

अर्थः-पथिमथिशब्दयोः सर्वनामस्थाने प्रत्यये परत आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-(पथिन्) पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। (मथिन्) मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पथिमथोः) पथिन्, मथिन् शब्दों को (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(पथिन्) पन्थाः। एक मार्ग। पन्थानौ। दो मार्ग। पन्थानः। सब मार्ग। (मथिन्) मन्थाः। एक रई। मन्थानौ। दो रइयां। मन्थानः। सब रइयां (दूध बिलोने का उपकरण)।

सिद्धि-(१) पन्थाः। पथिन्+सु। पथि आ+स्। पथ् अ। आ+स्। पन्थ् अ। आ+स्। प न्थ् अ आ+स्। पन्थास्। पन्थाः।

यहां 'पथिन्' शब्द से सर्वनामस्थान-संज्ञक 'सु' प्रत्यय है। इस सूत्र में से 'पथिन्' शब्द को आद्युदात्त होता है। 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (७।१।८५) से 'पथिन्' के नकार को आकार आदेश, 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'पथिन्' के इकार को अकार आदेश और 'थो न्थः' (७।१।८७) से थकार के स्थान में 'न्थ' आदेश होता है। ऐसे ही पन्थानौ, पन्थानः।

(२) मन्थाः। 'मथिन्' शब्द से पूर्ववत्। ऐसे ही-मन्थानौ, मन्थानः।

यहां 'पतॢ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से 'पतस्थ च' (उणा० ४।१२) से 'इनि' प्रत्यय करने पर 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है। 'मन्थ विलोडने' (भ्वा० प०) धातु से 'मन्थः' (उणा० ४।११) से इनि प्रत्यय करने पर 'मथिन्' शब्द सिद्ध होता है। ये दोनों शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त हैं। इस सूत्र से सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त स्वर विधान किया गया है। 'सुडनपुंसकस्य' (१।१।४२) से सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पांच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा है।

युगपदाद्यन्तोदात्तः–

(४३) अन्तश्च तवै युगपत्।१६७।

प०वि०-अन्तः १।१ च अव्ययपदम्, तवै ६।१ (लुप्तषष्ठीनिर्देशः) युगपत् अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तवै आदिश्चान्तश्च युगपद् उदात्तः।

अर्थः-तवै-प्रत्ययान्तस्य शब्दस्यादिश्चान्तश्च युगपद् उदात्तो भवति।

उदा०-कर्तवै, हर्तवै। प्रत्ययाद्युदात्तस्वरापवादः।

आर्यभाषाः *अर्थः-(तवै) तवै-प्रत्ययान्त शब्द को (आदिः) आदि और (अन्तः) अन्त को (युगपत्) एक साथ (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-कर्तवै। करने के लिये। हर्तवै। हरने के लिए।

सिद्धि-कर्तवै। कृ+तवै। कर्+तवै। कर्तवै+सु। कर्तवै+०। कर्तवै।

यहां 'कृ' धातु से 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (३।४।१४) से 'तवै' प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से इगन्त अंग (कृ) को गुण होता है। इस सूत्र से तवै-प्रत्ययान्त 'कर्तवै' शब्द युगपत्=एकदम आद्युदात्त और अन्तोदात्त होता है। अतः यहां युगपत्-वचन से 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५३) इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्' (८।४।६७) से स्वरित का प्रतिषेध होने से 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६६) से अनुदात्त को स्वरित आदेश नहीं होता है।

आद्युदात्तः-

(४४) क्षयो निवासे।१६८।

प०वि०-क्षयः १।१ निवासे ७।१।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-निवासे क्षय आदिरुदात्तः।

अर्थः-निवासेऽर्थे क्षयशब्द आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-क्षयन्ति=निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः (निवासः)। क्षये (जागृहि प्रपश्यन्) (ऋ० १०।११८।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(निवासे) निवास अर्थ में विद्यमान (क्षयः) क्षय शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-क्षये (जागृहि प्रपश्यन्) (ऋ० १०।११८।१)। निवासे इति किम् ? क्षयो वर्तते दस्यूनाम्।

सिद्धि-क्षयः। क्षि+घ। क्षे+अ। क्षय्+अ। क्षय+सु। क्षयः।

यहां 'क्षि निवासगत्योः' (तु.प.) धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) से 'घ' प्रत्यय है। निवास अर्थ में विद्यमान 'क्षय' शब्द इस सूत्र से आद्युदात्त होता है। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था। जहां निवास अर्थ नहीं है वहां अन्तोदात्त होता है-क्षयः।

आद्युदात्तः–

(४५) जयः करणम्।१९९।

प०वि०–जयः १।१ करणम् १।१।

अनु०–उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–करणं जय आदिरुदात्तः।

अर्थः–करणवाची जयशब्द आदिरुदात्तो भवति।

उदा०–जयन्ति येनेति–जयः। जयोऽश्वः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(करणम्) करणवाची (जयः) जय शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०–जिससे युद्ध को जीतते हैं वह (घोड़ा)–जय। जयोऽश्वः। ***करणमिति किम्?*** *जयो वर्तते ब्राह्मणानाम्।*

सिद्धि–जयः। जि+घ। जे+अ। जय्+अ। जय+सु। जयः।

यहां 'जि (ज्रि) अभिभवे' (भ्वा०प०) धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) से 'घ' प्रत्यय है। करणवाची 'जय' शब्द इस सूत्र से आद्युदात्त होता है। प्रत्ययस्वर से अन्दोदात्त प्राप्त था। जहां जय शब्द करणवाची नहीं है वहां अन्तोदात्त होता है–जयः। जयो वर्तते ब्राह्मणानाम्। ब्राह्मणों की जीत है। यहां 'एरच्' (३।४।८६) से 'अच्' प्रत्यय है।

आद्युदात्तः–

(४६) वृषादीनां च।२००।

प०वि०–वृष-आदीनाम् ६।३ च अव्ययपदम्।

स०–वृष आदिर्येषां ते वृषादयः, तेषाम्–वृषादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–वृषादीनां चादिरुदात्तः।

अर्थः–वृषादीनां शब्दानां चादिरुदात्तो भवति।

उदा०–वृषः। जनः। ज्वरः। ग्रहः। हयः। गयः, इत्यादिकम्।

वृषः। जनः। ज्वरः। ग्रहः। हयः। गयः। नयः। तयः। पयः वेदः। अंशः। दवः। सूदः। गुहा। शमरणौ संज्ञायां सम्मतौ भावकर्मणोः।

मन्त्रः । शान्तिः । कामः । यामः । आरा । धारा । कारा । वहः । कल्पः । पादः । आकृतिगणोऽयम् । अविहितलक्षणमाद्युदात्तत्वं वृषादिषु द्रष्टव्यम् ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वृषादीनाम्) वृष-आदि शब्दों को (च) भी (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-वृषः। बैल। जनः। मनुष्य। ज्वरः। बुखार। ग्रहः। सूर्य की परिक्रमा करनेवाला तारा। हयः। घोड़ा। गयः। एक राजर्षि का नाम, इत्यादि।

सिद्धि-(१) वृषः। वृष्+अच्। वृष्+अ। वृष+सु। वृषः।

यहां 'वृषु सेचने' (भ्वा०प०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि 'अच्' प्रत्यय है। 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त प्राप्त था, इस सूत्र से आद्युदात्त होता है।

(२) जनः। 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) पूर्ववत्।

(३) ज्वरः। 'ज्वर रोगे' (भ्वा०प०) पूर्ववत्।

(४) ग्रहः। 'ग्रह उपादने' (क्र्या०उ०) पूर्ववत्।

(५) हयः। 'हि गतौ वृद्धौ च' (स्वा०प०) पूर्ववत्।

(६) गयः। 'गै शब्दे' (भ्वा०प०) 'गै' को निपातन से एत्व (गे) होता है। पूर्ववत्।

आद्युदात्तः-

(४७) संज्ञायामुपमानम्।२०१।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१ उपमानम् १।१।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायामुपमानमादिरुदात्तम्।

अर्थः-संज्ञायां विषये उपमानवाची शब्द आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-चञ्चा इव मनुष्यः-चञ्चा। दासी इव मनुष्यः-दासी। खरकुटी इव मनुष्यः-खरकुटी। वध्रिका इव मनुष्यः-वध्रिका।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (उपमानम्) उपमानवाची शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-चञ्चा इव मनुष्यः-चञ्चा। *तृण के समान निर्बल मनुष्य-चञ्चा।* ***दासी इव मनुष्यः-दासी।*** *दासी के समान गरीब मनुष्य-दासी।* ***खरकुटी इव मनुष्यः-खरकुटी।***

गर्दभशाला के समान मलिन मनुष्य-खरकुटी। वध्रिका इव मनुष्यः-वध्रिका। वध्रिका= चमड़े के तसमे के समान सुदृढ़ मनुष्य-वध्रिका।

सिद्धि-चञ्चा। चञ्चा+कन्। चञ्चा+०। चञ्चा+सु। चञ्चा+०। चञ्चा।

यहां उपमानवाची 'चञ्चा' शब्द इस सूत्र से संज्ञा विषय में आद्युदात्त होता है। 'लुम्मनुष्ये' (५।३।१९८) से विहित 'कन्' प्रत्यय का लुप् होता है। ऐसे ही-दासी, खरकुटी, वध्रिका।

आद्युदात्तः-

(४८) निष्ठा च द्व्यजनात्।२०२।

प०वि०-निष्ठा १।१ च अव्ययपदम्, द्व्यच् १।१ अनात् १।१।

स०-द्वावचौ यस्मिँस्तद्-द्व्यच् (बहुव्रीहिः)। न आत्-अनात् (नञ्-तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, आदिः, संज्ञायाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां निष्ठा च द्व्यज् आदिरुदात्तः, अनात्।

अर्थः-संज्ञायां विषये निष्ठान्तश्च द्व्यच्-शब्द आदिरुदात्तो भवति, स चेदादिराकारो न भवति।

उदा०-दत्तः, गुप्तः, बुद्धः, अनादिति किम् ? त्रातः, आप्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (निष्ठा) निठान्त (द्व्यच्) दो अचोंवाला शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है (अनात्) यदि उस निष्ठा के आदि में आकार न हो।*

उदा०-दत्तः। दिया हुआ। गुप्तः। रक्षा किया हुआ। बुद्धः। समझा हुआ। 'अनात्' का कथन इसलिये है कि यहां आद्युदात्त न हो-त्रातः। पालन किया हुआ। आप्तः। पहुंचा हुआ।

सिद्धि-दत्तः। दा+क्त। दद्+त। दत्+त। दत्त+सु। दत्तः।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१।१।२५) से 'क्त' प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा है। इस सूत्र से दो अचोंवाला, निष्ठान्त 'दत्त' शब्द आद्युदात्त होता है। 'दो दद् घोः' (७।४।४६) से 'दा' के स्थान में 'दद्' आदेश होता है। 'खरि च' (८।४।५४) से 'दद्' के दकार को चर् तकार आदेश होता है।

(२) गुप्तः। 'गुपू रक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) बुद्धः। 'बुध अवगमने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

आद्युदात्तः-

(४९) शुष्कधृष्टौ।२०३।

प०वि०-शुष्क-धृष्टौ १।२।

स०-शुष्कश्च धृष्टश्च तौ-शुष्कधृष्टौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, आदिः-निष्ठा इति चानुवर्तते।

अनु०-निष्ठा शुष्कधृष्टावादिरुदात्तौ।

अर्थः-निष्ठान्तौ शुष्कधृष्टौ शब्दावादिरुदात्तौ भवतः। असंज्ञार्थः सूत्रारम्भः।

उदा०-शुष्कः। धृष्टः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(निष्ठा) निष्ठान्त (शुष्कधृष्टौ) शुष्क, धृष्ट शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-शुष्कः। सूखा हुआ। धृष्टः। चतुर बना हुआ।

सिद्धि-(१) शुष्कः। शुष्+क्त। शुष्+क। शुष्क+सु। शुष्कः।

यहां 'शुष शोषणे' (दि० प०) धातु से पूर्ववत् निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'शुषः कः' (८।२।५१) से 'निष्ठा' के तकार को ककार आदेश होता है। इस सूत्र से निष्ठान्त 'शुष्क' शब्द आद्युदात्त होता है। 'शुषः कः' (८।२।५१) यह त्रिपादी का है। उसे इस स्वर-कार्य में असिद्ध मानकर इसका निष्ठान्तत्व सिद्ध होता है।

(२) धृष्टः। धृष्+क्त। धृष्+त। धृष्+ट। धृष्ट+सु। धृष्टः।

यहां 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' (स्वा० प०) धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक क्त प्रत्यय है। 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से 'क्त' के तकार को टुत्व होता है। 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) त्रिपादी का है। इसे यहां असिद्ध मानकर इसका निष्ठान्तत्व सिद्ध होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तः-

(५०) आशितः कर्ता।२०४।

प०वि०-आशितः १।१ कर्ता १।१।

अनु०-उदात्तः, आदिः, निष्ठा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्ता निष्ठा आशित आदिरुदात्तः।

अर्थः-कर्तृवाची निष्ठान्त आशितः शब्द आदिरुदात्तो भवति।

उदा०-आशितो देवदत्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्ता) कर्तृवाची (निष्ठा) निष्ठा-प्रत्ययान्त (आशितः) आशित शब्द (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-आशितो देवदत्तः। देवदत्त ने भोजन किया।

सिद्धि-आशितः। आङ्+अश्+क्त। आ+अश्+इट्+त। आ+अश्+इ+त। आशित+सु। आशितः।

यहां आङ्-उपसर्गपूर्वक 'अश भोजने' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'गत्यर्थाकर्मक०' (३।४।७२) से 'क्त' प्रत्यय कर्ता में है। इस सूत्र से कर्तृवाची निष्ठान्त 'आशित' शब्द आद्युदात्त होता है। 'थाथघञ्क्त०' (६।२।१४४) से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था।

आद्युदात्त-विकल्पः–

(५१) रिक्ते विभाषा।२०५।

प०वि०-रिक्ते ७।१ विभाषा १।१।

अनु०-उदात्तः, आदिः, निष्ठा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-निष्ठा रिक्ते विभाषा आदिरुदात्तः।

अर्थः-निष्ठान्ते रिक्ते शब्दे विकल्पेनादिरुदात्तो भवति।

उदा०-रिक्तः, रिक्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(निष्ठा) निष्ठा-प्रत्ययान्त (रिक्ते) रिक्त शब्द में (विभाषा) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-रिक्तः, रिक्तः। यह किसी पुरुष की संज्ञा (नाम) है।

सिद्धि-रिक्तः। रिच्+क्त। रिच्+त। रिक्+त। रिक्त+सु। रिक्तः।

यहां 'रिचिर् विरेचने' (रु०उ०) धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'निष्ठा च द्व्यजनात्' (६।१।२०१) से नित्य आद्युदात्त स्वर प्राप्त था। इस सूत्र से विकल्प-विधान किया गया है। पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्दोदात्त होता है-रिक्तः। 'चोः कु' (८।२।३०) से 'रिच्' के चकार को कुत्व होता है।

आद्युदात्त-विकल्पः–

(५२) जुष्टार्पिते च च्छन्दसि।२०६।

प०वि०-जुष्ट-अर्पिते १।२ च अव्ययपदम्, छन्दसि ७।१।

स०-जुष्टं च अर्पितं च ते-जुष्टार्पिते (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, आदिः, निष्ठा, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि निष्ठा जुष्टार्पिते च विभाषा आदिरुदात्ते।

अर्थः-छन्दसि विषये निष्ठान्तौ जुष्टार्पितौ शब्दौ विकल्पेनादिरुदात्तौ भवतः।

उदा०-(जुष्टः) जुष्टः, जुष्टः। (अर्पितः) अर्पितः, अर्पितः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (निष्ठा) निष्ठान्त (जुष्टार्पिते) जुष्ट और अर्पित शब्द (विभाषा) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आदि उदात्त होते हैं।*

उदा०-जुष्टः। प्रिय/सेवित। अर्पितः। भेंट किया गया।

सिद्धि-(१) जुष्टः। जुष्+क्त। जुष्+त। जुष्+ट। जुष्ट+सु। जुष्टः।

यहां 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' (तु० आ०) धातु से पूर्ववत् निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४०) से 'क्त' के तकार को टुत्व टकार होता है। इस सूत्र से निष्ठान्त 'जुष्ट' शब्द छन्दविषय में आद्युदात्त होता है। और विकल्प-पक्ष में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होता है-जुष्टः। लौकिकभाषा में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त ही होता है-जुष्टः।

(२) अर्पितः। ऋ+णिच्। ऋ+पुक्+इ। अरप्+इ। अरप्+इ+त। अर्पित+सु। अर्पितः।

यहां 'ऋ गतौ' (जु०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय है। 'अर्तिह्री०' (७।३।३६) से 'णिच्' परे होने पर 'ऋ' धातु को 'पुक्' आगम होता है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'ऋ' धातु को पुगन्तलक्षण गुण (अर्) होता है। इस सूत्र से निष्ठान्त 'अर्पित' शब्द छन्दविषय में आद्युदात्त होता है। शेष स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तः-

(५३) नित्यं मन्त्रे।२०७।

प०वि०-नित्यम् १।१ मन्त्रे ७।१।

अनु०-उदात्तः, आदिः, निष्ठा, जुष्टार्पिते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मन्त्रे निष्ठा जुष्टार्पिते नित्यमादिरुदात्ते।

अर्थः-मन्त्रे विषये निष्ठान्तौ जुष्टार्पितौ शब्दौ नित्यमादिरुदात्तौ भवतः।

उदा०-(जुष्टम्) जुष्टं देवानाम्। (अर्पितम्) अर्पितं पितॄणाम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मन्त्रे) मन्त्र विषय में (निष्ठा) निष्ठा-प्रत्ययान्त (जुष्टार्पिते) जुष्ट और अर्पित शब्द (नित्यम्) सदा (अदिः, उदात्तः) आदि उदात्त होते हैं।*

उदा०-जुष्टं देवानाम्। देवों की सेवा करना। अर्पितं पितॄणाम्। पितरजनों को अर्पण करना।

सिद्धि-जुष्टम् और अर्पितम् शब्दों की सिद्धि पूर्ववत् है। यहां मन्त्र विषय में इन्हें नित्य आद्युदात्त स्वर विधान किया गया है।

आद्युदात्तः-

(५४) युष्मदस्मदोर्ङसि।२०८।

प०वि०-युष्मदस्मदोः ६।२ ङसि ७।१।

स०-युष्मच्च अस्मच्च तौ युष्मदस्मदौ, तयोः-युष्मदस्मदोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-ङसि युष्मदस्मदोरादिरुदात्तः।

अर्थः-ङसि प्रत्यये परतो युष्मदस्मदोः शब्दयोरादिरुदात्तो भवति।

उदा०-(युष्मद्) तव स्वम्। (अस्मद्) मम स्वम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ङसि) ङस् प्रत्यय परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(युष्मद्) तव स्वम्। तेरा धन। (अस्मद्) मम स्वम्। मेरा धन।

सिद्धि-(१) तव। युष्मद्+ङस्। युष्मद्+अश्। तव अद्+अ। तव+अ। तव।

यहां युष्मद् शब्द से 'ङस्' प्रत्यय है। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'ङस्' के स्थान में 'अश्' आदेश, 'तवममौ ङसि' (७।२।९६) से 'युष्मद्' के म-पर्यन्त के स्थान में 'तव' आदेश 'शेषे लोपः' (७।२।९०) 'अद्' भाग का लोप और 'अतो गुणे' (६।१।९५) से पररूप एकादेश होता है। इस सूत्र से युष्मद् (तव) शब्द ङस् प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त होता है। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था।

(२) मम। 'अस्मद्' शब्द से 'ङस्' प्रत्यय करने पर समस्त कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तः-

(५५) ङयि च।२०६।

प०वि०-ङयि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, आदिः, युष्मदस्मदोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-ङयि च युष्मदस्मदोरादिरुदात्तः।

अर्थः-ङयि च प्रत्यये परतो युष्मदस्मदोः शब्दयोरादिरुदात्तो भवति।

उदा०-(युष्मद्) तुभ्यम्। **(अस्मद्)** मह्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ङयि) ङे-प्रत्यय परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(युष्मद्) तुभ्यम्। तेरे लिये। (अस्मद्) मह्यम्। मेरे लिये।

सिद्धि-(१) तुभ्यम्। युष्मद्+ङे। युष्मद्+अम्। तुभ्य अद्+अम्। तुभ्य+अम्। तुभ्यम्।

यहां युष्मद् शब्द से 'ङे' प्रत्यय है। 'ङेप्रथमयोरम्' (७।१।२८) से 'ङे' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है। 'तुभ्यमह्यौ ङयि' (७।२।९५) से युष्मद के म-पर्यन्त के स्थान में 'तुभ्य' आदेश होता है। 'शेषे लोपः' (७।२।९०) से 'अद्' भाग का लोप और अतो गुणे (६।१।९७) से पररूप एकादेश होता है। इस सूत्र से युष्मद् (तुभ्यम्) शब्द 'ङे' प्रत्यय परे होने पर आद्युदात्त होता है। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था।

(२) मह्यम्। 'अस्मद्' शब्द से 'ङे' प्रत्यय परे होने पर समस्त कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तः-

(५६) यतोऽनावः।२१०।

प०वि०-यतः ६।१ अनावः ६।१।

स०-न नौः-अनौः, तस्याः- अनावः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, आदिः, **'निष्ठा च द्व्यजनात्'** (६।१।१९९) इत्यतश्च 'द्व्यच्' इति मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवर्तते।

अन्वयः-अनावो यतो द्व्यच आदिरुदात्तः।

अर्थः-अनावः=नौवर्जितस्य यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यचः शब्दस्यादिरुदात्तो भवति।

उदा०-चेयम्। जेयम्। कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम्। **'तित्स्वरितम्'** (६।१।१७९) इत्यस्यायमपवादः। अनाव इति किम्? नाव्यम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अनावः) नौ शब्द से भिन्न (यतः) यत्-प्रत्ययान्त (द्व्यचः) दो अचोंवाले शब्द को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-चेयम्। चुनने योग्य। जेयम्। जीतने योग्य। कण्ठ्यम्। कण्ठ में होनेवाला। ओष्ठ्यम्। ओष्ठों में होनेवाला।

सिद्धि-(१) चेयम्। चि+यत्। चे+य। चेय+सु। चेयम्।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से इगन्त अंग 'चि' को गुण होता है। इस सूत्र से यत्-प्रत्ययान्त, दो अचोंवाला 'चेयम्' शब्द आद्युदात्त होता है। 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से स्वरित प्राप्त था। ऐसे ही-'जि जये' (भ्वा० प०) धातु से-जेयम्।

(२) कण्ठ्यम्। कण्ठ+यत्। कण्ठ्+य। कण्ठ्य+सु। कण्ठ्यम्।

यहां 'कण्ठ' शब्द से 'शरीरावयवाद् यत्' (४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-'ओष्ठ' शब्द से-ओष्ठ्यम्।

'नौः' शब्द का प्रतिषेध इसलिये किया है कि यहां आद्युदात्त न हो-नाव्यम्। यहां 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से स्वरित स्वर होता है।

आद्युदात्तः-

(५७) ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः।२११।

प०वि०-ईड-वन्द-वृ-शंस-दृहाम् ६।३ ण्यतः ६।१।

स०-ईडश्च वन्दश्च वृश्च शंसश्च दुह् च ते-ईड०दुहः, तेषाम्-ईड०दुहाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-ण्यताम् ईडवन्दवृशंसदुहामादिरुदात्तः।

अर्थः-ण्यत्-प्रत्ययान्तानाम् ईडवन्दवृशंसदुहां धातूनामादिरुदात्तो भवति।

उदा०-(ईडः) ईड्यम्। (वन्दः) वन्द्यम्। (वृः) वार्यम्। (शंसः) शंस्यम् (दुहः) दोह्या धेनुः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(ण्यतः) ण्यत्-प्रत्ययान्त (ईड०दुहाम्) ईड्, वन्द, वृ, शंस, दुह धातुओं को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(ईड) ईड्यम्। स्तुति करने योग्य। (वन्द) वन्द्यम्। अभिवादन/स्तुति करने योग्य। (वृ) वार्यम्। सेवा=परिचर्या करने योग्य। (शंस) शंस्यम्। प्रशंसा करने योग्य। (दुह) दोह्या धेनुः। दुहने योग्य गाय।

सिद्धि-(१) ईड्यम्। ईड्+ण्यत्। ईड्+य। ईड्य+सु। ईड्यम्।

यहां 'ईड स्तुतौ' (अदा०आ०) धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से 'ण्यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से ण्यत्-प्रत्ययान्त 'ईड्यम्' शब्द आद्युदात्त होता है। 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से स्वरित स्वर प्राप्त था।

(२) वन्द्यम्। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'ण्यत्' प्रत्यय है। 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' आगम होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(३) वार्यम्। 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्र्या०आ०) से पूर्ववत् 'ण्यत्' प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'वृ' अंग की वृद्धि होती है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(४) शंस्यम्। 'शंसु स्तुतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'ण्यत्' प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(५) दोह्या। 'दुह प्रपूरणे' (अदा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'ण्यत्' प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से लघूपधलक्षण गुण होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्त-विकल्पः—

(५८) विभाषा वेण्विन्धानयोः।२१२।

प०वि०-विभाषा १।१ वेणु-इन्धानयोः ६।२।

स०-वेणुश्च इन्धानश्च तौ वेण्विन्धानौ, तयोः-वेण्विन्धानयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्त, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-वेण्विन्धानयोर्विभाषाऽऽदिरुदात्तः।

अर्थः-वेणु-इन्धानयोः शब्दयोर्विकल्पेनादिरुदात्तो भवति।

उदा०-(विणुः) वेणुः, वेणुः। (इन्धानः) इन्धानः, इन्धानः।

आर्यभाषाः *अर्थः*-(वेण्विन्धानयोः) वेणु और इन्धान शब्दों को (विभाषा) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।

उदा०-(विणुः) वेणुः, वेणुः। वंश=बांस। (इन्धानः) इन्धानः, इन्धानः। दीप्तिशील एवं जलता हुआ।

सिद्धि-(१) वेणुः । अज+णु । वी+णु । वे+सु । वेणु+सु । वेणुः ।

यहां 'अज गतिक्षेपणयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'अजिवृरीभ्यो निच्च' (उणा० ३ ।३८) से 'णु' प्रत्यय है। 'अजेर्व्यघञपोः' (२ ।४ ।५६) से 'अज' के स्थान में 'वी' आदेश होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७ ।३ ।८५) से 'वी' को इगन्तलक्षण गुण होता है। इस सूत्र से 'वेणु' शब्द आद्युदात्त होता है। 'णु' प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६ ।१ ।१९१) से नित्य आद्युदात्त प्राप्त था। इस सूत्र से विकल्पविधान किया गया है।

(२) इन्धानः । इन्ध्+चानश् । इन्ध्+आन । इन्धान+सु । इन्धानः ।

यहां 'ञिइन्धी दीप्तौ' (रुधा. आ.) धातु से 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३ ।२ ।१२९) से 'चानश्' प्रत्यय है। अतः 'चितः' (६ ।१ ।१५८) से अन्तदोत्त स्वर प्राप्त था, इस सूत्र से विकल्प से आद्युदात्त स्वर विधान किया गया है। पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त भी होता है-इन्धानः ।

(क) इन्ध्+लट् । इन्ध्+शानच् । इ श्नम् न् ध्+आन । इ न न् ध्+आन । इन ०ध्+आन । इन् ध्+आन । इन्धान+सु । इन्धानः ।

यहां पूर्वोक्त 'इन्ध्' धातु से 'लटः शतृशानचा०' (३ ।२ ।१२४) से लट् के स्थान में शानच् आदेश है। 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३ ।१ ।७८) से 'श्नम्' विकरण-प्रत्यय होता है। 'श्नान्नलोपः' (६ ।४ ।२३) से 'श्नम्' से उत्तरवर्ती नकार का लोप होता है। 'तास्यनुदात्तेत्०' (६ ।१ ।१८०) से धातु के अदुपदेशवान् होने से (श्नम्) ल-सार्वधातुक 'शानच्' को अनुदात्त स्वर प्राप्त होता है। अनुदात्त 'शानच्' के परे होने पर 'श्नसोरल्लोपः' (६ ।४ ।१११) से उदात्त 'श्नम्' के अकार का लोप होता है। अतः 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६ ।१ ।१५६) से मध्योदात्त स्वर होता है-इन्धानः ।

आद्युदात्त-विकल्पः—

(५६) त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ।२१३ ।

प०वि०-त्याग-राग-हास-कुह-श्वठ-क्रथानाम् ६ ।३ ।

स०-त्यागश्च रागश्च हासश्च कुहश्च श्वठश्च क्रथश्च ते-त्याग०क्रथाः, तेषाम्-त्याग०क्रथानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अनु०-उदात्तः, आदिः, विभाषा इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानां विभाषाऽऽदिरुदात्तः ।

अर्थः-त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानां शब्दानां विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ।

उदा०-(त्यागः) त्यागः, त्यागः। (रागः) रागः, रागः। (हासः) हासः, हासः। (कुहः) कुहः, कुहः। (श्वठः) श्वठः, श्वठः। (क्रथः) क्रथः, क्रथः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(त्याग०क्रथानाम्) त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ और क्रथ शब्दों को (विभाषा) विकल्प से (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(त्यागः) त्यागः, त्यागः। छोड़ना। (रागः) रागः, रागः। रंगना। (हासः) हासः, हासः। हंसना। (कुहः) कुहः, कुहः। चकित करनेवाला/डरानेवाला। (श्वठः) श्वठः, श्वठः। धूर्त। (क्रथः) क्रथः, क्रथः। हिंसक।

सिद्धि-(१) त्यागः। त्यज्+घञ्। त्यज्+अ। त्याग्+अ। त्यागः।

यहां 'त्यजं हानौ' (भ्वा०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) से जकार को कुत्व गकार होता है। इस सूत्र से यह विकल्प से आद्युदात्त होता है। विकल्प पक्ष में 'कर्षात्वतो: घञोऽन्तोदात्तः' (६।१।१५४) से अन्तोदात्त होता है। पहले उक्त सूत्र से अन्तोदात्त ही प्राप्त था।

(२) रागः। यहां 'रञ्ज रागे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। 'रञ्जेश्च' (६।४।२६) से अनुनासिक (न्) का लोप होता है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(३) हासः। 'हसे हसने' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

(४) कुहः। कुह+अच्। कुह+अ। कुह+सु। कुहः।

यहां 'कुह विस्मापने;' (चु०आ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि 'अच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प से आद्युदात्त होता है। 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त स्वर ही प्राप्त था। पक्ष में अन्तोदात्त स्वर भी होता है-कुहः।

(५) श्वठः। 'श्वठ असंस्कारगत्योः' (चु०उ०) से पूर्ववत् पचादि 'अच्' प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत्।

(६) क्रथः। 'क्रथ हिंसार्थः' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् पचादि अच् प्रत्यय है। स्वर-कार्य पूर्ववत् है।

उपोत्तममुदात्तम्-

(६०) उपोत्तमं रिति।२१४।

प०वि०-उपोत्तमम् १।१ रिति ७।१।

स०-त्रिप्रभृतीनामन्तिमक्षरम्-उत्तमम्, उत्तमस्य समीपम्-उपोत्तमम् (अव्ययीभावः)। र इद् यस्य स रित्, तस्मिन्-रिति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-रिति उपोत्तमम् उदात्तम्।

अर्थः-रिति=रित्-प्रत्ययान्ते शब्दे उपोत्तममक्षरमुदात्तं भवति।

उदा०-करणीयम्, हरणीयम्। पटुजातीयः, मृदुजातीयः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(रिति) रित्-प्रत्ययान्त शब्द में (उपोत्तमम्) अन्तिम से पूर्ववर्ती अक्षर (उदात्तम्) उदात्त होता है। तीन अथवा उससे अधिक अचोंवाले शब्द में अन्तिम अच् उत्तम कहाता है, और उत्तम के समीपवर्ती अच् को उपोत्तम कहते हैं।*

उदा०-करणीयम्। करना चाहिये। हरणीयम्। हरना चाहिये। पटुजातीयः। चतुर प्रकार का। मृदुजातीयः। मृदु=कोमल प्रकार का।

सिद्धि-(१) करणीयम्। कृ+अनीयर्। कर्+अनीय। करणीय+सु। करणीयम्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से 'अनीयर्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के 'रित्' होने से इस सूत्र से 'करणीयम्' रिदन्त पद उपोत्तम उदात्त होता है। ऐसे 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हरणीयम्।

(२) पटुजातीयः। पटु+जातीयर्। पटु+जातीय। पटुजातीय+सु। पटुजातीयः।

यहां 'पटु' शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्' (५।३।७९) से 'जातीयर्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के रित् होने से इस सूत्र से 'पटुजातीयः' यह रिदन्त पद उपोत्तम उदात्त होता है। ऐसे ही 'मृदु' शब्द से-मृदुजातीयः।

उपोत्तमोदात्त-विकल्पः—

(६१) चङ्यन्यतरस्याम्।२१५।

प०वि०-चङि ७।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उपोत्तमम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चङि अन्यतरस्यामुपोत्तमम् उदात्तम्।

अर्थः-चङ्प्रत्ययान्ते पदेऽविकल्पेनोपोत्तममक्षरमुदात्तं भवति।

उदा०-मा हि चीकरताम्, मा हि चीकरताम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चङि) चङ्प्रत्ययान्त पद में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (उपोत्तमम्) उपोत्तम अक्षर (उदात्तम्) उदात्त होता है।*

उदा०-मा हि चीकरताम्, मा हि चीकरताम्। उन दोनों ने नहीं कराया।

सिद्धि-चीकरताम्। कृ+णिच्। कार्+इ। कारि। कारि+लुङ्। कारि+च्लि+ल्। कारि+चङ्+तस्। कर्+अ+ताम। कृ-कर्+अ+ताम्। च-कर्+अ+ताम्। चि-कर्+अ+ताम्। ची-कर्+अ+ताम्। चीकरताम्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना० अ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से लुङ् प्रत्यय 'च्लि लुङि' (२३।१।४४) से च्लि विकरण-प्रत्यय और 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।४।४८) से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश होता है। 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णिच्' का लोप तथा 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) से उपधा को ह्रस्व होकर, 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५८) से रूपातिदेश को स्थानिवत् मानकर 'चङि' (६।१।११) से 'कृ' को द्वित्व होता है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के ककार को चकार आदेश होता है। 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' (७।४।८३) से अभ्यास को सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व और 'दीर्घो लघोः' (७।४।९४) से उसे दीर्घ होता है। यहां 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से अट् आगम का प्रतिषेध है। 'मा हि चीकरताम्' यहां 'हि' से उत्तर 'चीकरताम्' यह तिङन्त पद होने से 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात=अनुदात्त प्राप्त था, किन्तु 'हि च' (८।१।३४) से उसका प्रतिषेध होता है। अतः 'चङ्' के अकार से धातु को अदुपदेश मानकर 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८०) से ल-सार्वधातुक 'ताम्' प्रत्यय अनुदात्त होता है। प्रत्यय-स्वर से 'चङ्' के अकार को ही उदात्तस्वर प्राप्त था। इस सूत्र से चङन्त अर्थात् 'चीकर' शब्द के उपोत्तम अक्षर को उदात्त होता है-चीकरताम्। विकल्प पक्ष में प्रत्ययस्वर से उदात्त होता है-चीकरताम्।

आकार उदात्तः-

(६२) मतोः पूर्वमात् संज्ञायां स्त्रियाम्।२१६।

प०वि०-मतोः ५।१ पूर्वम् १।१ आत् १।१ संज्ञायाम् ७।१ स्त्रियाम् ७।१।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मतोः पूर्वम् आद् उदात्तः, स्त्रियां संज्ञायाम्।

अर्थः-मतोः पूर्वो य आकारः स उदात्तो भवति, तच्चेद् मत्वन्तं शब्दरूपं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा भवति।

उदा०-उदुम्बरावती, पुष्करावती, वीरणावती, शरावती।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मतोः) मतुप् प्रत्यय से (पूर्वम्) पूर्ववर्ती (आत्) आकार (उदात्तः) उदात्त होता है, यदि वह शब्द (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग (संज्ञायाम्) संज्ञावाची हो।*

उदा०-उदुम्बरावती, पुष्करावती, वीरणावती, शरावती। ये नदी-विशेष की संज्ञायें हैं।

सिद्धि-उदुम्बरावती। उदुम्बर+मतुप्। उदुम्बर+मत्। उदुम्बरा+वत्। उदुम्बरावत्। उदुम्बरावत्+ङीप्। उदुम्बरावती+सु। उदुम्बरावती।

यहां उदुम्बर शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।६४) से 'मतुप्' प्रत्यय है। 'मादुपधायाश्च०' (८।२।९) से 'मतुप्' के मकार को वकार आदेश होता है। 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' (६।३।११९) से दीर्घ होता है। इस सूत्र से इस आकार को उदात्त स्वर होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'उगितश्च' (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय होता है। ऐसे ही-पुष्करावती, वीरणावती, शरावती।

अन्तोदात्तः-

(६३) अन्तोऽवत्याः।२१७।

प०वि०-अन्तः १।१ अवत्याः ६।१।

अनु०-उदात्तः, संज्ञायाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायाम् अवत्या अन्त उदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषयेऽवती-शब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-अजिरवती, खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (अवत्याः) अवती शब्द जिसके अन्त में है उसे (अन्तः, उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अजिरवती, खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती।

सिद्धि-अजिरवती। इस शब्द के अन्त में 'अवती' है। अतः इस सूत्र से इसे अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती। ये नदी-विशेष की संज्ञायें हैं।

अन्तोदात्तः-

(६४) ईवत्याः।२१८।

प०वि०-ईवत्याः ६।१।

अनु०-उदात्तः, संज्ञायाम्, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायाम् ईवत्या अन्त उदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषये ईवती-शब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-अहीवती। कृषीवती। मुनीवती।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (ईवत्याः) ईवती शब्द जिसके अन्त में उसे (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अहीवती, कृषीवती, मुनीवती।

सिद्धि-अहीवती। इस वतीशब्दान्त 'अहीवती' शब्द को इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-कृषीवती, मुनीवती। ये नदी-विशेष की संज्ञायें हैं।

अन्तोदात्तः-

(६५) चौ।२१६।

वि०-चौ ७।१।

अनु०-उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चौ पूर्वस्यान्त उदात्तः।

अर्थः-चौ परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति। अञ्चतेर्नकारस्याकारस्य च लोपं कृत्वा 'चौ' इति निर्देशः कृतः।

उदा०-दधीचः पश्य। दधीचा, दधीचे। मधूचः पश्य। मधूचा, मधूचे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चौ) 'चु' परे होने पर पूर्ववर्ती अच् को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है। यहां 'अञ्चति' धातु के नकार और अकार का लोप करके 'चु' शेष रहता है, उसका सप्तमी-एकवचन में निर्देश किया गया है।*

उदा०-दधीचः पश्य। दधि प्राप्त करनेवालों को तू देख। दधीचा। दधि प्राप्त करनेवाले के द्वारा। दधीचे। दधि प्राप्त करनेवाले के लिये। मधूचः पश्य। मधु प्राप्त करनेवालों को देख। मधूचा। मधु प्राप्त करनेवाले के द्वारा। मधूचे। मधु प्राप्त करनेवाले के लिये।

सिद्धि-दधीचः। दधि+अञ्चु+क्विन्। दधि+अञ्च्+वि। दधि+अञ्च्+०। दधि+अच्+०। दधि+अच्+शस्। दधि+अच्+अस्। दधि+०च+अस्। दधी+०च+अस्। दधीचः।

यहां दधि-उपपद होने पर 'अञ्चु गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'अञ्चु' के नकार का लोप होता है। उससे 'शस्' प्रत्यय करने पर 'अचः' (६।४।१३९) से 'अञ्चति' के अकार का लोप होकर 'चौ' (६।३।१३८) से पूर्वपद को दीर्घ होता है। इस सूत्र से 'चु' (लुप्तनकार अञ्चति) परे होने पर पूर्ववर्ती अच् अन्तोदात्त होता है। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होने से 'अञ्चति' के अकार को उदात्त होता है। 'अचः' (६।४।१३८) से असर्वनामस्थान, अजादि विभक्त परे

होने पर 'अञ्चति' के उदात्त अकार का लोप हो जाता है। अतः **'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः'** *(६।१।१५६) से उदात्तनिवृत्तिस्वर अर्थात् विभक्ति को अनुदात्त स्वर प्राप्त होता है। यह सूत्र उसका अपवाद है। ऐसे ही-दधीचा, दधीचे, मधूचः, मधूचा, मधूचे।*

अन्तोदात्तः-

(६६) समासस्य।२२०।

वि०-समासस्य ६।१।

अनु०-उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते

अन्वयः-समासस्यान्त उदात्तः।

अर्थः-समासस्यान्त उदात्तो भवति।

उदा०-राजपुरुषः। ब्राह्मणकम्बलः। कन्यास्वनः। पटहशब्दः। नदीघोषः। राजपृषत्। ब्राह्मणसमित्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासस्य) समास को (अन्तः उदात्तः) अन्तोदात्त स्वर होता है।*

*उदा०-**राजपुरुषः**। राजा का पुरुष। **ब्राह्मणकम्बलः**। ब्राह्मण का कम्बल। **कन्यास्वनः**। कन्या की आवाज़। **पटहशब्दः**। ढोल का शब्द। **नदीघोषः**। नदी का शब्द। **राजपृषत्**। राजा का बिन्दु (चिह्नविशेष)। **ब्राह्मणसमित्**। ब्राह्मण की समिधा।*

*सिद्धि-**राजपुरुषः**। राजन्+ङस्+पुरुष। राजन्+पुरुष। राजपुरुष+सु। राजपुरुषः।*

यहाँ राजन् और पुरुष शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है। **'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'** *(८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही-ब्राह्मणकम्बलः आदि।*

'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' *इस परिभाषा से स्वर-विधि में व्यञ्जन-वर्ण अविद्यमान के समान होता है। अतः इस सूत्र से राजपृषत् और ब्राह्मणसमित् इन व्यञ्जनान्त समासपदों में भी अन्तोदात्त स्वर होता है। यह सूत्र नानापदों के पृथक्-पृथक् स्वर का अपवाद है।*

।। इति पूर्वस्वरप्रकरणम्।।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।।

षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः

उत्तरस्वरप्रकरणम्

(पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्रकरणम्)

प्रकृतिस्वरः—

(१) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्।१।

प०वि०—बहुव्रीहौ ७।१ प्रकृत्या ३।१ पूर्वपदम् १।१

अन्वयः—बहुव्रीहौ पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः—बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति, स्वभावेनाऽवतिष्ठते, न विकारमनुदात्तत्वमापद्यते इत्यर्थः।

उदा०—कार्ष्णम् उत्तरासङ्गं यस्य सः-कार्ष्णोत्तरासङ्गः। यूपो वलजो यस्य सः-यूपवलजः। ब्रह्मचारी परिस्कन्दो यस्य सः-ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः। स्नातकः पुत्रो यस्य सः-स्नातकपुत्रः। अध्यापकः पुत्रो यस्य सः-अध्यापकपुत्रः। श्रोत्रियः पुत्रो यस्य सः-श्रोत्रियपुत्रः। मनुष्यो नाथो यस्य सः-मनुष्यनाथः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (पूर्वपदम्) पूर्व-पद (प्रकृत्या) प्रकृति स्वरवाला होता है, पूर्वपद का जो स्वर है वह प्रकृतिभाव से रहता है, स्वभाव में अवस्थित रहता है, अनुदात्त रूप विकारभाव को प्राप्त नहीं होता है।*

उदा०—कार्ष्णोत्तरासङ्गः। कृष्णमृग-चर्म है उत्तरासङ्ग=ऊपर धारण करने का वस्त्र (चादर) जिसका वह-कार्ष्णोत्तरासङ्ग। यूपवलजः। यूप है वलज जिसका वह-यूपवलज। यूप=यज्ञीय स्तम्भ, वलज=बन्धन। ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः। ब्रह्मचारी है परिस्कन्द=सेवक जिसका वह-ब्रह्मचारिपरिस्कन्द। स्नातकपुत्रः। गुरुकुल का स्नातक है पुत्र जिसका वह-स्नातकपुत्र। अध्यापकपुत्रः। अध्यापक है पुत्र जिसका वह-अध्यापकपुत्र। श्रोत्रियपुत्रः। श्रोत्रियः=वेद का अध्ययन करनेवाला पुत्र है जिसका वह-श्रोत्रियपुत्र। मनुष्यनाथः। मनुष्य= मननशील पुरुष है नाथ (स्वामी) जिसका वह-मनुष्यनाथ।

सिद्धि-कार्ष्णोत्तरासङ्गः। कार्ष्ण+सु+उत्तरासङ्ग+सु। कार्ष्णोत्तरासङ्ग+सु। कार्ष्णोत्तरासङ्गः।

यहां बहुव्रीहि समास के 'कार्ष्ण' पूर्वपद में मृगवाची 'कृष्ण' शब्द से 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (४।३।१५४) से विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय है, अतः प्रत्यय के ञित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से 'कार्ष्ण' शब्द आद्युदात्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'समासस्य' (६।१।२१८) से प्राप्त अन्तोदात्त स्वर नहीं होता है।

(२) यूपवलजः। यूप+सु+वलज+सु। यूपवलज+सु। यूपवलजः।

यहां बहुव्रीहि समास का 'यूप' पूर्वपद 'कुसुयुभ्यश्च' (दश०उ० ७।५) से प-प्रत्ययान्त है, वहां दीर्घ और नित् की अनुवृत्ति है। अतः प्रत्यय के नित् होने से 'यूप' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृति स्वर से रहता है।

(३) ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः। ब्रह्मचारिन्+सु+परिस्कन्द+सु। ब्रह्मचारिपरिस्कन्द+सु। ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः।

यहां बहुव्रीहि समास के 'ब्रह्मचारी' पूर्वपद में 'व्रते' (३।२।८०) से 'णिनि' प्रत्यय और 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) से 'ब्रह्मचारी' शब्द कृत्स्वर से अन्तोदात्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) स्नातकपुत्रः। स्नातक+सु+पुत्र+सु। स्नातकपुत्र+सु। स्नातकपुत्रः।

यहां बहुव्रीहि समास के 'स्नातक' पूर्वपद में 'यावादिभ्यः कन्' (५।४।२९) से 'कन्' प्रत्यय है। अतः प्रत्यय के नित् होने से 'स्नातक' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(५) अध्यापकपुत्रः। अध्यापक+सु+पुत्र+सु। अध्यापकपुत्र+सु। अध्यापकपुत्रः।

यहां बहुव्रीहि समास के 'अध्यापक' पूर्वपद में 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'ण्वुल्' प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है, अर्थात् 'अध्यापक' शब्द मध्योदात्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(६) श्रोत्रियपुत्रः। श्रोत्रियन्+सु+पुत्र+सु। श्रोत्रियपुत्र+सु। श्रोत्रियपुत्रः।

यहां बहुव्रीहि समास का 'श्रोत्रियन्' पूर्वपद नित् होने से पूर्ववत् आद्युदात्त है। इस सूत्र में वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(७) मनुष्यनाथः। मनुष्य+सु+नाथ+सु। मनुष्यनाथ+सु। मनुष्यनाथः।

यहां बहुव्रीहि समास के पूर्ववद में 'मनुष्य' शब्द में 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (५।१।१६१) से 'यत्' प्रत्यय है। प्रत्यय के तित् होने से 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७६) से 'मनुष्य' शब्द स्वरितान्त है। इस सूत्र से वह बहुव्रीहि समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

यहां 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६ ।१ ।१५४) से उदात्त की और 'तित् स्वरितम्' (६ ।१ ।१७९) से स्वरित की अनुवृत्ति होने से सर्वानुदात्तवाले पूर्वपद में यह पूर्वपद प्रकृतिस्वर की विधि नहीं होती है। जैसे–समभागः। यहां पूर्वपद का 'सम' शब्द सर्वानुदात्त है। अतः यहां 'समासस्य' (६ ।१ ।२१९) से अन्तोदात्त स्वर होता है।

प्रकृतिस्वरः–

(२) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः ।२।

प०वि०–तत्पुरुषे ७ ।१ तुल्यार्थ-तृतीया-सप्तमी-उपमान-अव्यय-द्वितीया-कृत्याः १ ।३ ।

स०–तुल्योऽर्थो यस्य तत्-तुल्यार्थम्। तुल्यार्थं च तृतीया च सप्तमी च उपमानं च अव्ययं च द्वितीया च कृत्याश्च ते-तुल्यार्थ०कृत्याः (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे तुल्यार्थ०कृत्याः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थम्, तृतीयान्तम्, सप्तम्यन्तम्, उपमानवाचि, अव्ययम्, द्वितीयान्तम्, कृत्यप्रत्ययान्तं च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–(तुल्यार्थम्) तुल्यश्चासौ श्वेतः-तुल्यश्वेतः। तुल्यलोहितः। तुल्यमहान्। सदृक् चासौ श्वेतः–सदृक्च्छ्वेतः। सदृग्लोहितः। सदृग्महान्। सदृशश्चासौ श्वेतः–सदृशश्वेतः। सदृशलोहितः। सदृशमहान्। (तृतीयान्तम्) शङ्कुलया खण्डः–शङ्कुलाखण्डः। किरिणा काणः–किरिकाणः। (सप्तम्यन्तम्) अक्षेषु शौण्डः–अक्षशौण्डः। पानशौण्डः (उपमानम्) शस्त्री इव श्यामा–शस्त्रीश्यामा। कुमुदश्येनी। हंसगद्गदा। न्यग्रोधपरिमण्डला। दूर्वाकाण्डश्यामा। शरकाण्डगौरी। (अव्ययम्) न ब्राह्मणः–अब्राह्मणः। अवृषलः। कुत्सितो ब्राह्मणः–कुब्राह्मणः। कुवृषलः। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः–निष्कौशाम्बिः। निर्वाराणसिः। खट्वामतिक्रान्तः–अतिखट्वः। अतिमालः। (द्वितीया) मुहूर्तं सुखम्–मुहूर्त्तसुखम्। मुहूर्तरमणीयम्। सर्वरात्रं कल्याणी–सर्वरात्रकल्याणी।

सर्वरात्रशोभना। (कृत्यान्तम्) भोज्यं च तद् उष्णम्-भोज्योष्णम्। पानीयशीतम्। हरणीयचूर्णम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (तुल्यार्थ०कृत्याः) तुल्यार्थक, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त, उपमानवाची, अव्यय, द्वितीयान्त और कृत्यप्रत्ययान्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(तुल्यार्थ) तुल्यश्वेतः। समान श्वेत (सफेद)। तुल्यलोहितः। समान लोहित (लाल)। तुल्यमहान्। समान महान् (पूज्य)। सदृक्छ्वेतः। सदृग्लोहितः। सदृग्महान्। अर्थ पूर्ववत् है। सदृशश्वेतः। सदृशलोहितः। सदृशमहान्। अर्थ पूर्ववत् है। (तृतीया) शङ्कुलाखण्डः। शङ्कुला=सरोता से किया हुआ खण्ड (टुकड़ा)। किरिकाणः। किरि=बाण से किया गया काणा। (सप्तमी) अक्षशौण्डः। अक्ष=द्यूतक्रीड़ा में चतुर। पानशौण्डः। सुरापान में चतुर। (उपमानवाची) शस्त्रीश्यामा। शस्त्री=बर्छी के समान श्यामवर्णवाली। कुमुदश्येनी। कुमुद=कमल के समान श्वेत वर्णवाली। हंसगद्गदा। हंस के समान गद्गद्=वाक्स्खलनवाली। न्योग्रोधपरिमण्डला। न्यग्रोध=बड़ के समान परिमण्डल (घेरा) वाली। दूर्वाकाण्डश्यामा। दूर्वा=दूब के काण्ड=शाखा के समान श्यामवर्णवाली। शरकाण्डगौरी। शरकाण्ड=सरकण्डे के समान गौर वर्णवाली। (अव्यय) अब्राह्मणः। जो ब्राह्मण नहीं है। अवृषलः। जो वृषल=नीच नहीं है। कुब्राह्मणः। कुत्सित=निन्दित ब्राह्मण। कुवृषलः। कुत्सित वृषल=नीच। निष्कौशाम्बिः। कौशाम्बी नगरी से निकला हुआ। निर्वाराणसिः। वाराणसी नगरी से निकला हुआ। अतिखट्वः। खट्वा=खाट का अतिक्रमण करनेवाला। अतिमालः। माला का अतिक्रमण करनेवाला। (द्वितीया) मुहूर्त्तसुखम्। मुहूर्त भर को सुख। मुहूर्त्तरमणीयम्। मुहूर्त भर को रमणीय (सुन्दर)। सर्वरात्रकल्याणी। समस्त रात्रि सुखदायिनी। सर्वरात्रशोभना। समस्त रात्रि सोहणी। (कृत्यान्त) भोज्योष्णम्। उष्ण भोज्य पदार्थ। भोज्यलवणम्। नमकीन भोज्य पदार्थ। पानीयशीतम्। पीने योग्य शीतल पदार्थ। हरणीयचूर्णम्। आहार के योग्य चूर्ण।

सिद्धि०-(१) तुल्यश्वेतः। तुल्य+सु+श्वेत+सु। तुल्यश्वेत+सु। तुल्यश्वेतः।

यहां तुल्य और श्वेत शब्दों का 'कृत्यतुल्याख्या अजात्या' (१।१।६७) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इसके पूर्वपद 'तुल्य' शब्द में 'नौवयोधर्म०' (४।४।९१) से 'यत्' प्रत्यय है। 'यतोऽनावः' (६।१।२०७) से 'तुल्य' शब्द आद्युदात्त है। इस सूत्र से वह तत्पुरुष समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्।

(२) सदृक्छ्वेतः। यहां तुल्यार्थक 'सदृक्' शब्द और 'श्वेत' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारयतत्पुरुष समास है। 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' (३।२।६०) से 'सदृक्' शब्द क्विप्-प्रत्ययान्त है। 'दृग्दृशवतुषु' (६।३।८८) से समान को स-भाव होता है। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।३।८८) से 'सदृक्' शब्द अन्तोदात्त है। इस सूत्र

से वह तत्पुरुष समास के पूर्वपद में प्रकृति स्वर से रहता है। ऐसे ही-सद्दग्लौहितः, सद्दग्महान्।

(३) सदृशश्वेतः। यहां तुल्यार्थक 'सदृश' शब्द और 'श्वेत' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय समास है। 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' (३।२०।६०) से 'सदृश' शब्द कञ्-प्रत्ययान्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-सदृशलौहितः, सदृशमहान्।

(४) शङ्कुलाखण्डः। शङ्कुला+टा+खण्ड+सु। शङ्कुलाखण्ड+सु। शङ्कुलाखण्डः।

यहां शङ्कुला और खण्ड शब्दों का 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' (२।२।२९) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इसका तृतीयान्त 'शङ्कुला' पूर्वपद शङ्कु-पूर्वक 'ला आदाने' (अदा०प०) धातु से वा०-'घञर्थे कविधानम्' (३।३।५८) से क-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(५) किरिकाणः। यहां किरि और काण शब्दों का पूर्ववत् तृतीया समास है। इसका तृतीयान्त 'किरि' पूर्वपद 'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिच्छिदिभ्यश्च' (उ० ३।१४४) से इकार-प्रत्ययान्त होने से आन्तोदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(६) अक्षशौण्डः। अक्ष+सुप्+शौण्ड+सु। अक्षशौण्ड+सु। अक्षशौण्डः।

यहां अक्ष और शौण्ड शब्दों का 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।३९) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इसका सप्तम्यन्त 'अक्ष' पूर्वपद 'अशो देवने' (उ० ३।६५) से स-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(७) पानशौण्डः। यहां पान और शौण्ड शब्दों का पूर्ववत् सप्तमी तत्पुरुष समास है। इसका सप्तम्यन्त 'पान' पूर्वपद ल्युट्-प्रत्ययान्त होने से 'लिति' (६।१।१८७) से आद्युदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(८) शस्त्रीश्यामा। शस्त्री+सु+श्यामा+सु। शस्त्रीश्यामा+सु। शस्त्रीश्यामा।

यहां शस्त्री और श्यामा शब्दों का 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५४) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इसका उपमानवाची 'शस्त्री' पूर्वपद ङीष्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(९) कुमुदश्येनी। यहां कुमुद और श्येनी शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इसका 'कुमुद' पूर्वपद 'कौ मोदते इति कुमुदम्' 'मूलविभुजादि' (वा० ३।२।५) से क-प्रत्ययान्त और 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फिट्० २।३) से आद्युदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(१०) हंसगद्गदा। यहां हंस और गद्गदा शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इसका उपमानवाची 'हंस' पूर्वपद 'वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः' (उणा० ३।६५) से स-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(११) न्यग्रोधपरिमण्डला। यहां न्यग्रोध और परिमण्डल शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इसका उपमानवाची 'न्यग्रोध' पूर्वपद 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०' (३।१।१३४) से अच्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। 'न्यग्रोधस्य च केवलस्य' (७।३।५) इस सूत्रोक्त निपातन से 'रुह्' धातु के हकार को धकार आदेश (न्यग् रोहतीति न्यग्रोधः) और मध्योदात्त होता है। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(१२) दूर्वाकाण्डश्यामा। यहां दूर्वाकाण्ड और श्यामा शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इसके उपमानवाची 'दूर्वाकाण्ड' पूर्वपद में षष्ठीतत्पुरुष समास होने से 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त है- 'दूर्वायाः काण्डम्- दूर्वाकाण्डम्'। इस सूत्र से यह तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-शरकाण्डगौरी।

(१३) अब्राह्मणः। नञ्+सु+ब्राह्मण+सु। अ+ब्राह्मण+अब्राह्मण+सु। अब्राह्मणः।

यहां नञ् और ब्राह्मण शब्दों का 'नञ्' (२।१।६) से नञ् तत्पुरुष समास है। इस का अव्यय 'नञ्' पूर्वपद 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४।१२) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-अवृषलः।

(१४) कुब्राह्मणः। यहां कु और ब्राह्मण शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-कुवृषलः।

(१५) निष्कौशाम्बिः। यहां निस् और कौशाम्बी शब्दों का पूर्ववत् प्रादि-तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे हीं-निर्वाराणसिः।

(१६) अतिखट्वः। यहां अति और खट्वा शब्दों का पूर्ववत् प्रादि-तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अतिमालः।

(१७) मुहूर्तसुखम्। मुहूर्त+अम्+सुख+सु। मुहूर्तसुख+सु। मुहूर्तसुखम्।

यहां मुहूर्त और सुख शब्दों का 'अत्यन्तसंयोगे च' (२।१।२९) से द्वितीयातत्पुरुष समास है। इसका द्वितीयान्त 'मुहूर्त' शब्द 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०८) से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(१८) सर्वरात्रकल्याणी। यहां सर्वरात्र और कल्याण शब्दों का पूर्ववत् द्वितीया तत्पुरुष समास है। इसका द्वितीयान्त 'सर्वरात्र' शब्द 'अहःसर्वैकदेश०' (५।४।८७) से समासान्त अच्-प्रत्ययान्त होने से अन्दोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-सर्वरात्रशोभना।

(१९) भोज्योष्णम्। यहां भोज्य और उष्ण शब्दों का 'कृत्यतुल्याख्या अजात्या' (२।१।६८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इसके 'भोज्यम्' पूर्वपद 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।२४) से ण्यत्-प्रत्ययान्त होने से अन्तस्वरित है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(२०) पानीयशीतम्। यहां पानीय और शीत शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इसके 'पानीयम्' पूर्वपद के 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से अनीयर्-प्रत्ययान्त होने से 'उपोत्तमं रिति' (६।१।२११) से इसका ईकार उदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

प्रकृतिस्वरः—

(३) वर्णो वर्णेष्वनेते।३।

प०वि०—वर्णः १।१ वर्णेषु ७।३ अनेते ७।१।

स०—न एतः-अनेतः, तस्मिन्-अनेते (नञ्तत्पुरुषः), एतः-रंग-बिरंगा इति भाषायाम्।

अनु०—प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः—तत्पुरुषेऽनेतेषु वर्णेषु वर्णः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः—तत्पुरुषे समासे एत-शब्दवर्जितेषु वर्णवाचिषु उत्तरपदेषु वर्णवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०—कृष्णश्चासौ सारङ्ग इति कृष्णसारङ्गः। लोहितसारङ्गः। कृष्णकल्माषः। लोहितकल्माषः।

आर्यभाषाः *अर्थ—(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अनेते) एत-शब्द से भिन्न (वर्णेषु) वर्णवाची उत्तरपद होने पर (वर्णः) वर्णवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०—कृष्णसारङ्गः। काला और चितकबरा। लोहितसारङ्गः। लाल और चितकबरा। कृष्णशबलः। काला और रंग-बिरंगा। लोहितशबलः। लाल और रंग-बिरंगा।

सिद्धि-(१) कृष्णसारङ्गः। कृष्ण+सु+सारङ्ग+सु। कृष्णसारङ्ग+सु। कृष्णसारङ्गः।

यहां कृष्ण और सारङ्ग शब्दों का 'वर्णो वर्णेन' (२।१।६९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। यहां एत-शब्द से भिन्न वर्ण विशेषवाची 'सारङ्ग' शब्द उत्तरपद होने पर वर्णविशेषवाची 'कृष्ण' पूर्वपद इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कृषेर्वर्णे' (उणा० ३।४) से 'कृष्ण' शब्द नक्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। ऐसे ही—कृष्णकल्माषः।

(२) लोहितसारङ्गः। यहां लोहित और सारङ्ग शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। एत-शब्द से भिन्न वर्ण विशेषणवाची सारङ्ग शब्द उत्तरपद होने पर वर्णविशेषवाची 'लोहित' पूर्वपद इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से रहता है। लोहित शब्द 'रुहेरश्च लो वा' (उणा० ३।९४) से इतन्-प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त है। ऐसे ही—लोहितशबलः।

प्रकृतिस्वरः—

(४) गाधलवणयोः प्रमाणे।४।

प०वि०—गाध-लवणयोः ७।२ प्रमाणे ७।१।

स०-गाधश्च लवणं च ते गाधलवणे, तयो:-गाधलवणयो: (इतरेतर-योगद्वन्द्व:)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वय:-प्रमाणे तत्पुरुषे गाधलवणयो: पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थ:-प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाधलवणयोरुत्तरपदयो: परत: पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-**(गाध:)** शम्बस्य गाधम्-शम्बंगाधम् उदकम्। अरित्रस्य गाधम्-अरित्रंगाधम् उदकम्। शम्बप्रमाणम्, अरित्रप्रमाणं चेत्यर्थ:। **(लवणम्)** गोर्लवणम् गोर्लवणम्। अश्वस्य लवणम्-अश्वंलवणम्। यावल्लवणं गवेऽश्वाय च दीयते तावदित्यर्थ:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(प्रमाणे) प्रमाणवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गाधलवणयो:) गाध और लवण शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-शम्बंगाधम् उदकम्। शम्ब=भूखण्ड भर प्रमाण का जल। अरित्रंगाधम् उदकम्। अरित्र=नौका के दण्ड (चप्पू) प्रमाण का जल। गोर्लवणम्। जितना गौ को दिया जाता है उतना लवण (नमक)। अश्वंलवणम्। जितना घोड़े को दिया जाता है उतना लवण।

सिद्धि-(१) शम्बंगाधम्। शम्ब+ङस्+गाध+सु। शम्बगाध+सु। शम्बगाधम्।

यहां प्रमाणवाची शम्ब और गाध शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से गाध शब्द उत्तरपद होने पर शम्ब पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'शमेर्बन्' (उणा० ४।९४) से शम्ब शब्द बन्-प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर से आद्युदात्त है।

(२) अरित्रंगाधम्। यहां प्रमाणवाची अरित्र और गाध शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से गाध शब्द उत्तरपद होने पर 'अरित्र' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'अर्तिलूधू०' (३।२।१८४) से 'अरित्र' शब्द इत्र-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है।

(३) गोर्लवणम्। यहां प्रमाणवाची गो और लवण शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से लवण शब्द उत्तरपद होने पर 'गो' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'गमेर्डो:' (उणा० १।१।५१) से डो-प्रत्ययान्त 'गो' शब्द प्रत्ययस्वर से उदात्त है।

(४) अश्वंलवणम्। यहां प्रमाणवाची अश्व और लवण शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से लवण शब्द उत्तरपद होने पर 'अश्व' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'अशुप्रुषिलटि०' (उणा० २।६७) से 'अश्व' शब्द क्वन्-प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर से आद्युदात्त है।

प्रकृतिस्वरः—

(५) दायाद्यं दायादे।५।

प०वि०-दायाद्यम् १।१ दायादे ७।१।

स०-दायमादत्ते इति दायादः (उपपदतत्पुरुषः) मूलविभुजादित्वात् कः प्रत्ययः। दायादस्य भावः-दायाद्यम्। **'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च'** (५।१।१२४) इति ब्राह्मणादित्वाद् भावे ष्यञ् प्रत्ययः।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे दायादे दायाद्यं पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे दायाद-शब्दे उत्तरपदे दायाद्यवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-विद्याया दायादः-विद्यादायादः। धनस्य दायादः-धनदायादः। दायः=भागः, अंश इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (दायादे) दायाद शब्द उत्तरपद होने पर (दायाद्यम्) दायाद्यवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-विद्यादायादः। विद्या के भाग को लेनेवाला। धनदायादः। धन के भाग को लेनेवाला। पूर्वजों से प्राप्त करने योग्य पदार्थ को 'दायाद्य' कहते हैं।

सिद्धि-(१) विद्यादायादः। विद्या+ङस्+दायाद+सु। विद्यादायद+सु। विद्यादायादः। यहां विद्या और दायाद शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से दायाद शब्द उत्तरपद होने पर दायाद्यवाची 'विद्या' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'संज्ञायां समजनिषद०' (३।३।९९) से 'विद्या' शब्द क्यप्-प्रत्ययान्त है और वहां क्यप् प्रत्यय के उदात्तवचन से अन्तोदात्त है।

(२) धनदायादः। यहां धन और दायाद शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से दायाद शब्द उत्तरपद होने पर दायाद्यवाची 'धन' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः' (द० उणा० ५।२६) में बहुल-वचन से केवल 'धाञ्' धातु से 'क्यु' प्रत्यय होने से 'धन' शब्द प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है।

प्रकृतिस्वरः—

(६) प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः।६।

प०वि०-प्रतिबन्धि १।१ चिरकृच्छ्रयोः ७।२।

कृदवृत्तिः-कार्यसिद्धिं प्रतिबध्नाति=व्याहन्तीति प्रबन्धि। **'आवश्यकाधर्मण्ययोर्णिनिः'** (३।३।१७०) इति आवश्यके णिनिः प्रत्ययः।

स०-चिरं च कृच्छ्रं च ते चिरकृच्छ्रे, तयोः-चिरकृच्छ्रयोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे चिरकृच्छ्रयोः प्रतिबन्धि पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे चिरकृच्छ्रयोरुत्तरपदयोः प्रतिबन्धिवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-**(चिरम्)** गमनं च तच्चिरम्-गमनचिरम्। व्याहरणचिरम्। **(कृच्छ्रम्)** गमनं च तत् कृच्छ्रम्-गमनकृच्छ्रम्। व्याहरणकृच्छ्रम्। अत्र **'मयूरव्यंसकादयश्च'** (२।१।७१) इति कर्मधारयतत्पुरुषः।

गमनं हि कारणविकलतया चिरकालभावि कृच्छ्रयोगि वा सत् प्रतिबन्धि जायते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (चिरकृच्छ्रयोः) चिर और कृच्छ्र शब्द उत्तरपद होने पर (प्रतिबन्धि) प्रतिबन्धी=विघातीवाची पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(चिर) गमनचिरम्। चिरकालभावी गमन (जाना)। व्याहरणचिरम्। चिरकालभावी व्याहरण (बोलना)। (कृच्छ्र) गमनकृच्छ्रम्। दुःखदायी गमन (जाना)। व्याहरणकृच्छ्रम्। दुःखदायी व्याहरण (बोलना)।

गाड़ी आदि के अभाव से गमन आदि चिरकालभावी वा कृच्छ्रयोगी होता हुआ प्रतिबन्धी (रुकावटी) हो जाता है।

सिद्धि-(१) गमनचिनम्। गमन+सु+चिर+सु। गमनचिर+सु। गमनचिरम्।

यहां प्रतिबन्धीवाची गमन और चिर शब्दों का 'मयूरव्यंसकारदयश्च' (२।१।७१) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से चिर शब्द उत्तरपद होने पर प्रतिबन्धीवाची गमन पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'गमन' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त होने से लित्स्वर से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्तवाला अर्थात् आद्युदात्त है। ऐसे ही-गमनकृच्छ्रम्।

(२) व्याहरणचिरम्। यहां प्रतिबन्धीवाची व्याहरण और चिर शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से चिर शब्द उत्तरपद होने पर प्रतिबन्धीवाची व्याहरण पूर्वपद् प्रकृतिस्वर से रहता है। 'व्याहरण' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त होने से लित् स्वर से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्तवाला अर्थात् मध्योदात्त है। ऐसे ही-व्याहरणकृच्छ्रम्।

प्रकृतिस्वरः—

(७) पदेऽपदेशे ।७।

प०वि०-पदे ७ ।१ अपदेशे ७ ।१ ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-तत्पुरुषेऽपदेशे पदे पूर्ववदं प्रकृत्या ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासेऽपदेशवाचिनि पद-शब्दे उत्तरपदे परतः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-मूत्रं च तत् पदम्-मूत्रपदम् । मूत्रपदेन प्रस्थितः । उच्चारं च तत् पदम्-उच्चारपदम् । उच्चारपदेन प्रस्थितः । अपदेशः=व्याजः । मूत्रव्याजेन, उच्चारव्याजेन वा गत इत्यर्थः । उच्चारः=मलत्यागः ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अपदेशे) अपदेश=व्याज (बहाना) वाची (पदे) पद शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है ।*

*उदा०-**मूत्रपदेन प्रस्थितः ।** लघुशंका के बहाने से चला गया । **उच्चारपदेन प्रस्थितः ।** मलत्याग (शौच) के बहाने से चला गया ।*

*सिद्धि-(१) **मूत्रपदम् ।** मूत्र+सु+पद+सु । मूत्रपद+सु । मूत्रपदम् ।*

यहां मूत्र और अपदेशवाची पद शब्दों का 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२ ।१ ।७१) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है । इस सूत्र से अपदेशवाची 'पद' शब्द उत्तरपद होने पर 'मूत्र' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है । 'मूत्र' शब्द 'सिविमुच्योष्टेरू च' (उणा० ४ ।१६३) से ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर से आद्युदात्त है ।

*(२) **उच्चारपदम् ।** यहां उच्चार और अपदेशवाची पद शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है । इस सूत्र से अपदेशवाची 'पद' शब्द उत्तरपद होने पर 'उच्चार' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है । 'उच्चार' शब्द घञ्-प्रत्ययान्त होने से 'थाथघञ्क्त०' (६ ।२ ।१४३) से अन्तोदात्त है ।*

प्रकृतिस्वरः—

(८) निवाते वातत्राणे ।८।

प०वि०-निवाते ७ ।१ वातत्राणे ७ ।१ ।

स०-वातस्याभावः-निवातम्, तस्मिन्-निवाते । **'अव्ययं विभक्ति०'** (२ ।२ ।६) इत्यर्थाभावेऽव्ययीभावः । अथवा-निरुद्धो वातो यस्मिन् सः-

निवात:, तस्मिन्-निवाते (बहुव्रीहि:) वातात् त्राणम्-वातत्राणम्, तस्मिन्-वातत्राणे (पञ्चमीतत्पुरुष:)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वय:-तत्पुरुषे वातत्राणे निवाते पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थ:-तत्पुरुषे समासे वातत्राणवाचिनि निवातशब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-कुटी एव निवातम्-कुटीनिवातम्। शमीनिवातम्। कुड्य-निवातम्।

अत्र कुट्यादिहेतुके निवाते कुट्यादयो वर्तमाना: सन्त: समानाधिकरणेन निवातशब्देन सह समस्यन्ते।

आर्यभाषा: *अर्थ-(तत्पुरुष) तत्पुरुष समास में (वातत्राण) वात-त्राण=हवा से बचाव-वाची (निवाते) निवात शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-**कुटीनिवातम्**। हवा से बचाव करनेवाली कुटीर। **शमीनिवातम्**। हवा से बचाव करनेवाली शमी (जांटी वृक्ष)। **कुड्यनिवातम्**। हवा से बचाव करनेवाली कुड्य (दीवार)।*

*सिद्धि-(१) **कुटीनिवातम्**। कुटी+सु+निवात+सु। कुटीनिवात+सु। कुटीनिवातम्।*

*यहां कुटी और वातत्राणवाची 'निवात' शब्दों का '**मयूरव्यंसकादयश्च**' (२।१।७१) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वातत्राणवाची 'निवात' शब्द उत्तरपद होने पर 'कुटी' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कुटी' शब्द गौरादिगण में पठित होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। ऐसे ही-**शमीनिवातम्**।*

*(२) **कुड्यनिवातम्**। यहां 'कुड्य' और वातत्राणवाची 'निवात' शब्दों का पूर्वपद कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'निवात' शब्द उत्तरपद होने पर 'कुड्य' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कुड्य' शब्द '**कवतेर्यत्**' से यत्-प्रत्ययान्त होने से '**यतोऽनाव:**' (६।१।२०७) से आद्युदात्त है। कई आचार्यों का मत है कि '**कवतेर्ड्यक्**' से 'कुड्य' शब्द ड्यक्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। **कुड्यनिवातम्**। (कई आचार्यों के मत में)। महर्षि दयानन्द द्वारा पंचपादी उणादिवृत्ति (४।११३) में 'कुड्य' शब्द बहुलवचन से यक्-प्रत्ययान्त व्याख्यात है।*

प्रकृतिस्वरः-

(६) शारदेऽनार्तवे ।६।

प०वि०-शारदे ७ ।१ अनार्तवे ७ ।१ ।

स०-ऋतौ भवम्-आर्तवम्, न आर्तवम्-अनार्तवम्, तस्मिन्-अनार्तवे (नञ्तत्पुरुषः) ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-तत्पुरुषेऽनार्तवे शारदे पूर्वपदं प्रकृत्या ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासेऽनार्तववाचिनि शारद-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-रज्जूद्धृतं च तच्छारदम्-रज्जुशारदम् उदकम् । दृषत्पिष्टाः शारदाः-दृषच्छारदाः सक्तवः ।

शारदशब्दोऽत्र प्रत्यग्रवाची, तस्य नित्यसमासोऽस्वपदविग्रहश्चेष्यते । सद्यो रज्जूद्धृतम् प्रत्यग्रम्=अभिनवम् उदकं रज्जुशारदमुच्यते ।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अनार्तवे) आर्तव से भिन्न अर्थवाची (शारदे) शारद शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-रज्जुशारदम् उदकम्। अभी-अभी रस्सी से निकाला हुआ ताजा जल। दृषच्छारदाः सक्तवः। दृषत्=पत्थर से (चक्की में) पिसे हुये ताजा सत्तू।

सिद्धि-(१) रज्जुशारदम्। रज्जु+सु+शारद+सु। रज्जुशारद+सु। रज्जुशारदम्।

यहां रज्जु और आर्तव अर्थ से भिन्न अर्थ में विद्यमान शारद शब्दों का 'मयूर्व्यंसकादयश्च' (२।१।७१) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। यह नित्य और अस्वपदविग्रही समास है। इस सूत्र से अनार्तववाची 'शारद' शब्द उत्तरपद होने पर 'रज्जु' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'रज्जु' शब्द 'सृजेः सुम् च' (उणा० १।१५) से उ-प्रत्ययान्त है और वहां नित् की अनुवृत्ति से नित्स्वर से आद्युदात्त है। यहां शारद अभिनववाची है, आर्तववाची नहीं। आर्तव= ऋतुसम्बन्धी।

(२) दृषच्छारदाः। यहां दृषत् और अनार्तववाची शारद शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अनार्तववाची शारद शब्द उत्तरपद होने पर 'दृषत्' पूर्ववत् प्रकृतिस्वर से रहता है। 'दृषत्' शब्द 'दृणातेः षुगह्रस्वश्च' (उणा० १।१३१) से अदि-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

प्रकृतिस्वरः–

(१०) अध्वर्युकषाययोर्जातौ ।१०।

प०वि०–अध्वर्यु-कषाययोः ७ ।२ जातौ ७ ।१ ।

स०–अध्वर्युश्च कषायश्च तौ–अध्वर्युकषायौ, तयोः–अध्वर्युकषाययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–तत्पुरुषेऽध्वर्युकषाययोः पूर्वपदं प्रकृत्या, जातौ ।

अर्थः–तत्पुरुषे समासेऽध्वर्युकषाययोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, जातौ गम्यमानायाम् ।

उदा०–**(अध्वर्युः)** कठश्चासावध्वर्युः–कठाध्वर्युः । कालापाध्वर्युः । प्राच्याध्वर्युः । **(कषायः)** सर्पिर्मण्डस्य कषायम्–सर्पिर्मण्डकषायम् । उमापुष्पकषायम् । दौवारिककषायम् ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अध्वर्युकषाययोः) अध्वर्यु और कषाय शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है (जातौ) यदि वहां जाति अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-(अध्वर्यु) कठाध्वर्युः। कठ जाति का अध्वर्यु (ऋत्विक्)। कालापाध्वर्युः। कालाप जाति का अध्वर्यु (ऋत्विक्)। प्राच्याध्वर्युः। प्राच्य भरत का अध्वर्यु। (कषाय) सर्पिर्मण्डकषायम्। घृत की मांड के समान कसैला पदार्थ। उमापुष्पकषायम्। हल्दी के फूल के समान कसैला पदार्थ। दौवारिककषायम्। द्वारपाल के समान कसैले (कड़वे) स्वभाव का पुरुष।

सिद्धि-(१) कठाध्वर्युः। कठ+सु+अध्वर्यु+सु। कठाध्वर्यु+सु। कठाध्वर्युः।

यहां कठ और अध्वर्यु शब्दों का 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७१) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अध्वर्यु शब्द उत्तरपद परे होने पर 'कठ' पूर्वपद जातिविशेष अर्थ अभिधेय में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कठ' शब्द 'नन्दिग्रहिपचादिभ्याल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि अच्-प्रत्ययान्त व्युत्पादित है। उस 'कठ' शब्द से 'कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च' (४।३।१०४) से प्रोक्त अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है और उसका 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'कठ' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

(२) कालापाध्वर्युः। यहां कालाप और अध्वर्यु शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अध्वर्यु शब्द उत्तरपद होने पर 'कालाप' पूर्वपद जाति अर्थ अभिधेय

में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कलापिनोऽण्' (४।३।१०८) से कलापी शब्द से प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। 'इनण्यनपत्ये' (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव प्राप्त होने पर वा०- 'नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारि०' (६।४।११४) से टि-लोप होता है। इस प्रकार 'कालाप' शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है।

(३) प्राच्याध्वर्युः। यहां प्राच्य और अध्वर्यु शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अध्वर्यु शब्द उत्तरपद होने पर 'प्राच्य' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'प्राच्य' शब्द 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (४।२।१००) से यत्-प्रत्ययान्त है। अतः 'यतोऽनावः' (६।१।२०७) से आद्युदात्त है।

(४) सर्पिर्मण्डकषायम्। सर्पिर्मण्ड+ङस्+कषाय+सु। सर्पिर्मण्डकषाय+सु। सर्पिर्मण्डकषायम्।

यहां सर्पिर्मण्ड और कषाय शब्दों का जाति अर्थ अभिधेय में 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कषाय शब्द उत्तरपद होने पर 'सर्पिर्मण्ड' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'सर्पिर्मण्ड' शब्द में भी षष्ठीसमास होने से यह 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त है। ऐसे ही-उमापुष्पकषायम्।

(५) दौवारिककषायम्। यहां दौवारिक और कषाय शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कषाय शब्द उत्तरपद होने पर 'दौवारिक' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। दौवारिक शब्द 'तत्र नियुक्तः' (४।४।६९) से नियुक्त अर्थ में ठक्-प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय के कित् होने से 'कितः' (६।१।१५९) से अन्तोदात्त है।

प्रकृतिस्वरः-

(११) सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये।११।

प०वि०-सदृश-प्रतिरूपयोः ७।२ सादृश्ये ७।१।

स०-सदृशं च प्रतिरूपं च ते सदृशप्रतिरूपे, तयोः-सदृशप्रतिरूपयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

तद्धितवृत्तिः-सदृशस्य भावः-सादृश्यम्। अत्र **'गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च'** (५।१।१२४) इत्यनेन ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाद् भावे ष्यञ् प्रत्ययः।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सादृश्ये सदृशप्रतिरूपयोः प्रकृत्या पूर्वपदम्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सादृश्यवाचिनोः सदृशप्रतिरूपयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(सदृशम्) पित्रा सदृश इति पितृसदृशः । मात्रा सदृश इति मातृसदृशः । **(प्रतिरूपम्)** पित्रा प्रतिरूप इति पितृप्रतिरूपः । मात्रा प्रतिरूप इति मातृप्रतिरूपः ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सादृश्ये) सदृशतावाची (सदृशप्रतिरूपयोः) सदृश और प्रतिरूप शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(सदृश) पितृसदृशः । पिता के समान । मातृसदृशः । माता के समान (प्रतिरूप) पितृप्रतिरूपः । पिता के समान । मातृप्रतिरूपः । माता के समान ।

सिद्धि-(१) पितृसदृशः । पितृ+टा+सदृश+सु । पितृसदृश+सु । पितृसदृशः ।

यहां पितृ और सदृश शब्दों का 'पूर्वसदृश०' (२ ।१ ।३१) से तृतीयातत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सादृश्य अर्थ में 'सदृश' शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद 'पितृ' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। 'पितृ' शब्द 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०' (उणा० २ ।९५) से अन्तोदात्त निपातित है। ऐसे ही-पितृप्रतिरूपः ।

(२) मातृसदृशः । यहां मातृ और सदृश शब्दों का पूर्ववत् तृतीयातत्पुरुष समास है। शेष सब कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-मातृप्रतिरूपः ।

प्रकृतिस्वरः-

(१२) द्विगौ प्रमाणे ।१२।

प०वि०-द्विगौ ७ ।१ प्रमाणे ७ ।१ ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-तत्पुरुषे प्रमाणे द्विगौ पूर्वपदं प्रकृत्या ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे प्रमाणवाचिनि द्विगुसंज्ञके शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-प्राच्यश्चासौ सप्तशमः-प्राच्यसप्तशमः । गान्धारिसप्तशमः ।

सप्तशमाः प्रमाणमस्य इत्यस्मिन्नर्थे उत्पन्नस्य मात्रच् प्रत्ययस्य **वा०-'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्'** (५ ।२ ।३७) इत्यनेन लुग् भवति ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (प्रमाणे) प्रमाणवाची (द्विगौ) द्विगुसंज्ञक शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-प्राच्यसप्तशमः । प्राच्य भरत के लोगों के सात हाथ प्रमाणवाला । गान्धारिसप्तशमः । गान्धार देश के लोगों के सात हाथ प्रमाणवाला । शम=हाथ ।

सिद्धि-(१) प्राच्यसप्तशमः। यहां प्राच्य और प्रमाणवाची द्विगुसंज्ञक 'सप्तशम' शब्दों का 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७१) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'सप्तशम' शब्द में 'सप्तशमाः प्रमाणस्य' अर्थ में उत्पन्न 'मात्रच्' प्रत्यय का वा०-'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' (५।२।३७) से नित्य लुक् होता है। 'सप्तशमाः' इस प्रमाणवाची द्विगुसंज्ञक शब्द की 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा है। इस सूत्र से प्रमाणवाची, द्विगुसंज्ञक 'सप्तशम' शब्द उत्तरपद होने पर 'प्राच्य' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। प्राच्य शब्द 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (४।२।१००) से यत्-प्रत्ययान्त है और 'यतोऽनावः' (६।१।२०७) से आद्युदात्त है।

(२) गान्धारिसप्तशमः। यहां गान्धारि और प्रमाणवाची, द्विगुसंज्ञक 'सप्तशम' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारयतत्पुरुष समास है। 'गान्धारि' शब्द 'कर्दमादीनां च' (फिट्० ३।१०) से आद्युदात्त और विकल्पपक्ष में मध्योदात्त भी है-गान्धारिसप्तशमः। शेष कार्य पूर्ववत् है।

प्रकृतिस्वरः-

(१३) गन्तव्यपण्यं वाणिजे।१३।

प०वि०-गन्तव्य-पण्यम् १।१ वाणिजे ७।१।

गन्तुमर्हम्=गन्तव्यम्। पणितुमर्हम्=पण्यम्।

स०-गन्तव्यं च पण्यं च एतयोः समाहारः-गन्तव्यपण्यम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे वाणिज-शब्दे उत्तरपदे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(गन्तव्यम्) मद्रेषु वाणिजः-मद्रवाणिजः। काश्मीरवाणिजः। गान्धारिवाणिजः। मद्रादिषु जनपदेषु गत्वा व्यवहरन्तीत्यर्थः। **(पण्यम्)** गवां वाणिजः-गोवाणिजः। अश्ववाणिजः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (वाणिजे) वाणिज शब्द उत्तरपद होने पर (गन्तव्यपण्यम्) गन्तव्यवाची और पण्यवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(गन्तव्य) मद्रवाणिजः। मद्र जनपद में जाकर व्यापार करनेवाला। काश्मीरवाणिजः। काश्मीर जनपद में जाकर व्यापार करनेवाला। गान्धारिवाणिजः। गन्धार जनपद में जाकर व्यापार करनेवाला। (पण्य) गोवाणिजः। गौओं का व्यापारी। अश्ववाणिजः। घोड़ों का व्यापारी।

सिद्धि-(१) मद्रवाणिजः। मद्र+सुप्+वाणिज+सु। मद्रवाणिज+सु। मद्रवाणिजः।

यहां गन्तव्यवाची मद्र और वाणिज शब्दों का 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।३९) से सप्तमीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'वाणिज' शब्द उत्तरपद होने पर गन्तव्यवाची 'मद्र' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। 'मद्र' शब्द 'स्फायितञ्चि०' (उणा० २।१३) से रक्-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

(२) काश्मीरवाणिजः। यहां गन्तव्यवाची काश्मीर और वाणिज शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'काश्मीर' शब्द 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०८) से मध्योदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) गान्धारिवाणिजः। यहां गन्तव्यवाची गान्धारि और वाणिज शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'गान्धारि' शब्द 'कर्दमादीनां च' (फिट्० ३।१०) से आद्युदात्त अथवा मध्योदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। मध्योदात्त पक्ष में-गान्धारिवाणिजः।

(४) गोवाणिजः। यहां पण्यवाची गो और वाणिज शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'गो' शब्द आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) अश्ववाणिजः। यहां पण्यवाची अश्व और वाणिज शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'अश्व' शब्द आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। पण्य=क्रय-विक्रय के योग्य पदार्थ।

प्रकृतिस्वरः-

(१४) मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके।१४।

प०वि०-मात्र-उपज्ञा-उपक्रम-छाये ७।१ नपुंसके ७।१।

स०-मात्रं च उपज्ञा च उपक्रमश्च छाया च एतेषां समाहारो मात्रोपज्ञोपक्रमच्छायम्, तस्मिन्-मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसके तत्पुरुषे मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे मात्र-उपज्ञा-उपक्रम-छायासु उत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-**(मात्रम्)** भिक्षामात्रं न ददाति याचितः। समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किञ्चन। **(उपज्ञा)** पाणिनोपज्ञम् अकालकं व्याकरणम्। व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्। आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्। **(उपक्रमः)** आद्योपक्रमं प्रासादः। दर्शनीयोपक्रमम्। सुकुमारोपक्रमम्। नन्दोपक्रमाणि मानानि। **(छाया)** इषुच्छायम्। धनुश्छायम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये) मात्र, उपज्ञा, उपक्रम, छाया उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-(मात्र) भिक्षामात्रं न ददाति याचितः। वह मांगने पर भिक्षा के तुल्य प्रमाण भी नहीं देता है। समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किञ्चन। समुद्र के तुल्य प्रमाण कोई तालाब नहीं है। (उपज्ञा) पाणिनोपज्ञम् अकालकं व्याकरणम्। पाणिनिमुनि ने अपने उपज्ञान से काललक्षण रहित व्याकरणशास्त्र की रचना की। व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्। व्याडि मुनि ने अपने उपज्ञान से सर्वप्रथम दश हुष् शब्दों सहित काललक्षणयुक्त व्याकरणशास्त्र की रचना की। पाणिनिमुनि के 'वृत्' शब्द के समान व्याडि मुनि का 'हुष्' शब्द समाप्ति का सूचक है। आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्। आपिशलि मुनि ने सर्वप्रथम गुरु और लघु लक्षणयुक्त व्याकरणशास्त्र की रचना की। (उपक्रम) आद्योपक्रमं प्रासादः। आद्य (विश्वकर्मा) ने सर्वप्रथम प्रासाद=महल बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। दर्शनीयोपक्रमम्। दर्शनीय के द्वारा सर्वप्रथम बनाया हुआ। सुकुमारोपक्रमम्। सुकुमार के द्वारा सर्वप्रथम बनाया हुआ। नन्दोपक्रमाणि मानानि। नन्द नामक राजा ने सर्वप्रथम मान=बांटों से तोलने की पद्धति प्रारम्भ की। (छाया) इषुच्छायम्। इषु=बहुत धान्यों की छाया। धनुश्छायम्। धनुषों की छाया।

सिद्धि-(१) भिक्षामात्रम्। भिक्षायास्तुल्यप्रमाणमिति भिक्षामात्रम्। यहां भिक्षा और तुल्य प्रमाण शब्दों का अस्वपदविग्रह तथा षष्ठी तत्पुरुष समास है। मात्र शब्द समासवृत्ति में ही तुल्यप्रमाण अर्थ में होता है। 'भिक्षा' शब्द में 'भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च' (भ्वा०आ०) से गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) से 'अ' प्रत्यय है। अतः यह अ-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'मात्र' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) समुद्रमात्रम्। 'समुद्र' शब्द 'पाटलापालङ्कासागरार्थानाम्' (फिट्० १।२) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'मात्र' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) पाणिनोपज्ञम्। पाणिन+ङस्+उपज्ञा+सु। पाणिनोपज्ञ+सु। पाणिनोपज्ञम्।

यहां पाणिन और उपज्ञा शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। यह 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (२।४।२१) से नपुंसकलिङ्ग है। पणिनोऽपत्यं पाणिनः। यहां 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से 'अण्' प्रत्यय है। अण्-प्रत्ययान्त 'पाणिन' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से उपज्ञा उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) व्याड्युपज्ञम्। व्याडि+ङस्+उपज्ञा+सु। व्याड्युपज्ञ+सु। व्याड्युपज्ञम्।

यहां 'व्याडि' शब्द में 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। यह इञ्-प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-आपिशल्युपज्ञम्।

(५) आद्योपक्रमम्। 'आद्य' यहां 'आदि' शब्द से 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) से 'भव' अर्थ में यत्-प्रत्यय है। अतः यह 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से स्वरितान्त है। यह इस सूत्र से 'उपक्रम' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(६) दर्शनीयोपक्रमम्। यहां 'दर्शनीय' शब्द में 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से अनीयर् प्रत्यय है। अतः यह 'उपोत्तमं रिति' (६।१।२११) से उपोत्तम-उदात्त है। यह इस सूत्र से 'उपक्रम' उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(७) सुकुमारोपक्रमम्। 'सुकुमार' शब्द 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'उपक्रम' उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(८) नन्दोपक्रमम्। 'नन्द' शब्द में 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से 'अच्' प्रत्यय है। अतः यह 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'उपक्रम' उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(९) इषुच्छायम्। 'इषु' शब्द में 'इषेः किच्च' (उणा० १।१३) से 'उ' प्रत्यय है। यहां 'धान्ये नित्' (उणा० १।९) से 'नित्' की अनुवृत्ति मानकर 'उ' प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से यह आद्युदात्त है। इस सूत्र से यह 'छाया' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। 'छाया बाहुल्ये' (२।४।२२) से नपुंसकलिङ्ग होता है।

(१०) धनुश्छायम्। 'धनुष्' शब्द 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फिट्० २६) से आद्युदात्त है। इस सूत्र से यह 'छाया' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः—

(१५) सुखप्रिययोर्हिते।१५।

प०वि०-सुख-प्रिययोः ७।२ हिते ७।१।

स०-सुखं च प्रियश्च तौ सुखप्रियौ, तयोः-सुखप्रिययोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हिते तत्पुरुषे समासे सुखप्रिययोः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-हितवाचिनि तत्पुरुषे समासे सुखप्रिययोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(सुखम्) गमनसुखम्। वचनसुखम्। व्याहरणसुखम्। (प्रियम्) गमनप्रियम्। वचनप्रियम्। व्याहरणप्रियम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(हिते) हितवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सुखप्रिययोः) सुख और प्रिय शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-(सुख) गमनसुखम्। गमन=जाना परिणाम में हितकर है। वचनसुखम्। वचन=कहना परिणाम में हितकर है। व्याहरणसुखम्। व्याहरण=बोलना परिणाम में हितकर है। (प्रिय) गमनप्रियम्। जाना परिणाम में हितकर है। वचनप्रियम्। कहना परिणाम में हितकर है। व्याहरणप्रियम्। बोलना परिणाम में हितकर है।

सिद्धि-गमनसुखम्। यहां गमन और सुख शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से समानाधिकरण (कर्मधारय) तत्पुरुष समास है। 'गमन' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त होने से लित् स्वर से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त है। इस सूत्र से यह सुख शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-वचनसुखम्, आदि।

प्रकृतिस्वरः-

(१६) प्रीतौ च।१६।

प०वि०-प्रीतौ ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे, सुखप्रिययोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सुखप्रिययोः पूर्वपदं प्रकृत्या, प्रीतौ च।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सुखप्रिययोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, प्रीतौ च गम्यमानायाम्।

उदा०-(सुखम्) ब्राह्मणसुखं पायसम्। (प्रियः) छात्रप्रियोऽनध्यायः। कन्याप्रियो मृदङ्गः।

सुखप्रिययोः प्रीत्यात्मकत्वादिह प्रीतिग्रहणं तदतिशयद्योतनार्थम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सुखप्रिययोः) सुख और प्रिय शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है (च) और (प्रीतौ) वहां प्रीति अर्थ की प्रतीति होने पर।

उदा०-(सुख) ब्राह्मणसुखं पायसम्। खीर ब्राह्मण के लिये अत्यन्त सुखदायक है। (प्रिय) छात्रप्रियोऽनध्यायः। अनध्याय=छुट्टी छात्रों के लिये अत्यन्त प्रिय है। कन्याप्रियो मृदङ्गः। मृदङ्ग=वाद्यविशेष (मुरज) कन्याओं के लिये अत्यन्त प्रिय है।

सुख और प्रिय प्रीत्यात्मक ही हैं फिर यहां प्रीति का ग्रहण उनकी अधिकता को प्रकाशित करने के लिये किया गया है।

सिद्धि-(१) ब्राह्मणसुखम्। ब्राह्मण+ङे+सुख+सु। ब्राह्मणसुख+सु। ब्राह्मणसुखम्।

यहां ब्राह्मण और सुख शब्दों का **'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः'** (२।१।३६) से चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'ब्राह्मण' शब्द में 'ब्रह्मन्' शब्द से **'तस्यापत्यम्'** (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से सुख शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) *छात्रप्रियः।* यहां छात्र और प्रिय शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'छात्र' शब्द में **'छत्रादिभ्यो णः'** (४।४।६२) से 'ण' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से प्रिय शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) *कन्याप्रियः।* यहां कन्या और प्रिय शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'कन्या' शब्द **'तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः'** (फिट्० ४।८) से स्वरितान्त है। यह इस सूत्र से 'प्रिय' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः—

(१७) स्वं स्वामिनि।१७।

प०वि०-स्वम् १।१ स्वामिनि ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे स्वामिनि स्वं पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे स्वामि-शब्दे उत्तरपदे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-गवां स्वामी-गोस्वामी। अश्वानां स्वामी-अश्वस्वामी। धनस्य स्वामी-धनस्वामी।

आर्यभाषाः *अर्थ*-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (स्वामिनि) स्वामिन् शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-गोस्वामी। गौओं का स्वामी। *अश्वस्वामी।* घोड़ों का स्वामी। *धनस्वामी।* धन का स्वामी।

सिद्धि-(१) गोस्वामी। यहां गो और स्वामिन् शब्दों का **'षष्ठी'** (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'गो' शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'स्वामिन्' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) अश्वस्वामी। यहां अश्व और स्वामिन् शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'अश्व' शब्द आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से 'स्वामिन्' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) धनस्वामी। यहां धन और स्वामिन् शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'धन' शब्द आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से 'स्वामिन्' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः–

(१८) पत्यावैश्वर्ये।१८।

प०वि०-पत्यौ ७।१ ऐश्वर्ये ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तति।

अन्वयः-ऐश्वर्ये तत्पुरुषे पत्यौ पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पति-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-गृहस्य पतिः-गृहपतिः। सेनायाः पतिः-सेनापतिः। नराणां पतिः-नरपतिः। धान्यानां पतिः-धान्यपतिः।

आर्यभाषा: *अर्थ-(ऐश्वर्ये) ऐश्वर्यवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पत्यौ) पति शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-गृहपतिः। घर का ईश्वर (स्वामी)। सेनापतिः। सेना का ईश्वर। नरपतिः। नरों का ईश्वर। धान्यपतिः। धान्यों का ईश्वर।

सिद्धि-(१) गृहपतिः। यहां गृह और पति शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'गेहे कः' (३।१।१४४) से 'गृह' शब्द प्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में 'पति' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) सेनापतिः। यहां सेना और पति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। सह इनेन वर्तते इति सेना (बहुव्रीहिः)। सेना शब्द 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में 'पति' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) नरपतिः। यहां नर और पति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'नर' शब्द 'नॄ नये' (क्र्या०आ०) धातु से 'ॠदोरप्' (३।३।५७) से अप्-प्रत्ययान्त होने से

आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास 'पति' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) धान्यपति:। यहां धान्य और पति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'धान्य' शब्द 'धन धान्ये' (जु०प०) धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से ण्यत्-प्रत्ययान्त होने से 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से अन्तस्वरित है। यह इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में 'पति' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरप्रतिषेधः–

(१६) न भूवाक्चिद्दिधिषु।१६।

प०वि०–न अव्ययपदम्, भू-वाक्-चित्-दिधिषु १।१।

स०–भूश्च वाक् च चिच्च दिधिषूश्च एतेषां समाहारः-भूवाक्-चिद्दिधिषु (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे, पत्यौ, ऐश्वर्ये इति चानुवर्तते।

अन्वयः–ऐश्वर्ये तत्पुरुषे पत्यौ भूवाक्चिद्दिधिषु पूर्वपदं प्रकृत्या न।

अर्थः–ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पति-शब्दे उत्तरपदे भू, वाक्, चिद्, दिधिषू इत्येतानि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति।

उदा०–भुवः पतिः-भूपतिः। वाचः पतिः-वाक्पतिः। चितः पतिः-चित्पतिः। दिधिष्वाः पतिः-दिधिषुपतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ऐश्वर्ये) ऐश्वर्यवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पत्यौ) पति-शब्द उत्तरपद होने पर (भूवाक्चिद्दिधिषु) भू, वाक्, चित्, दिधिषू ये (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से (न) नहीं रहते हैं।*

उदा०-(भू) भूपतिः। भू=पृथिवी का ईश्वर (स्वामी)। वाक्पतिः। वाणी का ईश्वर। चित्पतिः। चेतन आत्मा का ईश्वर। दिधिषूपतिः। अपने भाई की विधवा स्त्री का ईश्वर। वह मनुष्य जिसने अपने भाई की विधवा स्त्री से विवाह किया हो।

सिद्धि-भूपतिः। यहां भू और पति शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद होने पर 'भू' शब्द के प्रकृतिस्वर का प्रतिषेध है। अतः 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-वाक्पतिः, चित्पतिः, दिधिषूपतिः।

प्रकृतिस्वरविकल्पः–

(२०) वा भुवनम् ।२०।

प०वि०–वा अव्ययपदम्, भुवनम् १।१।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे, पत्यौ, ऐश्वर्ये इति चानुवर्तते।

अन्वयः–ऐश्वर्ये तत्पुरुषे पत्यौ भुवनं पूर्वपदं वा प्रकृत्या।

अर्थः–ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पति-शब्दे उत्तरपदे भुवनमिति पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–भुवनस्य पतिः-भुवनपतिः। भुवनपतिः।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(ऐश्वर्ये) ऐश्वर्यवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पत्यौ) पति-शब्द उत्तरपद होने पर (भुवनम्) भुवन-शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (वा) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-भुवनपतिः, भुवनपतिः। भुवन=जगत् का ईश्वर (स्वामी)।

सिद्धि-भुवनपतिः। यहां भुवन और पति शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'भुवन' शब्द 'रञ्जेः क्युन्' (उणा० २।८०) से 'क्युन्' प्रत्यय की अनुवृत्ति में 'भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि' (उणा० २।८१) से क्युन्-प्रत्ययान्त है। यह इस सूत्र से ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति-शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है और विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-भुवनपतिः।

उणादि कोष (२।८१) में 'भुवन' शब्द वैदिकभाषा में आद्युदात्त कहा गया है किन्तु 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) में बहुलवचन से लौकिकभाषा में भी वह आद्युदात्त होता है। जैसे-भुवनपतिरादित्यः।

प्रकृतिस्वरः–

(२१) आशङ्काबाधनेदीयस्सु सम्भावने ।२१।

प०वि०–आशङ्क-आबाध-नेदीयस्सु ७।३ सम्भावने ७।१।

स०–आशङ्कश्च आबाधश्च नेदीयाँश्च तानि आशङ्काबाधनेदीयांसि, तेषु-आशङ्काबाधनेदीयस्सु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–सम्भावने तत्पुरुषे आशङ्काबाधनेदीयस्सु पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थ:-सम्भावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे आशङ्काबाधनेदीयस्सु उत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। अस्तित्वाध्यवसाय: सम्भावनमुच्यते। अध्यवसाय:=निश्चय:।

उदा०-**(आशङ्क:)** गमनाशङ्कं वर्तते। गमनमाशङ्क्यते इति सम्भाव्यते। वचनाशङ्कं वर्तते। व्याहरणाशङ्कं वर्तते। **(आबाध:)** गमनाबाधं वर्तते। गमनं बाध्यते इति सम्भाव्यते। वचनाबाधं वर्तते। व्याहरणाबाधं वर्तते। **(नेदीय:)** गमननेदीयो वर्तते। गमनमतिनिकटतरमिति सम्भाव्यते। व्याहरणनेदीयो वर्तते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सम्भावने) अस्तित्व के निश्चयवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (आशङ्काबाधनेदीयस्सु) आशङ्क, आबाध और नेदीयस् शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(आशङ्क) गमनाशङ्कं वर्तते। गमन की आशंका सम्भावित है। वचनाशङ्कं वर्तते। कथन की आशंका सम्भावित है। व्याहरणाशङ्कं वर्तते। बोलने की आशंका सम्भावित है। (आबाध) गमनाबाधं वर्तते। गमन में बाधा सम्भावित है। वचनाबाधं वर्तते। वचन में बाधा सम्भावित है। व्याहरणाबाधं वर्तते। बोलने में बाधा सम्भावित है। (नेदीयस्) गमननेदीयो वर्तते। गमन अति निकटतर है, सम्भावना है। व्याहरणनेदीयो वर्तते। बोलना अति निकट है, सम्भावना है।

सिद्धि-गमनाशङ्कम्। यहां गमन और आशङ्क शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है अथवा 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७१) से भी उक्त समास हो सकता है। 'गमन' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त होने से 'लिति' (६।१।१८७) से इसका प्रत्यय से पूर्ववती अच् उदात्त है। यह इस सूत्र से सम्भावनवाची तत्पुरुष समास में आशङ्क शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-वचनाशङ्कम्, व्याहरणाशङ्कम् आदि।

प्रकृतिस्वर:-

(२२) पूर्वे भूतपूर्वे।२२।

प०वि०-पूर्वे ७।१ भूतपूर्वे ७।१।

स०-भूत: पूर्वमिति-भूतपूर्व:, 'सुप् सुपा' इति केवलसमास:।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वय:-भूतपूर्वे तत्पुरुषे पूर्वे पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-भूतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्व-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृत्या भवति।

उदा०-आढ्यो भूतपूर्वः-आढ्यपूर्वः। दर्शनीयपूर्वः। सुकुमारपूर्वः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भूतपूर्वे) भूतपूर्ववाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पूर्वे) पूर्व-शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-आढ्यपूर्वः। भूतपूर्व आढ्य=धनवान्। दर्शनीयपूर्वः। भूतपूर्व दर्शनीय=देखने योग्य। सुकुमारपूर्वः। भूतपूर्व अत्यन्त कोमल।

*सिद्धि-(१) आढ्यपूर्वः। यहां आढ्य और भूतपूर्व शब्दों का **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'** (२।१।५७) से अथवा **'मयूरव्यंसकादयश्च'** (२।१।७२) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। समास में अर्थ के गम्यमान होने से 'भूत' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। जैसे-दध्नोपसिक्त ओदनः, दध्योदनः, यहां उपसिक्त शब्द का प्रयोग नहीं होता है अथवा समासवृत्ति में 'पूर्व' शब्द भूतपूर्व अर्थ में है। 'आढ्य' शब्द में आङ्पूर्वक **'ध्यै चिन्तायाम्'** (भ्वा०प०) धातु से वा०-**'घञर्थे कविधानम्'** (३।३।५८) से 'क' प्रत्यय और **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** (६।३।१०८) से धकार को ढकार आदेश है। **तत्रैत्येनं ध्यायन्तीत्याढ्यः।** यह 'आढ्य' शब्द **'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्'** (६।२।१४४) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से भूतपूर्ववाची तत्पुरुष समास में पूर्व-शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(२) दर्शनीयपूर्वः। यहां दर्शनीय और भूतपूर्व शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय समास है। दर्शनीय शब्द में **'तव्यत्तव्यानीयरः'** (३।१।९६) से अनीयर् प्रत्यय है। प्रत्यय के रित् होने से **'उपोत्तमं रिति'** (६।१।२११) से 'दर्शनीय' शब्द का उपोत्तम अच् उदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्व-शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(३) सुकुमारपूर्वः। यहां सुकुमार और भूतपूर्व शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'सुकुमार' शब्द **'नञ्सुभ्याम्'** (६।२।१७२) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्व-शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

प्रकृतिस्वरः-

(२३) सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये।२३।

प०वि०-सविध-सनीड-समर्याद-सवेश-सदेशेषु ७।३ सामीप्ये ७।१।

स०-सविधं च सनीडं च समर्यादं च सवेशं च सदेशं च तानि सविध०सदेशानि, तेषु-सविध०सदेशेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। समीपस्य भावः सामीप्यम्, तस्मिन्-सामीप्ये।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सामीप्ये तत्पुरुषे सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-सामीप्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु उत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-**(सविधम्)** मद्राणां सविधमिति मद्रसविधम्। गान्धारिसविधम्। काश्मीरसविधम्। **(सनीडम्)** मद्राणां सनीडमिति मद्रसनीडम्। गान्धारिसनीडम्। काश्मीरसनीडम्। **(समर्यादम्)** मद्राणां समर्यादमिति मद्रसमर्यादम्। गान्धारिसमर्यादम्। काश्मीरसमर्यादम्। **(सदेशम्)** मद्राणां सदेशमिति मद्रसदेशम्। गान्धारिसदेशम्। काश्मीरसदेशम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सामीप्ये) समीपतावाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सविध०सदेशेषु) सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश शब्दों के उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-(सविध) **मद्रसविधम्**। मद्र के समीप। **गान्धारिसविधम्**। गान्धारि के समीप। **काश्मीरसविधम्**। काश्मीर के समीप। (सनीड) **मद्रसनीडम्**। मद्र के समीप। **गान्धारिसनीडम्**। गान्धारि के समीप। **काश्मीरसनीडम्**। काश्मीर के समीप। (समर्याद) **मद्रसमर्यादम्**। मद्र के समीप। **गान्धारिसमर्यादम्**। गान्धारि के समीप। **काश्मीरसमर्यादम्**। काश्मीर के समीप। (सदेश) **मद्रसदेशम्**। मद्र के समीप। **गान्धारिसदेशम्**। गान्धारि के समीप। **काश्मीरसदेशम्**। काश्मीर के समीप।*

*सिद्धि-(१) **मद्रसविधम्**। यहां मद्र और सविध शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'सविध' शब्द में 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) से बहुव्रीहि समास और 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८१) से 'सह' के स्थान में 'स' आदेश होता है। ऐसे ही 'सनीड' आदि शब्दों में भी बहुव्रीहि समास जानें। 'सविध' आदि शब्दों की 'सह विधयेति सविधम्' इत्यादि केवल व्युत्पत्तिमात्र है। ये शब्द-समुदाय वस्तुतः समीपवाची हैं। 'मद्र' शब्द रक्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से सविध शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-मद्रसनीडम् आदि।*

*(२) **गान्धारिसविधम्**। यहां गान्धारि और सविध शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। गान्धारि शब्द कर्दमादिगण में पठित है इसे 'कर्दमादीनां वा' (फिट्० ३।१०) से आद्युदात्त अथवा द्वितीय अच् उदात्त होता है। यह इस सूत्र से सविध शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-गान्धारिसनीडम् आदि।*

*(३) **काश्मीरसविधम्**। यहां काश्मीर और सविध शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। काश्मीर शब्द 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९) से मध्योदात्त है।*

यह इस सूत्र से सविध शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-काश्मीरसनीडम् आदि।

विशेषः *(१) मद्र–मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट के पास से होती हुई वर्षा ऋतु में चनाब से मिलती है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६७)।*

(२) गान्धार–पाणिनिमुनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गान्धारि एक सूत्र में (४।१।६९) में दिया है। गन्धार महाजनपद कुनड़ या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती (यूनानी पिउकलाउती) थी, जहां स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६७)।

(३) काश्मीर जनपद लोकप्रसिद्ध है।

प्रकृतिस्वरः–

(२४) विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु।२४।

प०वि०–विस्पष्टादीनि १।३ गुणवचनेषु ७।३।

स०–विस्पष्ट आदिर्येषां तानि-विस्पष्टदीनि (बहुव्रीहिः)। गुणान् उक्तवन्त इति गुणवचनाः, तेषु-गुणवचनेषु (उपपदतत्पुरुषः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि गुणवचनेषु प्रकृत्या।

अर्थः–विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि गुणवचनेषु उत्तरपदेषु प्रकृतिस्वराणि भवन्ति।

उदा०–विस्पष्टं कटुकमिति विस्पष्टकटुकम्। विचित्रकटुकम्। व्यक्तकटुकम्। विस्पष्टं लवणमिति विस्पष्टलवणम्। विचित्रलवणम्। व्यक्तलवणम्।

विस्पष्टं कटुकमिति विगृह्य विस्पष्टकटुकमित्यत्र **'सुप् सुपा'** इत्यनेन केवलसमासो वेदितव्यः। विस्पष्टादयः शब्दाः प्रवृत्तिनिमित्तस्य विशेषणं वर्तन्ते। कटुकादिभिश्च शब्दैस्तत्तद् गुणवद् द्रव्यमभिधीयते इत्यतो नास्ति सामान्याधिकरण्यम्, अतो न कर्मधारयसमासः।

विस्पष्ट। विचित्र। व्यक्त। सम्पन्न। कटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण इति विस्पष्टादयः।।

आर्यभाषाः अर्थ-(विस्पष्टादीनि) विस्पष्ट आदि (पूर्वपदम्) पूर्वपद (गुणवचनेषु) गुणवाची शब्दों के उत्तरपद होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।

उदा०-**विस्पष्टकटुकम्।** साफ कडुवा। **विचित्रकटुकम्।** विचित्र कडुवा। **व्यक्तकटुकम्।** प्रकट कडुवा। **विस्पष्टलवणम्।** साफ नमकीन। **विचित्रलवणम्।** विचित्र नमकीन। **व्यक्तलवणम्।** प्रकट नमकीन।

'विस्पष्टकटुकम्' यहां 'विस्पष्टं कटुकम्' ऐसा विग्रह करके 'सुप् सुपा' से केवल समास जानें। विस्पष्ट आदि शब्द प्रवृत्ति-निमित्त के विशेषण है। कटुक आदि शब्दों से उस गुणवान् द्रव्यों का कथन किया जाता है इसलिये विस्पष्ट और कटुक शब्द का परस्पर समानाधिकरण नहीं है, अत: यहां कर्मधारय समास नहीं है।

सिद्धि-(१) **विस्पष्टकटुकम्।** यहां विस्पष्ट और गुणवाची कटुक शब्दों का 'सुप् सुपा' से केवलसमास है। विस्पष्ट शब्द 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से गुणवाची कटुक शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-**विस्पष्टलवणम्।**

(२) **विचित्रकटुकम्।** यहां विचित्र और कटुक शब्दों का पूर्ववत् केवलसमास है। 'विचित्र' शब्द में 'वि' उपसर्गपूर्वक 'चित्र चित्रीकरणे' (चु०उ०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय है-विशेषेण चित्रम्-विचित्रम् (प्रादितत्पुरुष)। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) से 'वि' अव्यय प्रकृतिस्वर से रहता है। 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४।१२) से निपात (अव्यय) आद्युदात्त होते हैं। अत: 'विचित्र' शब्द आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से गुणवाची कटुक शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-**विचित्रलवणम्।**

(३) **व्यक्तकटुकम्।** यहां व्यक्त और कटुक शब्दों का पूर्ववत् केवलसमास है। 'व्यक्त' शब्द (वि+अक्त) 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से आदिस्वरित है। यह इस सूत्र से गुणवाची 'कटुक' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-**व्यक्तलवणम्।**

विस्पष्ट आदि गण में जो अन्य शब्द पठित हैं उनमें-'सम्पन्न' शब्द 'थाथाघञ्क्ता-जबित्रकाणाम्' (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है। पटु और पण्डित शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। 'कुशल' शब्द 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।३८) से अन्तोदात्त है। 'चपल' शब्द 'चुपेरच्चोपधायाः' (उणा० १।१११) से कल-प्रत्ययान्त है। यहां 'वृषादिभ्यश्चित्' (उणा० १।१०६) से 'चित्' की अनुवृत्ति है। अत: 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त 'निपुण' शब्द में नि-उपसर्गपूर्वक 'पुण कर्मणि शुभे' (तु०प०) धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) से 'क' प्रत्यय है। अत: यह 'थाथघञक्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है।

प्रकृतिस्वरः-

(२५) श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये।२५।

प०वि०- श्र-ज्य-अवम-कन्-पापवत्सु ७।३ भावे ७।१ कर्मधारये ७।१।

स०-श्रश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवाँश्च ते श्रज्यावमकन्-पापवन्तः, तेषु-श्रव्यावमकन्पापवत्सु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मधारये समासे श्रज्यावमकन्पापवत्सु च शब्देषु उत्तरपदेषु भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(श्रः) गमनं च तच्छ्रेष्ठम्-गमॅनश्रेष्ठम्। गमॅनश्रेयः। **(ज्यः)** वचनं च तज्ज्येष्ठम्-वचॅनज्येष्ठम्। वचॅनज्यायः। **(अवमम्)** गमनं च तदवमम्-गमॅनावमम्। वचॅनावमम्। **(कन्)** गमनं च तत् कनिष्ठम्-गमॅनकनिष्ठम्। गमॅनकनीयः। **(पापवत्)** गमनं च तत् पापिष्ठम्-गमॅनपापिष्ठम्। गमॅनपापीयः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (श्रज्या०) श्र, ज्य, अवम, कन् और पापवन् शब्दों के उत्तरद होने पर (भावे) भाववाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) पकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-(श्र) **गमॅनश्रेष्ठम्।** श्रेष्ठ=बहुतों में प्रशस्य गमन (जाना)। **गमॅनश्रेयः।** श्रेय=दोनों में प्रशस्य गमन। (ज्य) **वचॅनज्येष्ठम्।** ज्येष्ठ=बहुतों में प्रशस्य वचन। **वचॅनज्यायः।** ज्यायः=दोनों में प्रशस्य वचन। (अवम) **गमॅनावमम्।** तिरस्करणीय गमन। **वचॅनावमम्।** तिरस्करणीय वचन। (कन्) **गमॅनकनिष्ठम्।** कनिष्ठ=बहुतों में अल्प गमन। **गमॅनकनीयः।** कनीय=दोनों में अल्प गमन। (पापवत्) **गमॅनपापिष्ठम्।** पापिष्ठ=बहुतों में पापरूप गमन। **गमॅनपापीयः।** पापीय=दोनों में पापरूप गमन।*

*सिद्धि-**गमॅनश्रेष्ठम्।** यहां गमन और श्रेष्ठ शब्दों का 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७१) से कर्मधारय समास है। अतः गमन विशेष्य का समास में पूर्वनिपात है। 'गमन' शब्द ल्युट्-प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है। इस सूत्र से 'श्र' शब्द उत्तरपद परे होने पर यह भाववाची 'गमन' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-वचॅनश्रेष्ठम् आदि।*

प्रकृतिस्वरः–

(२६) कुमारश्च।२६।

प०वि०–कुमारः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम् कर्मधारये इति चानुवर्तते।

अन्वयः–कर्मधारये कुमारः पूर्वपदं च प्रकृत्या।

अर्थः–कर्मधारये समासे कुमार-शब्दः पूर्वपदं च प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–कुमारी चेयं श्रमणा-कुमारश्रमणा। कुमारी चेयं कुलटा-कुमारकुलटा। कुमारी चेयं तापसी-कुमारतापसी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (कुमारः) कुमार शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (च) भी (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-**कुमारश्रमणा**। श्रमणा=संन्यासिनी कुमारी। **कुमारकुलटा**। कुलटा= व्यभिचारिणी कुमारी। **कुमारतापसी**। तपस्विनी कुमारी (ब्रह्मचारिणी)।*

*सिद्धि-**कुमारश्रमणा**। यहां कुमारी और श्रमणा शब्दों का 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२।२।६९) से कर्मधारय समास है। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा से स्त्रीलिङ्ग कुमारी शब्द का ग्रहण किया जाता है। 'पुंवत् कर्मधारयजातीय-देशीयेषु' (३।३।४३) से 'कुमारी' शब्द को पुंवद्भाव होता है। 'कुमार' शब्द में 'कुमार क्रीडायाम्' (चु०उ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि अच् प्रत्यय है। प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मधारय समास में पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।*

आद्युदात्तः–

(२७) आदिः प्रत्येनसि।२७।

प०वि०–आदिः ५।१ प्रत्येनसि ७।१।

स०–प्रतिगतम् एनो यस्य स प्रत्येनाः, तस्मिन्-प्रत्येनसि (बहुव्रीहिः)। एनः=पापम्।

अनु०–पूर्वपदम्, कर्मधारये, कुमार इति चानुवर्तते।

अन्वयः–कर्मधारये प्रत्येनसि कुमारः पूर्वपदम् आदिः (उदात्तम्)।

अर्थः–कर्मधारये समासे प्रत्येनसि शब्दे उत्तरपदे कुमारशब्दः पूर्वपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-कुमारश्चासौ प्रत्येना इति कुमारप्रत्येनाः। पापरहितः कुमार इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (प्रत्येनसि) प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद होने पर (कुमारः) कुमार शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-कुमारप्रत्येनाः। पापरहित कुमार। राजा का अंगरक्षक राजकुमार (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३९७)।

सिद्धि-कुमारप्रत्येनाः। यहां कुमार और प्रत्येनस् शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय समास है। इस सूत्र से 'प्रत्येनस्' शब्द उत्तरपद होने पर 'कुमार' शब्द पूर्वपद आद्युदात्त होता है। 'उदात्त' शब्द इस सूत्र में पठित नहीं है किन्तु अर्थसामर्थ्य से उदात्त-अर्थ ग्रहण किया जाता है।

आद्युदात्तविकल्पः–

(२८) पूगेष्वन्यतरस्याम्।२८।

प०वि०-पूगेषु ७।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-पूर्वपदम्, कर्मधारये, कुमारः, आदिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये पूगेषु कुमारः पूर्वपदमन्यतरस्याम् आदिः (उदात्तम्)।

अर्थः-कर्मधारये समासे पूगवाचिषु उत्तरपदेषु कमारशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन आद्युदात्तं भवति। नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगा इत्युच्यन्ते।

उदा०-कुमाराश्च ते चातकाः कुमारचातकाः। कुमारचातकाः। कुमारलोहध्वजाः। कुमारलोहध्वजाः। कुमारबलाहकाः। कुमारबलाहकाः। कुमारजीमूताः। कुमारजीमूताः।

अत्र यदाऽऽद्युदात्तत्वं न भवति तदा **'कुमारश्च'** (६।२।२६) इत्यत्र ये **'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्'** इति परिभाषया प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिच्छन्ति तेषां मते **'समासस्य'** (६।१।२१७) इत्यनेनान्तोदात्तत्वमेव भवति–कुमारचातकाः। कुमारलोहध्वजाः। कुमारबलाहकाः। कुमारजीमूताः।

आर्यभाषाः अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (पूगेषु) पूग=गणविशेषवाची शब्द उत्तरपद होने पर (कुमारः) कुमार शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (आदिः) आद्युदात्त होता है।

उदा०-कुमारचातकाः। कुमारचातकाः। चातक कुमार। कुमारलोहध्वजाः। कुमारलोहध्वजाः। लोहध्वज कुमार। कुमारबलाहकाः। कुमारबलाहकाः। बलाहक कुमार। कुमारजीमूताः। कुमारजीमूताः। जीमूत कुमार। ये चातक आदि शब्द नाना जातिवाले, अनिश्चितवृत्ति (आजीविका) वाले, अर्थ और काम प्रधान पूग=संघो के वाचक हैं।

यहां जब आद्युदात्त स्वर नहीं होता है तब 'कुमारश्च' (६।२।२६) से कई आचार्य पूर्वपद प्रकृतिस्वर चाहते हैं और जो आचार्य 'कुमारश्च' (६।२।२६) में 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा से प्रतिपदोक्त 'कुमार' (एकवचन) का ही ग्रहण चाहते हैं, उनके मत में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-कुमारचातकाः, कुमारलोहध्वजाः। कुमारबलाहकाः। कुमारजीमूताः।

सिद्धि-कुमारचातकाः। यहां कुमार और चातक शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय समास है। इस सूत्र से पूगवाची 'चातक' शब्द उत्तरपद होने पर 'कुमार' शब्द आद्युदात्त होता है। विकल्प पक्ष में 'कुमारश्च' (६।२।२६) से पूर्वपद कुमार शब्द प्रकृतिस्वर (अन्तोदात्त) से रहता है। जो आचार्य 'कुमारश्च' (६।२।२६) में प्रतिपदोक्त ग्रहण के पक्षधर हैं उनके मत में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है जैसा कि ऊपर उदाहरण में दर्शाया गया है।

'कुमारचातक' आदि शब्दों में 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' (५।३।११२) से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है किन्तु उसका 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (२।४।६२) से बहुवचन में लुक् हो जाता है।

प्रकृतिस्वरः–

(२६) इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ।२६।

प०वि०-इगन्त-काल-कपाल-भगाल-शरावेषु ७।३ द्विगौ ७।१।

स०-इक् अन्ते यस्य स इगन्तः। इगन्तश्च कालश्च भगालश्च शरावश्च ते इगन्त०शरावाः, तेषु-इगन्त०शरावेषु (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवतति।

अन्वयः-द्विगौ इगन्तकालकपालभगालशरावेषु पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-द्विगौ समासे इगन्तेषु, कालवाचिषु, कपालभगालशरावेषु च शब्देषु उत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(इगन्तः) पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्येति पञ्चारत्निः। दशारत्निः। **(कालः)** पञ्च मासान् भृतो भूतो भावी वेति पञ्चमास्यः। दशमास्यः। पञ्चभिर्वर्षैर्निर्वृत्त इति पञ्चवर्षः। दशवर्षः। **(कपालः)** पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः। दशकपालः। **(भगालः)** पञ्चसु भगालेषु संस्कृतः पञ्चभगालः। दशभगालः। **(शरावः)** पञ्चसु शरावेषु संस्कृतः पञ्चशरावः। दशशरावः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(द्विगौ) द्विगुसमास में (इगन्त०शरावेषु) इगन्त, कालवाची और कपाल, भगाल, शराव शब्दों के उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-(इगन्त) **पञ्चारत्निः**। पांच अरत्नि प्रमाण (लम्बाई) वाला। **दशारत्निः**। दश अरत्नि प्रमाणवाला। अरत्नि=डेढ़ फुट लम्बा। (काल) **पञ्चमास्यः**। पांच मास तक भृत, भूत वा भावी सेवक आदि। **दशमास्यः**। दश मास तक भृत, भूत वा भावी सेवक आदि। (कपाल) **पञ्चकपालः**। पांच कपालों में संस्कृत पुरोडाश। **दशकपालः**। दश कपालों में संस्कृत पुरोडाश। कपाल=प्याला (कटोरा)। (भगाल) **पञ्चभगालः**। पांच भगालों में संस्कृत पुरोडाश। **दशभगालः**। दश भगालों में संस्कृत पुरोडाश। भगाल=खोपड़ी की आकृति का पात्रविशेष। (शराव) **पञ्चशरावः**। पांच भगालों में संस्कृत पुरोडाश। **दशशरावः**। दश भगालों में संस्कृत पुरोडाश। शराव=शकोरा, मिट्टी का पात्रविशेष।*

*सिद्धि-(१) **पञ्चारत्निः**। यहां पञ्चन् और इगन्त अरत्नि शब्दों का **'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'** (२।१।५०) से तद्धितार्थ में द्विगुसमास है। **'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः'** (५।२।३७) से प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय होता है किन्तु वा०-**'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्'** (५।२।३७) से उसका नित्य लोप हो जाता है। **'पञ्चन्'** शब्द **'त्रः संख्यायाः'** (फिट्० २।५) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से द्विगुसमास में इगन्त अरत्नि शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-**दशारत्निः**।*

*(२) **पञ्चमास्यः**। यहां पञ्चन् और कालवाची मास शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। उससे **'द्विगोर्यप्'** (५।१।८२) से भूत अर्थ में तथा वयः (आयु) अभिधेय में **'यप्'** प्रत्यय है। शेष स्वरकार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-**दशमास्यः**।*

*(३) **पञ्चकपालः**। यहां पञ्चन् और कपाल शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। **'संस्कृतं भक्षाः'** (४।२।१६) से संस्कृत अर्थ में **'अण्'** प्रत्यय और **'द्विगोर्लुगनपत्ये'***

(४ ।१ ।८८) से उसका लुक् हो जाता है। शेष स्वरकार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-दशकपाल:, पञ्चभगाल:, दशभगाल:, पञ्चशराव:, दशशराव: ।

(३) पञ्चवर्ष: । यहां पञ्चन् और कालवाची वर्ष शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। 'वर्षाल्लुक् च' (५ ।१ ।८८) से निर्वृत्त आदि अर्थों में विहित 'ठञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। शेष स्वरकार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-दशवर्ष: ।

प्रकृतिस्वरविकल्प:-

(३०) बह्वन्यतरस्याम् ।३०।

प०वि०-बहु १ ।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम् ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, इगन्तकालकपालभगालशरावेषु, द्विगाविति चानुवतति ।

अन्वय:-द्विगाविगन्तकालकपालभगालशरावेषु बहुपूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या ।

अर्थ:-द्विगौ समासे इगन्तेषु कालवाचिषु कपालभगालशरावेषु चोत्तरपदेषु बहु-शब्द: पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-(इगन्त:) बह्व्योऽरत्नय: प्रमाणमस्येति बह्वरत्नि: । बह्वरत्नि: । (काल:) बहून् मासान् भृतो भूतो भावी वेति बहुमास्य: । बहुमास्य: । (कपाल:) बहुषु कपालेषु संस्कृतो बहुकपाल: । बहुकपाल: । (भगाल:) बहुषु भगालेषु संस्कृतो बहुभगाल: । बहुभगाल: । (शराव:) बहुषु शरावेषु संस्कृतो बहुशराव: । बहुशराव: ।

आर्यभाषा: *अर्थ-(द्विगौ) द्विगुसमास में (इगन्त०शरावेषु) इगन्त, कालवाची और कपाल, भगाल, शराव शब्दों के उत्तरपद होने पर (बहु) बहु-शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(इगन्त) बह्वरत्नि: । बह्वरत्नि: । बहुत अरत्नि प्रमाणवाला । अरत्नि=डेढ़ फुट लम्बा । (काल) बहुमास्य: । बहुमास्य: । बहुत मासों तक भृत, भूत, भावी सेवक आदि । (कपाल) बहुकपाल: । बहुकपाल: । बहुत कपालों में संस्कृत पुरोडाश । (भगाल) बहुभगाल: । बहुभगाल: । बहुत भगालों में संस्कृत पुरोडाश । (शराव) बहुशराव: । बहुशराव: । बहुत शरावों में संस्कृत पुरोडाश ।

सिद्धि-(१) बह्वरत्नि: । यहां बहु और इगन्त अरत्नि शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। 'बहु' शब्द 'फिषोऽन्तोदात्त:' (फिट्० १ ।१) से अन्तोदात्त है। उसे इस सूत्र

से प्रकृतिस्वर करने पर 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण्-आदेश होने पर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से स्वरित स्वर होता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-बह्वरत्निः।

(२) बहुमास्यः। यहां बहु और कालवाची मास शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। उससे 'द्विगोर्यप्' (५।१।८२) से भूत अर्थ में तथा वयः (आयु) अभिधेय में 'यप्' प्रत्यय है। 'बहु' शब्द इस सूत्र से द्विगुसमास में कालवाची मास शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर होता है-बहुमास्यः।

(३) बहुकपालः। यहां बहु और कपाल शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। 'बहु' शब्द पूर्ववत् अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से द्विगुसमास में कपाल शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्व से रहता है। विकल्प पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर होता है-बहुकपालः। ऐसे ही- बहुभगालः, बहुभगालः। बहुशरावः, बहुशरावः।

प्रकृतिस्वरविकल्पः—

(३१) दिष्टिवितस्त्योश्च।३१।

प०वि०-दिष्टि-वितस्त्योः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-द्विष्टिश्च वितस्तिश्च ते दिष्टिवितस्ती, तयोः-दिष्टिवितस्त्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, द्विगौ, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-द्विगौ दिष्टिवितस्त्योश्च पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-द्विगौ समासे दिष्टिवितस्त्योश्चोत्तरपदयोः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-**(दिष्टिः)** पञ्च दिष्टयः प्रमाणमस्येति पञ्चदिष्टिः। पञ्चदिष्टिः। **(वितस्तिः)** पञ्च वितस्तयः प्रमाणमस्येति पञ्चवितस्तिः। पञ्चवितस्तिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(द्विगौ) द्विगुसमास में (दिष्टिवितस्त्योः) दिष्टि और वितस्ति शब्द उत्तरपद होने पर (च) भी (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(दिष्टि) पञ्चदिष्टिः। पञ्चदिष्टिः। पांच दिष्टि प्रमाणवाला। दिष्टि=प्रादेश (अंगूठे के शिर से तर्जनी अंगुलि के शिर तक की दूरी का प्रमाणविशेष)। प्राचीनकाल का एक मान जो अंगूठे की नोक से लेकर तर्जनी की नोक तक का होता था और नापने के काम

में आता था (शब्दार्थकौस्तुभ)। (वितस्ति) पञ्चवितस्तिः। पञ्चवितस्तिः। पांच वितस्ति प्रमाणवाला। वितस्ति=१२ अंगुल (९ इंच)। दिष्टि और वितस्ति शब्द पर्यायवाची हैं।

सिद्धि-पञ्चदिष्टिः। यहां पञ्चन् और दिष्टि शब्दों का तद्धितार्थ में पूर्ववत् द्विगुसमास है। 'पञ्चन्' शब्द 'न्नः संख्यायाः' (फिट्० २।५) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से द्विगुसमास में दिष्टि शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-पञ्चदिष्टिः। ऐसे ही-पञ्चवितस्तिः, पञ्चवितस्तिः।

प्रकृतिस्वरः-

(३२) सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्वकालात्।३२।

प०वि०-सप्तमी १।१ सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धेषु ७।३ अकालात् ५।१।

स०-सिद्धश्च शुष्कश्च पक्वश्च बन्धश्च ते सिद्धशुष्कपक्वबन्धाः, तेषु-सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न काल इति अकालः, तस्मात्-अकालात् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु सप्तमी पूर्वपदं प्रकृत्या, अकालात्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु उत्तरपदेषु सप्तम्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, सा चेत् सप्तमी कालाद् न भवति।

उदा०-(सिद्धः) सांकाश्ये सिद्ध इति सांकाश्यसिद्धः। काम्पिल्ये सिद्ध इति काम्पिल्यसिद्धः। (शुष्कः) ओके शुष्क इति ओकशुष्कः। निधने शुष्क इति निधनशुष्कः। (पक्वः) कुम्भ्यां पक्व इति कुम्भीपक्वः। कलस्यां पक्व इति कलसीपक्वः। भ्राष्ट्रे पक्व इति भ्राष्ट्रपक्वः। (बन्धः) चक्रे बन्ध इति चक्रबन्धः। चारके बन्ध इति चारकबन्धः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सिद्ध०बन्धेषु) सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध शब्दों के उत्तरपद होने पर (सप्तमी) सप्तम्यन्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है (अकालात्) यदि वह सप्तमी कालवाची शब्द से उत्तर न हो।*

उदा०-(सिद्ध) सांकाश्यसिद्धः। सांकाश्य नगर में बना हुआ। काम्पिल्यसिद्धः। काम्पिल्य नगर में बना हुआ। (शुष्क) ओकशुष्कः। घर में सूखा हुआ। निधनशुष्कः।

गरीबी में सूखा हुआ। (पक्व) कुम्भीपक्वः। हंडिया में पका हुआ। कलसीपक्वः। गगरी में पका हुआ। भ्राष्ट्रपक्वः। भाड़ में पका हुआ। (बन्ध) चक्रबन्धः। चक्र में बन्धा हुआ। चारकबन्धः। कारागार (जेळ) में बन्धा हुआ।

सिद्धि-(१) सांकाश्यसिद्धः। यहां सांकाश्य और सिद्ध शब्दों का 'सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च' (२।१।४१) से सप्तमीतत्पुरुष समास है। सांकाश्य शब्द 'वुञ्छण्०' (४।२।७९) से ण्य-प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से तत्पुरुष समास में सिद्ध शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। फिट् सूत्र में 'सांकाश्यकाम्पिल्य०' (फिट्० ३।१६) से सांकाश्य शब्द मध्योदात्त भी है। अतः शान्तनव आचार्य के मत में यह मध्योदात्त भी होता है-सांकाश्यसिद्धः। ऐसे ही-काम्पिल्यसिद्धः।

(२) ओकशुष्कः। यहां ओक और शुष्क शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'ओक' शब्द में 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्' (उणा० ३।४१) से विहित कक् प्रत्यय बहुलवचन से 'अव रक्षणादिषु' (भ्वा०प०) धातु से भी होता है। 'ज्वरत्वर०' (६।४।२०) से 'अव्' धातु के वकार और उपधा भूत अकार को ऊठ् होता है और उसे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण होकर 'ओक' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार 'ओक' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से तत्पुरुष समास में शुष्क शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

काशिकावृत्ति में 'ऊकशुष्कः' पाठ है किन्तु महर्षि दयानन्द ने 'सृवृभू०' (उणा० ३।४१) की संस्कृतवृत्ति में बहुलवचन से 'ओक' शब्द सिद्ध किया है, ऊक नहीं।

(३) निधनशुष्कः। यहां निधन और शुष्क शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'निधन' शब्द में नि-उपसर्गपूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः' (उणा० २।८२) से 'क्यु' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' को अन-आदेश और 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'धा' के आकार का लोप कर 'निधन' शब्द सिद्ध होता है। अतः यह प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। यह इस सूत्र से शुष्क शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) कुम्भीपक्वः। यहां कुम्भी और पक्व शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'कुम्भी' शब्द में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'पक्व' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-कलसीपक्वः।

(५) भ्राष्ट्रपक्वः। यहां भ्राष्ट्र और पक्व शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'भ्राष्ट्र' शब्द 'भ्रस्जिगमि०' (उणा० ४।१६०) से ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से 'पक्व' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(६) चक्रबन्धः। यहां चक्र और बन्ध शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'चक्र' शब्द 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'क' प्रत्यय और वा०- 'कृञादीनां के द्वे भवतः' (६।१।१२) से द्वित्व होकर सिद्ध होता है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'बन्ध' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(७) चारकबन्धः। यहां चारक और बन्ध शब्दों का पूर्ववत् सप्तमीतत्पुरुष समास है। 'चारक' शब्द 'चर गतिभक्षणयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'ण्वुल्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् होता है। अतः यह इस सूत्र से बन्ध शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

'अकालात्' के कथन से यहां प्रकृतिस्वर नहीं होता है-पूर्वाह्णसिद्धः। अपराह्णसिद्धः। यहां 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है। 'सांकाश्यसिद्धः' आदि में 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३९) से कृदन्त उत्तरपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, अतः यह कथन किया गया है।

***विशेषः** (१) सांकाश्य–फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती (वर्तमान ईखन) नदी के किनारे वर्तमान नाम संकिसा है, जहां अशोककालीन स्तम्भ के चिह्न मिले हैं (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८७)।*

(२) काम्पिल्य–संकाश आदिगण में काम्पिल्य का पाठ है, जो फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में वर्तमान नाम कम्पिल है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८७)।

प्रकृतिस्वरः–

(३३) परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु।३३।

प०वि०-परि-प्रति-उप-अपाः १।३ वर्ज्यमान-अहोरात्रावयवेषु ७।३।

स०-परिश्च प्रतिश्च उपश्च अपश्च ते-परिप्रत्युपापाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अहश्च रात्रिश्च तौ-अहोरात्रौ, तयोः-अहोरात्रयोः, अहोरात्रयोरवायवाः-अहोरात्रावयवाः, वर्ज्यमानं च अहोरात्रावयवाश्च ते-वर्ज्यमानाहोरात्रावयवाः, तेषु-वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु (षष्ठीतत्पुरुषगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-{अव्ययीभावे} वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु परिप्रत्युपापा पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-{अव्ययीभावसमासे} वर्ज्यमानवाचके अहरवयववाचिनि, रात्र्यवयववाचिनि चोत्तरपदे परि-प्रति-उप-अपाः पूर्वपदभूताः प्रकृतिस्वरा भवन्ति।

उदा०-**(परिः)** त्रिगर्तात् परि इति परित्रिगर्तम्। परित्रिगर्तं वृष्टो देवः। परिसौवीरं वृष्टो देवः। परिसार्वसेनि वृष्टो देवः। **(प्रतिः)** पूर्वाह्णं पूर्वाह्णं प्रति इति प्रतिपूर्वाह्णम्। प्रत्यपराह्णम्। प्रतिपूर्वरात्रम्। प्रत्यपररात्रम्। **(उपः)** पूर्वाह्णस्य समीपमिति उपपूर्वाह्णम्। उपापराह्णम्। उपपूर्वरात्रम्। उपापररात्रम्। **(अपः)** त्रिगर्ताद् अप इति अपत्रिगर्तम्। अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः। अपसौवीरं वृष्टो देवः। अपसार्वसेनि वृष्टो देवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-{अव्ययीभाव समास में} (वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु) वर्ज्यमानवाचक, अहरवयववाची और रात्र्यवयववाची शब्दों के उत्तरपद होने पर (परिप्रत्युपापाः) परि, प्रति, उप, अप (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।*

उदा०-(परि) परित्रिगर्तं वृष्टो देवः। त्रिगर्त देश को छोड़कर बादल बरसा। परिसौवीरं वृष्टो देवः। सौवीर देश को छोड़कर बादल बरसा। परिसार्वसेनि वृष्टो देवः। सार्वसेनि देश को छोड़कर बादल बरसा। (प्रति) प्रतिपूर्वाह्णम्। प्रत्येक पूर्वाह्ण=दिन का पूर्व भाग। प्रत्यपराह्णम्। प्रत्येक अपराह्ण=दिन का अपर भाग। प्रतिपूर्वरात्रम्। प्रत्येक पूर्वरात्र=रात्रि का पूर्व भाग। प्रत्यपररात्रम्। प्रत्येक अपररात्र=रात्रि का अपर भाग। (उप) उपपूर्वाह्णम्। पूर्वाह्ण के समीप। उपापराह्णम्। अपराह्ण के समीप। उपपूर्वरात्रम्। पूर्वरात्र के समीप। उपापररात्रम्। अपररात्र के समीप। (अप) अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः। त्रिगर्त देश को छोड़कर बादल बरसा। अपसौवीरं वृष्टो देवः। सौवीर देश को छोड़कर बादल बरसा। अपसार्वसेनि वृष्टो देवः। सार्वसेनि देश को छोड़कर बादल बरसा।

'अपपरी वर्जने' (१।४।८८) से अप और परि शब्द ही वर्जनार्थक है अतः उनके योग में ही वर्ज्यमान उत्तरपद है, प्रति और उप शब्दों के योग में नहीं।

सिद्धि-(१) परित्रिगर्तम्। यहां परि और त्रिगर्त शब्दों का 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास है। 'परि' शब्द 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४।१२) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ४।१३) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से वर्ज्यमानवाची 'त्रिगर्त' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-परिसौवीरम्, परिसार्वसेनि।

(२) प्रतिपूर्वाह्णम्। यहां प्रति और अहरवयववाची 'पूर्वाह्ण' शब्दों का 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) से यथा (वीप्सा) अर्थ में अव्ययीभाव समास है। 'प्रति' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से अहरवचववाची 'पूर्वाह्ण' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-प्रत्यपराह्णम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, प्रत्यपररात्रम्।

(३) उपपूर्वाह्णम्। यहां उप और पूर्वाह्ण शब्दों का 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) से समीप अर्थ में अव्ययीभाव समास है। 'उप' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से अहरवयववाची 'पूर्वाह्ण' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-उपापराह्णम्, उपपूर्वरात्रम्, उपापररात्रम्।

(४) अपत्रिगर्तम्। यहां अप और वर्ज्यमानवाची 'त्रिगर्त' शब्दों का 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास है। 'अप' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। यह वर्ज्यमानवाची 'त्रिगर्त' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-अपसौवीरम्, अपसार्वसेनि।

विशेषः (१) त्रिगर्त-रावी, व्यास और सतलुज इन तीन नदी-घाटियों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त (कुल्लू कांगड़ा) कहलाता था।

(२) सौवीर-वर्तमानकाल में सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले काठे का नाम सौवीर (सिन्ध बहावलपुर) जनपद था इसकी राजधानी रौरुव (संस्कृत-नाम रौरुक) थी। इसका वर्तमान नाम रोड़ी है।

(३) सार्वसेनि-बीकानेर का उत्तरी भूभाग। यह ऐसे लोगों का संघ था जो कि सब सैनिक थे (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४६०)।

प्रकृतिस्वरः-

(३४) राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु।३४।

प०वि०- राजन्य-बहुवचन-द्वन्द्वे ७।१ अन्धक-वृष्णिषु ७।३।

स०- राजन्यानि च तानि बहुवचनानीति राजन्यबहुवचनानि, तेषाम्-राजन्यबहुवचनानाम्, राजन्यबहुवचनानां द्वन्द्व इति राजन्यबहुवचनद्वन्द्वः, तस्मिन्-राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे (कर्मधारयगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)। अन्धकाश्च वृष्णयश्च ते-अन्धकवृष्णयः, तेषु-अन्धकवृष्णिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०- प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः- अन्धकवृष्णिषु राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः- अन्धकेषु वृष्णिषु च वर्तमानानां राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां द्वन्द्वे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०- (अन्धकः) श्वफलकस्यापत्यम्-श्वाफलकः, चित्रकस्यापत्यम्-चैत्रकः। श्वाफलकाश्च चैत्रकाश्च ते-श्वाफलकचैत्रकाः। चैत्रकाश्च रोधकाश्च ते-चैत्रकरोधकाः। (वृष्णयः) शिनयश्च वासुदेवाश्च ते-शिनिवासुदेवाः।

आर्यभाषाः अर्थ-(अन्धकवृष्णिषु) अन्धक और वृष्णि वंश में विद्यमान (राजन्य-बहुवचने) राजन्यवाची बहुवचनान्त द्वन्द्वसमास में (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-(अन्धक) श्वाफलकचैत्रकाः। अन्धकवंशीय श्वफलक और चित्रक के सन्तान। चैत्रकरोधकाः। अन्धकवंशीय चित्रक और रोधक के सन्तान। (वृष्णि) शिनिवासुदेवाः। वृष्णिवंशीय शिनि और वसुदेव के सन्तान। शिनि के सन्तान अभेदोपचार से 'शिनि' कहाते हैं।

सिद्धि-(१) श्वाफलकचैत्रकाः। यहां श्वाफलक और चैत्रक शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। श्वाफलक और चैत्रक शब्दों में 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (४।१।११४) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। अतः अण्-प्रत्ययान्त 'श्वाफलक' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह पूर्वपद इस सूत्र से अन्धकवंश में वर्तमान राजन्यवाची बहुवचनान्त शब्दों के द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-चैत्रकरोधकाः।

(२) शिनिवासुदेवाः। यहां शिनि और वासुदेव शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। शिनि शब्द आद्युदात्त है। यह पूर्वपद इस सूत्र से वृष्णिवंश में वर्तमान राजन्यवाची बहुवचनान्त शब्दों के द्वन्द्व समास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

विशेषः महाभारत और कौटिल्य दोनों के अनुसार अन्धक-वृष्णि संघ-राज्य था। पाणिनि के अनुसार अन्धक-वृष्णिसंघ में राजन्यों द्वारा शासन की व्यवस्था थी। इसमें दूसरे संघों की भांति कुलों का शासन था। प्रत्येक कुल का अधिपति राजा कहलाता था। उन्हीं के अपत्यों की संज्ञा राजन्य थी। अक्रूर, श्वाफलक {चैत्रक} अन्धकों के और {शिनि} कृष्ण (वासुदेव), बलराम, नकुल आदि वृष्णियों के नेता थे (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४६४)।

प्रकृतिस्वरः–

(३५) संख्या।३५।

प०वि०-संख्या १।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, द्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-द्वन्द्वे संख्या पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-द्वन्द्वे समासे संख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-एकश्च दश चेति एकादश। द्वौ च दश चेति द्वादश। त्रयश्च दश चेति त्रयोदश।

आर्यभाषाः अर्थ-(द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (संख्या) संख्यावाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-एकादश। एक और दश=ग्यारह। द्वादश। दो और दश=बारह। त्रयोदश। तीन और दश=तेरह।

सिद्धि-(१) एकादश। यहां एक और दश शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (६।३।४५) से एक शब्द को आत्त्व होता है। 'एक' शब्द 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' (उणा० ३।४३) से कन्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से यह आद्युदात्त है। यह संख्यावाची पूर्वपद इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) द्वादश। यहां द्वि और दश शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। 'द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' (६।४।४६) से 'द्वि' शब्द को आत्त्व होता है। 'द्वि' शब्द 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट्० १।१) से अन्तोदात्त है। यह संख्यावाची पूर्वपद इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) त्रयोदश। यहां त्रि और दश शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। 'त्रेस्त्रयः' (६।३।४८) से 'त्रि' के स्थान में त्रयस् आदेश होता है और वह स्थानिवद्भाव से अन्तोदात्त है। यह संख्यावाची पूर्वपद इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः-

(३६) आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी।३६।

प०वि०-आचार्योपसर्जनः १।१ च अव्ययपदम्, अन्तेवासी १।१।

स०-आचार्य उपसर्जनम्=अप्रधानं यस्मिन् सः-आचार्योपसर्जनः (बहुव्रीहिः)। अन्ते वसतीति-अन्तेवासी (उपपदतत्पुरुषः)। '**शयवासवासिष्वकालात्**' (६।३।१७) इति सप्तम्या अलुग् भवति।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, द्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आचार्योपसर्जनानामन्तेवासिनां द्वन्द्वे पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-आचार्योपसर्जनानामन्तेवासिवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-आपिशलाश्च पाणिनीयाश्च ते-आपिशलपाणिनीयाः। पाणिनीयाश्च रौढीयाश्च ते-पाणिनीयरौढीयाः। रौढीयाश्च काशकृत्स्नाश्च ते-रौढीयकाशकृत्स्नाः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(आचार्योपसर्जनः) जहां आचार्य का कथन उपसर्जन=गौण है ऐसे (अन्तेवासी) शिष्यवाची शब्दों के (द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-आपिशलपाणिनीयाः। श्री अपिशलि और श्री पाणिनि आचार्य के अन्तेवासी (शिष्य)। पाणिनीयरौढीयाः। श्री पाणिनि और श्री रौढि आचार्य के अन्तेवासी। रौढीयकाशकृत्स्नाः। श्री रौढि और श्री काशकृत्स्न आचार्य के अन्तेवासी।

सिद्धि-आपिशलपाणिनीयाः। यहां आपिशल और पाणिनीय शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। अपिशलस्यापत्यम्-आपिशलिः। अपिशल का अपत्य (पुत्र) 'आपिशलि' कहाता है। यहां 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। आपिशलिना प्रोक्तम्-आपिशलम्। आपिशलि आचार्य के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ 'आपिशल' कहाता है। यहां 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) से प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। आपिशलमधीयते ये तेऽन्तेवासिन आपिशलाः। आपिशल ग्रन्थ को जो पढ़ते हैं वे अन्तेवासी भी 'आपिशल' कहाते हैं। यहां 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६३) से अध्येता अर्थ में विहित अण् प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'आपिशल' शब्द आचार्य-उपसर्जनीभूत अन्तेवासी वाची है। ऐसे ही-पाणिनिना प्रोक्तम्-पाणिनीयम्। पाणिनीयमधीयते-पाणिनीयाः। पाणिनि आचार्य के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ (अष्टाध्यायी आदि) पाणिनीय कहाते हैं। यहां 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) से यथाविहित 'छ' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६३) से अध्येता अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'पाणिनीय' शब्द आचार्य-उपसर्जनीभूत अन्तेवासी वाची है। इन उक्त 'आपिशल' और पाणिनीय शब्दों के द्वन्द्वसमास में 'आपिशल' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है। 'आपिशल' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। ऐसे ही-पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः।

'आपिशलपाणिनीयाः' आदि में आपिशल और पाणिनीय शब्द उनके द्वारा प्रोक्त ग्रन्थों के अध्येता अन्तेवासी (शिष्य) अर्थों में प्रधान और आचार्य अर्थ में उपसर्जन (गौण) हैं।

प्रकृतिस्वरः-

(३७) कार्तकौजपादयश्च।३७।

प०वि०-कार्तकौजप-आदयः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-कार्तकौजप आदिर्येषां ते-कार्तकौजपादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, द्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कार्तकौजपादीनां च द्वन्द्वे पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-कार्तकौजपादीनां च शब्दानां द्वन्द्वे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-कार्तश्च कौजपश्च तौ-कार्तकौजपौ। सावर्णिश्च माण्डूकेयश्च तौ सावर्णिमाण्डूकेयौ। अवन्तयश्च अश्मकाश्च ते-अवन्त्यश्मकाः। पैलाश्च श्यापर्णेयाश्च ते-पैलश्यापर्णेयाः, इत्यादिकम्।

कार्तकौजपौ। सावर्णिमाण्डूकेयौ। पैलश्यापर्णेयाः। पैलश्यापर्णेयौ। कपिश्यापर्णेयाः। शैतिकाक्षपाञ्चालेयाः। कटुकवार्चलेयौ। शाकलशुनकाः। शाकलसणकाः। शुनकधात्रेयाः। सणकबाभ्रवाः। आर्चाभिमौद्गलाः। कुन्तिसुराष्ट्राः। चितिसुराष्ट्राः। तण्डवतण्डाः। गर्गवत्साः। अविमत्तकामविद्धाः। बाभ्रवशालङ्कायनाः। बाभ्रवदानच्युताः। कठकालापाः। कठकौथुमाः। कौथुमलौकाक्षाः। स्त्रीकुमारम्। मौदपैप्पलादाः। द्विपाठः समासान्तोदात्तार्थः। वत्सजरत्। सौश्रुतपार्थवाः। जरामृत्यू। याज्यानुवाक्ये इति कार्तकौजपादयः॥

आर्यभाषाः *अर्थ-(कार्तकौजपादयः) कार्तकौजप आदि शब्दों के (च) भी (द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-**कार्तकौजपौ।** कृत और कुजप के पुत्र। **सावर्णिमाण्डूकेयौ।** सवर्ण और मण्डूक के पुत्र। **अवन्त्यश्मकाः।** अवन्ति और अश्मकजनों का निवास। **पैलश्यापर्णेयाः।** पीला और श्यापर्णी के पौत्र, इत्यादि।*

*सिद्धि-(१) **कार्तकौजपौ।** यहां कार्त और कौजप शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। कृतस्यापत्यं कार्तः। कृत का पुत्र कार्त कहाता है। 'कृत' शब्द के ऋषिवाची होने से 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (४।१।११४) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'कौजप' शब्द में भी पूर्ववत् 'अण्' प्रत्यय जानें।*

*(२) **सावर्णिमाण्डूकेयौ।** यहां सावर्णि और माण्डूकेय शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। 'सावर्णि' शब्द में 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। प्रत्यय के ञित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'माण्डूकेय' शब्द में मण्डूक शब्द से 'ढक् च मण्डूकात्' (४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय है।*

*(३) **अवन्त्यश्मकाः।** यहां अवन्ति और अश्मक शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। 'अवन्ति' शब्द से 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' (४।१।१७१) से अपत्य अर्थ में 'ञ्यङ्' प्रत्यय है, उसका 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (२।४।६२) से उसका बहुवचन में लुक् होता है-अवन्तेरपत्यानि बहूनि-अवन्तयः। पुनः 'तस्य निवासः' (४।२।६९) से निवास अर्थ में 'अण्' प्रत्यय और उसका 'जनपदे लुप्' (४।२।८०) से लोप होता है-अवन्तीनां निवासो जनपदः-अवन्तयः। 'अवन्ति' शब्द 'घृतादीनां च' (फिट्० १।२१) से अन्तोदात्त है। 'इको यणचि' (६।१।७५) से यण्-आदेश होकर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से यण् (य) स्वरित होता है। 'अश्मकाः' शब्द की सिद्धि 'अवन्तयः' के समान समझें।*

(४) पैलश्यापर्णेयाः। यहां पैल और श्यापर्णेय शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। पैल शब्द में 'पीलाया वा' (४।१।११८) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। उससे 'अणो द्व्यचः' (४।१।१५६) से युवापत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होकर उसका 'पैलादिभ्यश्च' (२।४।५९) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'पैल' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से द्वन्द्वसमास में प्रकृतिस्वर से रहता है। 'श्यापर्ण' शब्द के विदादि गण में पठित होने से 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' (४।१।१०४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय और उससे स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय करने पर 'श्यापर्णी' शब्द सिद्ध होता है। इससे 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) से युवापत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होकर 'श्यापर्णेय' शब्द बनता है।

प्रकृतिस्वरः–

(३८) महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारत-हैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु।३८।

प०वि०–महान् १।१ व्रीहि-अपराह्ण-गृष्टि-इष्वास-जाबाल-भार-भारत-हैलिहिल-रौरव-प्रवृद्धेषु ७।३।

स०–व्रीहिश्च अपराह्णश्च गृष्टिश्च इष्वासश्च जाबालश्च भारश्च भारतश्च हैलिहिलश्च रौरवश्च प्रवृद्धश्च ते-व्रीहि०प्रवृद्धाः, तेषु-व्रीहि०प्रवृद्धेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–प्रकृत्य पूर्वपदमिति चानुवर्तते। 'द्वन्द्वे' इति च निवृत्तम्।

अन्वयः–व्रीह्यपराह्ण०प्रवृद्धेषु महान् पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः–व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु उत्तरपदेषु महानिति पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–महाँश्चासौ व्रीहिरिति-महाव्रीहिः। महापराह्णः। महागृष्टिः। महेष्वासः। महाजाबालः। महाभारः। महाभारतः। महाहैलिहिलः। महारौरवः। महाप्रवृद्धः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(व्रीह्यपराह्ण०प्रवृद्धेषु) व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध शब्दों के उत्तरपद होने पर (महान्) महान् यह (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०–महाव्रीहिः। चावल विशेष की संज्ञा। महापराह्णः। अपराह्ण का अन्तिम भाग। महागृष्टिः। एक बार ब्याई हुई बड़ी गाय। महेष्वासः। बहुत बड़ा धनुर्धर।

महाजाबाल:। एक ऋषिविशेष की संज्ञा। महाभार:। बहुत बोझ। महाभारत:। इस नाम से लोकप्रसिद्ध ग्रन्थविशेष। महाहैलिहिल:। बहुत बड़ा खिलाड़ी। महारौरव:। घोर नरक। महाप्रवृद्ध:। बहु बूढ़ा।

सिद्धि-महाव्रीहि:। यहां महान् और व्रीहि शब्दों का 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा: पूज्यमानै:' (२।१।६१) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। यहां 'लक्षणप्रतिपदोक्तयो: प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा से 'सन्महत्०' (२।१।६१) में प्रतिपदोक्त समास का ही ग्रहण 'महत्' शब्द से ग्रहण किया जाता है। महत् शब्द 'वर्तमाने पृषद्बृहन्-महज्जगच्छतृवच्च' (उणा० २।८५) से अति-प्रत्ययान्त निपातित है, अत: प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से 'व्रीहि' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-महापराह्ण: आदि।

प्रकृतिस्वर:-

(३६) क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे।३६।

प०वि०-क्षुल्लक: १।१ च अव्ययपदम्, वैश्वदेवे ७।१।

स०-क्षुधं लातीति क्षुल्ल:, ह्रस्व: क्षुल्ल:-क्षुल्लक: (उपपदतत्पुरुष:)।

अत्र **'आतोऽनुपसर्गे क:'** (३।२।३) इति लाधातो: क: प्रत्यय:। **'तोर्लि'** (८।४।५९) इति तकारस्य लकार:। ततश्च **'ह्रस्वे'** (५।३।८६) इति ह्रस्वेऽर्थे तद्धित: क: प्रत्यय:। क्षुद्रपर्याय: क्षुल्लकशब्द:।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, महानिति चानुवर्तते।

अन्वय:-वैश्वदेवे क्षुल्लको महाँश्च पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थ:-वैश्वदेवे उत्तरपदे क्षुल्लको महानिति च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(क्षुल्लक:) क्षुल्लकं च तद् वैश्वदेवमिति क्षुल्लकवैश्वदेवम्। (महान्) महच्च तद् वैश्वदेवमिति महावैश्वदेवम्।

आर्यभाषा: *अर्थ-(वैश्वदेवे) वैश्वदेव शब्द उत्तरपद होने पर (क्षुल्लक:) क्षुल्लक (च) और (महान्) महान् (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।*

उदा०-(क्षुल्लक) क्षुल्लकवैश्वदेवम्। लघु यज्ञविशेष। (महान्) महावैश्वदेवम्। महान् यज्ञविशेष।

सिद्धि-(१) क्षुल्लकवैश्वदेवम्। यहां क्षुल्लक और वैश्वदेव शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। 'क्षुल्लक' शब्द में 'क्षुत्'

उपपद 'ला आदाने' (अदा०प०) धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। 'तोर्लि' (८।४।५९) से तकार को परसवर्ण लकार आदेश होता है। पुनः 'ह्रस्वे' (५।३।८६) से ह्रस्व अर्थ में तद्धित 'क' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से वैश्वदेव शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) महावैश्वदेवम्। यहां महत् और वैश्वदेव शब्दों का 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' (२।१।६० से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (६।३।४५) से महत् को आत्त्व होता है। 'महत्' शब्द पूर्ववत् अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से वैश्वदेव शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः-

(४०) उष्ट्रः सादिवाम्योः।४०।

प०वि०-उष्ट्रः १।१ सादि-वाम्योः ७।२।

स०-सादिश्च वामी च ते सादिवाम्यौ, तयोः-सादिवाम्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-सादिवाम्योरुष्ट्रः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-सादिवाम्योरुत्तरपदयोरुष्ट्रशब्दः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(सादिः) उष्ट्रस्य सादिरिति उष्ट्रसादिः। उष्ट्रसारथिरित्यर्थः। **(वामी)** उष्ट्रोऽयं वामीव इति उष्ट्रवामी। वामी=वडवा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सादिवाम्योः) सादि और वामी शब्द उत्तरपद होने पर (उष्ट्रः) उष्ट्र (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(सादि) उष्ट्रसादिः। ऊंट का सारथि। (वामी) उष्ट्रवामी। वामी=घोड़ी के समान शीघ्रगामी ऊंट।

सिद्धि-(१) उष्ट्रसादिः। यहां उष्ट्र और सादि शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'उष्ट्र' शब्द में 'उषिखनिभ्यां कित्' (उणा० ४।१६२) से 'उष दाहे' धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (७।२।१०२) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से 'सादि' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) उष्ट्रवामी। यहां उष्ट्र और वामी शब्दों का 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। व्याघ्रादि आकृतिगण है। उष्ट्र शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से वामी उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः—

(४१) गौः सादसादिसारथिषु।४१।

प०वि०-गौः १।१ साद-सादि-सारथिषु ७।३।

स०-सादश्च सादिश्च सारथिश्च ते सादसादिसारथयः, तेषु-सादसादिसारथिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-सादसादिसारथिषु गौः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-सादसादिसारथिषु उत्तरपदेषु गोशब्दः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(**सादः**) गोः साद इति गोसादः। (**सादिः**) गोः सादिरिति गोसादिः। (**सारथिः**) गोः सारथिरिति गोसारथिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सादसादिसारथिषु) साद, सादि, सारथि शब्दों के उत्तरपद होने पर (गौः) गौ शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(साद) गोसादः। बैल को संताप देनेवाला। (सादि) गोसादिः। बैल का सवार (शिव)। (सारथि) गोसारथिः। बैलों का सारथि।

सिद्धि-गोसादः। यहां गो और साद शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'गो' शब्द 'गमेर्डोः' (उणा० २।६७) से डो-प्रत्ययान्त है। अतः यह प्रत्ययस्वर से उदात्त है। यह इस सूत्र से 'साद' उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-गोसादिः, गोसारथिः।

प्रकृतिस्वरः—

(४२) कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेवडवा-तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च।४२।

प०वि०-कुरुगार्हपत १।१ (सु-लुक्) रिक्तगुरु १।१ (सु-लुक्) असूतजरती १।१ अश्लीलदृढरूपा १।१ पारेवडवा १।१ तैतिलकद्रूः १।१ पण्यकम्बलः १।१ दासीभाराणाम् ६।३ च अव्ययपदम्।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः- कुरुगार्हपत-रिक्तगुरु-असूतजरती-अश्लीलदृढरूपा-पारेवडवा-तैतिलकद्रू-पण्यकम्बलानां दासीभाराणां च पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः- कुरुगार्हपत-रिक्तगुरु-असूतजरती-अश्लीलदृढरूपा-पारेवडवा-तैतिलकद्रू-पण्यकम्बलानां दासीभाराणाम् =दासीभारादीनां च शब्दानां पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(कुरुगार्हपतम्) कुरूणां गार्हपतमिति कुरुगार्हपतम्। **(रिक्तगुरुः)** रिक्तो गुरुरिति रिक्तगुरुः। **(असूतजरती)** असूता जरतीति असूतजरती। **(अश्लीलदृढरूपा)** अश्लीला दृढरूपेति अश्लीलदृढरूपा। पारेवडवा इवेति पारेवडवा। **(तैतिलकद्रूः)** तैतिलानां कद्रूरिति तैतिलकद्रूः। **(पण्यकम्बलः)** पण्यः कम्बल इति पण्यकम्बलः। **(दासीभारादयः)** दास्या भार इति दासीभारः। देवानां हूतिरिति देवहूतिः, इत्यादिकम्।

दासीभारः। देवहूतिः। देवजूतिः। देवसूतिः। देवनीतिः. वसुनीतिः। ओषधिः। चन्द्रमाः। अविहितलक्षणः पूर्वपदप्रकृतिस्वरो दासीभारादिषु द्रष्टव्यः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कुरुगार्हपत०दासीभाराणाम्) कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल, दासीभार आदि शब्दों का (च) भी (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*उदा०-**कुरुगार्हपतम्**। कुरु जनपद के गृहपतियों की संस्था। **रिक्तगुरुः**। खाली रहने पर भी भारी। **असूतजरती**। सन्तानोत्पत्ति न होने पर भी वृद्धा। **अश्लीलदृढरूपा**। अश्लील=अ श्रील-अर्थात् श्री (कान्ति) से रहित होने पर भी स्थिर रूपवाली संस्थानमात्र से सुन्दर। **पारेवडवा**। पार उतारने में वडवा=घोड़ी के समान। **तैतिलकद्रूः**। तैतिल=तितिली के पुत्रों/छात्रों की माता। **पण्यकम्बलः**। बिकाऊ कम्बल। **दासीभारः**। दासी के द्वारा वहन करने योग्य बोझ। **देवहूतिः**। देवों का आह्वान, इत्यादि।*

*सिद्धि-(१) **कुरुगार्हपतम्**। यहां कुरु और गार्हपत शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'कुरु' शब्द 'कृग्रोरुच्च' (उणा० १।२४) से कु-प्रत्ययान्त है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(२) **रिक्तगुरुः**। यहां रिक्त और गुरु शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'रिक्त' शब्द 'रिक्ते विभाषा' (६।१।२०२) से विकल्प से आद्युदात्त और अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(३) **असूतजरती**। यहां असूता और जरती शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'असूता' शब्द में नञ्तत्पुरुष समास है-न सूतेति असूता। 'नञ्' शब्द 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४।१२) से आद्युदात्त है. अतः असूता शब्द भी आद्युदात्त हुआ। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।*

(४) अश्लीलदृढरूपा। यहां अश्लीला और दृढरूपा शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'अश्लीला' शब्द में नञ्तत्पुरुष समास है-न श्रीलेति। अश्रीला=अश्लीला (रेफस्य लत्वम्)। 'नञ्' शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है, अतः अश्लीला शब्द भी आद्युदात्त हुआ। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(५) पारेवडवा। यहां पार और वडवा शब्दों का इसी निपातन से इव-अर्थ में समास है तथा सप्तमी-विभक्ति का लोप नहीं होता है। 'पार' शब्द 'घृतादीनां च' (फिट्० १।२१) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(६) तैतिलकद्रूः। यहां तैतिल और कद्रू शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'तैतिल' शब्द में 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से 'अण्' प्रत्यय है-तितिलिनोऽपत्यम् तैतिलः। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(७) पण्यकम्बलः। यहां पण्य और कम्बल शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'पण्य' शब्द 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' (३।१।१०१) से यत्-प्रत्ययान्त निपातित है, अतः यह 'यतोऽनावः' (६।१।२०७) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(८) दासीभारः। यहां दासी और भार शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'दासी' शब्द में 'दंसेष्टटनौ न आ च' (उणा० ५।१०) से 'ट' प्रत्यय और नकार को आकार आदेश होकर 'दास' शब्द बनता है और स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय है। अतः यह 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१५५) से उदात्तनिवृत्ति स्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

(९) देवहूतिः। यहां देव और हूति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'देव' शब्द 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१) से अच्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के चित् होने से यह 'चितः' (६।१।१५६) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः–

(४३) चतुर्थी तदर्थे।४३।

प०वि०-चतुर्थी १।१ तदर्थे ७।१।

स०-तस्मै इदमिति तदर्थम्, तस्मिन्-तदर्थे। तदर्थम्=चतुर्थ्यन्तार्थमित्यर्थः (चतुर्थीतत्पुरुषः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तदर्थे चतुर्थी पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तदर्थे उत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-यूपाय दारु इति यूपदारु। कुण्डलाय हिरण्यमिति कुण्डलहिरण्यम्। रथाय दारु इति रथदारु। वल्ल्यै हिरण्यमिति वल्लीहिरण्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तदर्थे) उस चतुर्थ्यन्तं के अभिधेयवाची उत्तरपद होने पर (चतुर्थी) चतुर्थी-अन्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-यूपदारु। यज्ञ-स्तम्भ के लिये लकड़ी। कुण्डलहिरण्यम्। कुण्डल के लिये सुवर्ण। रथदारु। रथ के लिये लकड़ी। वल्लीहिरण्यम्। बाळी के लिये सुवर्ण।

सिद्धि-(१) यूपदारु। यहां यूप और दारु शब्दों का ***'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः'*** *(२।१।३५) से चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'यूप' शब्द में* ***'कुयुभ्यां च'*** *(उणा० ३।२७) से 'प' प्रत्यय है और यहां* ***'स्तुवो दीर्घश्च'*** *(उणा० ३।२५) से दीर्घ की तथा* ***'सुशभ्यां निच्च'*** *(उणा० ३।२६) से नित् की अनुवृत्ति है। अतः प्रत्यय के नित् होने से यह* ***'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'*** *(६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से तदर्थवाची दारु शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

(२) कुण्डलहिरण्यम्। यहां कुण्डल और हिरण्य शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'कुण्डल' शब्द में 'वृषादिभ्यश्चित्' (उणा० १।१०६) से आकृतिगण से कल प्रत्यय और वह चित् है। प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१५८) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से तदर्थवाची हिरण्य शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) रथदारु। यहां रथ और दारु शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'रथ' शब्द में 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उणा० २।२) से 'क्थन्' प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से तदर्थवाची दारु शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) वल्लीहिरण्यम्। यहां वल्ली और हिरण्य शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'वल्ली' शब्द में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से तदर्थवाची हिरण्य शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः–

(४४) अर्थे।४४।

प०वि०-अर्थे ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, चतुर्थी इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अर्थे चतुर्थी पूर्वपदं प्रकृत्या ।

अर्थः-अर्थशब्दे उत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-मात्रे इदमिति मात्रर्थम् । पित्रर्थम् । देवतार्थम् । अतिथ्यर्थम् ।

आर्यभाषाः अर्थ-(अर्थे) अर्थ शब्द उत्तरपद होने पर (चतुर्थी) चतुर्थी-अन्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-मात्रर्थम् । माता के लिये । पित्रर्थम् । पिता के लिये । देवतार्थम् । देवता के लिये । अतिथ्यर्थम् । अतिथि के लिये ।

सिद्धि-(१) मात्रर्थम् । यहां मातृ और अर्थ शब्दों का 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (२ ।१ ।३५) से चतुर्थी तत्पुरुष समास है। 'मातृ' शब्द 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ' (उणा० २ ।९७) से अन्तोदात्त निपातित है। यह इस सूत्र से अर्थ शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-पित्रर्थम् ।

(२) देवतार्थम् । यहां देवता और अर्थ शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी-तत्पुरुष समास है। देवता' शब्द में 'देवात्तल्' (५ ।४ ।२७) से तल् प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से यह 'लिति' (६ ।१ ।१२७) से मध्योदात्त है। यह इस सूत्र से अर्थ शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) अतिथ्यर्थम् । यहां अतिथि और अर्थ शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी-तत्पुरुष समास है। अतिथि शब्द में 'ऋतन्यञ्जि०' (उणा० ४ ।२) से इथिन् प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६ ।१ ।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से अर्थ शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः-

(४५) क्ते च ।४५।

प०वि०-क्ते ७ ।१ च अव्ययपदम् ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, चतुर्थी इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-क्ते च चतुर्थी पूर्वपदं प्रकृत्या ।

अर्थः-क्तान्ते शब्दे चोत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-गवे हितमिति गोहितम् । अश्वहितम् । मनुष्यहितम् । गवे रक्षितमिति गोरक्षितम् । अश्वरक्षितम् । वनं तापसरक्षितम् ।

आर्यभाषाः अर्थ-(क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (च) भी (चतुर्थी) चतुर्थी-अन्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-गोहितम्। गौ के लिये हितकारी। अश्वहितम्। घोड़े के लिये हितकारी। मनुष्यहितम्। मनुष्य के लिये हितकारी। गोरक्षितम्। गौ के लिये रखा हुआ। अश्वरक्षितम्। घोड़े के लिये रखा हुआ। वनं तापसरक्षितम्। तपस्वियों के लिये रखा हुआ वन।

सिद्धि-(१) गोहितम्। यहां गो और क्त-प्रत्ययान्त हित शब्दों का 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (२।१।३५) से चतुर्थीतत्पुरुष समास है। 'गो शब्द अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त हित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-गोरक्षितम्।

(२) अश्वहितम्। यहां अश्व और हित शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। अश्व शब्द आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त हित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-अश्वरक्षितम्।

(३) मनुष्यहितम्। यहां मनुष्य और हित शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। मनुष्य शब्द में 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (४।१।६१) से यत् प्रत्यय है। प्रत्यय के तित् होने से यह 'तित् स्वरितम्' (६।१।१७९) से अन्तस्वरित है। यह इस सूत्र से क्तान्त हित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) तापसरक्षितम्। यहां तापस और क्तान्त रक्षित शब्दों का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। तापस शब्द में 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' (५।२।१०२) की अनुवृत्ति में 'अण् च' (५।२।१०३) से अण्-प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त रक्षित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

प्रकृतिस्वरः—

(४६) कर्मधारयेऽनिष्ठा।४६।

प०वि०-कर्मधारये ७।१ अनिष्ठा १।१।

स०-न निष्ठेति अनिष्ठा (नञ्तत्पुरुषः)। 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१।१।२५) इति निष्ठा संज्ञा विहिता।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, क्ते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये क्तेऽनिष्ठा पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मधारये समासे क्तान्ते शब्दे उत्तरपदेऽनिष्ठान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-अश्रेणयः श्रेणयः कृता इति श्रेणिकृताः। ओककृताः। पूगकृताः। निधनकृताः।

आर्यभाषाः अर्थ:-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (अनिष्ठा) निष्ठा-प्रत्ययान्त से भिन्न (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-श्रेणिकृता:। जो श्रेणिबद्ध नहीं थे उन्हें श्रेणिबद्ध किया गया। ओककृता:। जो बेघर थे उन्हें घरयुक्त किया गया है। पूगकृता:। जो संघ में नहीं थे उन्हें संघ में सम्मिलित किया गया। निधनकृता:। जो गरीब नहीं थे उन्हें गरीब बनाया गया।

सिद्धि-(१) श्रेणिकृता:। यहां श्रेणि और क्तान्त कृत शब्दों का 'श्रेण्यादय: कृतादिभि:' (२।१।५९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। श्रेणि शब्द में 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उणा० ४।५२) से 'नि' प्रत्यय और वह नित् है। अत: यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त 'कृत' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(२) ओककृता:। यहां ओक और क्तान्त 'कृत' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। ओक शब्द अन्तोदात्त है। इसकी सिद्धि पूर्वोक्त (६।२।३२) है। यह इस सूत्र से क्तान्त कृत शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) पूगकृता:। यहां पूग और क्तान्त 'कृत' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। पूग शब्द में 'छापूञ्खडिभ्यो गक्' (दश०उणा० ३।६९) से गक् प्रत्यय है। अत: यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त कृत शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(४) निधनकृता:। यहां निधन और क्तान्त 'कृत' शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। निधन शब्द मध्योदात्त है। इसकी सिद्धि पूर्वोक्त (६।२।३२) है। यह इस सूत्र से क्तान्त कृत शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

यहां 'अनिष्ठा' का कथन इसलिये किया है कि यहां पूर्वपद प्रकृतिस्वर न हो-कृताकृतम्।

प्रकृतिस्वर:-

(४७) अहीने द्वितीया।४७।

प०वि०-अहीने ७।१ द्वितीया १।१।

स०-हीनम्=त्यक्तम्। न हीनमिति अहीनम्, तस्मिन्-अहीने (नञ्तत्पुरुष:)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, क्ते इति चानुवर्तते।

अन्वय:-अहीने क्ते द्वितीया पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-अहीनवाचिनि समासे क्तान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-कष्टं श्रित इति कुष्टश्रितः। त्रिशकलपतितः। ग्रामगतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अहीने) अहीन=अत्यागवाची समास में (क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-कुष्टश्रितः। कष्ट को प्राप्त हुआ। त्रिशकलपतितः। आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक तीन खण्डों वाले दुःख में पड़ा हुआ। ग्रामगतः। गांव को गया हुआ।

सिद्धि-(१) कुष्टश्रितः। यहां कष्ट और श्रित शब्दों का 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (२।१।२४) से द्वितीया तत्पुरुष समास है। कष्ट शब्द में 'कष हिंसायाम्' (भ्वा०प०) धातु से क्त-प्रत्यय और 'कृच्छ्रगहनयोः कषः' (७।२।२२) से इट् आगम का प्रतिषेध है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से अहीनवाची, क्तान्त श्रित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृति से रहता है।

(२) त्रिशकलपतितः। यहां त्रिशकल और पतित शब्दों का पूर्ववत् द्वितीया तत्पुरुष समास है। 'त्रिशकल' शब्द में 'त्रीणि शकलानि यस्य स त्रिशकलः' बहुव्रीहि समास है। अतः 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से इसका प्रकृतिस्वर से रहता है। इसका त्रि पूर्वपद 'फिषोऽन्तोदात्तः' (फिट्० १।१) से अन्तोदात्त है। इस प्रकार त्रिशकल शब्द आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से अहीनवाची, क्तान्त 'पतित' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) ग्रामगतः। यहां ग्राम और अहीनवाची क्तान्त गत शब्दों का पूर्ववत् द्वितीया तत्पुरुष समास है। ग्राम शब्द 'ग्रसेरा च' (उणा० १।१४३) से मन्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से अहीनवाची और क्तान्त गत शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

यहां 'अहीने' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां हीनवाची समास में द्वितीयान्त पूर्वपद प्रकृतिस्वर से न रहे-कान्तारातीतः। कान्तार=वन को पार किया हुआ (छोड़ा हुआ)। योजनातीतः। एक योजन मार्ग को पार किया हुआ।

प्रकृतिस्वरः-

(४८) तृतीया कर्मणि।४८।

प०वि०-तृतीया १।१ कर्मणि ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, क्ते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मणि क्ते तृतीया पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मवाचिनि क्तान्ते शब्दे उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-अहिना हत इतिं अहिंहतः। वज्रहतः। महाराजहतः। नखनिर्भिन्ना। दात्रलूना।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मणि) कर्मवाची (क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (तृतीया) तृतीयान्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-अहिंहतः। सर्पदंश से मरा हुआ। वज्रहतः। वज्रपात से मरा हुआ। महाराजहतः। महाराज के द्वारा मृत्युदण्ड दिया हुआ। नखनिर्भिन्ना। नखों से नौंची हुई नारी। दात्रलूना। दाती से काटी हुई ओषधि।

*सिद्धि-(१) अहिंहतः। यहां अहि और कर्मवाची क्तान्त हत शब्दों का **'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'** (२।१।३१) से तृतीया तत्पुरुष समास है। अहि शब्द में **'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च'** (उणा० ४।१३८) से इण् प्रत्यय है। यहां **'वातेर्डिच्च'** (उणा० ४।१३५) से डित् की अनुवृत्ति से **'डित्यभस्यापि टेर्लोपः'** (६।४।१४३) से 'हन्' के टि-भाग (अन्) का लोप और 'आङ्' को ह्रस्व होकर 'अहिः' शब्द सिद्ध होता है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मवाची 'हत' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(२) वज्रहतः। यहां वज्र और पूर्वोक्त हत शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। वज्र शब्द **'वज्रेन्द्र०माला:'** (उणा० २।२९) से रक्-प्रत्ययान्त निपातित है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मवाची 'हत' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(३) महाराजहतः। यहां महाराज और पूर्वोक्त हत शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। महाराज शब्द में **'राजाहःसखिभ्यष्टच्'** (५।४।९१) से समासान्त 'टच्' प्रत्यय है। प्रत्यय के चित् होने से यह **'चितः'** (६।१।१५८) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मवाची, क्तान्त हत शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

*(४) नखनिर्भिन्ना। यहां नख और पूर्वोक्त निर्भिन्ना शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। 'नख' शब्द में **'न खमस्यास्तीति नखः'** बहुव्रीहि समास है। यहां **'नभ्राण्नपान्नवेदा०'** (६।३।७३) से 'नञ्' को प्रकृतिभाव होने से **'नलोपो नञः'** (६।३।७२) से नकार का लोप नहीं होता है। यह **'नञ्सुभ्याम्'** (६।२।१७१) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मवाची क्तान्त निर्भिन्ना शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।*

(५) दात्रलूना। यहां दात्र और पूर्वोक्त लूना शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। दात्र शब्द 'दाम्नीशस०' (३।२।१८२) से ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मवाची, क्तान्त लूना शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है।

यहां 'हत' आदि शब्दों में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (३।४।७०) से कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय है।

प्रकृतिस्वरः-

(४६) गतिरनन्तरः।४६।

प०वि०-गतिः १।१ अनन्तरः १।१।

स०-न विद्यते अन्तरं यस्य सः-अनन्तरः (बहुव्रीहिः)।

'अनन्तर' इति पुंलिङ्गनिर्देशाद् गतिशब्दः **'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'** (३।३।१७४) इति क्तिच्प्रत्ययान्तो निपातनाच्चानुनासिकलोपो वेदितव्यः।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, क्ते, कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मणि क्तेऽनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मवाचिनि क्तान्ते शब्दे उत्तरपदेऽनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। अनन्तरः=अव्यवहित इत्यर्थः।

उदा०-प्रकर्षेण कृत इति प्रकृतः। प्रहृतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मणि) कर्मवाची (क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (अनन्तरः) अव्यवहित (गतिः) गति-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-प्रकृतः। प्रकर्ष से बनाया हुआ। प्रहृतः। प्रकर्ष से हरण किया हुआ।

सिद्धि-प्रकृतः। यहां प्र और कर्मवाची, क्तान्त हृत शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गतिसमास है। 'प्र' शब्द 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से आद्युदात्त है और 'गतिश्च' (१।४।५९) इसकी 'गति' संज्ञा है। अतः यह अव्यवहित गति-संज्ञक शब्द इस सूत्र से कर्मवाची, क्तान्त 'कृत' शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही-प्रहृतः।

यहां 'अनन्तरः' का कथन इसलिये किया गया है व्यवहित गति प्रकृतिस्वर से न रहे जैसे-अभ्युदधृतः। समुदधृतः। समुदाहृतः। यहां व्यवहित अभि आदि गतियों का आद्युदात्त स्वर नहीं होता है।

प्रकृतिस्वरः–

(५०) तादौ च निति कृत्यतौ।५०।

प०वि०–त-आदौ ७।१ च अव्ययपदम्, निति ७।१ कृति ७।१ अतौ ७।१।

स०–त आदिर्यस्य स तादिः, तस्मिन्–तादौ (बहुव्रीहिः)। न इद् यस्य स नित्, तस्मिन्–निति। न तुरिति अतुः, तस्मिन्–अतौ (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, गतिः, अनन्तर इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अतौ तादौ निति कृति चानन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः–तुशब्द-वर्जिते तकारादौ निति कृति च प्रत्यये परतोऽनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–प्रकर्षेण कर्ता इति प्रकर्ता। प्रकर्तुम्। प्रकृतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अतौ) तु शब्द से भिन्न (तादौ) तकार-आदि (निति) नित् (कृति) कृत्-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (च) भी (अनन्तरः) अव्यवहित (गतिः) गति-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-प्रकर्ता। प्रकृष्ट कर्ता। प्रकर्तुम्। प्रकृष्ट करने के लिये। प्रकृतिः। प्रकृष्ट कृति।

सिद्धि-(१) प्रकर्ता। यहां 'प्र' और 'कर्तृ' शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति-समास है। 'कर्तृ' शब्द में 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तृन्' (३।२।१३५) से तच्छील आदि अर्थों में तृन् प्रत्यय है। यह तकारादि, नित् कृत् है। इसके उत्तरपद होने पर गति-संज्ञक 'प्र' पूर्वपद इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से रहता है। 'प्र' शब्द 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से आद्युदात्त है। यहां 'गतिकारकोपदात् कृत्' (६।२।३९) से कृत्-स्वर प्राप्त था, उसका यह बाधक है।

(२) प्रकर्तुम्। यहां 'प्र' और 'कर्तुम्' शब्दों का पूर्ववत् गतिसमास है। 'कर्तुम्' शब्द में 'कृ' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से तुमुन् प्रत्यय है। यह तकारादि नित् कृत् है। इसके उत्तरपद होने पर गति-संज्ञक 'प्र' पूर्वपद इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से रहता है।

(३) प्रकृतिः। यहां 'प्र' और 'कृति' शब्दों का पूर्ववत् गतिसमास है। कृति शब्द में 'कृ' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। यह तकारादि, नित् कृत् है। इसके उत्तरपद होने पर गति-संज्ञक 'प्र' पूर्वपद प्रकृतिस्वर से रहता है।

यहां 'अतौ' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां गति पूर्वपद प्रकृतिस्वर से न हो-आगन्तुः। यहां 'सितनिगमि०' (उणा० १।६९) से 'तुन्' प्रत्यय है। यहां 'गतिकारको-पदात् कृत्' (६।२।१३८) से कृत्-स्वर (आद्युदात्त) होता है।

युगपत्स्वरः-

(५१) तवै चान्तश्च युगपत्।५१।

प०वि०-तवै १।१ (सु-लुक्) च अव्ययपदम्, अन्तः १।१ च अव्ययपदम्, युगपत् अव्ययपदम्।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, गतिः, अनन्तर इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तवैश्चान्त उदात्तोऽनन्तरो गतिश्च पूर्वपदं प्रकृत्या युगपत्।

अर्थः-तवै-प्रत्ययस्य चान्त उदात्तो, अनन्तरो गतिश्च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरमित्येतदुभयं युगपद् भवति।

उदा०-अन्वे॑तवै (तै०सं० १।४।४५।१)। परि॑स्तरितवै। परि॑पातवै। तस्मादग्निचिन्नाभिच॑रितवै।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तवै) तवै-प्रत्यय को (च) भी (अन्तः) अन्तोदात्त (च) और (अनन्तरः) अव्यवहित (गतिः) गति-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद को (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर ये दोनों (युगपत्) एक साथ होते हैं।*

उदा०-अन्वे॑तवै (तै०सं० १।४।४५।१)। अन्वित होने के लिये। ***परि॑स्तरितवै।*** *आच्छादित करने के लिये।* ***परि॑पातवै।*** *परिपालन के लिये।* ***अभिच॑रितवै।*** *अभिचरण= सम्मुख चलने के लिये।*

सिद्धि-(१) ***अन्वे॑तवै।*** *यहां अनु और एतवै शब्दों का* ***'कुगतिप्रादयः'*** *(२।२।१८) से गति-तत्पुरुष समास है। 'एतवै' शब्द में 'इण् गतौ' (अदा०प०) धातु से* ***'तुमर्थे सेसेन०'*** *(३।४।९) से 'तवै' प्रत्यय है। यह इस सूत्र से अन्तोदात्त और गति-संज्ञक 'अनु' शब्द प्रकृतिस्वर से युगपत् होते हैं।*

(२) ***परि॑स्तरितवै।*** *यहां परि और स्तरितवै शब्दों का पूर्ववत् गतितत्पुरुष समास है। 'स्तरितवै' शब्द में 'स्तृञ् आच्छादने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् 'तवै' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(३) ***परि॑पातवै।*** *यहां परि और पातवै शब्दों का पूर्ववत् गतितत्पुरुष समास है। 'पातवै' शब्द में 'पा रक्षणे' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'तवै' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(४) ***अभिच॑रितवै।*** *यहां अभि और चरितवै शब्दों का पूर्ववत् गतितत्पुरुष समास है। 'चरितवै' शब्द में 'चर गतिभक्षणयोः' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'तवै' प्रत्यय है। 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से 'अभि' शब्द अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। यह सूत्र 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) से विहित कृत्स्वर का अपवाद है।*

प्रकृतिस्वरः–

(५२) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये।५२।

प०वि०–अनिगन्तः १।१ अञ्चतौ ७।१ वप्रत्यये ७।१।

स०–इक् अन्ते यस्य स इगन्तः, न इगन्त इति अनिगन्तः (बहुव्रीहिगर्भितो नञ्तत्पुरुषः)। व प्रत्ययो यस्य स वप्रत्ययः, तस्मिन्–वप्रत्यये (बहुव्रीहिः)।

अनु०–प्रकृत्या, पूर्वपदम्, गतिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–व-प्रत्ययेऽञ्चतावनिगन्तो गतिः पूर्वपदं प्रकृत्या।

अर्थः–व-प्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतोऽनिगन्तो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०–प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। पराङ्। पराञ्चौ। पराञ्चः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(व-प्रत्यये) व-प्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चति धातु के परे होने पर (अनिगन्तः) जिसके अन्त में इक् नहीं है वह (गतिः) गति-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०–प्राङ्। पूर्व दिशा। प्राञ्चौ। दो पूर्व दिशायें। प्राञ्चः। सब पूर्व दिशायें। पराङ्। पश्चिम दिशा। पराञ्चौ। दो पश्चिम दिशायें। पराञ्चः। सब पश्चिम दिशायें।

सिद्धि–प्राङ्। यहां प्र और अङ् शब्दों का पूर्ववत् गतितत्पुरुष समास है। 'अङ्' शब्द 'अञ्चु गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।३।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'क्विन्' प्रत्यय के अनुबन्ध लोप के पश्चात् 'व' शेष रहता है, अतः यह व-प्रत्यय है। इस सूत्र से व-प्रत्ययान्त अञ्चति धातु परे होने पर अनिगन्त गति-संज्ञक 'प्र' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। ऐसे ही–पराङ्।

'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' (८।२।६) से पदादि अनुदात्त परे होने पर अनुदात्त के साथ जो एकादेश है वह विकल्प से स्वरित होता है–प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। पराङ्। पराञ्चौ। पराञ्चः।

'प्राङ्' की सम्पूर्णसिद्धि 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।३।५९) के प्रवचन में देख लेवें।

प्रकृतिस्वरः–

(५३) न्यधी च।५३।

प०वि०–नि-अधी १।२ च अव्ययपदम्।

स०–निश्च अधिश्च तौ–न्यधी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, गतिः, अञ्चतौ, वप्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-व-प्रत्ययेऽञ्चतौ न्यधी गती पूर्वपदे च प्रकृत्या।

अर्थः-व-प्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतो न्यधी च गती पूर्वपदे प्रकृतिस्वरे भवतः।

उदा०-(निः) न्यञ्चतीति-न्यङ्। न्यञ्चौ। न्यञ्चः। (अधिः) अध्यञ्चतीति-अध्यङ्। अध्यञ्चौ। अध्यञ्चः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(व-प्रत्यये) व-प्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चति धातु के परे होने पर (न्यधी) नि और अधि (गतिः) गति-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद (च) भी (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।*

उदा०-(नि) न्यङ्। एक नीचे की दिशा। न्यञ्चौ। दो नीचे की दिशायें। न्यञ्चः। सब नीचे की दिशायें। (अधि) अध्यङ्। एक ऊपर की दिशा (ऊर्ध्वा)। अध्यञ्चौ। दो ऊपर की दिशायें। अध्यञ्चः। सब ऊपर की दिशायें।

सिद्धि-न्यङ्। यहां नि और अङ् शब्दों का पूर्ववत् गतिसमास है। इस सूत्र से व-प्रत्ययान्त अञ्चति धातु परे होने पर गति-संज्ञक, पूर्वपद 'नि' शब्द प्रकृतिस्वर से रहता है। 'नि' शब्द 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से आद्युदात्त है। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से उदात्त यण् और स्वरित यण् से परे अनुदात्त को स्वरित आदेश होता है। ऐसे ही-अध्यङ्।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(५४) ईषदन्यतरस्याम्।५४।

प०वि०-ईषत् अव्ययपदम्, अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम् इति चानुवर्तते, गतिरिति च निवृत्तम्।

अन्वयः-ईषत् पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-ईषदिति पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-ईषत्कडारः। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। ईषत्पिङ्गलः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ईषत्) ईषत् यह (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-ईषत्कडारः। ईषत्कडारः। थोड़ा भूरा। ईषत्पिङ्गलः। ईषत्पिङ्गलः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-ईषत्कडार:। यहां ईषत् और कडार शब्दों का 'ईषदकृता' (२।२।७) से तत्पुरुष समास है। 'ईषत्' शब्द 'फिषोऽन्तोदात्त:' (फिट्० १।१) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त होता है-ईषत्कडार:। ऐसे ही-ईषत्पिङ्गल:। ईषत्पिङ्गल:।

प्रकृतिस्वरविकल्प:-

(५५) हिरण्यपरिमाणं धने।५५।

प०वि०-हिरण्यपरिमाणम् १।१ धने ७।१।

स०-हिरण्यं च तत् परिमाणमिति हिरण्यपरिमाणम् (कर्मधारय-तत्पुरुष:)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वय:-धने हिरण्यपरिमाणं पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थ:-धनशब्दे उत्तरपदे हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्येति द्विसुवर्णम्, द्विसुवर्णं च तद् धनमिति द्विसुवर्णधनम्, द्विसुवर्णधनम्।

आर्यभाषा: *अर्थ-(धने) धन शब्द उत्तरपद होने पर (हिरण्यपरिमाणम्) सुवर्ण-परिवाणवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-द्विसुवर्णधनम्। द्विसुवर्णधनम्। दो सुवर्ण-परिमाणवाला धन। सुवर्ण=एक कर्ष १० गुंजा (रत्ती)। द्विसुवर्ण=२० रत्ती।

सिद्धि-द्विसुवर्णधनम्। यहां द्विसुवर्ण और धन शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'द्विसुवर्ण' शब्द 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' (२।१।५१) से तद्धितार्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है। यहां 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) से 'ठञ्' प्रत्यय और 'अध्यर्धपूर्वाद्द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (५।१।२८) से उसका लुक् होता है। 'द्विसुवर्ण' शब्द 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त है। यह हिरण्य परिमाणवाची शब्द इस सूत्र से धन शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-द्विसुवर्णधनम्।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(५६) प्रथमोऽचिरोपसम्पत्तौ ।५६।

प०वि०-प्रथमः १ ।१ अचिरोपसम्पत्तौ ७ ।१ ।

स०-अचिरा चेयमुपसम्पत्तिरिति अचिरोपसम्पत्तिः, तस्याम्-अचिरोपसम्पत्तौ (कर्मधारयतत्पुरुषः) । उपसम्पत्तिः=उपश्लेषः सम्बन्ध इति यावत्, अभिनव इत्यर्थः ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते ।

अन्वयः-अचिरोपसम्पत्तौ प्रथमः पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या ।

अर्थः-अचिरोपसम्पत्तौ गम्यमानायां प्रथमशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-प्रथमश्चासौ वैयाकरण इति प्रथमवैयाकरणः, प्रथमवैयाकरणः । सम्प्रति व्याकरणमध्येतुं प्रवृत्तोऽभिनववैयाकरण इत्यर्थः ।

***आर्यभाषाः** अर्थः-(अचिरोपसम्पत्तौ) अचिर उपश्लेष=अभिनव अर्थ की प्रतीति में वर्तमान (प्रथमः) प्रथम शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-प्रथमवैयाकरणः । प्रथमवैयाकरणः । जिसने अभी व्याकरण अध्ययन प्रारम्भ किया है वह नया वैयाकरण।

सिद्धि-प्रथमवैयाकरणः । यहां प्रथम और वैयाकरण शब्दों का 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यमध्यमध्यमवीराश्च' (२ ।१ ।५८) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। प्रथम शब्द में 'प्रथेरमच्' (उणा० ५ ।३८) से 'अमच्' प्रत्यय है। प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६ ।१ ।१५८) से अन्तोदात्त है। यह पूर्वपद अचिरोपसम्पत्ति अर्थ की प्रतीति में इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६ ।१ ।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-प्रथमवैयाकरणः ।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(५७) कतरकतमौ कर्मधारये ।५७।

प०वि०-कतर-कतमौ १ ।२ कर्मधारये ७ ।१ ।

स०-कतरश्च कतमश्च तौ कतरकतमौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते ।

अन्वयः-कर्मधारये कतरकतमौ पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मधारये समासे कतरकतमौ पूर्वपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरे भवतः।

उदा०-(कतरः) कतरश्चासौ कठ इति कतरकठः। कतरकठः। (कतमः) कतमश्चासौ कठ इति कतमकठः। कतमकठः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय तत्पुरुष समास में (कतरकतमौ) कतर और कतम शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।*

उदा०-(कतर) कतरकठः। कतरकठः। इन दोनों में कौन-सा कठ है ? (कतम) कतमकठः। कतमकठः। इन सब में कौन-सा कठ है ?

सिद्धि-(१) कतरकठः। यहां कतर और कठ शब्दों का 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (२।१।६२) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। कतर शब्द में 'किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' (५।३।९२) से डतरच् प्रत्यय है। प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१५८) से यह अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से कर्मधारय समास के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त होता है-कतरकठः।

(२) कतमकठः। यहां कतम और कठ शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'कतम' शब्द में 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५।३।९३) से 'डतमच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(५८) आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः।५८।

प०वि०-आर्यः ५।१ ब्राह्मण-कुमारयोः ७।२।

स०-ब्राह्मणश्च कुमारश्च तौ ब्राह्मणकुमारौ, तयोः-ब्राह्मणकुमारयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्याम्, कर्मधारय इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये ब्राह्मणकुमारयोरार्यः पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मधारये समासे ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयोरार्यः शब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा-(ब्राह्मणः) आर्यश्चासौ ब्राह्मण इति आर्यब्राह्मणः। आर्यब्राह्मणः। (कुमारः) आर्यश्चासौ कुमार इति आर्यकुमारः। आर्यकुमारः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय तत्पुरुष समास में (ब्राह्मणकुमारयोः) ब्राह्मण और कुमार शब्द उत्तरपद होने पर (आर्यः) आर्य शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा-(ब्राह्मण) आर्यब्राह्मणः। आर्यब्राह्मणः। श्रेष्ठ ब्राह्मण। (कुमार) आर्यकुमारः। आर्यकुमारः। श्रेष्ठ कुमार। आर्य=ईश्वरपुत्र।

सिद्धि-आर्यब्राह्मणः। यहां आर्य और ब्राह्मण शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'आर्य' शब्द में 'ऋ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय है। प्रत्यय के तित् होने से यह 'तित् स्वरितम्' से अन्तस्वरित है। यह इस सूत्र से ब्राह्मण शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-आर्यब्राह्मणः। ऐसे ही-आर्यकुमारः, आर्यकुमारः।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(५६) राजा च।५६।

प०वि०-राजा १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्याम्, कर्मधारये, ब्राह्मणकुमारयोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये ब्राह्मणकुमारयो राजा च पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-कर्मधारये समासे ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयो राजा च पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(ब्राह्मणः) राजा चासौ ब्राह्मण इति राजब्राह्मणः। राजब्राह्मणः। (कुमारः) राजा चासौ कुमार इति राजकुमारः। राजकुमारः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय तत्पुरुष समास में (ब्राह्मणकुमारयोः) ब्राह्मण और कुमार शब्द उत्तरपद होने पर (राजा) राजा (पूर्वपदम्) पूर्वपद (च) भी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(ब्राह्मण) राजब्राह्मणः। राजब्राह्मणः। ब्राह्मण राजा। (कुमारः) राजकुमारः। राजकुमारः। कुमार राजा।

सिद्धि-राजब्राह्मणः । यहां राजन् और ब्राह्मण शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२ ।१ ।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। राजन् शब्द में 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उणा० १ ।१५६) से कनिन् प्रत्यय। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६ ।१ ।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से ब्राह्मण शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६ ।१ ।२१७) से समास को अन्तोदात्त होता है-राजब्राह्मणः । ऐसे ही-राजकुमारः । राजकुमारः ।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(६०) षष्ठी प्रत्येनसि ।६० ।

प०वि०-षष्ठी १ ।१ प्रत्येनसि ७ ।१ ।

स०-प्रतिगतम् एनो यस्य स प्रतेनाः, तस्मिन्-प्रत्येनसि (बहुव्रीहिः) ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्याम्, राजा इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-प्रत्येनसि षष्ठी राजा पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या ।

अर्थः-प्रत्येनसि शब्दे उत्तरपदे षष्ठ्यन्तं राजा इति पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति ।

उदा०-राज्ञः प्रत्येना इति राजप्रत्येनाः । राजप्रत्येनाः । राज्ञोऽङ्गरक्षक इत्यर्थः ।

आर्यभाषाः अर्थ-(प्रत्येनसि) प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद होने पर (षष्ठी) षष्ठी-अन्त (राजा) राजन् यह (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-राजप्रत्येनाः । राजप्रत्येनाः । राजा का अङ्गरक्षक ।

सिद्धि-राजप्रत्येनाः । यहां राजन् और प्रत्येनस् शब्दों का 'षष्ठी' (२ ।१ ।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। राजन् शब्द पूर्वोक्त आद्युदात्त है। यह प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद होने पर इस सूत्र से प्रकृतिस्वर से विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६ ।१ ।२१७) से समास को अन्तोदात्त होता है-राजप्रत्येनाः ।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(६१) क्ते च नित्यार्थे ।६१ ।

प०वि०-क्ते ७ ।१ च अव्ययपदम्, नित्यार्थे ७ ।१ ।

स०-नित्योऽर्थो यस्य स नित्यार्थः, तस्मिन्-नित्यार्थे (बहुव्रीहिः) ।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते ।

अन्वयः-नित्यार्थे क्ते च पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-नित्यार्थे समासे क्तान्ते शब्दे चोत्तरपदे पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-नित्यं प्रहसित इति नित्यप्रहसितः। नित्यप्रहसितः। सततं प्रहसित इति सततप्रहसितः। सततप्रहसितः।

नित्यशब्दोऽयमाभीक्ष्ण्ये कूटस्थे चार्थेऽवर्तति, अत्र चाभीक्ष्ण्येऽर्थे गृह्यते, क्तस्य धातुना सह योगात्, धातोश्च क्रियावचनात्, क्रियायाश्च क्षणिकत्वात् कौटस्थ्यं नोपपद्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नित्ये) नित्य=आभीक्ष्ण्यार्थक समास में (क्ते) क्त-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-नित्यप्रहसितः। नित्यप्रहसितः। सदा हंसनेवाला। सततप्रहसितः। सततप्रहसितः। अर्थ पूर्ववत् है। आभीक्ष्ण्य=पुनः पुनः होना।

सिद्धि-नित्यप्रहसितः। यहां नित्य और प्रहसित शब्दों का 'कालाः' (२।१।२८) से द्वितीयातत्पुरुष समास है। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२।३।६) से द्वितीया विभक्ति होती है। नित्य शब्द में वा०-'त्यब्नेर्ध्रुवे' (४।२।१०३) से 'त्यप्' प्रत्यय है। प्रत्यय के पित् होने से यह 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से अनुदात्त है और 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से 'नि' शब्द आद्युदात्त है। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से त्यप् को स्वरित होकर यह स्वरितान्त होता है। यह इस सूत्र से क्तान्त शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-नित्यप्रहसितः।

(२) सततप्रहसितः। यहां सतत और प्रहसित शब्दों का पूर्ववत् द्वितीया तत्पुरुष समास है। सतत शब्द में भाव अर्थ में क्त प्रत्यय है अतः यह 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है। यह इस सूत्र से क्तान्त शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-सततप्रहसितः।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(६२) ग्रामः शिल्पिनि।६२।

प०वि०-ग्रामः १।१ शिल्पिनि ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-शिल्पिनि ग्रामः पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः-शिल्पिवाचिनि शब्दे उत्तरपदे ग्रामशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-ग्रामस्य नापित इति ग्रामनापितः। ग्रामनापितः। ग्रामस्य कुलाल इति ग्रामकुलालः। ग्रामकुलालः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शिल्पिनि) शिल्पीवाची शब्द उत्तरपद होने पर (ग्रामः) ग्राम शब्द (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-ग्रामनापितः। ग्रामनापितः। ग्राम का नाई। ग्रामकुलालः ग्रामकुलालः। ग्राम का कुम्हार।

सिद्धि-ग्रामनापितः। यहां ग्राम और नापित शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) षष्ठीतत्पुरुष समास है। ग्राम शब्द में 'प्रसेराच' (उणा० १।४३) से मन् प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से शिल्पीवाची नापित शब्द उत्तरपद होने पर प्रकृति से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-ग्रामनापितः। ऐसे ही-ग्रामकुलालः। ग्रामकुलालः।

प्रकृतिस्वरविकल्पः-

(६३) राजा च प्रशंसायाम्।६३।

प०वि०-राजा १।१ च अव्ययपदम्, प्रशंसायाम् ७।१।

अनु०-प्रकृत्या, पूर्वपदम्, अन्यतरस्याम्, शिल्पिनि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शिल्पिनि राजा पूर्वपदं चान्यतरस्यां प्रकृत्या, प्रशंसायाम्।

अर्थः-शिल्पिवाचिनि शब्दे उत्तरपदे राजा इति शब्दः पूर्वपदं च विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति, प्रशंसायां गम्यमानायाम्।

उदा०-राज्ञो नापित इति राजनापितः। राजनापितः। राज्ञः कुलाल इति राजकुलालः। राजकुलालः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शिल्पिनि) शिल्पीवाची शब्द उत्तरपद होने पर (राजा) राजन् शब्द (पूर्वपदम्) पूर्वपद (च) भी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है (प्रशंसायाम्) यदि वहां प्रशंसा अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-राजनापितः। राजनापितः। राजकुल का प्रशंसनीय नाई। राजकुलालः। राजकुलालः। राजकुल का प्रशंसनीय कुम्हार।

सिद्धि-राजनापितः। यहां राजन् और नापित शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'राजन्' शब्द में 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उणा० १।५६) से कनिन् प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। यह इस सूत्र से शिल्पीवाची शब्द उत्तरपद होने पर तथा प्रशंसा अर्थ अभिधेय में प्रकृतिस्वर से रहता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से अन्तोदात्त स्वर होता है-राजनापितः। ऐसे ही-राजकुलालः। राजकुलालः।

।। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्रकरणम्।।

पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणम्

आद्युदात्ताधिकारः-

(१) आदिरुदात्तः।६४।

प०वि०-आदिः १।१ उदात्तः १।१।

अनु०-पूर्वपदमित्यनुवतति।

अन्वयः-पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-इतोऽग्रे यद् वक्ष्यति तत्र पूर्वपदमाद्युदात्तं भवतीत्यधिकारोऽयम्। वक्ष्यति- 'सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे' (६।२।६५) इति। स्तूपेशाणः। मुकुटेकार्षपणम्। याज्ञिकाश्वः। दृषदिमाषकः।

आदिरिति प्राक् 'अन्तः' (६।२।९२) इत्यधिकारात्। उदात्त इति च प्राक् 'प्रकृत्या भगालम्' (६।२।१३७) इति यावद् वेदितव्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-पाणिनि मुनि इससे आगे जो कहेंगे वहां (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है। यह अधिकार सूत्र है। जैसे पाणिनि मुनि कहेंगे- 'सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे' (६।२।६५) स्तूपेशाणः। मुकुटेकार्षपणम्। याज्ञिकाश्वः। दृषदिमाषकः।*

इन उदाहरणों का भाषार्थ और सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

'आदि' का अधिकार 'अन्तः' (६।२।९२) के अधिकार से पहले-पहले है और 'उदात्त' का अधिकार 'प्रकृत्या भगालम्' (६।२।१३७) से पहले-पहले जानें।

आद्युदात्तम्-

(२) सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे।६५।

प०वि०-सप्तमी-हारिणौ १।१ धर्म्ये ७।१ अहरणे ७।१।

स०-सप्तमी च हारी च तौ-सप्तमीहारिणौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न हरणमिति अहरणम्, तस्मिन्-अहरणे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अहरणे धर्म्ये सप्तमीहारिणौ पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-हरणवर्जिते धर्म्यवाचिनि शब्दे उत्तरपदे सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-**(सप्तमी)** स्तूपेशाणः। मुकुटेकार्षापणम्। हलेद्विपदिका। हलेत्रिपदिका। दृषदिमाषकः। **(हारी)** याज्ञिकस्याश्व इति याज्ञिकाश्वः। वैयाकरणस्य हस्तीति वैयाकरणहस्ती। मातुलस्याश्व इति मातुलाश्वः। पितृव्यस्य गौरिति पितृव्यगवः।

यो देयं स्वीकरोति स 'हारी' इत्युच्यते। आचारनियतं यद् देयं तद् धर्म्यमिति कथ्यते। 'धर्म्यम्' इत्यत्र **'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते'** (४।४।९२) इत्यनेनानपेतेऽर्थे यत् प्रत्ययः। 'बीजनिषेकादुत्तरकालं शरीरपुष्ट्यर्थं यद् दीयते हरणमिति तदुच्यते' इति काशिकायाम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अहरणे) हरण शब्द से भिन्न (धर्म्ये) आचारनियत देयवाची शब्द उत्तरपद होने पर (सप्तमीहारिणौ) सप्तमी-अन्त और हारीवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

*उदा०-(सप्तमी) **स्तूपेशाणः**। स्तूप (स्मृति-चिह्न) निर्माण के समय देय शाण नामक सिक्का। शाण=साढ़े बारह रत्ती का चांदी का सिक्का। **मुकुटेकार्षापणम्**। मुकुट धारण=राज्यारोहण के समय देय कार्षापण नामक सिक्का। कार्षापण=८० रत्ती सोने का, ३२ रत्ती चांदी का और ८० रत्ती ताम्बे का सिक्का। **हलेद्विपदिका**। हल जोतने योग्य भूमि पर देय पाद नामक दो सिक्के। पाद=८ रत्ती चांदी का सिक्का (कार्षापण की खरीज)। **हलेत्रिपदिका**। हल जोतने योग्य भूमि पर देय पाद नामक तीन सिक्के। **दृषदिमाषकः**। दृषद्=महल आदि का पत्थर (आधारशिला) रखने पर देय माष नामक सिक्का। माष=२ रत्ती चांदी का सिक्का। (हारी) **याज्ञिकाश्वः**। यज्ञ करानेवाले ऋत्विक् (विद्वान्) को दक्षिणा में देने योग्य घोड़ा। **वैयाकरणहस्ती**। व्याकरणशास्त्र के आचार्य को उपहार में देय हाथी। **मातुलाश्वः**। मामा जी के सम्मान में देय घोड़ा। **पितृव्यगवः**। पितृव्य=चाचा जी के सम्मान में देय गौ।*

जो देय द्रव्य को स्वीकार करता है वह 'हारी' कहाता है। कुलपरम्परा वा देशपरम्परा के आचार के अनुसार देय वस्तु धर्म्य कहाती है। वीर्य-निषेक के पश्चात् शरीर की पुष्टि के लिये जो खाद्यवस्तु दे जाती है उसे 'हरण' कहते हैं (काशिका)।

सिद्धि-(१) स्तूपेशाणः। यहां सप्तम्यन्त स्तूप और धर्म्यवाची शाण शब्दों का 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) से सप्तमीतत्पुरुष समास है। यह नित्यसमास है क्योंकि विग्रहवाक्य से संज्ञा की प्रतीति नहीं होती है। 'कारनाम्नि च प्राचां हलादौ' (६।३।१०) से सप्तमीविभक्ति का अलुक् होता है। इस सूत्र से धर्म्यवाची 'शाण' शब्द उत्तरपद होने पर सप्तम्यन्त 'स्तूपे' पूर्वपद आद्युदात्त होता है। यह 'समासस्य' (६।१।१२७) से प्राप्त अन्तोदात्त स्वर का अपवाद है। ऐसे ही-मुकुटेकार्षापणम्, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका, दृषदिमाषकः।

(२) याज्ञिकाश्वः। यहां हारीवाची याज्ञिक और धर्म्यवाची अश्व शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से धर्म्यवाची अश्व शब्द उत्तरपद होने पर हारीवाची याज्ञिक पूर्वपद आद्युदात्त होता है। ऐसे ही-वैयाकरणहस्ती, मातुलाश्वः, पितृव्यगवः।

आद्युदात्तम्-

(३) युक्ते च।६६।

प०वि०-युक्ते ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-युक्ते च पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-गवां बल्लव इति गोबल्लवः। अश्वानां बल्लव इति अश्वबल्लवः। गवां मणिन्द इति गोमणिन्दः। अश्वानां मणिन्द इति अश्वमणिन्दः। गवां संख्य इति गोसंख्यः। अश्वानां संख्य इति अश्वसंख्यः।

युक्तः=समाहितः। यः स्वकर्त्तव्ये तत्परः स युक्त इत्यभिधीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(युक्ते) युक्तवाची समास में (च) भी (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-गोबल्लवः। गौओं का पालक अर्थात् उनके पालन में युक्त=तत्पर। अश्वबल्लवः। घोड़ों का पालक। गोमणिन्दः। गौओं पर पहचान के लिये मणि नामक लक्षण (चिह्न) लगानेवाला। अश्वमणिन्दः। घोड़ों पर पहचान के लिये मणि नामक लक्षण लगानेवाला। गोसंख्यः। गौओं की भलीभांति देखभाल करनेवाला। अश्वसंख्यः। घोड़ों की भलीभांति देखभाल करनेवाला।

'युक्त' शब्द समाहित अर्थात् अपने कर्त्तव्य में तत्पर अर्थ का वाचक है।

सिद्धि-(१) गोबल्लवः। यहां गो और बल्लव शब्द का 'षष्ठी' (२।२।८) से युक्तवाची षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इसके 'गो' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता

है। 'बल्ल' शब्द अधिकारवाची है, इससे वा०- 'व-प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते' (५।२।१०९) से 'अस्यास्ति' अर्थ में 'व' प्रत्यय है। ऐसे ही-अश्वबल्लवः।

(२) गोमणिन्दः। यहां गो और मणिन्द शब्दों का पूर्ववत् युक्तवाची षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इसके गो पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। 'मणिन्दः' शब्द में 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१३) से द्वितीया विभक्ति का अलुक् होता है। 'कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नछिन्न-छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य' (६।३।११५) के प्रमाण से 'मणि' शब्द लक्षणविशेषवाची है। ऐसे ही-अश्वमणिन्दः।

(३) गोसंख्यः। यहां गो और संख्य शब्दों का पूर्ववत् युक्तवाची तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इसके पूर्वपद 'गो' शब्द को आद्युदात्त स्वर होता है। 'संख्य' शब्द में 'समि ख्यः' (३।२।७) से 'क' प्रत्यय है। 'चक्षिङः ख्याञ्' (२।४।५४) से 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि' (अदा०आ०) धातु को ख्याञ् आदेश होता है। ऐसे ही-अश्वसंख्यः।

आद्युदात्तम्—

(४) विभाषाऽध्यक्षे।६७।

प०वि०-विभाषा १।१ अध्यक्षे ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अध्यक्षे पूर्वपदं विभाषा आदिरुदात्तः।

अर्थः-अध्यक्षशब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं विकल्पेनाद्युदात्तं भवति।

उदा०-गवामध्यक्ष इति गवाध्यक्षः। गवाध्यक्षः। अश्वानामध्यक्ष इति अश्वाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अध्यक्ष) अध्यक्ष शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (विभाषा) विकल्प से (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-गवाध्यक्षः। गवाध्यक्षः। गौओं का उच्चत्तम प्रशासन-अधिकारी। अश्वाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः। घोड़ों का उच्चतम प्रशासन-अधिकारी।

सिद्धि-गवाध्यक्षः। यहां गो और अध्यक्ष शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास में। इस सूत्र से अध्यक्ष शब्द उत्तरपद होने पर 'गो' पूर्वपद आद्युदात्त होता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है-गवाध्यक्षः। ऐसे ही-अश्वाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः।

गो+अध्यक्षः=गवाध्यक्षः। 'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३) से 'गो' शब्द को अवङ् आदेश होता है।

आद्युदात्तम्–

(५) पापं च शिल्पिनि।६८।

प०वि०–पापम् १।१ च अव्ययपदम्, शिल्पिनि ७।१।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः–शिल्पिनि पापं पूर्वपदं विभाषाऽऽदिरुदात्तः।

अर्थः–शिल्पिवाचिनि शब्दे उत्तरपदे पापमिति पूर्वपदं विकल्पेनाऽऽद्युदात्तं भवति।

उदा०–पापश्चासौ नापित इति पापनापितः। पापनापितः। कुत्सितनापित इत्यर्थः। पापश्चासौ कुलाल इति पापकुलालः। पापकुलालः। कुत्सितकुम्भकार इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(शिल्पिनि) शिल्पीवाची शब्द उत्तरपद होने पर (पापम्) पाप यह (पूर्वपदम्) पूर्वपद (विभाषा) विकल्प से (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०–पापनापितः। पापनापितः। कुत्सित=निन्दित नाई जो ठीक प्रकार से क्षौरकर्म नहीं करता है। पापकुलालः। पापकुलालः। कुत्सित कुम्भकार जो उत्तम रीति से कुम्भ नहीं बनाता है।

सिद्धि–पापनापितः। यहां पाप और नापित शब्दों का 'पापाणके कुत्सितैः' (२।१।५३) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से शिल्पीवाची नापित शब्द उत्तरपद होने पर 'पाप' पूर्वपद आद्युदात्त होता है। विकल्प पक्ष में 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है–पापनापितः। ऐसे ही–पापकुलालः। पापकुलालः।

आद्युदात्तम्–

(६) गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे।६९।

प०वि०–गोत्र-अन्तेवासि-माणव-ब्राह्मणेषु ७।३ क्षेपे ७।१।

स०–गोत्रं च अन्तेवासी च माणवश्च ब्राह्मणश्च ते गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणाः, तेषु–गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः–क्षेपे गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः–क्षेपवाचिनि समासे गोत्रवाचिनि अन्तेवासिवाचिशब्दे चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्चोत्तरपदयोः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-(गोत्रम्) जङ्घा वात्स्य इति जङ्घावात्स्यः। भार्या प्रधानं सौश्रुत इति भार्यासौश्रुतः। वशाप्रधानं ब्राह्मकृतेय इति वशाब्राह्मकृतेयः। **(अन्तेवासी)** कुमारीलाभकामा दाक्षा इति कुमारीदाक्षाः। कम्बललाभकामाश्चारायणीया इति कम्बलचारायणीयाः। घृतलाभाकामा रौढीया इति घृतरौढीयाः। ओदनलाभकामाः पाणिनीया इति ओदनपाणिनीयाः। **(माणवः)** भिक्षालाभकामो माणव इति भिक्षामाणवः। **(ब्राह्मणः)** दास्याः कामयिता ब्राह्मण इति दासीब्राह्मणः। वृषल्याः कामयिता ब्राह्मण इति वृषलीब्राह्मणः। भयेन ब्राह्मण इति भयब्राह्मणः। "यो ब्राह्मण एव सन् राजदण्डादिभयेन ब्राह्मणाचारं करोति, न श्रद्धया स एवं क्षिप्यते" (पदमञ्जरी)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(क्षेपे) निन्दावाची समास में (गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु) गोत्रवासी और अन्तेवासीवाची शब्द उत्तरपद होने पर तथा माणव और ब्राह्मण शब्दों के उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

*उदा०-(गोत्र) **जङ्घावात्स्यः।** श्राद्ध आदि कर्मों में वात्स्यगोत्रीय ब्राह्मणों का ही चरण-प्रक्षालन की कामना से 'वात्स्योऽहम्' कहता है वह 'जङ्घावात्स्यः' कहाता है। **भार्यासौश्रुतः।** सौश्रुत=सुश्रुत का पुत्र भार्याप्रधान है अर्थात् उसके घर में उसकी भार्या की चलती है, सौश्रुत की नहीं। **वशाब्राह्मकृतेयः।** ब्राह्मकृतेय=ब्रह्मकृत का पुत्र वशाप्रधान है, अर्थात् उसकी पत्नी वशा (वन्ध्या) है और घर में उसी की चलती है। (अन्तेवासी) **कुमारीदाक्षाः।** कुमारी की प्राप्ति (विवाह) के लिये जो दाक्षि आचार्य के अन्तेवासी (शिष्य) बने हुये हैं। दाक्षि (व्याडि) कृत संग्रह नामक ग्रन्थ को पढ़नेवाले। **कम्बलचारायणीयाः।** कम्बल की प्राप्ति के लिये जो चारायण आचार्य के शिष्य बने हुये हैं। **घृतरौढीयाः।** घृत प्राप्ति के लिये जो रोढि आचार्य के शिष्य बने हुये हैं। **ओदनपाणिनीयाः।** जो ओदन (भात) प्राप्ति के लिये पाणिनि मुनि के शिष्य बने हुये हैं। (माणव) **भिक्षामाणवः।** भिक्षाप्राप्ति के लिये जो माणव (ब्रह्मचारी) बना हुआ है। (ब्राह्मण) **दासीब्राह्मणः।** दासी का कामुक ब्राह्मण। **वृषलीब्राह्मणः।** वृषली का कामुक ब्राह्मण। **भयब्राह्मणः।** जो ब्राह्मण होता हुआ भी राजदण्ड आदि के भय से ब्राह्मण-धर्म का आचरण करता है, श्रद्धापूर्वक नहीं। इन 'जङ्घावात्स्यः' आदि समस्त उदाहरणों में क्षेप (निन्दा) अर्थ स्पष्ट है।*

*सिद्धि-(१) **जङ्घावात्स्यः।** यहां जङ्घा और गोत्रवाची वात्स्य शब्दों का 'सुप् सुपा' (२।१।४) से क्षेपवाची केवलसमास है। इस सूत्र से जङ्घा पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। 'वात्स्य' शब्द में 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है।*

*(२) **भार्यासौश्रुतः।** यहां भार्याप्रधान और गोत्रवाची सौश्रुत शब्दों का वा०-'शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' (२।१।५९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास*

है और 'प्रधान' उत्तरपद का लोप होता है। 'सौश्रुत:' में सुश्रुत् शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है।

(३) वशाब्राह्मकृतेय:। यहां वशाप्रधान और गोत्रवाची ब्राह्मकृतेय शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास और उत्तरपद का लोप है। 'ब्राह्मकृतेय' में ब्रह्मकृत शब्द के शुभ्रादिगण में पठित होने से 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४।१।१२३) से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय है।

(४) कुमारीदाक्षा:। यहां कुमारीलाभकाम और अन्तेवासीवाची दाक्ष शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष और 'लाभकाम' उत्तरपद का लोप है। 'दाक्ष' शब्द में दाक्षिणा प्रोक्तम्-दाक्षम्, दाक्षमधीयते इति दाक्षा:। दाक्षि (व्याडि) आचार्य के द्वारा प्रोक्त संग्रह नामक ग्रन्थ 'दाक्ष' कहाता है। 'इञश्च' (४।२।११२) से अण् प्रत्यय होता है और दाक्ष (संग्रह) ग्रन्थ के अध्येता भी 'दाक्ष' कहाते हैं। 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६३) से अधीते-वेद अर्थों में विहित 'अण्' का लुक् हो जाता है।

(५) कम्बलचारायणीया:। कम्बलाभकाम और अन्तेवासीवाची चारायणीय शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास और उत्तरपद का लोप है। इस सूत्र से अन्तेवासीवाची चारायणीय शब्द उत्तरपद होने पर कम्बल पूर्वपद को आद्युदात्त होता है। 'चारायणीय' शब्द में प्रथम 'चर' शब्द से 'नडादिभ्य: फक्' (४।१।९९) से अपत्य अर्थ में 'फक्' होकर 'चारायण' और 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) से चारायण के द्वारा प्रोक्त अर्थ में 'वृद्धाच्छ:' (४।२।११३) से 'छ' प्रत्यय होकर 'चारायणीय' (ग्रन्थ) और उसके अध्येता अर्थ में पूर्ववत् 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६२) से विहित 'अण्' प्रत्यय का लुक् होता है-चारायणीया:। ऐसे ही-घृतरौढीया:। ओदनपाणिनीया:। भिक्षामाणव:।

(६) दासीब्राह्मण:। यहां दासी और ब्राह्मण शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३१) में बहुलवचन से अकृदन्त ब्राह्मण शब्द के साथ तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ब्राह्मण शब्द उत्तरपद होने पर दासी पूर्वपद आद्युदात्त होता है। ऐसे ही-वृषलीब्राह्मण:। भयब्राह्मण:।

आद्युदात्तम्–

(७) अङ्गानि मैरेये।७०।

प०वि०-अङ्गानि १।३ मैरेये ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, आदि:, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वय:-मैरेयेऽङ्गानि पूर्वपदमादिरुदात्त:।

अर्थ:-मैरेयशब्दे उत्तरपदे तस्याङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-गुडस्य मैरेय इति गुडमैरेयः। मधुनो मैरेय इति मधुमैरेयः।

'अङ्गानि' इत्यत्र बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्। सुराव्यतिरिक्तं मद्यम्-मैरेयम् (पदमञ्जरी)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(मैरेये) मैरेय शब्द उत्तरपद होने पर (अङ्गानि) उसके अङ्ग=अवयववाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-गुडमैरेयः। गुड की बनी हुई मैरेय (मद्य)। मधुमैरेयः। मधु=शहद की बनी हुई मैरेय।

सिद्धि-गुडमैरेयः। यहां गुड और मैरेय शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से मैरेय का अङ्गवाची पूर्वपद गुड को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-मधुमैरेयः।

***विशेषः** कौटिल्य ने मैरेय का नुस्खा इस प्रकार दिया है-मेषशृङ्गीत्वक्क्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिचसम्भारस्त्रिफलायुक्तो वा मैरेयः (२।२५) अर्थात् मेषशृङ्गी की छाल का काढ़ा बनाकर उसमें गुड़ डालकर उसे उठाओ। फिर पीपल, कालीमिर्च या त्रिफला का चूर्ण मिलाओ यही मैरेय है। इस योग में काकड़ासींगी, मिर्च और त्रिफला-यह ओषधिवर्ग एक ओर और गुड़ दूसरी ओर है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १३०)।*

आद्युदात्तम्-

(८) भक्ताख्यास्तदर्थेषु।७१।

प०वि०-भक्ताख्याः १।३ तदर्थेषु ७।३।

स०-भक्तम्=अन्नम्। भक्तस्याख्या इति भक्ताख्याः (षष्ठीतत्पुरुषः)। तेभ्य इमानि तदर्थानि, तेषु-तदर्थेषु (चतुर्थीतत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तदर्थेषु भक्ताख्याः पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-तदर्थेषु उत्तरपदेषु भक्ताख्यानि पूर्वपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-भिक्षायै कंस इति भिक्षाकंसः। श्राणाकंसः। भाजीकंसः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तदर्थेषु) उन अन्न-विशेषों के लिये पात्रवाची शब्दों के उत्तरपद होने पर (भक्ताख्याः) अन्नविशेषवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-भिक्षाकंसः। भिक्षा के लिये कंस=कांसी का बेला। श्राणाकंसः। श्राणा=यवागू (लापसी) के लिये कंस (बेला)। भाजीकंसः। भाजी=यवागू के लिये कंस (बेला)। श्राणा और भाजी शब्द पर्यायवाची हैं।

सिद्धि-भिक्षाकंसः। यहां भक्तविशेषवाची भिक्षा और तदर्थवाची कंस शब्दों का 'चतुर्थीतदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (१।३५) से चतुर्थीतत्पुरुष समास है। जो यहां 'तदर्थ' से प्रकृति-विकारभाव का ग्रहण मानते हैं उनके मत में यहां 'षष्ठी' (२।१।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तदर्थवाची कंस शब्द उत्तरपद होने पर भक्तविशेषवाची भिक्षा पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है।

आद्युदात्तम्-

(९) गोविडालसिंहसैन्धवेषूपमाने।७२।

प०वि०-गो-विडाल-सिंह-सैन्धवेषु ७।३ उपमाने ७।१।

स०-गौश्च विडालश्च सिंहश्च सैन्धवश्च ते गोविडालसिंहसैन्धवाः, तेषु-गोविडालसिंहसैन्धवेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपमानेषु गोविडालसिंहसैन्धवेषु पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-उपमानवाचिषु गोविडालसिंहसैन्धवेषु शब्देषु उत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-**(गौः)** धान्यं गौरिव इति धान्यगवः। **(हिरण्यम्)** हिरण्यं गौरिव इति हिरण्यगवः। **(विडालः)** भिक्षा विडाल इव इति भिक्षाविडालः। **(सिंहः)** तृणं सिंह इव इति तृणसिंहः। काष्ठं सिंह इव काष्ठसिंह। **(सैन्धवः)** सक्तुः सैन्धव इव इति सक्तुसैन्धवः। पानं सैन्धव इव इति पानसैन्धवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपमाने) उपमानवाची (गोविडालसिंहसैन्धवेषु) गो, विडाल, सिंह, सैन्धव शब्दों के उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(गौ) धान्यगवः। गौ के आकार में सन्निवेशित (लगाया हुआ) धान्य। (हिरण्य) हिरण्यगवः। गौ के वर्ण का पीला सुवर्ण। (विडाल) भिक्षाविडालः। विडाल के समान दुर्लभ भिक्षा। (सिंह) तृणसिंहः। सिंह के आकार में सन्निवेशित तृण (घास)। काष्ठसिंहः। सिंह के आकार में सन्निवेशित काष्ठ (लकड़ी)। (सैन्धव) सक्तुसैन्धवः। सैन्धव (नमक) के समान सफेद सक्तु (सत्तू)। पानसैन्धवः। नमक के समान सफेद पान (पेयपदार्थ)।

सिद्धि-धान्यगवः। यहां उपमितवाची धान्य और उपमानवाची गौ शब्दों का 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५५) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'गोरतद्धितलुकि' (५।४।९२) से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से उपमानवाची 'गौ' शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद 'धान्य' को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-हिरण्यगवः आदि।

आद्युदात्तम्–

(१०) अके जीविकार्थे ।७३।

प०वि०–अके ७ ।१ जीविकार्थे ७ ।१ ।

स०–जीविकाया अर्थ इति जीविकार्थः, तस्मिन्–जीविकार्थे (षष्ठी-तत्पुरुषः) ।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–जीविकार्थेऽके पूर्वपदमादिरुदात्तः ।

अर्थः–जीविकार्थवाचिनि समासेऽकप्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वमादिरुदात्तं भवति ।

उदा०–दन्तलेखकः । नखलेखकः । अवस्करशोधकः । रमणीयकारकः ।

अत्र जीविकाशब्देन तद्वान्=जीविकावानित्यर्थो गृह्यते ।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(जीविकार्थे) जीविकार्थवाची समास में (अके) अक-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

*उदा०–**दन्तलेखकः**। दांतों पर लिखनेवाला। **नखलेखकः**। नाखुनों पर पॉलिश करनेवाला। **अवस्करशोधकः**। कूड़ा साफ करनेवाला (सफाई कर्मचारी)। **रमणीयकारकः**। सुन्दर बनानेवाला (मेक-अप करनेवाला)।*

*सिद्धि–**दन्तलेखकः**। यहां 'दन्त' और जीविकार्थवाची, अक-प्रत्ययान्त 'लेखक' शब्दों का 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' (२।२।१७) से नित्य षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'लेखक' शब्द में 'लिख अक्षरविन्यासे' (तु०प०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। इस सूत्र से जीविकार्थवाची अक-प्रत्ययान्त 'लेखक' शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद 'दन्त' शब्द को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–नखलेखकः, अवस्करशोधकः, रमणीयकारकः। यहां नित्य समास में विग्रहवाक्य नहीं होता है।*

आद्युदात्तम्–

(११) प्राचां क्रीडायाम् ।७४।

प०वि०–प्राचाम् ६ ।३ क्रीडायाम् ७ ।१ ।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त, अके इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–प्राचां क्रीडायाम् अके पूर्वपदमादिरुदात्तः ।

अर्थः-प्राचाम्=प्राग्देशवासिनां क्रीडावाचिनि समासेऽकप्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-उद्दा॑लकपुष्पभञ्जिका। वी॑रणपुष्पप्रचायिका। शा॑लभञ्जिका। ता॑लभञ्जिका।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्राचाम्) पूर्वदिशवासी जनों के क्रीडावाची समास में (अके) अक-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-उद्दा॑लकपुष्पभञ्जिका। राजा उद्दालक के वन में रानियों द्वारा फूल तोड़ने की क्रीडा। वी॑रणपुष्पप्रचायिका। रानियों द्वारा वीरण (खस) वृक्ष के फूलों को चुनने की क्रीड़ा। शा॑लभञ्जिका। रानियों द्वारा शाल वृक्ष के शाखाओं को झुकाने की क्रीडा। ता॑लभञ्जिका। रानियों द्वारा ताल वृक्ष की शाखाओं को झुकाने की क्रीडा।

सिद्धि-उद्दा॑लकपुष्पभञ्जिका। यहां उद्दालकपुष्प और अक-प्रत्ययान्त भञ्जिका शब्दों का 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' (२।२।१७) से नित्य षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'भञ्जिका' शब्द में 'भञ्जो आमर्दने' (रुधा०प०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय है और 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से टाप्-प्रत्यय और 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (७।३।४४) से इत्त्व होता है। इस सूत्र से प्राग्देशवासी जनों के क्रीडावाची समास में अक-प्रत्ययान्त 'भञ्जिका' शब्द उत्तरपद होने पर 'उद्दालकपुष्प' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-वी॑रणपुष्पप्रचायिका आदि।

'उद्दालकपुष्पभञ्जिका' आदि क्रीडायें प्राचीदेशवासी जनों की क्रीडायें हैं उदीची देशवासी जनों की नहीं। उनकी 'जीवपुत्रप्रचायिका' आदि क्रीडायें हैं।

आद्युदात्तम्-

(१२) अणि नियुक्ते।७५।

प०वि०-अणि ७।१ नियुक्ते ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नियुक्तेऽणि पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-नियुक्तवाचिनि समासेऽण्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-छत्रं धरतीति छत्रधारः। तूणीरधारः। भृङ्गारधारः। कमण्डलुं गृह्णातीति कमण्डलुग्राहः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नियुक्ते) नियुक्त=अधिकृतवाची समास में (अणि) अण्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-छत्रधारः। छत्र-धारण में नियुक्त। तूणीरधारः। तूणीर=बाणकोष (इषुधि) धारण में नियुक्त। भृङ्गारधारः। राज्याभिषेक के समय सुवर्ण-घट के धारण में नियुक्त। कमण्डलुग्राहः। कमण्डलु=जलपात्रविशेष के ग्रहण करने में नियुक्त।

सिद्धि-छत्रधारः। यहां छत्र कर्म उपपद होने पर 'धृञ् धारणे' (भ्वा०उ०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। यह उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से नियुक्तवाची समास में अण्-प्रत्ययान्त 'धार' शब्द उत्तरपद होने पर 'छत्र' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-तूणीरधारः, भृङ्गारधारः, कमण्डलुग्राहः।

आद्युदात्तम्–

(१३) शिल्पिनि चाकृञः।७६।

प०वि०-शिल्पिनि ७।१ च अव्ययपदम्, अकृञः ५।१।

स०-न कृञ् इति अकृञ्, तस्मात्-अकृञः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त, अणि इति चानुवर्तति।

अन्वयः-शिल्पिनि चाणि पूर्वपदमादिरुदात्तः, अकृञः।

अर्थः-शिल्पिवाचिनि समासे चाण्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेद् अण् कृञः परो न भवति।

उदा०-तन्तून् वयतीति तन्तुवायः। तुन्नानि वयतीति तुन्नवायः। बालान् वयतीति बालवायः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शिल्पिनि) शिल्पीवाची समास में (च) भी (अणि) अण्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है (अकृञः) यदि वह अण्-प्रत्यय कृञ् धातु से उत्तर न हो।*

उदा०-तन्तुवायः। जुलाहा नामक शिल्पी। तुन्नवायः। दर्जी नामक शिल्पी। बालवायः। ऊनी वस्त्र बुननेवाला शिल्पी।

सिद्धि-तन्तुवायः। यहां तन्तु कर्म उपपद होने पर 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (भ्वा०उ०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४४) से धातु को आत्त्व और 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) से धातु को युक् आगम होता है। इस सूत्र से शिल्पीवाची समास में अण्-प्रत्ययान्त 'वाय' शब्द उत्तरपद होने पर 'तन्तु' पूर्वपद आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-तुन्नवायः, बालवायः।

आद्युदात्तम्–

(१४) संज्ञायां च ।७७।

प०वि०–संज्ञायाम् ७ ।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः, अणि, अकृञ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संज्ञायां चाणि पूर्वपदमादिरुदात्तः, अकृञः।

अर्थः–संज्ञायां च विषयेऽण्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेद् अण् कृञः परो न भवति।

उदा०–तन्तुवायो नाम कीटः। बालवायो नाम पर्वतः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (च) भी (अण्) अण्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है, (अकृञः) यदि वह अण्-प्रत्यय कृञ् धातु से उत्तर न हो।*

*उदा०–**तन्तुवायो नाम कीटः।** रेशम का कीड़ा। **बालवायो नाम पर्वतः।** बालवाय नामक पहाड़। वैदूर्यमणि का उत्पत्तिस्थान। सातपुड़ा पर्वत (पारजीटर-मार्कण्डेयपुराण की व्याख्या)।*

सिद्धि-तन्तुवाय और बालवाय पदों की सिद्धि पूर्ववत् है (६ ।२ ।७६)।

आद्युदात्तम्–

(१५) गोतन्तियवं पाले ।७८।

प०वि०–गो-तन्ति-यवम् १ ।१ पाले ७ ।१।

स०–गौश्च तन्तिश्च यवश्च एतेषां समाहारः-गोतन्तियवम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः–पाले गोतन्तियवं पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः–पालशब्दे उत्तरपदे गोतन्तियवानि पूर्वपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०–**(गौः)** गाः पालयतीति गोपालः। **(तन्तिः)** तन्तिं पालयतीति तन्तिपालः। **(यवः)** यवान् पालयतीति यवपालः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(पाले) पाल शब्द उत्तरपद होने पर (गोतन्तियवम्) गौ, तन्ति, यव (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(गौ) गोपालः। गौओं का पाळी। (तन्ति) तन्तिपालः। गौओं के झुण्ड का पाळी। राजा विराट् के यहां रहते समय सहदेव ने अपना बनावटी नाम 'तन्तिपाल' रखा था। (यव) यवपालः। जौ के खेत का रखवाला।

सिद्धि-गोपालः। यहां गो उपपद 'पाल रक्षणे' (चु०प०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से पाल शब्द उत्तरपद होने पर 'गो' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-तन्तिपालः, यवपालः।

आद्युदात्तम्-

(१६) णिनि।७६।

प०वि०-णिनि ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-णिनिः पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-णिन्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-फलानि हरतीति फलहारी। पर्णहारी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(णिनि) णिन्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-फलहारी। फलाहार का व्रती। पर्णहारी। पर्णाहार का व्रती।

सिद्धि-फलहारी। यहां फल उपपद होने पर 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से 'व्रते' (३।२।८०) से 'णिनि' प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'हृ' धातु को वृद्धि होती है। इस सूत्र से णिन्-प्रत्ययान्त 'हारी' शब्द उत्तरपद होने पर 'फल' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-पर्णहारी।

आद्युदात्तम्-

(१७) उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव।८०।

प०वि०-उपमानम् १।१ शब्दार्थ-प्रकृतौ ७।१ एव अव्ययपदम्।

स०-शब्दार्थः प्रकृतिर्यस्मिन् स शब्दार्थप्रकृतिः, तस्मिन्-शब्दार्थप्रकृतौ (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः, णिनि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शब्दार्थप्रकृतावेव णिनि उपमानं पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-शब्दार्थकप्रकृतावेव णिन्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे उपमानवाचि पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-उष्ट्र इव क्रोशतीति उष्ट्रक्रोशी। ध्वाङ्क्ष इव रौतीति ध्वाङ्क्षरावी। खर इव नदतीति खरनादी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शब्दार्थप्रकृतौ) शब्दार्थक प्रकृति=धातुवाले (एव) ही (णिनि) णिन्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (उपमानम्) उपमानवाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

*उदा०-**उष्ट्रक्रोशी**। उष्ट्र की भांति बलबलानेवाला। **ध्वाङ्क्षरावी**। कौवे की भांति कांव-कांव करनेवाला। **खरनादी**। गधे की भांति होंची-होंची शब्द करनेवाला।*

*सिद्धि-(१) **उष्ट्रक्रोशी**। यहां उष्ट्र उपपद होने पर शब्दार्थक 'क्रुश आह्वाने रोदने च' (भ्वा०प०) धातु से 'कर्तर्युपमाने' (३।२।७९) से णिनि प्रत्यय है। इस सूत्र से णिन्-प्रत्ययान्त 'क्रोशी' शब्द उत्तरपद होने पर 'उष्ट्र' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है।*

*(२) **ध्वाङ्क्षरावी**। यहां ध्वाङ्क्ष उपपद होने पर शब्दार्थक 'रु शब्दे' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् णिनि प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **खरनादी**। यहां खर उपपद होने पर 'णद अव्यक्ते शब्दे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् णिनि प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

आद्युदात्ताः-

(१८) युक्तारोह्यादयश्च।८१।

प०वि०-युक्तारोही-आदयः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-युक्तारोही आदिर्येषां ते-युक्तारोह्यादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-युक्तारोह्यादयश्च पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-युक्तारोह्यादिषु च शब्देषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-युक्तारोही। आगतरोही। आगतयोधी, इत्यादिकम्।

युक्तारोही। आगतरोही। आगतयोधी। आगतवञ्ची। आगतनर्दी। आगतप्रहारी। आगतमत्स्या। क्षीरहोता। भगिनीभर्ता। ग्रामगोधुक्। अश्वत्रिरात्रः। गर्गत्रिरात्रः। व्युष्टत्रिरात्रः। शणपादः। समपादः। एकशितिपात्। पात्रेसम्मितादयश्च। इति युक्तारोह्यादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(युक्तरोह्यादयः) युक्तरोही आदि शब्दों में (च) भी (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-युक्तारोही। अश्वशाला में नियुक्त अधिकारी। आगतरोही। नये आये हुये घोड़े को रोहण योग्य बनानेवाला। आगतयोधी। नये आये हुये घोड़े आदि को प्रहार से साधनेवाला, इत्यादि।

सिद्धि-युक्तारोही। यहां युक्त उपपद आङ्पूर्वक 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' (भ्वा०प०) धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से णिनि प्रत्यय है। इस सूत्र से 'युक्त' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-आगतरोही, आगतयोधी।

विशेषः *पाणिनि ने अश्वशाला के युक्त अधिकारियों को 'युक्तारोही' कहा है (६।२।८१)। उन्हें ही अर्थशास्त्र में युक्तारोहक कहा गया है (५।३)। उन्हें प्रतिवर्ष ५०० से १००० कार्षापण तक पूजा-वेतन दिया जाता था। युक्तारोहक अधिकारियों का कर्त्तव्य अविनीत हाथी और घोड़ों को शिक्षा देकर उन्हें आरोहण के योग्य बनाना था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४०२)।*

आद्युदात्तम्—

(१६) दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे।८२।

प०वि०-दीर्घ-काश-तुष-भ्राष्ट्र-वटम् १।१ जे ७।१।

स०-दीर्घश्च काशश्च तुषश्च भ्राष्ट्रं च वटश्च एतेषां समाहारः-दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जे दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं पूर्वपदमादिरुदात्तः।

अर्थः-जे-शब्दे उत्तरपदे दीर्घान्तं पूर्वपदं काशतुषभ्राष्ट्रवटानि च पूर्वपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(दीर्घः) कुट्यां जात इति कुटीजः। शमीजः। (काशः) काशे जात इति काशजः। (तुषः) तुषे जात इति तुषजः। (भ्राष्ट्रम्) भ्राष्ट्रे जात इति भ्राष्ट्रजः। (वटः) वटे जात इति वटजः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जे) ज-शब्द उत्तरपद होने पर (दीर्घकाशतुषभ्राष्टवटम्) दीर्घान्त पूर्वपद और काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(दीर्घ) कुटीजः। कुटी=झोंपड़ी में पैदा होनेवाला-निर्धन। शमीजः। शमी (जांटी) वृक्ष पर पैदा होनेवाला फलविशेष (सांगर)। (काश) काशजः। कास (सरकंडा) पर पैदा होनेवाला पुष्पविशेष। (तुष) तुषजः। तुष=झिलके में पैदा होनेवाला चावल। (भ्राष्ट्र) भ्राष्ट्रजः। भ्राष्ट्र=भाड़ में पकनेवाला भूंगड़ा आदि। (वट) वटजः। वट वृक्ष पर पैदा होनेवाला फलविशेष (वरवंटी)।

सिद्धि-कुटीजः। यह सप्तम्यन्त कुटी शब्द उपपद 'जनी प्रादुर्भावे' (भ्वा०प०) धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) से 'ड' प्रत्यय है। वा०-'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से 'जन्' के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। इस सूत्र से ज-शब्द उत्तरपद होने पर दीर्घान्त 'शमी' शब्द को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शमीजः आदि।

अन्त्यात्पूर्वमुदात्तम्-

(२०) अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः।८३।

प०वि०-अन्त्यात् ५।१ पूर्वम् १।१ बह्वचः ६।१।

तद्धितवृत्तिः-अन्ते भवम्-अन्त्यम्, तस्मात्-अन्त्यात्, **'दिगादिभ्यो यत्'** (४।३।५४) इति भवार्थे यत्-प्रत्ययः।

स०-बहवोऽचौ यस्मिन् स बह्वच्, तस्य-बह्वचः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, जे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात् पूर्वम् उदात्तम्।

अर्थः-ज-शब्दे उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति।

उदा०-उपसरे जात इति उपसरजः। मन्दुरे जात इति मन्दुरजः। आमलक्यां जात इति आमलकीजः। वडवायां जात इति वडवाजः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(जे) ज-शब्द उत्तरपद होने पर (बह्वचः) बहुत अचोंवाले (पूर्वपदम्) पूर्वपद का (अन्त्यात्) अन्तिम अच् से (पूर्वम्) पूर्ववर्ती अच् (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-उपसरजः। उपसर=प्रथम गर्भग्रहण पर उत्पन्न हुआ। मन्दुरजः। अश्वशाला में उत्पन्न हुआ। आमलकीजः। आमलकी वृक्ष पर उत्पन्न हुआ फलविशेष (आंवला)। वडवाजः। वडवा=घोड़ी से उत्पन्न हुआ-खच्चर। अथवा-वडवा वेश्या से उत्पन्न हुआ पुरुष।

सिद्धि-उपसरजः। यहां बहुत अचोंवाला उपसर उपपद 'जनी प्रादुर्भावे' (भ्वा०प०) धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) से 'ड' प्रत्यय है। इस सूत्र से ज-शब्द उत्तरपद होने पर बहुत अचोंवाला 'उपसर' पूर्वपद को अन्तिम अच् से पूर्ववर्ती अच् उदात्त होता है।

आद्युदात्तम्–

(२१) ग्रामेऽनिवसन्तः।८४।

प०वि०–ग्रामे ७।१ अनिवसन्तः १।१।

कृद्वृत्तिः–'अनिवसन्तः' इत्यत्र नि-पूर्वात् **'वस निवासे'** (भ्वा०प०) इत्यस्माद् धातोः **'तॄभूवहिवसिभासिसाधिगडिभण्डिजिनन्दिभ्यश्च'** (उणा० ३।१२८) इत्यनेन झच् प्रत्ययः, **'झोऽन्तः'** (७।१।३) इति झकारस्य स्थानेऽन्तादेशः।

स०–न निवसन्त इति अनिवसन्तः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः–ग्रामे पूर्वपदम् आदिरुदात्तः, अनिंवसन्तः।

अर्थः–ग्राम-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेद् पूर्वपदं निवसन्तवाचि न भवति।

उदा०–मल्लानां ग्राम इति मल्लग्रामः। ग्रामः समूह इत्यर्थः। वणिजां ग्राम इति वणिग्ग्रामः। वणिजां समूह इत्यर्थः। देवग्रामः। देवस्वामिको गृहसमुदाय इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ग्रामे) ग्राम शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है (अनिवसन्तः) जो पूर्वपद है यदि वह निवासीवाची न हो।*

उदा०–मल्लग्रामः। पहलवानों का समूह। वणिग्ग्रामः। व्यापारियों का समूह। देवग्रामः। देव है स्वामी जिसका वह ग्राम (गृहसमुदाय)।

सिद्धि–मल्लग्रामः। यहां मल्ल और ग्राम शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'मल्लग्रामः' का अर्थ 'मल्लों का समूह' है अतः मल्ल पूर्वपद निवसन्त=निवासीवाची नहीं है। इस सूत्र से ग्राम शब्द उत्तरपद होने पर अनिवसन्तवाची मल्ल पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–वणिक्ग्रामः। देवग्रामः।

आद्युदात्तम्–

(२२) घोषादिषु च।८५।

प०वि०–घोष-आदिषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०–घोष आदिर्येषां ते घोषादयः, तेषु–घोषादिषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-घोषादिषु च पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-घोषादिषु शब्देषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-दाक्षेर्घोष इति दाक्षिघोषः। दाक्षिकटः। दाक्षिह्रदः, इत्यादिकम्।

दाक्षिघोषः। दाक्षिकटः। दाक्षिपल्वलः। दाक्षिवल्लभः। दाक्षिह्रदः। दाक्षिबदरी। दाक्षिपिङ्गलः। दाक्षिपिशङ्गः। दाक्षिशालः। दाक्षिरक्षः। दाक्षिशिल्पी। दाक्ष्यश्वत्थः। कुन्दतृणम्। दाक्षिशाल्मली। आश्रममुनिः। शाल्मलिमुनिः। दाक्षिपुंसा (दाक्षिप्रेक्षा)। दाक्षिकूटः। इति घोषादयः।।

आर्यभाषाः अर्थ-(घोषादिषु) घोष आदि शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।

उदा०-दाक्षिघोषः। दाक्षिजनों की बस्ती। दाक्षि=दक्ष के पुत्र। दाक्षिकटः। दाक्षिजनों की चटाई। दाक्षिह्रदः। दाक्षिजनों का तालाब इत्यादि।

सिद्धि-दाक्षिघोषः। यहां दाक्षि और घोष शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'घोष' शब्द उत्तरपद होने पर 'दाक्षि' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-दाक्षिकटः, दाक्षिह्रदः।

आद्युदात्तम्-

(२३) छात्र्यादयः शालायाम्।८६।

प०वि०-छात्रि-आदयः १।३ शालायाम् ७।१।

स०-छात्रिरादिर्येषां ते-छात्र्यादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शालायां छात्र्यादयः पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-शाला-शब्दे उत्तरपदे छात्र्यादयः पूर्वपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-छात्रिशाला। ऐलिशाला (पैलिशाला)। भाण्डिशाला। व्याडिशाला। आपिशलिशाला, इत्यादिकम्।

छात्रि। ऐलि (पैलि)। भाण्डि। आपिशलि। आखण्डि। आपारि। गौमि। इति छात्र्यादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शालायाम्) शाला शब्द उत्तरपद होने पर (छात्र्यादयः) छात्रि-आदि (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-छात्रिशाला। छात्रि नामक आचार्य की पाठशाला (गुरुकुल)। ऐलिशाला (पैलिशाला)। ऐलि/पैलि नामक आचार्य की पाठशाला। भाण्डिशाला। भाण्डि नामक आचार्य की पाठशाला। व्याडिशाला। व्याडि नामक आचार्य की पाठशाला। आपिशलिशाला। आपिशलि नामक आचार्य की पाठशाला।

सिद्धि-छात्रिशाला। यहां छात्रि और शाला शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'शाला' शब्द उत्तरपद होने पर 'छात्रि' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-ऐलिशाला (पैलिशाला) आदि।

आद्युदात्तम्-

(२४) प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम्।८७।

प०वि०-प्रस्थे ७।१ अवृद्धम् १।१ अकर्क्यादीनाम् ६।३।

स०-न वृद्धमिति अवृद्धम् (नञ्तत्पुरुषः)। कर्की आदिर्येषां ते कर्क्यादयः, न कर्क्यादय इति अकर्क्यादयः, तेषाम्-अकर्क्यादीनाम् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्रस्थेऽकर्क्यादीनाम् अवृद्धं पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-प्रस्थ-शब्दे उत्तरपदे कर्क्यादिवर्जितम् अवृद्धसंज्ञकं पूर्वपद-माद्युदात्तं भवति।

उदा०-इन्द्रस्य प्रस्थ इति इन्द्रप्रस्थः। कुण्डप्रस्थः। ह्रदप्रस्थः। सुवर्णप्रस्थः।

कर्की। मघी। मकरी। कर्कन्धू। शमी। करीर। कटुक। कुरल (कुवल)। बदर। इति कर्क्यादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रस्थे) प्रस्थ शब्द उत्तरपद होने पर (अकर्क्यादीनाम्) कर्की आदि तथा (अवृद्धम्) वृद्धसंज्ञक शब्दों से भिन्न (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-इन्द्रप्रस्थः। इन्द्र का स्थान। कुण्डप्रस्थः। कुण्ड का स्थान। ह्रदप्रस्थः। ह्रद का स्थान। सुवर्णप्रस्थः। सुवर्ण का स्थान (सोनीपत)।

सिद्धि-इन्द्रप्रस्थः। यहां इन्द्र और प्रस्थ शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'प्रस्थ' शब्द उत्तरपद होने पर कर्क्यादि से भिन्न तथा अवृद्धसंज्ञक 'इन्द्र' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-कुण्डप्रस्थः आदि।

विशेषः *प्रस्थान्त नाम कुरुक्षेत्र और कुरु जनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहां 'प्रस्थ' की जगह 'पत' स्थान-नामों के अन्त में पाया जाता है, जैसे-पानीपत, बाघपत, सोनीपत, मारीपत, तिलपत (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८०-८१)।*

आद्युदात्तम्-

(२५) मालादीनां च।८८।

प०वि०-माला-आदीनाम् ६।३ च अव्ययपदम्।

स०-माला आदिर्येषां ते मालादयः, तेषाम्-मालादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः, प्रस्थे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्रस्थे मालादीनां च पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-प्रस्थ-शब्दे उत्तरपदे मालादीनां शब्दानां च पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-(**माला**) मालाया: प्रस्थ इति मालाप्रस्थः। (**शाला**) शालाप्रस्थः, इत्यादिकम्।

माला। शाला। शोणा। द्राक्षा। क्षौमा। क्षामा। काञ्ची। एक। काम। इति मालादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रस्थे) प्रस्थ शब्द उत्तरपद होने पर (मालादीनाम्) माला आदि शब्दों में विद्यमान (पूर्वपदम्) पूर्वपद (च) भी (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(माला) मालाप्रस्थः। स्थानविशेष का नाम। (शाला) शालाप्रस्थः। स्थानविशेष का नाम इत्यादि।

सिद्धि-मालाप्रस्थः। यहां माला और प्रस्थ शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'प्रस्थ' शब्द उत्तरपद होने पर 'माला' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शालाप्रस्थः।

आद्युदात्तम्-

(२६) अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्।८९।

प०वि०-अमहत्-नवम् १।१ नगरे ७।१ अनुदीचाम् ६।३।

स०-महच्च नवं च एतयोः समाहारः-महन्नवम्, न महन्नवमिति अमहन्नवम् (समाहारद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)। न उदञ्च इति अनुदञ्चः, तेषाम्-अनुदीचाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नगरेऽमहन्नवं पूर्वपदम् आदिरुदात्तः, अनुदीचाम्।

अर्थः-नगर-शब्दे उत्तरपदे महत्-नवशब्दवर्जितं पूर्वपदम् आद्युदात्तं भवति, तच्चेन्नगरम् उदीचां न भवति।

उदा०-सुह्मस्य नगरम् इति सुह्मनगरम्। पुण्ड्रनगरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नगरे) नगर शब्द उत्तरपद होने पर (अमहन्नवम्) महत् और नव शब्दों से भिन्न (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है (अनुदीचाम्) यदि वह नगर उत्तरदेशीय नगरों में से न हो।*

*उदा०-**सुह्मनगरम्।** नगरविशेष का नाम। **पुण्ड्रनगरम्।** नगरविशेष का नाम।*

*सिद्धि-**सुह्मनगरम्।** यहां सुह्म और नगर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से नगर शब्द उत्तरपद होने पर महत् और नव शब्दों से भिन्न सुह्म पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-**पुण्ड्रनगरम्।***

आद्युदात्तम्-

(२७) अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच्।६०।

प०वि०-अर्मे ७।१ च अव्ययपदम् १।१ अवर्णम् १।१ द्व्यच् १।१ त्र्यच् १।१।

स०-द्वावचौ यस्मिन् सः-द्व्यच् (बहुव्रीहिः)। त्रयोऽचो यस्मिन् सः-त्र्यच् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अर्मे च द्व्यच् त्र्यच् चावर्णं पूर्वपदम् आदिरुदात्तः।

अर्थः-अर्म-शब्दे चोत्तरपदे द्व्यच् त्र्यच्चावर्णान्तं पूर्वपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-(द्व्यच्) दत्तस्य अर्ममिति दत्तार्मम्। गुप्तार्मम्। **(त्र्यच्)** कुक्कुटस्य अर्ममिति कुक्कुटार्मम्। वायसार्मम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अर्मे) अर्म शब्द उत्तरपद होने पर (च) भी (द्व्यच्) दो अचोंवाला और (त्र्यच्) तीन अचोंवाला (अवर्णम्) अकारान्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(द्व्यच्) दत्तार्मम्। दत्त का अर्म=ऊजड़ खेड़ा। गुप्तार्मम्। गुप्त का ऊजड़ खेड़ा। (त्र्यच्) कुक्कुटार्मम्। कुक्कुट का ऊजड़ खेड़ा। वायसार्मम्। वायस का ऊजड़ खेड़ा।

सिद्धि-दत्तार्मम्। यहां दत्त और अर्म शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'अर्म' शब्द उत्तरपद होने पर दो अचोंवाला, अवर्णान्त 'दत्त' पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-गुप्तार्मम् आदि।

आद्युदात्त-प्रतिषेधः-

(२८) न भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलम्।६१।

प०वि०- न अव्ययपदम्, भूत-अधिक-सञ्जीव-मद्र-अश्म-कज्जलम् १।१।

स०-भूतं च अधिकं च सञ्जीवश्च मद्रश्च अश्मा च कज्जलं च एतेषां समाहारः-भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, आदिः, उदात्तः अर्मे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अर्मे भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलं पूर्वपदम् आदिरुदात्तं न।

अर्थः-अर्म-शब्दे उत्तरपदे भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलानि पूर्वपदानि आद्युदात्तानि न भवन्ति।

उदा०-(भूतम्) भूतस्यार्ममिति भूतार्मम्। **(अधिकम्)** अधिकार्मम्। **(सञ्जीवः)** सञ्जीवार्मम्। मद्राश्मग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्-मद्रार्मम्। अश्मार्मम्। मद्राश्मार्मम्। **(कज्जलम्)** कज्जलार्मम्। अत्र **'समासस्य'** (६।१।२१८) इत्यनेनान्तोदात्तस्वरो भवति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अर्मे) अर्म शब्द उत्तरपद होने पर (भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलम्) भूत, अधिक, सञ्जीव, मद्र, अश्म, कज्जल (पूर्वपदम्) पूर्वपद शब्दों को (आदिरुदात्तः) आद्युदात्त (न) नहीं होता है।*

उदा०-(भूत) भूतार्मम्। (अधिक)। अधिकार्मम्। (सञ्जीव) सञ्जीवार्मम्। (मद्राश्म) मद्र-अश्म का संघात और विगृहीत पद के लिये किया गया है-मद्रार्मम्। अश्मार्मम्। मद्राश्मार्मम्। (कज्जल) कज्जलार्मम्। ये सब प्राचीन अर्म=ऊजड़-खेड़ों के नाम हैं।

सिद्धि-भूतार्मम्। यहां भूत और अर्म शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अर्म शब्द उत्तरपद होने पर भूत पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर नहीं होता है। 'अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच्' (६।२।९८) से पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया है। 'समासस्य' (६।१।२१८) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अधिकार्मम् आदि।

।। इति पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणम्।।

पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणम्

अन्तोदात्ताधिकारः-

(१) अन्तः।९२।

वि०-अन्तः १।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्त इति चानुवर्तते। आदिरिति च निवृत्तम्।

अन्वयः-पूर्वपदम् अन्तोदात्तः।

अर्थः-अन्त इत्यधिकारोऽयम्, इत उत्तरं यद् वक्ष्यति तत्र पूर्वपदमन्तोदात्तं भवतीति वेदितव्यम्। वक्ष्यति- **'सर्वं गुणकार्त्स्न्ये'** (६।२।९३) इति। सर्वश्वेतः। सर्वकृष्णः।

'उत्तरपदस्यादिः' (६।२।१११) इत्यस्मात् प्रागयमधिकारो वेदितव्यः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-'अन्तः' यह अधिकार सूत्र है। पाणिनि मुनि इससे आगे जो कहेंगे वहां (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है, ऐसा जानें। जैसे पाणिनि मुनि कहेंगे-'सर्वं गुणकार्त्स्न्ये' (६।२।९३) सर्वश्वेतः। सारा सफेद। सर्वकृष्णः। सारा काला।*

'उत्तरपदस्यादिः' (६।२।१११) से पहले-पहले यह अधिकार समझना चाहिये।

सिद्धि-सर्वश्वेतः आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

अन्तोदात्तम्-

(२) सर्वं गुणकार्त्स्न्ये।९३।

प०वि०-सर्वम् १।१ गुण-कार्त्स्न्ये ७।१।

स०-गुणस्य कार्त्स्न्यमिति गुणकार्त्स्न्यम्, तस्मिन्-गुणकार्त्स्न्ये (षष्ठीतत्पुरुषः)। कृत्स्नस्य भावः कार्त्स्न्यम्=सर्वत्रभाव इत्यर्थः। **'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च'** (५।१।१२४) इत्यनेन ब्राह्मणादेरा-कृतिगणत्वाद् भावे ष्यञ्प्रत्ययः।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-गुणकार्त्स्न्ये सर्वं पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-गुणकार्त्स्न्येऽर्थे वर्तमानं सर्वमिति पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-सर्वाश्चासौ श्वेत इति सर्वश्वेतः। सर्वकृष्णः। सर्वमहान्।

आर्यभाषाः *अर्थ:-(गुणकार्त्स्न्ये) गुण के सर्वत्र भाव अर्थ में विद्यमान (सर्वम्) सर्व (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-सर्वश्वेतः। सारा सफेद। सर्वकृष्णः। सारा काला। सर्वमहान्। सारा महान् (पूज्य)।

सिद्धि-सर्वश्वेतः। यहां गुणकार्त्स्न्यवाची 'सर्व' और 'श्वेत' शब्दों का 'पूर्वकालैक-सर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' (२।१।४९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से गुण-कार्त्स्न्य अर्थ में विद्यमान 'सर्व' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सर्वकृष्णः, सर्वमहान्।

अन्तोदात्तम्-

(३) संज्ञायां गिरिनिकाययोः।६४।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१ गिरि-निकाययोः ७।२।

स०-गिरिश्च निकायश्च तौ गिरिनिकायौ, तयोः-गिरिनिकाययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां गिरिनिकाययोः पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषये गिरिनिकाययोरुत्तरपदयोः पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-**(गिरिः)** अञ्जनागिरिः। भञ्जनागिरिः। **(निकायः)** शापिण्डिनिकायः। मौण्डिनिकायः। चिखिल्लिनिकायः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में (गिरिनिकाययोः) गिरि और निकाय शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदत्त होता है।*

उदा०-(गिरि) अञ्जनागिरिः। अञ्जन (सुर्मा) का पहाड़। भञ्जनागिरिः। भञ्जनागिरि नामक पर्वत। (निकाय) शापिण्डिनिकायः। शापिण्डिजनों का घर/समूह। मौण्डिनिकायः। मौण्डिजनों का घर/समूह। चिखिल्लिनिकायः। चिखिल्लीजनों का घर/समूह।

सिद्धि-अञ्जनागिरिः। यहां अञ्जन और गिरि शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञा विषय में 'गिरि' शब्द उत्तरपद होने पर 'अञ्जन' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्' (६।३।११७) से 'अञ्जन' पूर्वपद को दीर्घ होता है। ऐसे ही-भञ्जनागिरिः। संज्ञा विषय में विग्रह वाक्य नहीं होता है क्योंकि वाक्य से संज्ञा अर्थ की प्रतीति नहीं होती है।

'शापिण्डि' और 'मौण्डि' शब्दों में 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय है और 'चिखिल्ली' शब्द में 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) से इनि प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्तम्-

(४) कुमार्यां वयसि।६५।

प०वि०-कुमार्याम् ७।१ वयसि ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कुमार्यां पूर्वपदम् अन्त उदात्तः, वयसि।

अर्थः-कुमारी-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति, वयसि गम्यमाने।

उदा०-वृद्धा चासौ कुमारी इति वृद्धकुमारी। जरती चासौ कुमारी इति जरत्कुमारी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कुमार्याम्) कुमारी शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (वयसि) यदि वह आयु अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-वृद्धकुमारी। वृद्ध आयु की कुमारी। जरत्कुमारी। जीर्ण आयु की कुमारी।

सिद्धि-वृद्धकुमारी। यहां वृद्धा और कुमारी शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५६) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'पुंवत् कर्मधारजातीयदेशीयेषु' (६।३।४२) से वृद्धा शब्द को पुंवद्भाव होता है। इस सूत्र से 'कुमारी' शब्द उत्तरपद होने पर 'वृद्ध' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-जरत्कुमारी।

अन्तोदात्तम्-

(५) उदकेऽकेवले।६६।

प०वि०-उदके ७।१ अकेवले ७।१।

स०-न केवलमिति अकेवलम्, तस्मिन्-अकेवले (नञ्तत्पुरुषः)।

अकेवलम्=मिश्रमित्यर्थः।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अकेवले उदके पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-अकेवले=मिश्रवाचिनि समासे उदकशब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-गुडमिश्रमुदकम् इति गुडोदकम्। तिलोदकम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(अकेवले) मिश्रवाची समास में (उदके) उदक-शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।

उदा०-गुडोदकम्। गुड़ मिश्रित उदक (जल)। तिलोदकम्। तिल मिश्रित उदक।

सिद्धि-गुडोदकम्। यहां गुडमिश्र और उदक शब्दों का वा०- 'समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' (२।१।५९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास और मिश्र उत्तरपद का लोप होता है। इस सूत्र से अकेवल=मिश्रवाची समास में उदक शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

गुड और उदक शब्दों का एकादेश (गुड+उदकम्=गुडोदकम्) होने पर 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' (८।२।६) से पक्ष में स्वरित स्वर भी होता है-गुडोदकम्, तिलोदकम्।

अन्तोदात्तम्-

(६) द्विगौ क्रतौ।६७।

प०वि०-द्विगौ ७।१ क्रतौ ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्रतौ द्विगौ पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-क्रतुवाचिनि समासे द्विगुसंज्ञके शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-गर्गाणां त्रिरात्र इति गर्गत्रिरात्रः। चरकत्रिरात्रः। कुसुरविन्दसप्तरात्रः।

आर्यभाषाः अर्थ-(क्रतौ) यज्ञविशेषवाची समास में (द्विगौ) द्विगु-संज्ञक शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।

उदा०-गर्गत्रिरात्रः। गर्गजनों का त्रिरात्र नामक यज्ञविशेष। चरकत्रिरात्रः। चरकजनों का त्रिरात्र नामक यज्ञविशेष। कुसुरविन्दसप्तरात्रः। कुसुरविन्दजनों का सप्तरात्र नामक यज्ञविशेष।

सिद्धि-गर्गत्रिरात्रः। यहां गर्ग और त्रिरात्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'त्रिरात्र' शब्द में 'तिसृणां रात्रीणां समाहारः-त्रिरात्रः, 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) से समाहार अर्थ में द्विगुसमास है और 'अहः-सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' ५।४।८७) से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से क्रतुविशेषवाची समास में द्विसंज्ञक 'त्रिरात्र' शब्द उत्तरपद होने पर गर्ग पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-चरकत्रिरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्रः।

अन्तोदात्तम्-

(७) सभायां नपुंसके।६८।

प०वि०-सभायाम् ७।१ नपुंसके ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त चानुवर्तति।

अन्वयः-नपुंसके सभायां पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गे समासे सभा-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-गोपालस्य सभेति गोपालसभम्। पशुपालसभम्। स्त्रीसभम्। दासीसभम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग समास में (सभायाम्) सभा शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-गोपालसभम्। गोपाल का घर। पशुपालसभम्। पशुपाल का घर। स्त्रीसभम्। स्त्री का घर। दासीसभम्। दासी का घर।

सिद्धि-गोपालसभम्। यहां गोपाल और सभा शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) से सभान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग होता है। इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग समास में सभा-शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

विशेषः *सभा शब्द के समुदाय और शाला दो अर्थ हैं। यहां शाला (घर) अर्थ का ग्रहण किया गया है। 'वासः कुटी शाला सभा' इत्यमरः।*

अन्तोदात्तम्-

(८) पुरे प्राचाम्।६९।

प०वि०-पुरे ७।१ प्राचाम् ६।३।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पुरे पूर्वपदम् अन्त उदात्तः, प्राचाम्।

अर्थः-पुर-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति, प्राचां देशेऽभिधेये।

उदा०-ललाटस्य पुरमिति ललाटपुरम्। काञ्चीपुरम्। शिवदत्तपुरम्। कार्णिपुरम्। नार्मपुरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पुरे) पुर-शब्द उत्तरपद होनें पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (प्राच्यम्) यदि वहां प्राच्य-भरत के देशविशेष का कथन हो।*

उदा०-ललाटपुरम्। ललाट का ग्राम। काञ्चीपुरम्। काञ्ची का ग्राम। शिवदत्तपुरम्। शिवदत्त का ग्राम। कार्णिपुरम्। कार्णि का ग्राम। नार्मपुरम्। नार्म का ग्राम।

सिद्धि-ललाटपुरम्। यहां ललाट और पुर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से प्राग्देशवाची समास में पुर-शब्द उत्तरपद होने पर ललाट पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-काञ्चीपुरम् आदि।

विशेषः *शरावती (नदी) के दक्षिण-पूर्व का देश प्राच्य और पश्चिमोत्तर का उदीच्य कहलाता था। सम्भवतः अम्बाला जिले में बहनेवाली घग्घर नदी शरावती कही जाती थी और वही प्राची और उदीची की सीमाओं को अलग करती थी (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ०४२)।*

अन्तोदात्तम्-

(६) अरिष्टगौडपूर्वे च।१००।

प०वि०-अरिष्ट-गौडपूर्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-अरिष्टं च गौडश्च तौ-अरिष्टगौडौ, अरिष्टगौडौ पूर्वौ यस्मिन् सः-अरिष्टगौडपूर्वः, तस्मिन्-अरिष्टगौडपूर्वे (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, पुरे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अरिष्टगौडपूर्वे पुरे पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-अरिष्टगौडपूर्वे समासे पुर-शब्दे उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-**(अरिष्टम्)** अरिष्टस्य पुरम् इति अरिष्टपुरम्। **(गौडः)** गौडस्य पुरम् इति गौडपुरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अरिष्टगौडपूर्वे) अरिष्ट और गौड शब्द पूर्वपदवाले समास में (पुरे) पुर-शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(अरिष्ट) अरिष्टपुरम्। अरिष्ट का ग्राम। (गौड) गौडपुरम्। गौड का ग्राम।

सिद्धि-अरिष्टपुरम्। यहां अरिष्ट और पुर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अरिष्ट शब्द पूर्वपद पुर-शब्द उत्तरपद होने पर अन्तोदात्त होता है। ऐसे ही-गौडपुरम्।

विशेषः (१) अरिष्टपुर-यह शिवि जनपद में शिवि क्षत्रियों की राजधानी थी (अरिट्ठसाह्वनगर, चरिया पिटक १।८।१, शिविजातक ६।४०१।१२)।

(२) गौडपुर-यह गौड देश बंगाल में था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ७८)।

अन्तोदात्तप्रतिषेधः-

(१०) न हास्तिनफलकमार्देयाः।१०१।

प०वि०-न अव्ययपदम्, हास्तिन-फलक-मार्देयाः १।३।

स०-हास्तिनं च फलकं च मार्देयश्च ते-हास्तिनफलकमार्देयाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, पुरे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पुरे हास्तिनफलकमार्देयाः पूर्वपदम् अन्त उदात्तो न।

अर्थः-पुर-शब्दे उत्तरपदे हास्तिनफलकमार्देयाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि न भवन्ति।

उदा०-(हास्तिनम्) हास्तिनस्य पुरम् इति हास्तिनपुरम्। **(फलकम्)** फलकपुरम्। **(मार्देयः)** मार्देयपुरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पुरे) पुर-शब्द उत्तरपद होने पर (हास्तिनफलकमर्देयाः) हास्तिन, फलक और मार्देय (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तेदात्त (न) नहीं होते हैं।*

उदा०-(हास्तिन) हास्तिनपुरम्। हास्तिन का ग्राम। (फलक) फलकपुरम्। फलक का ग्राम। (मार्देय) मार्देयपुरम्। मार्देय का ग्राम।

सिद्धि-हास्तिनपुरम्। यहां हास्तिन और पुर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पुर-शब्द उत्तरपद होने पर हास्तिन पूर्वपद को अन्तोदात्त का प्रतिषेध है, अतः 'समासस्य' (६।१।२१८) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-फलकपुरम्, मार्देयपुरम्।

विशेषः हास्तिनपुर कुरु जनपद की प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर सम्भवतः फिल्लौर (जि० जालन्धर) और मार्देयपुर मंडावर (जि० बिजनौर) था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ७८)।

अन्तोदात्तम्–

(११) कुसूलकूपकुम्भशालं बिले।१०२।

प०वि०-कुसूल-कूप-कुम्भ-शालम् १।१ बिले ७।१।

स०-कुसूलं च कूपश्च कुम्भं च शाला च एतेषां समाहारः-कुसूलकूपकुम्भशालम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बिले कुसूलकूपकुम्भशालं पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बिल-शब्दे उत्तरपदे कुसूलकूपकुम्भशालानि पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(**कुसूलम्**) कुसूलस्य बिलम् इति कुसूलबिलम्। (**कूपः**) कूपबिलम्। (**कुम्भम्**) कुम्भबिलम्। (**शाला**) शालाबिलम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बिले) बिल शब्द उत्तरपद होने पर (कुसूलकूपकुम्भशालम्) कुसूल, कूप, कुम्भ और शाला (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(कुसूल) कुसूलबिलम्। कुठले का मुख। (कूप) कूपबिलम्। कूए का मुख। (कुम्भ) कुम्भबिलम्। घड़े का मुख। (शाला) शालाबिलम्। घर का मुख=द्वार।

सिद्धि-कुसूलबिलम्। यहां कुसूल और बिल शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से बिल-शब्द उत्तरपद होने पर कुसूल पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-कूपबिलम् आदि।

विशेषः *(१) कुसूल-बहुत बड़ा लम्बोतरा मिट्टी का बना हुआ कुठला या कोठी जो मनुष्य की ऊंचाई से कुछ ऊंची है और जिसमें १५ से २० मन तक अनाज आ सके।*

(२) कूप-इसका तात्पर्य पक्की मिट्टी की बनी हुई लगभग ३ फुट व्यास की उन चकरियों से ज्ञात होता है जिन्हें एक के ऊपर एक रखकर अन्नसंग्रह के लिये कुठले जैसे बनाया जाता था।

(३) कुम्भ-मिट्टी का बड़ा घड़ा जिसका मुंह अपेक्षाकृत छोटा हो। इसे सिन्ध की ओर गोदी कहा जाता है। इसमें कुसूल से लगभग आधा अन्न आयेगा।

(४) शाला-इस सूत्र में जिस शाला-बिल का उल्लेख है वह अन्न रखने के भण्डार का आनन या छोटा मुख होना चाहये। अन्न रखने के बखर को ही यहां सूत्रकार ने शाला कहा है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १५०-५१)।

अन्तोदात्तम्-

(१२) दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु।१०३।

प०वि०-दिक्-शब्दा: १।३ ग्राम-जनपद-आख्यान-चानराटेषु ७।३।

स०-दिशि दृष्टा: शब्दा इति दिक्शब्दा: (उत्तरपदलोपी सप्तमीतत्पुरुष:)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्त:, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वय:-ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु दिक्शब्दा: पूर्वपदम् अन्त उदात्त:।

अर्थ:-ग्रामजनपदाख्यानवाचिषु उत्तरपदेषु चानराटशब्दे चोत्तरपदे दिक्शब्दा: पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-**(ग्राम:)** पूर्वा चेयम् इषुकामशमी इति पूर्वेषुकामशमी। अपरेषुकामशमी। पूर्वा चेयं कृष्णमृत्तिका इति पूर्वकृष्णमृत्तिका। अपरकृष्णमृत्तिका। **(जनपद:)** पूर्वे च ते पञ्चाला इति पूर्वपञ्चाला:। अपरपञ्चाला:। **(आख्यामम्)** आधिरामस्य पूर्वम् इति पूर्वाधिरामम्। पूर्वयायातम्। अपरयायातम्। **(चानराट:)** चानराटस्य पूर्वम् इति पूर्वचानराटम्। अपरचानराटम्।

आर्यभाषा: *अर्थ-(ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु) ग्राम, जनपद और आख्यानवाची तथा चानराट शब्दों के उत्तरपद होने पर (दिक्शब्दा:) दिशावाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्त:) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(ग्राम:) ***पूर्वेषुकामशमी।*** *इषुकामशमी नामक ग्राम का पूर्वभाग।* ***अपरेषुकामशमी।*** *इषुकामशमी नामक ग्राम का अपर (पश्चिम) भाग।* ***पूर्वकृष्णमृत्तिका।*** *कृष्णमृत्तिका नामक ग्राम का पूर्वभाग।* ***अपरकृष्णमृत्तिका।*** *कृष्णमृत्तिका नामक ग्राम का अपर भाग। (जनपद)* ***पूर्वपञ्चाला:।*** *पञ्चाल नामक जनपद का पूर्वभाग।* ***अपरपञ्चाला:।*** *पञ्चाल नामक जनपद का अपर भाग। (आख्यान)* ***पूर्वाधिरामम्।*** *अधिराम=राम के विषय को अधिकृत करके लिखा गया ग्रन्थ-आधिराम, उसका पूर्व भाग।* ***पूर्वयायातम्।*** *ययाति राजा को अधिकृत करके लिखा गया ग्रन्थ-यायात, उसका पूर्व भाग।* ***अपरयायातम्।*** *यायात नामक ग्रन्थ का अपर भाग। (चानराट)* ***पूर्वचानराटम्।*** *चानराट नगर का पूर्व भाग।* ***अपरचानराटम्।*** *चानराट नगर का अपर भाग।*

सिद्धि- ***पूर्वेषुकामशमी।*** *यहां पूर्व और इषुकामी शब्दों का* ***'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'*** *(२।१।५०) से कर्मधारयतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ग्रामवाची इषुकामशमी शब्द उत्तरपद होने पर दिशावाची 'पूर्व' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-* ***अपरेषुकामशमी*** *आदि।*

अन्तोदात्तम्–

(१३) आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि।१०४।

प०वि०-आचार्योपसर्जनः १।१ (सप्तम्यर्थे) च अव्ययपदम्, अन्तेवासिनि ७।१।

स०-आचार्य उपसर्जनम्=अप्रधानं यस्य स आचार्योपसर्जनः (बहुव्रीहिः)। सुपां सुर्भवतीति सप्तम्येकवचनस्य स्थाने प्रथमैकवचनं छान्दसम्। छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, दिक्शब्दा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आचार्योपसर्जनेऽन्तेवासिनि च दिक्शब्दाः पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-आचार्योपसर्जनेऽन्तेवासिवाचिनि शब्दे चोत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-पाणिनेश्छात्रा इति पाणिनीयाः। पूर्वे च ते पाणिनीया इति पूर्वपाणिनीयाः। अपरपाणिनीयाः। काशकृत्स्नस्य छात्राः काशकृत्स्नाः। पूर्वे च ते काशकृत्स्ना इति पूर्वकाशकृत्स्ना। अपरकाशकृत्स्नाः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(आचार्योपसर्जनः) आचार्य का कथन जहां उपसर्जन=अप्रधान है, उस (अन्तेवासिनि) शिष्यवाची शब्द के उत्तरपद होने पर (च) भी (दिक्शब्दाः) दिशावाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-पूर्वपाणिनीयाः। पाणिनि आचार्य के पूर्वकालीन अन्तेवासी=शिष्य। अपरपाणिनीयाः। पाणिनि आचार्य के अपरकालीन अन्तेवासी। पूर्वकाशकृत्स्ना। काशकृत्स्न आचार्य के पूर्वकालीन अन्तेवासी। अपरकाशकृत्स्नाः। काशकृत्स्न आचार्य के अपरकालीन अन्तेवासी।

सिद्धि-(१) पूर्वपाणिनीयाः। यहां पूर्व और पाणिनीय शब्दों का 'पूर्वापरप्रथमचरममध्यमध्यमवीराश्च' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'पाणिनीय' शब्द में आचार्यवाची 'पाणिनि' शब्द से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से शैषिक अर्थ में 'छ' प्रत्यय है। अतः यहां आचार्य अर्थ उपसर्जन=अप्रधान और शैषिक अर्थ (अन्तेवासी) प्रधान है। इस सूत्र से आचार्य उपसर्जनवाले अन्तेवासीवाची 'पाणिनीय' शब्द उत्तरपद होने पर दिशावाची 'पूर्व' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अपरपाणिनीयाः।

(२) पूर्वकाशकृत्स्नाः। यहां 'काशकृत्स्न' शब्द में आचार्यवाची 'काशकृत्स्न' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से शैषिक अर्थ (अन्तेवासी) में औत्सर्गिक 'अण्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अपरकाशकृत्स्नाः।

अन्तोदात्तम्-

(१४) उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च।१०५।

प०वि०-उत्तरपद-वृद्धौ ७।१ सर्वम् १।१ च अव्ययपदम्।

स०-उत्तरपदस्य वृद्धिरिति उत्तरपदवृद्धिः, तस्याम्-उत्तरपदवृद्धौ (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, दिक्शब्दा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उत्तरपदवृद्धौ सर्वं दिक्शब्दाश्च पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) इत्येवमधिकृत्य या वृद्धिर्विहिता तद्वति शब्दे उत्तरपदे सर्वं दिक्शब्दाश्च पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(सर्वम्) सर्वे च ते पञ्चाला इति सर्वपञ्चालाः। सर्वपञ्चालेषु भवः-सर्वपाञ्चालकः। **(दिक्शब्दाः)** पूर्वे च ते पञ्चाला इति पूर्वपञ्चालाः। पूर्वपञ्चालेषु भवः-पूर्वपाञ्चालकः। उत्तरपाञ्चालकः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उत्तरपदवृद्धौ) 'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) इस सूत्र के अधिकार में जो वृद्धि विहित की गई है उस वृद्धिमान् शब्द के उत्तरपद होने पर (सर्वम्) सर्वशब्द (च) और (दिक्शब्दाः) दिशावाची (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(सर्व) सर्वपाञ्चालकः। समस्त पञ्चाल जनपद में होनेवाला। (दिक्शब्द) पूर्वपाञ्चालकः। पञ्चाल जनपद के पूर्वभाग में होनेवाला। उत्तरपाञ्चालकः। पञ्चाल जनपद के उत्तरभाग में होनेवाला।

*सिद्धि-(१) सर्वपाञ्चालकः। यहां प्रथम सर्व और पञ्चाल शब्दों का 'पूर्वकालैक-सर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' (२।१।४९) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है, तत्पश्चात् तदन्तविधि से 'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्' (४।२।१२५) से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' प्रत्यय होता है और 'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) के अधिकार में पठित 'सुसर्वार्धाज्जनपदस्य' (७।३।२५) से जनपदवाची 'पञ्चाल' उत्तरपद को आदिवृद्धि होती है। इस सूत्र से 'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) **के अधिकार में विहित वृद्धिमान्** 'पाञ्चालक' उत्तरपद होने पर 'सर्व' पूर्वपद को अन्तोदात्त **स्वर होता है।***

(२) पूर्वपाञ्चालकः। यहां पूर्व और पञ्चाल शब्दों का 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्य-समानमध्यमध्यमवीराश्च' (२।१।५८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। तत्पश्चात् 'पूर्वपञ्चाल' शब्द से पूर्ववत् 'वुञ्' प्रत्यय और 'दिशोऽमद्राणाम्' (७।३।१३) से उत्तरपद-वृद्धि होती है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-उत्तरपाञ्चालः।

अन्तोदात्तम्-

(१५) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्।१०६।

प०वि०-बहुव्रीहौ ७।१ विश्वम् १।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ संज्ञायां विश्वं पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां च विषये विश्वम् इति पूर्वपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-वि॒श्वदे॑वः। वि॒श्वय॑शाः। वि॒श्वम॑हान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास तथा (संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में (विश्वम्) विश्व (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-वि॒श्वदे॑वः। यह संज्ञा-विशेष है। वि॒श्वय॑शाः। यह संज्ञा-विशेष है। वि॒श्वम॑हान्। यह संज्ञा-विशेष है।

सिद्धि-वि॒श्वदे॑वः। यहां विश्व और देव शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास तथा संज्ञाविषय में विश्व पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से 'विश्व' पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह उसका अपवाद है। 'विश्व' शब्द में 'अशिप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्' (उणा० १।१५१) से 'क्वन्' प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से 'विश्व' शब्द 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त है।

विश्वदेव आदि शब्द संज्ञावाची होने से इनका विग्रह-वाक्य नहीं होता है क्योंकि वाक्य से संज्ञा की प्रतीति नहीं होती है।

अन्तोदात्तम्-

(१६) उदराश्वेषुषु।१०७।

प०वि०-उदर-अश्व-इषुषु ७।३।

स०-उदरं च अश्वश्च इषुश्च ते-उदराश्वेषवः, तेषु-उदराश्वेषुषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, बहुव्रीहौ, संज्ञायाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ संज्ञायाम् उदराश्वेषुषु पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये उदराश्वेषुषु उत्तरपदेषु पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(उदरम्) वृकोदरः। दामोदरः। (अश्वः) हर्यश्वः। यौवनाश्वः। (इषुः) सुवर्णपुङ्खेषुः। महेषुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में तथा (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (उदराश्वेषुषु) उदर, अश्व और इषु शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदत्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(उदर) वृकोदरः। वृक=भेड़िया के समान उदर (पेट) वाला (संज्ञाविशेष-भीम)। दामोदरः। दाम=बन्धन है उदर पर जिसके वह पुरुष (संज्ञाविशेष-कृष्ण)। (अश्व) हर्यश्वः। हरि=भूरा है अश्व (घोड़ा) जिसका वह पुरुष (संज्ञाविशेष-इन्द्र)। यौवनाश्वः। यौवन ही है अश्व जिसका वह पुरुष (संज्ञाविशेष)। (इषु) सुवर्णपुङ्खेषुः। सुन्दर वर्णवाले पुङ्ख (पत्र) से युक्त बाणवाला पुरुष (संज्ञाविशेष)। महेषुः। महान्=बड़ा है इषु (बाण) जिसका वह पुरुष (संज्ञाविशेष)।

सिद्धि-वृकोदरः। यहां वृक और उदर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास तथा संज्ञाविषय में उदर शब्द उत्तरपद होने पर 'वृक' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-दामोदरः आदि।

अन्तोदात्तम्-

(१७) क्षेपे।१०८।

वि०-क्षेपे ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, बहुव्रीहौ, संज्ञायाम्, उदराश्वेषुषु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ संज्ञायाम् उदराश्वेषुषु पूर्वपदम् अन्त उदात्तः, क्षेपे।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये उदराश्वेषुषु उत्तरपदेषु पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति, क्षेपे गम्यमाने।

उदा०-(उदरम्) कुण्डोदरः। घटोदरः। (अश्वः) कटुकाश्वः। स्पन्दिताश्वः। (इषुः) अनिघातेषुः। चलाचलेषुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहि) बहुव्रीहि समास में तथा (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (उदराश्वेषुषु) उदर, अश्व और इषु शब्द उत्तरपद होने पर (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (क्षेपे) यदि वहां क्षेप=निन्दा अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-(उदर) कुण्डोदरः। कुण्ड के समान उदर (पेट) वाला (संज्ञाविशेष)। घटोदरः। घट=घड़े के समान उदरवाला पुरुष (संज्ञाविशेष) (अश्व) कटुकाश्वः। कडवे स्वभाव के घोड़ेवाला पुरुष (संज्ञाविशेष)। स्पन्दिताश्वः। मन्द चाल के घोड़ेवाला पुरुष (संज्ञाविशेष)। (इषु) अनिघातेषुः। निघात से रहित बाणवाला पुरुष (संज्ञाविशेष)। चलाचलेषुः। अति चलायमान बाणवाला पुरुष (संज्ञाविशेष)।

सिद्धि-कुण्डोदरः। यहां कुण्ड और उदर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास, संज्ञाविषय तथा क्षेप (निन्दा) की प्रतीति में उदर शब्द उत्तरपद होने पर कुण्ड पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-घटोदरः आदि।

अन्तोदात्तम्-

(१८) नदी बन्धुनि।१०६।

प०वि०-नदी १।१ बन्धुनि ७।१।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, बहुव्रीहौ इति चानुवर्तति।

अन्वयः-बहुव्रीहौ बन्धुनि नदी पूर्वपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे बन्धु-शब्दे उत्तरपदे नदी-संज्ञकं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-गार्गी बन्धुर्यस्य सः-गार्गीबन्धुः। वात्सीबन्धुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (बन्धुनि) बन्धु शब्द उत्तरपद होने पर (नदी) नदी-संज्ञक (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-गार्गीबन्धुः। गार्गी है बन्धु जिसका वह गार्गीबन्धु। जो गार्गी जैसी महाविदुषी ऋषिका के बन्धुभाव से अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध करना चाहता है वह गार्गीबन्धु कहाता है। वात्सीबन्धुः। वात्सी है बन्धु जिसकी वह वात्सीबन्धु।

सिद्धि०-गार्गीबन्धुः। यहां गार्गी और बन्धु शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में बन्धु शब्द उत्तरपद होने पर नदी-संज्ञक 'गार्गी' पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। गार्गी शब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।४) से नदी संज्ञा है। ऐसे ही-वात्सीबन्धुः।

अन्तोदात्तविकल्पः-

(१६) निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् ।११०।

प०वि०-निष्ठा १ ।१ उपसर्गपूर्वम् १ ।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम् ।

स०-उपसर्गः पूर्वो यस्य तत्-उपसर्गपूर्वम् (बहुव्रीहिः) ।

अनु०-पूर्वपदम्, उदात्तः, अन्तः, बहुव्रीहौ इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-बहुव्रीहावुपसर्गपूर्वं निष्ठापूर्वपदमन्यतरस्याम् अन्त उदात्तः ।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे उपसर्गपूर्वं निष्ठान्तं पूर्वपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ।

उदा०-प्रधौतं मुखं येन सः-प्रधौतमुखः । प्रधौतमुखः । प्रधौतमुखः । प्रक्षालितौ पादौ येन सः-प्रक्षालितपादः । प्रक्षालितपादः ।

'प्रधौतमुखः' इत्यत्र यदि मुखशब्दः स्वाङ्गवाची तदा विकल्पपक्षे **'मुखं स्वाङ्गम्'** (६ ।२ ।१६७) इत्यनेन मुखशब्दोऽन्तोदात्तो भवति-**प्रधौतमुखः ।** यदि मुखशब्दो न स्वाङ्गवाची तदा **'गतिरनन्तरः'** (६ ।२ ।४९) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः स्वरो भवति-**प्रधौतमुखः ।**

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (उपसर्गपूर्वम्) उपसर्ग-पूर्ववाला (निष्ठा) निष्ठान्त (पूर्वपदम्) पूर्वपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-प्रधौतमुखः । प्रधौतमुखः । प्रधौतमुखः । धोये हुये मुखवाला । प्रक्षालितपादः । प्रक्षालितपादः । धोये हुये चरणोंवाला ।

'प्रधौतमुखः' यहां यदि मुख शब्द स्वाङ्वाची है तो विकल्प पक्ष में 'मुखं स्वाङ्गम्' (६ ।२ ।१६७) से मुख शब्द अन्तोदात्त होता है-प्रधौतमुखः । यदि मुख शब्द स्वाङ्गवाची नहीं है तो 'गतिरनन्तरः' (६ ।२ ।४९) से पूर्वपद को आद्युदात्त प्रकृतिस्वर होता है-प्रधौतमुखः ।

सिद्धि-(१) प्रधौतमुखः । यहां प्रधौत और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२ ।२ ।२४) से बहुव्रीहि समास है। 'प्रधौत' शब्द में प्र-उपसर्गपूर्वक 'धावु गतिशुद्ध्योः' (भ्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३ ।२ ।१०२) से भूतकाल अर्थ में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। 'छ्वोः शूडनुनासिके च' (६ ।४ ।१९) से धातु के वकार को ऊठ् आदेश और 'एत्येधत्यूठ्सु' (६ ।१ ।८७) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। इस सूत्र से यह उपसर्गपूर्वी निष्ठान्त 'प्रधौत' पूर्वपद विकल्प से अन्तोदात्त होता है। विकल्प पक्ष में 'मुखं स्वाङ्गम्' (६ ।२ ।१६७) से मुख शब्द को अन्तोदात्त स्वर होता है जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है।

(२) प्रक्षालितमुखः। यहां प्रक्षालित और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। 'प्रक्षालित' शब्द में प्र-उपसर्गपूर्वक 'क्षल शौचकर्मणि' (चु०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

।। इति पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणम्।।

उत्तरपदाद्युदात्तप्रकरणम्

अधिकारः-

(१) उत्तरपदादिः।१११।

प०वि०-उत्तरपद-आदिः १।१।

स०-उत्तरपदस्य आदिरिति उत्तरपदादिः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्त इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उत्तरपदस्यादिरुदात्तः।

अर्थः-उत्तरपदादिरित्यधिकारोऽयम्। यद् इतोऽग्रे वक्ष्यति तत्रोत्तरपदस्यादिरुदात्तो भवतीति तद् वेदितव्यम्।

उदा०-वक्ष्यति-कर्णो वर्णलक्षणात्' (६।२।११२) इति, शुक्लकर्णः। कृष्णकर्णः, इत्यादिकम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(उत्तरपदादिः) 'उत्तरपदादिः' यह अधिकार सूत्र है। पाणिनि मुनि जो इससे आगे कहेंगें वहां उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है, ऐसा जानें।*

उदा०-जैसे पाणिनि मुनि कहेंगे- 'कर्णो वर्णलक्षणात्' (६।२।११२) यहां उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है-शुक्लकर्णः। कृष्णकर्णः, इत्यादि।

सिद्धि-शुक्लकर्णः आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

आद्युदात्तम्-

(२) कर्णो वर्णलक्षणात्।११२।

प०वि०-कर्णः १।१ वर्ण-लक्षणात् ५।१।

स०-वर्णश्च लक्षणं च एतयोः समाहारो वर्णलक्षणम्, तस्मात्-वर्णलक्षणात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ वर्णलक्षणात् कर्ण उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे वर्णवाचिनो लक्षणवाचिनश्च परः कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-(वर्णः) शुक्लौ कर्णौ यस्य सः-शुक्लकर्णः। कृष्णकर्णः। **(लक्षणम्)** दात्रं कर्णे यस्य सः-दात्राकर्णः। शङ्कूकर्णः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (वर्णलक्षणात्) वर्णवाची और लक्षणवाची शब्द से परे (कर्णः) कर्ण (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद को आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(वर्ण) शुक्लकर्णः। सफेद कानोंवाला। कृष्णकर्णः। काले कानोंवाला। (लक्षण) दात्राकर्णः। कान पर दात्र (दाती) के लक्षण (चिह्न) वाला। शङ्कूकर्णः। कान पर शङ्कु (तीर) के लक्षणवाला।

सिद्धि-(१) शुक्लकर्णः। यहां शुक्ल और कर्ण शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से वर्णवाची कृष्ण-शब्द से परे कर्ण उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शुक्लकर्णः।

(२) दात्राकर्णः। यहां दात्र और कर्ण शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। 'कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नछिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य' (६।३।११५) से लक्षणवाची दात्र-शब्द को दीर्घ होता है। इस सूत्र से लक्षणवाची दात्र शब्द से परे कर्ण उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शङ्कूकर्णः।

आद्युदात्तम्-

(३) संज्ञौपम्योश्च।११३।

प०वि०-संज्ञा-औपम्ययोः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-उपमाया भाव इति औपम्यम्। संज्ञा च औपम्यं च ते संज्ञौपम्ये, तयोः-संज्ञौपम्ययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिः, कर्ण इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञौपम्ययोश्च बहुव्रीहौ कर्ण उत्तरपदादिरादिरुदात्तः।

अर्थः-संज्ञायाम् औपम्ये च विषयके बहुव्रीहौ समासे च कर्ण-शब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-(संज्ञा) कुञ्चिकर्णः। मणिकर्णः। **(औपम्यम्)** गो कर्णाविव कर्णौ यस्य सः-गोकर्णः। खरकर्णः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञौपम्ययोः) संज्ञा और औपम्य (उपमा) विषयवाले (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (च) भी (कर्णः) कर्ण (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद को आद्युदात्त होता है।*

उदा०-(संज्ञा) कुञ्चिकर्णः। कुञ्चिकर्ण नामक पुरुषविशेष। मणिकर्णः। मणिकर्ण नामक पुरुषविशेष। (औपम्य) गोकर्णः। गौ के कानों के समान कानोंवाला पुरुष। खरकर्णः। गधे के कानों के समान कानोंवाला पुरुष।

सिद्धि-(१) कुञ्चिकर्णः। यहां मणि और कर्ण शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास में। इस सूत्र से संज्ञाविषयक बहुव्रीहि समास में कर्ण उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-मणिकर्णः।

(२) गोकर्णः। यहां गो और कर्ण शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से औपम्य-विषयक बहुव्रीहि समास में कर्ण उत्तरपद आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-खरकर्णः।

आद्युदात्तम्-

(४) कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च।११४।

प०वि०-कण्ठ-पृष्ठ-ग्रीवा-जङ्घम् १।१ च अव्ययपदम्।

स०-कण्ठश्च पृष्ठं च ग्रीवा च जङ्घा च एतेषां समाहारः-कण्ठपृष्ठ-ग्रीवाजङ्घम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिः, संज्ञौपम्योरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञौपम्ययोर्बहुव्रीहौ कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं चोत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-संज्ञायाम् औपम्ये च विषयके बहुव्रीहौ समासे कण्ठपृष्ठग्रीवा-जङ्घानि उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(संज्ञायां कण्ठः) शितिकण्ठः। नीलकण्ठः। **(औपम्ये)** खरकण्ठ इव कण्ठो यस्य सः-खरकण्ठः। उष्ट्रकण्ठः। **(संज्ञायां पृष्ठम्)** काण्डपृष्ठः। नाकपृष्ठः। **(औपम्ये)** गोपृष्ठः। अजपृष्ठः। **(संज्ञायां ग्रीवा)** सुग्रीवः। नीलग्रीवः। **(औपम्ये)** गोग्रीवः। अश्वग्रीवः। **(संज्ञायां जङ्घा)** नारीजङ्घः। तालजङ्घः। **(औपम्ये)** गोजङ्घः। अश्वजङ्घः। एणीजङ्घः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञौपम्ययोः) संज्ञा और औपम्य (उपमा) विषयक (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम्) कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा और जङ्घा (उत्तरपदादिरुदात्तः) ये उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(संज्ञा-कण्ठ) शितिकण्ठः। नीले कण्ठवाला-शिव। नीलकण्ठः। नीले कण्ठवाला-शिव। (औपम्य) खरकण्ठः। गधे के कण्ठ के समान कण्ठवाला पुरुष। उष्ट्रकण्ठः। ऊंट के कण्ठ के समान कण्ठवाला पुरुष। (संज्ञा-पृष्ठ) काण्डपृष्ठः। सैनिक/शस्त्रजीवी। नाकपृष्ठः। संज्ञाविशेष। (औपम्य) गोपृष्ठः। गौ (बैल) की पीठ के समान पीठवाला पुरुष। अजपृष्ठः। अज (बकरा) की पीठ के समान पीठवाला पुरुष। (संज्ञा-ग्रीवा) सुग्रीवः। सुन्दर गर्दनवाला-रामायणकालीन एक राजा का नाम। नीलग्रीवः। नीली गर्दनवाला-शिव। (औपम्य) गोग्रीवः। गौ (बैल) की गर्दन के समान गर्दनवाला पुरुष। अश्वग्रीवः। घोड़े की गर्दन के समान गर्दनवाला पुरुष। (संज्ञा-जङ्घा) नारीजङ्घः। संज्ञाविशेष। तालजङ्घः। तालजङ्घ नामक देश का राजा/एक वीरजाति के पूर्वज का नाम। (औपम्य) गोजङ्घः। गौ की जंघा के समान जंघावाला पुरुष। अश्वजङ्घः। घोड़े की जंघा के समान जंघावाला पुरुष। एणीजङ्घः। काली हिरनी की जंघा के समान जंघावाला पुरुष।

सिद्धि-(१) शितिकण्ठः। यहां शिति और कण्ठ शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषयक बहुव्रीहि समास में कण्ठ उत्तरपद को आद्युदात्तस्वर होता है। ऐसे ही-काण्ठपृष्ठः आदि।

(२) खरकण्ठः। यहां खर और कण्ठ शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से औपम्य विषयक बहुव्रीहि समास में कण्ठ उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-गोपृष्ठः आदि।

आद्युदात्तम्-

(५) शृङ्गमवस्थायां च।११५।

प०वि०-शृङ्गम् १।१ अवस्थायाम् ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिः, संज्ञौपम्ययोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अवस्थायां संज्ञौपम्ययोर्बहुव्रीहौ शृङ्गम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-अवस्थायां संज्ञायाम् औपम्ये च विषयके बहुव्रीहौ समासे शृङ्गशब्द उत्तरपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-(अवस्था) उद्गते शृङ्गे यस्य सः-उद्गतशृङ्गः। द्व्यङ्गुले शृंगे यस्य सः-द्व्यङ्गुलशृङ्गः। त्र्यङ्गुलशृङ्गः। अत्र शृङ्गोद्गमादिकृतो गवादेर्वयोविशेषोऽवस्था ज्ञायते। **(संज्ञा)** ऋष्यशृङ्गः। **(औपम्यम्)** गोशृङ्गे इव शृङ्गो यस्य सः-गोशृङ्गः। मेषशृङ्गः।

आर्यभाषाः अर्थ-(अवस्थायाम्) आयु (संज्ञौपम्ययोः) संज्ञा और औपम्य (उपमा) विषयक (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (शृङ्गम्) शृङ्ग-शब्द (उत्तरपदादिरुदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होता है।

उदा०-(अवस्था) उद्गतशृङ्गः। निकले हुये सींगोंवाला बैल। द्व्यङ्गुलशृङ्गः। दो अंगुल प्रमाण सींगोंवाला बैल। त्र्यङ्गुलशृङ्गः। तीन अंगुल प्रमाण सींगोंवाला बैल। यहां सींगों के निकलने आदि से गौ (बैल) आदि की अवस्था (आयु) जानी जाती है। (संज्ञा) ऋष्यशृङ्गः। विभाण्डक ऋषि के पुत्र का नाम। (औपम्य) गोशृङ्गः। गौ (बैल) के सींगों के समान सींगोंवाला पशु। मेषशृङ्गः। मेष (भेड़) के सींगों के समान सींगोंवाला पशु।

सिद्धि-उद्गतशृङ्गः। यहां उद्गत और शृङ्ग शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से अवस्था विषयक बहुव्रीहि समास में शृङ्ग उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-द्व्यङ्गुलशृङ्गः आदि।

आद्युदात्तम्-

(६) नञो जरमरमित्रमृताः।११६।

प०वि०-नञः ५।१ जर-मर-मित्र-मृताः १।३।

स०-जरश्च मरश्च मित्रं च मृतश्च ते-जरमरमित्रमृताः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ नञो जरमरमित्रमृताः उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे नञः परे जरमरमित्रमृताः शब्दा उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(जरः) अविद्यमानो जरो यस्य सः-अजरः। (मरः) अविद्यमानो मरो यस्य सः-अमरः। (मित्रम्) अविद्यमानं मित्रं यस्य सः-अमित्रः। (मृतः) अविद्यमानो मृतो यस्य सः-अमृतः।

आर्यभाषाः अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (नञः) नञ् से परे (जरमरमित्रमृताः) जर, मर, मित्र और मृत शब्द (उत्तरपदादिरुदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।

उदा०-(जर) अजरः। अविद्यमान जरणवाला (ईश्वर)। (मर) अमरः। अविद्यमान मरणवाला (ईश्वर)। (मित्र) अमित्रः। अविद्यमान मित्रवाला पुरुष। (मृत) अमृतः। अविद्यमान मरणवाला (ईश्वर)।

सिद्धि-अजरः। यहां नञ् और जर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से नञ् से परे जर उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अमरः आदि।

आद्युदात्तम्–

(७) सोर्मनसी अलोमोषसी।११७।

प०वि०-सोः ५।१ मनसी १।२ अलोमोषसी १।२।

स०-मन् च अस् च ते-मनसी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। लोम च उषस् च ते लोमोषसी, न लोमोषसी इति अलोमोषसी (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, बहुवीहौ, उत्तरपदादिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ सोर्मनसी, उत्तरपदादिरुदात्तः, अलोमोषसी।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे सु-शब्दात् परं मन्नन्तम् असन्तं चोत्तरपदम् आद्युदात्तं भवति, लोमोषसी शब्दौ वर्जयित्वा।

उदा०-**(मन्)** शोभनं कर्म यस्य सः-सुकर्मा। सुधर्मा। सुप्रथिमा। **(अस्)** शोभनं पयो यस्य सः-सुपयाः। सुयशाः। सुस्रोताः। सुस्रत्। सुध्वत्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सोः) सु-शब्द से परे (मनसी) मन्नन्त और असन्त शब्द (उत्तरपदादिरुदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं (अलोमोषसी) लोमन् और उषस् शब्दों को छोड़कर।*

उदा०-(मन्) सुकर्मा। शोभन कर्मवाला। सुधर्मा। शोभन धर्मवाला। सुप्रथिमा। शोभन प्रसिद्धिवाला। (अस्) सुपयाः। शोभन पयस् (दूध/पानी) वाला। सुयशाः। शोभन यशवाला। सुस्रोताः। शोभन स्रोतवाला। सुस्रत्। अति अधःपतनवाला। सुध्वत्। अति अधःपतनवाला।

सिद्धि-(१) सुकर्मा। यहां सु और कर्मन् शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से 'सु' शब्द से परे अन्नन्त 'कर्मन्' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सुधर्मा आदि।

(२) सुस्रत्। यहां सु-उपसर्गपूर्वक 'स्रंसु ध्वंसु अधःपतने' (दि०प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुस्रस्' शब्द सिद्ध होता है। 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' (८।२।७२) से सकार को दकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५५) से दकार को तकार आदेश होता है। ऐसे ही-सुध्वत्। शेष कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तम्–

(८) क्रत्वादयश्च।११८।

प०वि०-क्रतु-आदयः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-क्रतुरादिर्येषां ते-क्रत्वादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादि, सोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ सोः क्रत्वादयश्च उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे सु-शब्दात् परे क्रत्वादयः शब्दाश्च उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-शोभनः क्रतुर्यस्य सः-सुक्रतुः। सुदृशीकः, इत्यादिकम्।

क्रतु। दृशीक। प्रतीक। प्रपूर्ति। हव्य। भग। इति क्रत्वादयः।।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सोः) सु-शब्द से परे (क्रत्वादयः) क्रतु-आदि शब्द (च) भी (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-सुक्रतुः। शोभन क्रतु (सोमयज्ञ) वाला। सुदृशीकः। सुन्दर आंखोंवाला, इत्यादि।

सिद्धि-सुक्रतुः। यहां सु और क्रतु शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से सु-शब्द से परे क्रतु उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सुदृशीकः।

आद्युदात्तमेव–

(९) आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि।११९।

प०वि०-आद्युदात्तम् १।१ द्व्यच् १।१ छन्दसि ७।१।

स०-आदिरुदात्तो यस्य तत्-आद्युदात्तम् (बहुव्रीहिः)। द्वावचौ यस्मिँस्तत्-द्व्यच् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिः, सोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि बहुव्रीहौ सोर्द्व्यज् आद्युदात्तम्, उत्तरपदादिः, उदात्तः।

अर्थः-छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे सु-शब्दात् परं द्व्यच् आद्युदात्तम् उत्तरपदम्, आद्युदात्तमेव भवति।

उदा०-शोभना अश्वा येषां ते-स्वश्वाः। शोभना रथा येषां ते-सुरथाः। स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेम (ऋ० ४।४।८)।

आर्यभाषाः अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सोः) सु-शब्द से परे (द्व्यच्) दो अचोंवाला (आद्युदात्तम्) आद्युदात्त (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद, आद्युदात्त ही होता है।

उदा०-स्वश्वाः। सुन्दर घोड़ोंवाले। सुरथाः। सुन्दर रथोंवाले। स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेम (ऋ० ४।४।८)।

सिद्धि-स्वश्वाः। यहां सु और अश्व शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से वेदविषय में तथा बहुव्रीहि समास में सु-शब्द से परे दो अचोंवाला 'अश्व' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर ही होता है। ऐसे ही-सुरथाः। यह 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से प्राप्त अन्तोदात्त स्वर का अपवाद है।

आद्युदात्तम्-

(१०) वीरवीर्यौ च।१२०।

प०वि०-वीर-वीर्यौ १।२ च अव्ययपदम्।

स०-वीरश्च वीर्यं च तौ-वीरवीर्यौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अस्मादेव निपातनात् पूर्ववल्लिङ्गं वेदितव्यम्।

अनु०-उदात्तः, बहुव्रीहौ, उत्तरपदादिः, सोः, छन्दसीति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि बहुव्रीहौ सोर्वीरवीर्यौ चोत्तरपदादिः, उदात्तः।

अर्थः-छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे सु-शब्दात् परौ वीरवीर्यौ शब्दौ चोत्तरपदे आद्युदात्ते भवतः।

उदा०-(वीरः) शोभनो वीरो यस्य सः-सुवीरः। सुवीरस्ते (ऋ० ४।१७।४)। शोभनं वीर्यं यस्य सः-सुवीर्यः। सुवीर्यस्य पतयः स्याम (तै०सं० १।७।१३।४)।

आर्यभाषाः अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में तथा (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सोः) सु-शब्द से परे (वीरवीर्यौ) वीर और वीर्य शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।

उदा०-(वीर) सुवीरः। सुन्दर वीरवाला। सुवीरस्ते (ऋ० ४।१७।४)। सुवीर्यः। शुद्ध वीर्यवाला। सुवीर्यस्य पतयः स्याम (तै०सं० १।७।१३।४)।

सिद्धि-सुवीरः। यहां सु और वीर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से वेदविषय में तथा बहुव्रीहि समास में सु-शब्द से परे वीर उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सुवीर्यः।

आद्युदात्तम्–

(११) कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे।१२१।

प०वि०-कूल-तीर-तूल-मूल-शाला-अक्ष-समम् १।१ अव्ययीभावे ७।१।

स०-कूलं च तीरं च तूलं च मूलं च शाखा च अक्षं च समं च एतेषां समाहार:-कूलतीरतूलमूलशालाक्षसमम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अव्ययीभावे कूलतीरतूलमूलशालाक्षसमम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-अव्ययीभावे समासे कूलतीरतूलमूलशालाक्षसमानि उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(कूलम्) परि कूलादिति परिकूलम्। कूलस्य समीपमिति उपकूलम्। (तीरम्) परितीरम्। उपतीरम्। (तूल) परितूलम्। उपतूलम्। (मूलम्) परिमूलम्। उपमूलम्। (शाला) परिशालम्। उपशालम्। (अक्षम्) पर्यक्षम्। उपाक्षम्। (समम्) सुषमम्। विषमम्। निषमम्। दुःषमम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अव्ययीभावे) अव्ययीभाव समास में (कूल०समम्) कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष और सम शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(कूल) परिकूलम्। कूल=तट को छोड़कर। उपकूलम्। तट के समीप। (तीर) परितीरम्। तीर को छोड़कर। उपतीरम्। तीर के समीप। (तूल) परितूलम्। तूल (रूई) को छोड़कर। उपतूलम्। तूल के समीप। (मूल) परिमूलम्। मूल को छोड़कर। उपमूलम्। मूल के समीप। (शाला) परिशालम्। शाला (घर) को छोड़कर। उपशालम्। शाला के समीप। (अक्ष) पर्यक्षम्। अक्ष=पासे को छोड़कर। उपाक्षम्। पासे के समीप। (सम) सुषमम्। अति सम (समान)। विषमम्। विकृत सम। निषमम्। निकृष्ट सम। दुःषमम्। दुष्ट सम। सम=सदृश।

सिद्धि-(१) परिकूलम्। यहां परि और कूल शब्दों का 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।११) से अव्ययीभाव समास है। परि शब्द की 'अपपरी वर्जने' (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा और उसके योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) से पंचमी विभक्ति होती है। इस सूत्र से अव्ययीभाव समास में कूल उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-परितीरम् आदि।

(२) उपकूलम्। यहां उप और कूल शब्दों का 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' (२।१।६) से अव्ययीभाव समास है। इस सूत्र से अव्ययीभाव समास में कूल उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-उपतीरम् आदि।

(३) सुषमम्। यहां सु और सम शब्दों का 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' (२।१।१६) से अव्ययीभाव समास है। 'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः' (८।३।८८) से षत्व होता है। उसके असिद्ध अधिकार में होने से यह यहां 'सम' शब्द ही माना जाता है। इस सूत्र से अव्ययीभाव समास में सम उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-विषमम्, निषमम्, दुःषमम्।

आद्युदात्तम्-

(१२) कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ।१२२।

प०वि०-कंस-मन्थ-शूर्प-पाय्य-काण्डम् १।१ द्विगौ ७।१।

स०-कंसं च मन्थश्च शूर्पं च पाय्यं च काण्डं च एतेषां समाहारः-कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिरिति चानुवतति।

अन्वयः-द्विगौ कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डम् उत्तरपदादिः, उदात्तः।

अर्थः-द्विगौ समासे कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डानि उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(कंसम्) द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीत इति द्विकंसः। त्रिकंसः। (मन्थः) द्वाभ्यां मन्थाभ्यां क्रीत इति द्विमन्थः। त्रिमन्थः। (शूर्पम्) द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीत इति द्विशूर्पः। त्रिशूर्पः। (पाय्यम्) द्वाभ्यां पाय्याभ्यां क्रीत इति द्विपाय्यः। त्रिपाय्यः। (काण्डम्) द्वे काण्डे प्रमाणमस्येति द्विकाण्डः। त्रिकाण्डः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(द्विगौ) द्विगु समास में (कंस०काण्डम्) कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य और काण्ड शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(कंस) द्विकंसः। दो कंसों से खरीदा हुआ पदार्थ। त्रिकंसः। तीन कंसों से खरीदा हुआ पदार्थ। (मन्थ) द्विमन्थः। दो मन्थों से खरीदा हुआ पदार्थ। त्रिमन्थः। तीन मन्थों से खरीदा हुआ पदार्थ। (शूर्प) द्विशूर्पः। दो शूर्पों से खरीदा हुआ पदार्थ। त्रिशूर्पः। तीन शूर्पों से खरीदा हुआ पदार्थ। (पाय्य) द्विपाय्यः। दो पाय्यों से खरीदा हुआ पदार्थ। त्रिपाय्यः। तीन पाय्यों से खरीदा हुआ पदार्थ। (काण्ड) द्विकाण्डः। दो काण्ड प्रमाण (लम्बाई) वाला पदार्थ। त्रिकाण्डः। तीन काण्ड प्रमाणवाला पदार्थ।

सिद्धि-(१) द्विकंसः। यहां द्वि और कंस शब्दों का 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) से तद्धित-अर्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है। द्विकंस शब्द में 'कंसाट्टिठन्' (५।१।२५) से क्रीत-अर्थ में टिठन् प्रत्यय और 'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (५।१।२८) से उसका लुक् होता है। इस सूत्र से द्विगुसमास में कंस उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-त्रिकंसः द्विमन्थः। त्रिमन्थः।

(२) द्विशूर्पः। यहां द्वि और शूर्प शब्दों का पूर्ववत् द्विगुतत्पुरुष समास है। द्विशूर्प शब्द से 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' (५।१।२६) से क्रीत-अर्थ में अञ् प्रत्यय और उसका पूर्ववत् लुक् होता है। इस सूत्र से द्विगुसमास में शूर्प उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-त्रिशूर्पः।

(३) द्विपाय्यः। यहां द्वि और पाय्य शब्दों का पूर्ववत् द्विगुतत्पुरुष समास है। 'द्विपाय्य' शब्द से 'तेन क्रीतम्' (५।१।३७) से यथाविहित 'ठञ्' प्रत्यय और उसका पूर्ववत् लुक् होता है। इस सूत्र से द्विगुसमास में 'पाय्य' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-त्रिपाय्यः।

(४) द्विकाण्डः। यहां द्वि और काण्ड शब्दों का पूर्ववत् द्विगुतत्पुरुष समास है। 'द्विकाण्ड' शब्द से 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३७) से 'द्वयसच्' आदि प्रत्यय और उनका वा०-'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' (५।२।३७) से लुक् होता है। इस सूत्र से द्विगुसमास में काण्ड उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-त्रिकाण्डः।

विशेषः (१) कंस-चरक के अनुसार कंस आठ प्रस्थ या दो आढक के बराबर था। वह अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पांच सेर और चरक की तालिका के अनुसार ६$\frac{२}{५}$ सेर के बराबर हुआ।

(२) मन्थ-इसकी ठीक तोल किसी तालिका में नहीं मिलती। सम्भव है 'मन्थ' द्रोण का पर्यायवाची हो। कौटिल्य के अनुसार द्रोण १० सेर की तोल थी। वही सम्भवतः मन्थ की भी तोल थी।

(३) शूर्प-चरक ने दो द्रोण का शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार शूर्प=४०९६ तोला=१ मन ११ सेर १६ तोला (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २४५)।

(४) पाय्य-अन्न मांपने का पात्रविशेष मांप आदि।

(५) काण्ड-काण्ड एक नाप थी। जिसकी लम्बाई १६ हाथ मानी जाती थी 'षोडशारत्न्यायामो दण्डः काण्डम्' (बालमनोरमा)। अरत्नि=दो वितस्ति या २४ अंगुल=१८ इंच। इस प्रकार एक काण्ड खेत २४ फुट से २४ फुट हुआ (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १९९)।

आद्युदात्तम्–

(१३) तत्पुरुषे शालायां नपुंसके।१२३।

प०वि०-तत्पुरुषे ७।१ शालायाम् ७।१ नपुंसके ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसके शालायां तत्पुरुषे उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गे शाला-शब्दान्ते तत्पुरुषे समासे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-ब्राह्मणस्य शालेति ब्राह्मणशालम्। क्षत्रियस्य शालेति क्षत्रियशालम्। आर्यशालम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (शालायाम्) शाला-शब्दान्तवाले (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद आद्युदात्त होता है।*

उदा०-ब्राह्मणशालम्। ब्राह्मण का घर। क्षत्रियशालम्। क्षत्रिय का घर। आर्यशालम्। आर्य का घर।

सिद्धि-ब्राह्मणशालम्। यहां ब्राह्मण और शाला शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। यह 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (२।४।२५) से नपुंसकलिङ्ग है। इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग, शालाशब्दान्त तत्पुरुष समास में शाला उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-क्षत्रियशालम्, आर्यशालम्।

आद्युदात्तम्–

(१४) कन्था च।१२४।

प०वि०-कन्था १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे, नपुंसके इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसके तत्पुरुषे कन्था चोत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गे तत्पुरुषे समासे कन्था-शब्दश्चोत्तरपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०-सौशमिनां कन्था इति सौशमिकन्थम्। आह्वरकन्थम्। चप्पकन्थम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कन्था) कन्था शब्द (च) भी (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होता है।*

उदा०-सौशमिकन्थम्। उशीनर देशवासी सौशमिजनों की कन्था (बिछौना-विशेष)। आह्वरकन्थम्। आह्वरजनों की कन्था। चप्पकन्थम्। चप्पजनों की कन्था।

सिद्धि-सौशमिकन्थम्। यहां सौशमि और कन्था शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। यह 'संज्ञायां कन्थोशीनरेषु' (२।४।२०) से नपुंसकलिङ्ग है। इस सूत्र से नपुंसकलिङ्गवाले तत्पुरुष समास में कन्था उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है।

आद्युदात्तम्-

(१५) आदिश्चिहणादीनाम्।१२५।

प०वि०-आदिः १।१ चिहण-आदीनाम् ६।३।

स०-चिहण आदिर्येषां ते चिहणादयः, तेषाम्-चिहणादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, तत्पुरुषे, नपुंसके, कन्था इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसके कन्थान्ते तत्पुरुषे चिहणादीनामादिरुदात्तः।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गे कथान्ते तत्पुरुषे समासे चिहणादीनां पूर्वपदानामाद्युदात्तो भवति।

उदा०-चिहणानां कन्था इति चिर्हणकन्थम्। मर्डरकन्थम्। आदिरित्यनुवर्तमाने पुनरादिग्रहणं पूर्वपदानामाद्युदात्तार्थं वेदितव्यम्।

चिहण। मडर (मडुर)। वैतुल। पटत्क। वैडालिकर्ण। वैतालिकर्ण। कुक्कुट। चित्कण। चिक्कण इति चिहणादयः।।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (कन्था) कन्था-शब्दान्तवाले (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (चिहणादीनाम्) चिहण आदि पूर्वपदों को (आदिः, उदात्तः) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-चिर्हणकन्थम्। उशीनर देशवासी चिहणजनों की कन्था (बिछौना-विशेष)। मर्डरकन्थम्। मडरजनों की कन्था।

सिद्धि-चिर्हणकन्थम्। यहां चिहण और कन्था शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। यह 'संज्ञायां कन्थोशीनरेषु' (२।४।२०) से नपुंसकलिङ्ग है। इस सूत्र से नपुंसकलिङ्गवाले कन्थान्त तत्पुरुष समास में चिहण पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-मर्डरकन्थम्।

यहां 'आदिः' पद की अनुवृत्ति होने पर पुनः 'आदिः' पद का ग्रहण चिहण-आदि पूर्वपदों को आद्युदात्त विधान के लिये किया गया है।

आद्युदात्तम्–

(१६) चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्।१२६।

प०वि०–चेल-खेट-कटुक-काण्डम् १।१ गर्हायाम् ७।१।

स०–चेलं च खेटं च कटुकं च काण्डं च एतेषां समाहारः-चेलखेट-कटुककाण्डम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे चेलखेटकटुककाण्डम् उत्तरपदादिरुदात्तः, गर्हायाम्।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे चेलखेटकटुककाण्डानि उत्तपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति, गर्हायां गम्यमानायाम्।

उदा०–**(चेलम्)** पुत्रश्चेलमिव इति पुत्रचेलम्। भार्याचेलम्। **(खेटम्)** उपानत् खेटमिव इति उपानत्खेटम्। नगरखेटम्। **(कटुकम्)** दधि कटुकमिव इति दधिकटुकम् उदश्वित्कटुकम्। **(काण्डम्)** भूतं काण्डमिव इति भूतकाण्डम्। प्रजाकाण्डम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (चेलखेटकटुककाण्डम्) चेल, खेट, कटुक और काण्ड शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं, (गर्हायाम्) यदि वहां निन्दा अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-(चेल) पुत्रचेलम्। जो पुत्र जीर्ण वस्त्र के समान त्याज्य है-कुपुत्र। भार्याचेलम्। जो भार्या (पत्नी) जीर्ण वस्त्र के समान हेय है-कुभार्या। (खेटम्) उपानत्खेटम्। उपानत् (जूता) खेट=ऊजड़ खेड़ा के समान दुःखदायक है-खराब जूता। नगरखेटम्। जो नगर खेट=ऊजड़ खेड़ा के समान है-कुनगर। (कटुक) दधिकटुकम्। कटु पदार्थ के समान अस्वादु दही। उदश्वित्कटुकम्। कटु पदार्थ के समान अस्वादु लस्सी। (काण्ड) भूतकाण्डम्। काण्ड=शर (बाण) के समान पीड़ाकर भूत (प्राणी)। प्रजाकाण्डम्। शर के समान पीड़ाकर प्रजा।

सिद्धि-पुत्रचेलम्। यहां पुत्र और चेल शब्दों का 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५५) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में तथा गर्हा (निन्दा) अर्थ की प्रतीति में 'चेल' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-भार्याचेलम् आदि।

आद्युदात्तम्–

(१७) चीरमुपमानम्।१२७।

प०वि०–चीरम् १।१ उपमानम् १।१।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे समासे उपमानं चीरम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे उपमानवाचि चीरम् उत्तरपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०–वस्त्रं चीरम् इव इति वस्त्रचीरम्। पटचीरम्। कम्बलचीरम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (उपमानम्) उपमानवाची (चीरम्) चीर शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होता है।*

उदा०-वस्त्रचीरम्। जो वस्त्र चीर (चिथड़ा) के समान है-फटा वस्त्र। पटचीरम्। जो कपड़ा चीर के समान है-फटा कपड़ा। कम्बलचीरम्। जो कम्बल चीर के समान है-फटा कम्बल।

सिद्धि-वस्त्रचीरम्। यहां वस्त्र और चीर शब्दों का 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५५) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में उपमानवाची 'चीर' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-पटचीरम्, कम्बलचीरम्।

आद्युदात्तम्–

(१८) पललसूपशाकं मिश्रे।१२८।

प०वि०–पलल-सूप-शाकम् १।१ मिश्रे ७।१।

स०–पललं च सूपश्च शाकं च एतेषां समाहारः-पललसूपशाकम् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–मिश्रे तत्पुरुषे पललसूपशाकम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः–मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे पललसूपशाकानि उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०–(पललम्) गुडेन मिश्रं पललमिति-गुडपललम्। घृतपललम्। (सूपः) घृतेन मिश्रः सूप इति घृतसूपः। मूलकसूपः। (शाकम्) घृतेन मिश्रं शाकमिति घृतशाकम्। मुद्गशाकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मिश्रे) मिश्रीकरणवाची (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पललसूपशाकम्) पलल, सूप और शाक शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(पलल) गुडपलॅलम्। गुड़ मिला हुआ मांस। घृतपलॅलम्। घी मिला हुआ मांस। (सूप) घृतसूपॅः। घी मिली हुई दाल। मूलकसूपॅः। मूळी मिली हुई दाल। (शाक) घृतशाकॅम्। घी मिला हुआ साग। मुद्गशाकॅम्। मूंग मिला हुआ साग।

सिद्धि-गुडपलॅलम्। यहां गुड और पलल शब्दों का ***'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्'*** *(२।१।३४) से मिश्रीकरणवाची तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से उक्त तत्पुरुष समास में 'पलल' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-घृतपलॅलम् आदि।*

आद्युदात्तम्–

(१६) कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम्।१२६।

प०वि०-कूल-सूद-स्थल-कर्षाः १।३ संज्ञायाम् ७।१।

स०-कूलं च सूदं च स्थलं च कर्षश्च ते-कूलसूदस्थलकर्षाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां तत्पुरुषे कूलसूदस्थलकर्षा उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषये कूलसूदस्थलकर्षा उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-**(कूलम्)** दाक्षिकूलॅम्। माहकिकूलॅम्। **(सूदम्)** देवसूदॅम्। भाजीसूदॅम्। **(स्थलम्)** दाण्डायनस्थलीॅ। माहकिस्थलीॅ। **(कर्षः)** दाक्षिकर्षॅः। एतानि ग्रामनामानि सन्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञा विषय (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कूलसूदस्थलकर्षाः) कूल, सूद, स्थल और कर्ष शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(कूल) दाक्षिकूलॅम्। माहकिकूलॅम्। (सूद) देवसूदॅम्। भाजीसूदॅम्। (स्थल) दाण्डायनस्थलीॅ। माहकिस्थलीॅ। (कर्ष) दाक्षिकर्षॅः। ये 'दाक्षिकूल' आदि ग्रामों की संज्ञायें हैं।

सिद्धि-दाक्षिकूलॅम्। यहां दाक्षि और कूल शब्दों का ***'षष्ठी'*** *(२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञा विषयक तत्पुरुष समास में 'कूल' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-माहकिकूलॅम् आदि।*

आद्युदात्तम्–

(२०) अकर्मधारये राज्यम्।१३०।

प०वि०–अकर्मधारये ७।१ राज्यम् १।१।

स०–न कर्मधारय इति अकर्मधारयः, तस्मिन्– अकर्मधारये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अकर्मधारये तत्पुरुषे राज्यम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः–कर्मधारयभिन्ने तत्पुरुषे समासे राज्यमिति उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति।

उदा०–ब्राह्मणानां राज्यमिति ब्राह्मणराज्यम्। क्षत्रियराज्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ–(अकर्मधारये) कर्मधारय से भिन्न (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (राज्यम्) राज्य यह (उत्तरपदादिः) उत्तरपद आद्युदात्त होता है।*

उदा०–ब्राह्मणराज्यम्। ब्राह्मणों का राज्य। क्षत्रियराज्यम्। क्षत्रियों का राज्य।

सिद्धि–ब्राह्मणराज्यम्। यहां ब्राह्मण और राज्य शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कर्मधारय भिन्न तत्पुरुष समास में राज्य शब्द उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–क्षत्रियराज्यम्।

आद्युदात्तम्–

(२१) वर्ग्यादयश्च।१३१।

प०वि०–वर्ग्य–आदयः १।३ च अव्ययपदम्।

स०–वर्ग्य आदिर्येषां ते–वर्ग्यादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे, अकर्मधारये इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अकर्मधारये तत्पुरुषे वर्ग्यादयश्च उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः–कर्मधारयभिन्ने तत्पुरुषे समासे वर्ग्यादयः शब्दाश्च उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०–वासुदेवस्य वर्ग्य इति वासुदेववर्ग्यः। वासुदेवपक्ष्यः। अर्जुनस्य वर्ग्य इति अर्जुनवर्ग्यः। अर्जुनपक्ष्यः।

'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) इत्यत्र दिगादिषु ये वर्गादयः शब्दाः पठ्यन्ते ते एव यत्प्रत्ययान्ताः सन्तोऽत्र वर्ग्यादय इति कथ्यन्ते। ते चेमे-वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाय्या। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। आदि। अन्त। मुख। जघन। मेघ। यूथ। उदकात् संज्ञायाम्। न्याय। वंश। अनुवंश। विश। काल। अप। आकाश इति वर्गादयः।।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अकर्मधारये) कर्मधारय से भिन्न (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (वर्ग्यादयः) वर्ग्य-आदि शब्द (च) भी (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-वासुदेववर्ग्यः। वासुदेव (कृष्ण) के वर्ग में रहनेवाला पुरुष। वासुदेवपक्ष्यः। वासुदेव के पक्ष में रहनेवाला पुरुष। अर्जुनवर्ग्यः। अर्जुन के वर्ग में रहनेवाला पुरुष। अर्जुनपक्ष्यः। अर्जुन के पक्ष में रहनेवाला पुरुष।

सिद्धि-वासुदेववर्ग्यः। यहां वासुदेव और वर्ग्य शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कर्मधारय से भिन्न तत्पुरुष समास में वर्ग्य उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-वासुदेवपक्ष्यः आदि।

आद्युदात्तम्–

(२२) पुत्रः पुंभ्यः।१३२।

प०वि०-पुत्रः १।१ पुंभ्यः ५।३।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे पुंभ्यः पुत्र उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे पुंलिङ्गशब्देभ्यः परं पुत्रशब्द उत्तरपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-कौनटेः पुत्र इति कौनटिपुत्रः। दामकपुत्रः। माहिषकपुत्रः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (पुंभ्यः) पुंलिङ्ग शब्दों से परे (पुत्रः) पुत्र-शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होता है।*

उदा०-कौनटिपुत्रः। कौनटि का पुत्र। दामकपुत्रः। दामक का पुत्र। माहिषकपुत्रः। माहिषक का पुत्र।

सिद्धि-कौनटिपुत्रः। यहां कौनटि और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पुंलिङ्ग कौनटि शब्द से परे पुत्र उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-दामकपुत्रः, माहिषकपुत्रः।

आद्युदात्तप्रतिषेधः-

(२३) नाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः।१३३।

प०वि०-न अव्ययपदम्, आचार्य-राज-ऋत्विक्-संयुक्त-ज्ञात्याख्येभ्यः ५।३।

स०-आचार्यश्च राजा च ऋत्विक् च संयुक्तश्च ज्ञातिश्च ताः-आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञातयः, आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञातय आख्या येषां ते-आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्याः, तेभ्यः-आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे, पुत्र इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः पुत्र उत्तरपदादिरुदात्तो न।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे आचार्यर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः पुत्र-शब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं न भवति।

उदा०-(आचार्यः) आचार्यस्य पुत्र इति आचार्यपुत्रः। उपाध्यायपुत्रः। शाकटायनपुत्रः। **(राजा)** राज्ञः पुत्र इति राजपुत्रः। ईश्वरपुत्रः। नन्दपुत्रः। **(ऋत्विक्)** ऋत्विजः पुत्र इति ऋत्विक्पुत्रः। याजकपुत्रः। होतुःपुत्रः। **(संयुक्तः)** संयुक्तस्य पुत्र इति संयुक्तपुत्रः। सम्बन्धिपुत्रः। श्यालपुत्रः। **(ज्ञातिः)** ज्ञातेः पुत्र इति ज्ञातिपुत्रः। स्वपुत्रः। भ्रातुष्पुत्रः।

अत्राऽऽख्याशब्दग्रहणात् तत्स्वरूपस्य तत्पर्यायाणां तद्विशेषाणां च शब्दानां ग्रहणं क्रियते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (आचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः) आचार्य, राजा, ऋत्विक्, संयुक्त और ज्ञाति शब्दों, इनके पर्यायवाची तथा इनके विशेषवाची शब्दों से परे (पुत्रः) पुत्र-शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त (न) नहीं होता है।*

उदा०-(आचार्य) आचार्यपुत्रः। आचार्य का पुत्र (स्वरूप)। उपाध्यायपुत्रः। उपाध्याय का पुत्र (पर्यायवाची)। शाकटायनपुत्रः। शाकटायन का पुत्र (आचार्यविशेष)। (राजा) राजपुत्रः। राजा का पुत्र (स्वरूप)। ईश्वरपुत्रः। ईश्वर का पुत्र (पर्यायवाची)। नन्दपुत्रः। नन्द का पुत्र (राजाविशेष)। (ऋत्विक्) ऋत्विक्पुत्रः। ऋत्विक् का पुत्र (स्वरूप)।

याजकपुत्रः। याजक का पुत्र (पर्यायवाची)। होतुःपुत्रः। होता का पुत्र (ऋत्विग्विशेष)। (संयुक्त) संयुक्तपुत्रः। संयुक्त का पुत्र (स्वरूप)। सम्बन्धिपुत्रः। सम्बन्धी का पुत्र (पर्यायवाची)। श्यालपुत्रः। साळे का पुत्र (संयुक्तविशेष)। (ज्ञाति) ज्ञातिपुत्रः। ज्ञाति का पुत्र (स्वरूप)। स्वपुत्रः। खुद का पुत्र (पर्यायवाची)। भ्रातुष्पुत्रः। भाई का पुत्र (ज्ञातिविशेष)।

यहां सूत्र में आख्या-शब्द के ग्रहण करने से आचार्य आदि के स्वरूप का, उनके पर्यायवाची शब्दों का तथा उनके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण किया जाता है, जैसे कि उदाहरणों में स्पष्ट किया गया है।

सिद्धि-(१) आचार्यपुत्रः। यहां आचार्य और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में आचार्य शब्द से परे 'पुत्र' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर नहीं होता है। अतः 'समासस्य' (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-उपाध्यायपुत्रः आदि।

(२) होतुःपुत्रः और भ्रातुष्पुत्रः शब्दों में 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' (६।३।२३) से षष्ठीविभक्ति का अलुक् होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

आद्युदात्तम्–

(२४) चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः।१३४।

प०वि०-चूर्ण-आदीनि १।३ अप्राणि-षष्ठ्याः ५।१।

स०-चूर्ण आदिर्येषां तानि-चूर्णादीनि (बहुव्रीहिः)। न प्राणी इति अप्राणी, अप्राणिनः षष्ठी इति अप्राणिषष्ठी, तस्याः-अप्राणिषष्ठ्याः (नञ्तत्पुरुषगर्भितपञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषेऽप्राणिषष्ठ्याश्चूर्णादीनि उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासेऽप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्ताच्छब्दात् पराणि चूर्णादीनि उत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-मुद्गस्य चूर्णमिति मुद्गचूर्णम्। मसूरचूर्णम् इत्यादिकम्।

चूर्ण। करिप। करिव। शाकिन। शाकट। द्राक्षा। तूस्त। कुन्दम। दलप। चमसी। चक्कन। चौल इति चूर्णादयः।।

'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इति सूत्रस्य पाठान्तरम्, तत्र उपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्योपचारेण गृह्यते' (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अप्राणिषष्ठ्याः) अप्राणीवाची षष्ठयन्त शब्द से परे (चूर्णादीनि) चूर्ण आदि शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-मुद्गचूर्णम्। मूंग दाल का चून (आटा)। मसूरचूर्णम्। मसूर दाल का चून इत्यादि।

सिद्धि-मुद्गचूर्णम्। यहां मुद्ग और चूर्ण शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अप्राणीवाची षष्ठ्यन्त मुद्ग शब्द से परे 'चूर्ण' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-मसूरचूर्णम्।

आद्युदात्तम्-

(२५) षट् च काण्डादीनि।१३५।

प०वि०-षट् १।१ च अव्ययपदम्, काण्ड-आदीनि १।३।

स०-काण्ड आदिर्येषां तानि-काण्डादीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०- उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे, अप्राणिषष्ठ्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे, अप्राणिषष्ठ्याः षट् काण्डादीनि चोत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासेऽप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्ताच्छब्दात् पराणि षट् काण्डादीनि चोत्तरपदानि आद्युदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(काण्डम्) दर्भस्य काण्डमिति दर्भकाण्डम्। शरकाण्डम्। **(चीरम्)** दर्भस्य चीरमिति दर्भचीरम्। कुशचीरम्। **(पललम्)** तिलस्य पललमिति तिलपललम्। **(सूपः)** मुद्गस्य सूप इति मुद्गसूपः। **(शाकम्)** मूलकस्य शाकमिति मूलकशाकम्। **(कूलम्)** नद्याः कूलमिति नदीकूलम्। समुद्रकूलम्।

अत्र **'चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्'** (६।२।१२६) इत्यस्मात् प्रारम्य आ **'कूलसूदकर्षाः संज्ञायाम्'** (६।२।१२९) इति यावत् काण्डादयः षट् शब्दा गृह्यन्ते। ते चेमे-(१) काण्डम्। (२) चीरम्। (३) पललम्। (४) सूपः। (५) शाकम्। (६) कूलम् इति।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अप्राणिषष्ठ्याः) अप्राणीवाची षष्ठ्यन्त शब्द से परे (षट्) छः (काण्डादीनि) काण्ड आदि शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होते हैं।*

उदा०-(काण्ड) दर्भकाण्डम्। डाभ का तणा। शरकाण्डम्। सरकंडे का तणा। (चीर) दर्भचीरम्। डाभ का खण्ड। कुशचीरम्। कुश (तृणविशेष) का खण्ड। (पलल) तिलपललम्। तिल का चोकर (भूसी)। (सूप) मुद्गसूपः। मूंग की दाळ। (शाक) मूलकशाकम्। मूळी का साग। (कूल) नदीकूलम्। नदी का तट। समुद्रकूलम्। सागर का तट।

सिद्धि-दर्भकाण्डम्। यहां दर्भ और काण्ड शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में अप्राणीवाची षष्ठ्यन्त दर्भ शब्द से परे काण्ड उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शरकाण्डम् आदि।

विशेषः *'चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्' (६।२।१२६) आदि से गर्हा, उपमान, मिश्र और संज्ञा अर्थों में काण्ड आदि शब्दों को उत्तरपद में आद्युदात्त स्वर का विधान किया गया है। इस सूत्र से गर्हा आदि अर्थों से अन्यत्र भी काण्ड आदि छः शब्दों को उत्तरपद में आद्युदात्त स्वर होता है।*

आद्युदात्तम्–

(२६) कुण्डं वनम्।१३६।

प०वि०-कुण्डम् १।१ वनम् १।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे वनं कुण्डम् उत्तरपदादिरुदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे वनवाचि कुण्डमित्युत्तरपदम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-दर्भस्य कुण्डमिति दर्भकुण्डम्। दर्भवनमित्यर्थः। शरकुण्डम्। शरवणमित्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (वनम्) वनवाची (कुण्डम्) कुण्ड शब्द (उत्तरपदादिः, उदात्तः) उत्तरपद में आद्युदात्त होता है।*

उदा०-दर्भकुण्डम्। डाभ का वन। शरकुण्डम्। सरकंडों का वन।

सिद्धि-दर्भकुण्डम्। यहां दर्भ और कुण्ड शब्दों का 'षष्ठी' (६।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वनवाची 'कुण्ड' शब्द को उत्तरपद में आद्युदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शरकुण्डम्।

।। इति उत्तरपदाद्युदात्तप्रकरणम्।।

उत्तरपदप्रकृतिस्वरप्रकरणम्

प्रकृतिस्वरः–

(१) प्रकृत्या भगालम्।१३७।

प०वि०-प्रकृत्या ३।१ भगालम् १।१।

अनु०-उत्तरपदम्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे भगालम् उत्तरपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे भगालवाचि उत्तरपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-कुम्भ्या भगालमिति कुम्भीभगालम्। कुम्भीकपालम्। कुम्भीनदालम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (भगालम्) भागालवाची (उत्तरपदम्) उत्तरपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।

उदा०-कुम्भीभगालम्। घड़िया का आधा टुकड़ा (ठिकरा)। कुम्भीकपालम्। अर्थ पूर्ववत् है। कुम्भीनदालम्। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-कुम्भीभगालम्। यहां कुम्भी और भगाल शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में भगाल उत्तरपद को प्रकृतिस्वर से रहता है। 'भगाल' शब्द 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' (फिट्० २।१९) से मध्योदात्त है। ऐसे ही-कुम्भीकपालम्। कुम्भीनदालम्।

'प्रकृत्या' पद का अधिकार 'अन्तः' (६।२।१४३) सूत्र तक है।

प्रकृतिस्वरः–

(२) शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत्।१३८।

प०वि०-शितेः ५।१ नित्य-अबह्वच् १।१ बहुव्रीहौ ७।१ अभसत् १।१।

स०-बहवोऽचो यस्मिँस्तत्-बह्वच्, न बह्वच् इति अबह्वच्, नित्यं च तद् अबह्वच् इति नित्याबह्वच् (बहुव्रीहिनञ्गर्भितकर्मधारयतत्पुरुषः)। न भसद् इति अभसत् (नञ्तत्पुरुषः)। भसत्=योनिः।

अनु०-उत्तपरदम्, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ शितेरभसद् नित्याबह्वच् उत्तरपदं प्रकृत्या।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे शिति-शब्दात् परं यद् भसत्-शब्दवर्जितं नित्यमबह्वज् उत्तरपदं तत् प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-शिती पादौ यस्य सः-शितिपादः। शित्यंसः। शित्योष्ठः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (शितेः) शिति-शब्द से परे (अभसत्) भसत् शब्द से भिन्न जो (नित्याबह्वच्) नित्य-अबह्वच् (उत्तरपदम्) उत्तरपद है वह (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-शितिपादः। काळे चरणोंवाला पुरुष। शित्यंसः। काळे कन्धोंवाला पुरुष। शित्योष्ठः। काळे होठोंवाला पुरुष।

सिद्धि-(१) शितिपादः। यहां शिति और पाद शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास शिति शब्द से परे नित्य-अबह्वच्वाले पाद उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है। पाद शब्द 'वृषादीनां च' (६।१।१६७) से आद्युदात्त है।

(२) शित्यंसः और शित्योष्ठः शब्दों में अंस उत्तरपद 'अमेः सन्' (उणा० ५।१) से सन्-प्रत्ययान्त है और ओष्ठ उत्तरपद 'उषिकुषिगातिभ्यस्थन्' (उणा० २।४) से थन्-प्रत्ययान्त है। अतः दोनों शब्दों में प्रत्यय के नित् होने से ये 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त हैं। शेष कार्य पूर्ववत् है।

यहां 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से 'शितिपाद' को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। यह सूत्र उसका अपवाद है। 'शिति' शब्द 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' (फिट्० २।१०) से आद्युदात्त है।

प्रकृतिस्वरः-

(३) गतिकारकोपपदात् कृत्।१३६।

प०वि०-गति-कारक-उपपदात् ५।१ कृत् १।१।

स०-गतिश्च कारकं च उपपदं च एतेषां समाहारो गतिकारकोपपदम्, तस्मात्-गतिकारकोपपदात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे गतिकारकोपपदात् कृद् उत्तरपदं प्रकृत्या।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे गतेः कारकाद् उपपदाच्च परं कृदन्तम् उत्तरपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

उदा०-(गति) प्रकृष्टः कारकः इति प्रकारकः। प्रहारकः। प्रकृष्टं करणमिति प्रकरणम्। प्रहरणम्। (कारकम्) इध्मं प्रव्रश्च्यते येन सः-इध्मप्रव्रश्चनः। पलाशानि शात्यन्ते येन सः-पलाशशातनः (दण्डविशेषः)। श्मश्रु कल्प्यते येन सः-श्मश्रुकल्पनः। (उपपदम्) ईषत् क्रियते इति ईषत्करः। दुष्करः। सुकरः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गतिकारकोपपदात्) गति, कारक और उपपद से परे (कृत्) कृत्-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहता है।*

उदा०-(गति) प्रकारकः। उत्तम रीति से बनानेवाला। प्रहारकः। उत्तम रीति से हरण करनेवाला। प्रकरणम्। उत्तम रीति से बनाना। प्रहरणम्। उत्तम रीति से हरण करना। (कारक) इध्मप्रव्रश्चनः। इंधन को काटने का साधन-कुल्हाड़ा। पलाशशातनः। पत्तों को तोड़ने का साधन-दण्डविशेष। श्मश्रुकल्पनः। मूंछ को काटने का साधन-कैंची आदि। (उपपद) ईषत्करः। थोड़े प्रयत्न (सुख) से बनाने योग्य। दुष्करः। दुःख से बनाने योग्य। सुकरः। सुख से बनाने योग्य।

सिद्धि-(१) प्रकारकः। यहां प्र और कारक शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति तत्पुरुष समास है। प्र-शब्द की 'गतिश्च' (१।४।५९) से गति-संज्ञा है। इस सूत्र से गति-संज्ञक प्र-शब्द से परे कृदन्त कारक उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है। कारक शब्द में 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से कृत्-संज्ञक ण्वुल् प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त है। ऐसे ही-प्रहारकः।

(२) प्रकरणम्। यहां प्र और करण शब्दों का पूर्ववत् गतिसमास है। करण शब्द में 'ल्युट् च' (३।३।११५) से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से पूर्ववत् प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-प्रहरणम्।

(३) इध्मप्रव्रश्चनः। यहां इध्म और प्रव्रश्चन शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इध्म कारक से परे कृदन्त प्रव्रश्चन उत्तरपद को प्रकृतिस्वर है। 'प्रव्रश्चन' शब्द में प्र-उपसर्गपूर्वक 'ओव्रश्चू छेदने' (तु०प०) धातु से 'करणाधिकरयोश्च' (३।३।११७) से करण कारक में कृत्-संज्ञक ल्युट् प्रत्यय है। अतः यहां 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त है।

(४) पलाशशातनः। यहां पलाश और शातन शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पलाश कारक से परे कृदन्त शातन उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है। शातन शब्द में णिजन्त 'शद्लृ शातने' (भ्वा०प०) से पूर्ववत् ल्युट् प्रत्यय और 'शदेरगतौ तः' (७।३।४२) से धातु को तकार-आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) श्मश्रुकल्पन:। यहां श्मश्रु और कल्पन शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से श्मश्रु कारक से परे कृदन्त कल्पन उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है। कल्पन शब्द में 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् ल्युट् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(६) ईषत्कर:। यहां ईषत् और कर शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ईषत् उपपद से परे कृदन्त कर उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है। 'कर' शब्द में 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय है। प्रत्यय के लित् होने से 'लिति' (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् उदात्त है। ऐसे ही-दुष्कर:, सुकर:।

प्रकृतिस्वर:-

(४) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्।१४०।

प०वि०-उभे १।२ वनस्पति-आदिषु ७।३ युगपत् अव्ययपदम्।

स०-वनस्पतिरादिर्येषां ते वनस्पत्यादय:, तेषु-वनस्पत्यादिषु (बहुव्रीहि:)।

अनु०-प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वय:-वनस्पत्यादिषु उभे युगपत् प्रकृत्या।

अर्थ:-वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पूर्वपद-उत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवत:।

उदा०-वनस्य पतिरिति वनस्पति:। बृहतां पतिरिति बृहस्पति:, इत्यादिकम्।

वनस्पति:। बृहस्पति:। शचीपति:। तनूनपात्। नराशंस:। शुन:शेप:। शण्डामर्कौ। तृष्णावरुत्री। बम्बाविश्ववयसौ। मर्मृत्यु:। इति वनस्पत्यादय:।।

आर्यभाषा: *अर्थ-(वनस्पत्यादिषु) वनस्पति आदि शब्दों के समास में (उभे) दोनों पूर्वपद और उत्तरपद (युगपत्) एक साथ (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।*

उदा०-वनस्पति:। बड़ा जंगली वृक्ष जिस पर फूलों के बिना ही फल लगते हैं। बृहस्पति:। देवताओं का गुरु, इत्यादि।

सिद्धि-(१) वनस्पति:। यहां वन और पति शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में पूर्वपद वन और उत्तरपद पति शब्द युगपत् प्रकृतिस्वर से रहते हैं। वन शब्द 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फिट्० २।३) से आद्युदात्त है और पति शब्द में 'पातेर्डति' (उणा० ४।५८) से डति प्रत्यय है, अत: यह भी

प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है। वन+सुट्+पति=वनस्पतिः। 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (६।१।१५७) से सुट् आगम होता है।

(२) बृहस्पतिः। यहां बृहत् और पति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में पूर्वपद बृहत् और उत्तरपद पति शब्द युगपत् प्रकृतिस्वर से रहते हैं। 'बृहत्' शब्द 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (उणा० २।८५) से अन्तोदात्त है और पति शब्द पूर्ववत् आद्युदात्त है।

बृहत्+पति। बृहत्+सुट्+पति। बृह०+स्+पति। बृहस्पतिः। वा०- 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (६।२।१४०) से सुट् आगम और बृहत् के तकार का लोप होता है।

प्रकृतिस्वरः-

(५) देवताद्वन्द्वे च।१४१।

प०वि०-देवता-द्वन्द्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-देवतानां द्वन्द्व इति देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्-देवताद्वन्द्वे (षष्ठी-तत्पुरुषः)।

अनु०-प्रकृत्या, उभे, युगपद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-देवताद्वन्द्वे च उभे युगपत् प्रकृत्या।

अर्थः-देवतावाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे च उभे पूर्वपद-उत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवतः।

उदा०-इन्द्रश्च सोमश्च तौ-इन्द्रासोमौ। इन्द्रावरुणौ। इन्द्राबृहस्पती।

आर्यभाषाः अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (च) भी (उभे) दोनों पूर्वपद और उत्तरपद (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से रहते हैं।

उदा०-इन्द्रासोमौ। इन्द्र और सोम देवता। इन्द्रावरुणौ। इन्द्र और वरुण देवता। इन्द्राबृहस्पती। इन्द्र और बृहस्पति देवता।

सिद्धि-(१) इन्द्रासोमौ। यहां इन्द्र और सोम शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से इतरेतरयोगद्वन्द्व समास है। इस सूत्र से देवतावाची इन्द्र पूर्वपद और सोम उत्तरपद को युगपत् प्रकृतिस्वर होता है। इन्द्र शब्द 'ऋज्रेन्द्र०माला:' (उणा० २।२९) से रन्-प्रत्ययान्त निपातित है। प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) से आद्युदात्त स्वर होता है। सोम शब्द 'अर्तिस्तुसु०नीभ्यो मन्' (उणा० १।१४०) से मन्-प्रत्ययान्त है। प्रत्यय के नित् होने से यह भी पूर्ववत् आद्युदात्त है।

इन्द्र+सोम+औ। इन्द्र् आनङ्+सोम+औ। इन्द्र्+आन्+सोम+औ। इन्द्र्+आ+सोम+औ। इन्द्रासोमौ।

यहां 'देवताद्वन्द्वे च' (६।३।१२५) से इन्द्र शब्द के अन्त्य अकार को आनङ् आदेश होकर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।२) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही अन्य उदाहरणों में भी समझें।

(२) इन्द्रावरुणौ। यहां इन्द्र और वरुण शब्दों का पूर्ववत् इतरेतरयोगद्वन्द्व समास है। वरुण शब्द में 'कृवृदारिभ्य उनन्' (उणा० ३।५३) से उनन् प्रत्यय है। प्रत्यय के नित् होने से यह पूर्ववत् आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) इन्द्राबृहस्पती। हां इन्द्र और बृहस्पति शब्दों का पूर्ववत् इतरेतरयोगद्वन्द्व समास है। बृहस्पति शब्द का स्वर पूर्वोक्त (६।२।१४०) है।

प्रकृतिस्वरप्रतिषेधः—

(६) नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु।१४२।

प०वि०-न अव्ययपदम्, अनुदात्तादौ ७।१ अपृथिवी-रुद्र-पूष-मन्थिषु ७।३।

स०-अनुदात्त आदौ यस्य सः-अनुदात्तादिः, तस्मिन्-अनुदात्तादौ (बहुव्रीहिः)। पृथिवी च रुद्रश्च पूषा च मन्थी च ते पृथिवीरुद्रपूषमन्थिनः, तेषु-पृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-प्रकृत्या, उभे, युगपत्, देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनुदात्तादावुत्तरपदेऽपृथ्वीरुद्रपूषमन्थिषु देवताद्वन्द्वे उभे युगपत् प्रकृत्या न।

अर्थः-अनुदात्तादौ शब्दे उत्तरपदे पृथिवीरुद्रपूषमन्थिवर्जिते देवताद्वन्द्वे समासे उभे पूर्वपद-उत्तरपदे प्रकृतिस्वरे न भवतः।

उदा०-इन्द्रश्च अग्निश्च इति इन्द्राग्नी। इन्द्रवायू।

आर्यभाषाः अर्थ-(अनुदात्तौ) अनुदात्तादि शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु) पृथिवी, रुद्र, पूषा और मन्थी से भिन्न (देवताद्वन्द्वे) देवतावाची द्वन्द्वसमास में (उभे) दोनों पूर्वपद और उत्तरपद (युगपत्) एक साथ (प्रकृत्या) प्रकृतिस्वर से (न) नहीं रहते हैं।

उदा०-इन्द्राग्नी। इन्द्र और अग्नि देवता। इन्द्रवायू। इन्द्र और वायु देवता।

सिद्धि-इन्द्राग्नी। यहां इन्द्र और अग्नि शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से देवतावाची द्वन्द्वसमास में पूर्व सूत्र से प्राप्त पूर्वपद और उत्तरपद के युगपत् प्रकृतिस्वर का प्रतिषेध होता है। अग्नि शब्द में 'अगि

गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उणा० ४।५१) से 'नि' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त अर्थात् अनुदात्तादि है-अग्निः। 'देवताद्वन्द्वे च' (६।३।२६) से पूर्ववत् आनङ् आदेश होता है। 'समासस्य' (६।१।२१८) से समास को अन्तोदात्त स्वर होता है।

(२) इन्द्रवायू। यहां इन्द्र और वायु शब्दों का पूर्ववत् द्वन्द्वसमास है। वायु शब्द में 'वा गतिगन्धनयोः' (अदा०प०) धातु से 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उणा० १।१) से 'उण्' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त अर्थात् अनुदात्तादि है-वायुः। वा०-'उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (६।३।२६) से आनङ् आदेश का प्रतिषेध होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

।। इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरप्रकरणम् ।।

उत्तरपदान्तोदात्तस्वरप्रकरणम्

अधिकारः-

(१) अन्तः।१४३।

वि०-अन्तः १।१।

अनु०-समासस्य, उदात्तः, उत्तरमिति चानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-समासस्य उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-अन्त इत्यधिकारोऽयम् आ पादपरिसमाप्तेः। यदितोऽग्रे वक्ष्यति तत्र समासस्योत्तरपदस्यान्तोदात्तो भवतीति वेदितव्यम्। यथा वक्ष्यति- 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४४) इति। सुनीथः। अवभृथः इत्यादिकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अन्तः) 'अन्तः' इस सूत्र का पाद की समाप्तिपर्यन्त अधिकार है। पाणिनि मुनि जो इससे आगे कहेंगे वहां (समासस्य) समास के (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है, यह जानें। जैसे कि पाणिनि मुनि कहेंगे- 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४४)। सुनीथः। अवभृथः इत्यादि।*

सिद्धि-सुनीथः आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

अन्तोदात्तम्-

(२) थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्।१४४।

प०वि०-थ-अथ-घञ्-क्त-अच्-अप्-इत्र-काणाम् ६।३।

स०-थश्च अथश्च घञ् च क्तश्च अच् च अप् च इत्रश्च कश्च ते थाथघञ्क्ताजबित्रकाः, तेषाम्-थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, गतिकारकोपदात्, अन्त इति चानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-तत्पुरुषे गतिकारकोपपदात् थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे गतिकारकोपपदात् परेषां थाथघञ्क्ताजबित्रकान्तानाम् उत्तरपदानामन्तोदात्तो भवति।

उदा०-(थः) सुनीथः। अवभृथः। **(अथः)** आवसथः। उपवसथः। **(घञ्)** प्रभेदः। काष्ठभेदः। रज्जुभेदः। **(क्तः)** दूरादागतः। विशुष्कः। आतपशुष्कः। **(अच्)** प्रक्षयः। प्रजयः। **(अप्)** प्रलवः। प्रसवः। **(इत्रः)** प्रलवित्रम्। प्रसवित्रम्। **(कः)** गोवृषः। खरीवृषः। प्रवृषः। प्रहर्षः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गतिकारकोपपदात्) गति, कारक और उपपद से परे (थाथ०काणाम्) थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र और क-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपदों को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(थ) सुनीथः। धर्मशील पुरुष। अवभृथः। यज्ञान्त स्नान। (अथ) आवसथः। घर। उपवसथः। निकट निवास। (घञ्) प्रभेदः। भेद का भेद। काष्ठभेदः। लकड़ी का फाड़ना। रज्जुभेदः। रस्सी को तोड़ना। (क्त) दूरादागतः। दूर से आया हुआ। विशुष्कः। बिल्कुल सूखा हुआ। आतपशुष्कः। धूप में सूखा हुआ। (अच्) प्रक्षयः। निवास। प्रजयः। जीतने का साधन। (अप्) प्रलवः। प्रच्छेदन करना। प्रसवः। पैदा होना। (इत्र) प्रलवित्रम्। काटने का साधन। (चाकू आदि)। प्रसवित्रम्। प्रसव का साधनविशेष। (क) गोवृषः। गौ को सींचनेवाला (सांड)। खरीवृषः। गधी को सींचनेवाला (गधा)। प्रवृषः। सींचनेवाला। प्रहर्षः। हर्षित करनेवाला।

सिद्धि-(१) सुनीथः। यहां सु और नीथ शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति-तत्पुरुष समास है। 'नीथ' शब्द में 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उणा० २।२) से क्थन् (थ) प्रत्यय है। इस सूत्र से थ-प्रत्ययान्त 'नीथ' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। यहां 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३९) से कृदन्त उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर प्राप्त था।

(२) अवभृथः। यहां अव और भृथ शब्दों का पूर्ववत् गति-तत्पुरुष समास है। 'भृथ' शब्द में 'अवे भृथः' (उणा० २।३) से क्थन् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) आवसथः । यहां आङ् और वसथ शब्दों का पूर्ववत् गति-तत्पुरुष समास है। 'वसथः' शब्द में 'उपर्गे वसेः' (उणा० ३।११६) से अथन् (अथ) प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-उपवसथः ।

(४) प्रभेदः । यहां प्र और भेद शब्दों का पूर्ववत् गति-तत्पुरुष समास है। भेद शब्द में 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव-अर्थ में घञ् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) काष्ठभेदः । यहां काष्ठ और भेद शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। भेद शब्द में पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। ऐसे ही-रज्जुभेदः ।

(६) दूरादागतः । यहां दूरात् और आगत शब्दों का 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (२।१।३८) से पञ्चमीतत्पुरुष समास है। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (६।३।२) से पञ्चमी विभक्ति का अलुक् होता है। 'आगतः' शब्द में आङ् उपसर्गपूर्वक 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में क्त-प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) विशुष्कः । यहां वि और शुष्क शब्दों का 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३२) से गति-तत्पुरुष समास है। 'शुष्क' शब्द में 'शुष शोषणे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् क्त-प्रत्यय है। 'शुषः कः' (८।२।५१) से 'क्त' प्रत्यय के तकार को ककार आदेश होता है। वहां 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) प्राप्त था। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(८) आतपशुष्कः । यहां आतप और शुष्क शब्दों का 'सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च' (२।१।४०) से सप्तमीतत्पुरुष समास है। यहां 'सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्वकालात्' (६।२।३२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था।

(९) प्रक्षयः । यहां प्र और क्षय शब्दों का पूर्ववत् गति-तत्पुरुष समास है। 'क्षयः' शब्द में 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) धातु से 'एरच्' (३।३।५६) से 'अच्' प्रत्यय है। ऐसे ही-प्रजयः । यहां 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।१।१३८) से प्रकृतिस्वर की प्राप्ति होकर क्रमशः 'क्षयो निवासे' (६।१।१९५) से तथा 'जयः करणम्' (६।१।१९६) से आद्युदात्त स्वर प्राप्त था।

(१०) प्रलवः । यहां प्र और लव शब्दों का पूर्ववत् गतिं-तत्पुरुष समास है। 'लव' शब्द में 'लञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'ऋदोरप्' (३।३।५७) से अप् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही- 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (अदा०आ०) से-प्रसवः ।

(११) प्रलवित्रम् । यहां प्र और लवित्र शब्दों का पूर्ववत् गति-तत्पुरुष समास है। 'लवित्र' शब्द में 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' (७।३।२६) से 'इत्र' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही पूर्वोक्त 'षूञ्' धातु से-प्रसवित्रम् ।

(१२) गोवृषः। यहां गो और वृष शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद-तत्पुरुष समास है। 'वृष' शब्द में 'वृषु सेचने' (भ्वा०प०) धातु से वा०- 'कप्रकरणे मूलविभुजादीनामुपसंख्यानम्' (३।२।५) से 'क' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-खरीवृषः.

(१३) प्रवृषः। यहां प्र और वृष शब्दों का पूर्ववत् गतितत्पुरुष समास है। 'वृष' शब्द में 'वृषु सेचने' (भ्वा०प०) धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) से 'क' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही- 'हृष तुष्टौ' (दि०प०) धातु से-प्रहर्षः।

अन्तोदात्तम्-

(३) सूपमानात् क्तः।१४५।

प०वि०-सु-उपमानात् ५।१ क्तः १।१।

स०-उपमीयतेऽनेनेति उपमानं सिंहादिकम्। सुश्च उपमानं च एतयोः समाहारः सूपमानम्, तस्मात्-सूपमानात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सूपमानात् क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सु-शब्दाद् उपमानवाचिनश्च परं क्तान्तम् उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(सुः) सुष्ठु कृतमिति सुकृतम्। सुभुक्तम्। सुपीतम्। **(उपमानम्)** वृकैरिवावलुप्तमिति वृकावलुप्तम्। शशकप्लुप्तम्। सिंहविनर्दितम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सूपमानात्) सु-शब्द और उपमानवाची शब्द से परे (क्तः) क्तप्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(सु) सुकृतम्। सत्कारपूर्वक किया। सुभुक्तम्। सत्कारपूर्वक खाया। सुपीतम्। सत्कारपूर्वक पीया। (उपमान) वृकावलुप्तम्। भेड़ियों के समान लुप्त हुआ। शशकप्लुप्तम्। खरगोशों के समान उछला। सिंहविनर्दितम्। सिंहों की समान गर्जना की।

सिद्धि-(१) सुकृतम्। यहां सु और कृत शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति-तत्पुरुष समास है। कृत शब्द में 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से सु-शब्द से परे क्तान्त कृत उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) प्राप्त था। उसका यह अपवाद है। ऐसे ही-सुभुक्तम्। सुपीतम्।

(२) वृकावलुप्तम्। यहां वृक और अवलुप्त शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३१) से तृतीयातत्पुरुष समास है। 'अवलुप्त' शब्द में अव-उपसर्गपूर्वक 'लुप्लृ छेदने' (तु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से उपमानवाची वृक-शब्द से परे क्त-प्रत्ययान्त अवलुप्त शब्द को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से तृतीयान्त वृक पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। यह उसका अपवाद है। ऐसे ही-शशकप्लुतम्, सिंहविनर्दितम्।

अन्तोदात्तम्-

(४) संज्ञायामनाचितादीनाम्।१४६।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१ अनाचित-आदीनाम् ६।३।

स०-आचित आदिर्येषां ते आचितादयः, न आचितादय इति अनाचितादयः, तेषाम्-अनाचितादीनाम् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्त, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, गतिकारकोपपदात्, क्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां तत्पुरुषे गतिकारकोपपदात् क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः, अनाचितादीनाम्।

अर्थः-संज्ञायां विषये तत्पुरुषे समासे गतिकारकोपपदात् परं क्तान्तम् उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति, आचितादीन् शब्दान् वर्जयित्वा।

उदा०-सम्भूतो रामायणः। उपहूतः शाकल्यः। परिजग्धः कौण्डिन्यः।

आचितम्। पर्याचितम्। आस्थापितम्। परिगृहीतम्। निरुक्तम्। प्रतिपन्नम्। प्रश्लिष्टम्। उपहतम्। उपस्थितम्। इत्याचितादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गतिकारकोपपदात्) गति-संज्ञक, कारक और उपपद से परे (क्तः) क्त-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता (अनाचितादीनाम्) आचित आदि शब्दों को छोड़कर।*

उदा०-सम्भूतो रामायणः। समाप्त हुआ रामायण। उपहूतः शाकल्यः। पास बुलाया हुआ शाकल्य। परिजग्धः कौण्डिन्यः। सर्वतः खाया हुआ कौण्डिन्य।

सिद्धि- *सम्भूतः। यहां सम् और भूत शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति-तत्पुरुष समास है। यहां सम्-उपसर्ग 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु प्राप्ति अर्थक है। भूत शब्द में 'निष्ठा' (३।२।१०२) से क्त-प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञा विषय में तथा तत्पुरुष समास में 'सु' गति से परे क्तान्त 'भूत' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर (आद्युदात्त) प्राप्त था। यह उसका अपवाद है। ऐसे ही-उपहूतः। परिजग्धः।*

'अनाचितादीनाम्' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां यह अन्तोदात्त स्वर न हो–आचितम्। पर्याचितम्। यहां 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) होता है।

अन्तोदात्तम्–

(५) प्रवृद्धादीनां च।१४७।

प०वि०–प्रवृद्ध-आदीनाम् ६।३ च अव्ययपदम्।

स०–प्रवृद्ध आदिर्येषां ते प्रवृद्धादयः, तेषाम्–प्रवृद्धादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, क्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे प्रवृद्धादीनां च क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे प्रवृद्धादीनां शब्दानां च क्तान्तम् उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०–प्रवृद्धं यानम्। प्रवृद्धो वृषलः। प्रयुक्ताः सक्तवः, इत्यादिकम्।

प्रवृद्धं यानम्। प्रवृद्धो वृषलः। प्रयुक्ताः सक्तवः। आकर्षेऽवहितः। अवहितो भोगेषु। खट्वारूढः। कविशस्तः। आकृतिगणोऽयम्। तेन–पुनरुत्स्यूतं वसो देयम्, पुनर्निष्कृतो रथः, इत्येवमादि सिद्धं भवति।

यानादीनामत्र गणे पाठः प्रायोवृत्तिप्रदर्शनार्थो वेदितव्यः, न तु विषयनियमार्थः।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (प्रवृद्धादीनाम्) प्रवृद्ध आदि शब्दों का (च) भी (क्तः) क्त-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–प्रवृद्धं यानम्। बहुत पुरानी गाड़ी। प्रवृद्धो वृषलः। बहुत बूढ़ा वृषल। प्रयुक्ताः सक्तवः। प्रयोग किये हुये सत्तू इत्यादि।

सिद्धि–प्रवृद्धम्। यहां प्र और वृद्ध शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादि-तत्पुरुष समास है। 'वृद्ध' शब्द में 'वृधु वृद्धौ' (भ्वा०आ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में क्त-प्रत्यय है। इस सूत्र से प्रवृद्ध शब्द के क्तान्त 'वृद्ध' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–प्रवृद्धो वृषलः। प्रयुक्ताः सक्तवः।

प्रवृद्धादि गण में यान आदि शब्दों का पाठ इनकी प्रायिक वृत्ति के प्रदर्शन के लिये किया गया है; विषय-नियम के लिये नहीं।

अन्तोदात्तम्-

(६) कारकाद् दत्तश्रुतयोरेवाशिषि।१४८।

प०वि०-कारकात् ५।१ दत्त-श्रुतयोः ६।२ एव अव्ययपदम्, आशिषि ७।१।

स०-दत्तश्च श्रुतश्च तौ दत्तश्रुतौ, तयोः-दत्तश्रुतयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, क्तः, संज्ञायामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां तत्पुरुषे कारकाद् दत्तश्रुतयोरेव क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः, आशिषि।

अर्थः-संज्ञायां विषये तत्पुरुषे समासे कारकात् परयोर्दत्तश्रुतयोरेव क्तान्तयोरुत्तरपदयोरन्तोदात्तं भवति, आशिषि गम्यमानायाम्।

उदा०-(**दत्तः**) देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः। (**श्रुतः**) विष्णुरेनं श्रृणुयादिति विष्णुश्रुतः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कारकात्) कारक से परे (दत्तश्रुतयोः) दत्त और श्रुत (क्तः) क्त-प्रत्ययान्त शब्दों को (एव) ही (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (आशिषि) यदि वहां आशीर्वाद अर्थ अभिधेय हो।*

उदा०-(दत्त) देवदत्तः। देवों ने इसे आशीर्वादपूर्वक दिया है यह-देवदत्त। (श्रुत) विष्णुश्रुतः। विष्णु ने इसे आशीर्वादपूर्वक सुना है यह-विष्णुश्रुत।

सिद्धि-देवदत्तः। यहां देवदत्त शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३१) से तृतीयातत्पुरुष समास है। दत्त शब्द में 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (३।३।१७४) से क्त-प्रत्यय है। 'दो दद् घोः' (७।४।४६) से 'दा' के स्थान में दद्-आदेश होता है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में तथा तत्पुरुष समास में और आशीर्वाद अभिधेय में देव' कारक से परे क्तान्त 'दत्त' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-विष्णुश्रुतः।

यहां 'संज्ञायामनाचितादीनाम्' (६।२।१४५) से क्तान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था। उसका यहां नियम किया गया है कि यदि कारक से परे कोई क्तान्त उत्तरपद हो तो केवल 'दत्त' और 'श्रुत' शब्दों को ही अन्तोदात्त स्वर हो; अन्यों को नहीं। अन्यत्र 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

अन्तोदात्तम्–

(७) इत्थम्भूतेन कृतमिति च।१४६।

प०वि०–इत्थम्भूतेन ३।१ कृतम् १।१ इति अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्।

स०–इमं प्रकारं प्राप्त इति इत्थम्भूतः, तेन–इत्थम्भूतेन (द्वितीयातत्पुरुषोऽस्वपदविग्रहश्च)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, क्तः, कारकादिति चानुवर्तते।

अन्वयः–इत्थम्भूतेन कृतमिति च तत्पुरुषे क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः–इत्थम्भूतेन कृतमित्यस्मिन्नर्थे च तत्पुरुषे समासे कारकात्परं क्तान्तम् उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०–सुप्तेन प्रलपितमिति–सुप्तप्रलपितम्। उन्मत्तप्रलपितम्। प्रमत्तगीतम्। विपन्नश्रुतम्। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(इत्थम्भूतेन) इस प्रकार को प्राप्त हुये के द्वारा (कृतम्) किया हुआ (इति) इस अर्थ में (च) भी (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कारकात्) कारक से परे (क्तः) क्त-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–सुप्तप्रलपितम्। सोये हुये के द्वारा प्रलाप किया हुआ। उन्मत्तप्रलपितम्। पागल हुये के द्वारा प्रलाप किया हुआ। प्रमत्तगीतम्। मस्त हुये के द्वारा गाया हुआ। विपन्नश्रुतम्। विपत्ति में पड़े हुये के द्वारा सुना हुआ।

सिद्धि–सुप्तप्रलपितम्। यहां सुप्त और प्रलपित शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३१) से तृतीयातत्पुरुष समास है। प्रलपित शब्द में प्र-उपसर्गपूर्वक 'लप व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में क्त-प्रत्यय है। इस सूत्र से इत्थम्भूत अर्थ में तथा तत्पुरुष समास में सुप्त कारक से परे क्तान्त प्रलपित उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'सुप्त' शब्द इत्थम्भूत अर्थ का द्योतक है। यहां 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। यह उसका अपवाद है। ऐसे ही–उन्मत्तप्रलपितम् आदि।

अन्तोदात्तम्–

(८) अनो भावकर्मवचनः।१५०।

प०वि०–अनः १।१ भाव-कर्मवचनः १।१।

स०–भावश्च कर्म च ते भावकर्मणी, तयोः–भावकर्मणोः, भावकर्मणोर्वचन इति भावकर्मवचनः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, कारकादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कारकाद् भावकर्मवचनोऽन उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कारकात् परं भाववचनं कर्मवचनं चानप्रत्ययान्तम् उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-**(भाववचनम्)** ओदनभोजनं सुखम्। पयःपानं सुखम्। चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्। **(कर्मवचनम्)** राजभोजनाः शालयः। राजाच्छादनानि वासांसि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कारकात्) कारक से परे (भावकर्मवचनः) भाववाची और कर्मवाची (अनः) अन-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

*उदा०-(भाववचन) **ओदनभोजनं सुखम्।** ओदन का भोजन सुखदायक है। **पयःपानं सुखम्।** दूध का पीना सुखदायक है। **चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्।** चन्दन और प्रियङ्गुका (राई) का लेप करना सुखदायक है। (कर्मवचन) **राजभोजनाः शालयः।** राजा के भोजन योग्य चावल। **राजाच्छादनानि वासांसि।** राजा के पहनने योग्य वस्त्र।*

*सिद्धि-(१) **ओदनभोजनम्।** यहां ओदन और भोजन शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। भोजन शब्द में 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' (रुधा०आ०) से 'कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्तुः शरीरसुखम्' (३।३।११६) से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' के स्थान में अन-आदेश होता है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में ओदन कारक से परे अन-प्रत्ययान्त भोजन उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-पयःपानं सुखम् आदि।*

*(२) **राजभोजनाः।** यहां राजन् और भोजन शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। भोजन शब्द में पूर्वोक्त सूत्र से कर्म अर्थ में ल्युट् प्रत्यय है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में राजन् कारक से परे अन-प्रत्ययान्त भोजन उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। यह 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) का अपवाद है।*

अन्तोदात्तम्-

(६) मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थान-याजकादिक्रीताः।१५१।

प०वि०- मन्-क्तिन्-व्याख्यान-शयन-आसन-स्थान-याजकादि-क्रीताः १।३।

स०-मन् च क्तिन् च व्याख्यानं च शयनं च आसनं च स्थानं च याजकादयश्च क्रीतश्च ते-मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्त, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, कारकादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कारकाद् मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीता उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कारकात् परं मन्नन्तं क्तिन्नन्तं व्याख्यानशयनासनस्थानानि याजकादयः क्रीतशब्दश्चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-**(मन्)** रथस्य वर्त्मेति रथवर्त्म। शकटवर्त्म। **(क्तिन्)** पाणिनेः कृतिरिति पाणिनिकृतिः। आपिशलिकृतिः। दयानन्दकृतिः। **(व्याख्यानम्)** ऋगयनस्य व्याख्यानमिति ऋगयनव्याख्यानम्। छन्दोव्याख्यानम्। वेदव्याख्यानम्। **(शयनम्)** राज्ञः शयनमिति राजशयनम्। ब्राह्मणशयनम्। **(आसनम्)** राज्ञ आसनमिति राजासनम्। ब्राह्मणासनम्। **(स्थानम्)** गवां स्थानमिति गोस्थानम्। अश्वस्थानम्। **(याजकादयः)** ब्राह्मणस्य याजक इति ब्राह्मणयाजकः। क्षत्रिययाजकः। ब्राह्मणस्य पूजक इति ब्राह्मणपूजकः। क्षत्रियपूजकः। **(क्रीतः)** गवा क्रीत इति गोक्रीतः। अश्वक्रीतः।

'याजकादिभिश्च' (२।२।९) इत्यत्र ये षष्ठीसमासार्था याजकादयः पठ्यन्ते ते एवात्र गृह्यन्ते। ते चेमे-याजक। पूजक। परिचारक। परिषेचक। परिवेषक। स्नातक। अध्यापक। उत्सादक। उद्वर्तक। हर्तृ। वर्तक। होतृ। पोतृ। भर्तृ। रथगणक। पतिगणक। इति याजकादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कारकात्) कारक से परे (मन्०क्रीताः) मन्-अन्त, क्तिन्-अन्त, आख्यान, शयन, आसन, स्थान, याजकादि और क्रीत-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

*उदा०-(मन्) **रथवर्त्म**। रथ का मार्ग। **शकटवर्त्म**। गाड़ी का मार्ग। (क्तिन्) **पाणिनिकृतिः**। पाणिनिमुनि की रचना (अष्टाध्यायी आदि)। **आपिशलिकृतिः**। आपिशलि मुनि की रचना (शिक्षा)। **दयानन्दकृतिः**। महर्षि दयानन्द की रचना (वेदभाष्य आदि)। (व्याख्यान) **ऋगयनव्याख्यानम्**। ऋगयन नामक ग्रन्थ की व्याख्या। **छन्दोव्याख्यानम्**। छन्दःशास्त्र की व्याख्या। **वेदव्याख्यानम्**। वेदों की व्याख्या। (शयन) **राजशयनम्**। राजा*

का बिस्तर। ब्राह्मणशयनम्। ब्राह्मण का बिस्तर। (आसन) राजासनम्। राजा का आसन। ब्राह्मणासनम्। ब्राह्मण का आसन। (स्थान) गोस्थानम्। गौओं का स्थान। अश्वस्थानम्। घोड़ों का स्थान। (याजकादि) ब्राह्मणयाजकः। ब्राह्मण को यज्ञ करानेवाला ऋत्विक्। क्षत्रिययाजकः। क्षत्रिय को यज्ञ करानेवाला ऋत्विक्। ब्राह्मणपूजकः। ब्राह्मणों का पूजक। क्षत्रियपूजकः। क्षत्रियों का पूजक। (क्रीत) गोक्रीतः। गौ से खरीदा हुआ। अश्वक्रीतः। घोड़े से खरीदा हुआ गौ अथवा घोड़े के बदले में लिया हुआ।

'याजकादिभिश्च' (२।२।९) यहां जो याचक आदि शब्द षष्ठीसमास के लिये पढ़े हैं, वे ही यहां याजकादि नाम से ग्रहण किये जाते हैं। उनका पाठ ऊपर संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) रथवर्त्म। यहां रथ और वर्त्मन् शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'वर्त्मन्' शब्द में 'वृतु वर्तने' (भ्वा०आ०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (२।३।७५) से अधिकरण कारक में मनिन् (मन्) प्रत्यय है। इस सूत्र से कारक से परे मन-अन्त वर्त्मन् उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-शकटवर्त्म। यहां 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३८) से कृत्-स्वर प्राप्त था। यह उसका अपवाद है।

(२) पाणिनिकृतिः। यहां पाणिनि और कृति शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। कृति शब्द में 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-आपिशलिकृतिः, दयानन्दकृतिः।

(३) ऋगयनव्याख्यानम्। यहां ऋगयन और व्याख्यान शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-छन्दोव्याख्यानम्, वेदव्याख्यानम्, आदि।

(४) ब्राह्मणयाजकः। यहां ब्राह्मण और याजक शब्दों का 'याजकादिभिश्च' (२।२।९) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-ब्राह्मणपूजकः, आदि।

(५) गोक्रीतः। यहां गो और क्रीत शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३२) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से गो कारक से परे 'क्रीत' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह सूत्र उसका अपवाद है।

अन्तोदात्तम्-

(१०) सप्तम्याः पुण्यम्।१५२।

प०वि०-सप्तम्याः ५।१ पुण्यम् १।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सप्तम्याः पुण्यम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सप्तम्यन्ताच्छब्दात् परं पुण्यमित्युत्तरपदमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-अध्ययने पुण्यमिति अध्ययनपुण्यम्। वेदे पुण्यमिति वेदपुण्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सप्तम्याः) सप्तमी-अन्त शब्द से परे (पुण्यम्) पुण्य (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अध्ययनपुण्यम्। अध्ययन में पुण्य है। वेदपुण्यम्। वेद के स्वाध्याय में पुण्य है।

सिद्धि-अध्ययनपुण्यम्। यहां अध्ययन और पुण्य शब्दों का 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।४०) में 'सप्तमी' इस योगविभाग से सप्तमीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सप्तमी-अन्त अध्ययन शब्द से परे 'पुण्य' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-वेदपुण्यम्। यहां 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह सूत्र उसका अपवाद है।

अन्तोदात्तम्-

(११) ऊनार्थकलहं तृतीयायाः।१५३।

प०वि०-ऊनार्थ-कलहम् १।१ तृतीयायाः ५।१।

स०-ऊनोऽर्थो यस्य स ऊनार्थः। ऊनार्थश्च कलहश्च एतयोः समाहार ऊनार्थकलहम् (बहुव्रीहिगर्भितसमाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे तृतीयाया ऊनार्थकलहम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे तृतीयान्ताच्छब्दात् परम् ऊनार्थकं कहल-शब्दश्चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(ऊनार्थकम्) माषेण ऊनमिति माषोनम्। कार्षापणोनम्। माषेण विकलमिति माषविकलम्। कार्षापणविकलम्। (कलहः) असिना कलह इति असिकलहः। वाक्कलहः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (तृतीयायाः) तृतीया-अन्त शब्द परे (ऊनार्थकलहम्) न्यूनार्थक और कलह-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(ऊनार्थक) माषोनम्। एक माष से कम। कार्षापणोनम्। एक कार्षापण से कम। माषविकलम्। एक माष से कम। कार्षापणविकलम्। एक कार्षापण से कम।

माष=२ रत्ती चांदी का सिक्का। कार्षापण=३२ रत्ती चांदी का सिक्का। (कलह) असिकलहः। तलवार से झगड़ा करना। वाक्कलहः। वाणी से झगड़ा करना।

सिद्धि-(१) माषोनम्। यहां माष और ऊन शब्दों का 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलह-निपुणमिश्रश्लक्ष्णैः' (२।१।३१) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तृतीया-अन्त माष शब्द से परे ऊन उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-कार्षापणोनम्, आदि।

(२) असिकलहः। यहां असि और कलह शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-वाक्कलहः। यहां 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान-द्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह सूत्र उसका अपवाद है।

अन्तोदात्तम्–

(१२) मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ।१५४।

प०वि०-मिश्रम् १।१ च अव्ययपदम्, अनुपसर्गम् १।१ असन्धौ ७।१।

स०-न विद्यते उपसर्गो यस्मिँस्तत्-अनुपसर्गम् (बहुव्रीहिः)। न सन्धिरिति असन्धिः, तस्मिन्-असन्धौ (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, तृतीयाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे तृतीयाया अनुपसर्गं मिश्रम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः, असन्धौ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे तृतीयान्ताच्छब्दात् परम् उपसर्गरहितं मिश्रमित्युत्तरपदमन्तोदात्तं भवति, असन्धौ गम्यमाने।

उदा०-गुडेन मिश्रा इति गुडमिश्राः। तिलमिश्राः। सर्पिर्मिश्राः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (तृतीयायाः) तृतीया-अन्त शब्द से परे (अनुपसर्गम्) उपसर्ग से रहित (मिश्रम्) मिश्र शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (असन्धौ) यदि वहां सन्धि (मेल) अर्थ की प्रतीति न हो।*

उदा०-गुडमिश्राः। गुड से मिश्रित धान आदि। तिलमिश्राः। तिल से मिश्रित धान आदि। सर्पिर्मिश्राः। घृत से मिश्रित ओदन आदि।

सिद्धि-गुडमिश्राः। यहां गुड और मिश्र शब्दों का 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुण-मिश्रश्लक्ष्णैः' (२।१।३१) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में तृतीया-अन्त गुड शब्द से परे उपसर्ग रहित मिश्र उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-तिलमिश्राः, सर्पिर्मिश्राः।

अन्तोदात्तम्–

(१३) नञो गुणप्रतिषेधे सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः।१५५।

प०वि०– नञः ५।१ गुण-प्रतिषेधे ७।१ सम्पादि-अर्ह-हित-अलमर्थाः १।३ तद्धिताः १।३।

स०–गुणस्य प्रतिषेध इति गुणप्रतिषेधः, तस्मिन्–गुणप्रतिषेधे (षष्ठी-तत्पुरुषः)। सम्पादी च अर्हं च हितं च अलं च ते सम्पाद्यर्हहितालमः। सम्पाद्यर्हहितालमोऽर्था येषां ते सम्पाद्यर्हहितालमर्थाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे गुणप्रतिषेधे नञः सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिता उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे गुणप्रतिषेधेऽर्थे वर्तमानाद् नञः पराणि सम्पाद्यर्हहितालमर्थकानि तद्धितप्रत्ययान्तानि उत्तरपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०–(सम्पादि) कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखम्–कार्णवेष्टिकम्, न कार्णवेष्टिकमिति अकार्णवेष्टिकम्। **(अर्हम्)** छेदमर्हति–छैदिकः, न छैदिक इति अच्छैदिकः। **(हितम्)** वत्सेभ्यो हितः–वत्सीयः, न वत्सीय इति अवत्सीयः। **(अलम्)** सन्तापाय प्रभवति–सान्तापिकः, न सान्तापिक इति असान्तापिकः।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गुणप्रतिषेधे) गुण के निषेध अर्थ में विद्यमान (नञः) नञ्-शब्द से परे (सम्पाद्यर्हहितालमर्थाः) सम्पादी, अर्ह, हित और अलम्-अर्थक (तद्धिता) तद्धित-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदत्त होते हैं।*

उदा०–(सम्पादी) अकार्णवेष्टिकम्। कानों की दो बाळियों से असम्पन्न=अनलंकृत मुख। (अर्ह) अच्छैदिकः। जो छेदन नहीं कर सकता है वह पुरुष। (हित) अवत्सीयः। जो बछड़ों के लिये हितकारी नहीं है वह पुरुष। (अल) असान्तापिकः। जो तप करने के लिये तैयार नहीं होता है वह पुरुष।

सिद्धि–(१) अकार्णवेष्टिकम्। यहां प्रथम कर्णवेष्ट शब्द से 'सम्पादिनि' (५।१।९८) से सम्पादी अर्थ में यथाविहित तद्धित 'ठञ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'कार्णवेष्टिक' शब्द से

'नञ्' (२।२।६) से गुणप्रतिषेध अर्थ में नञ्तत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में गुणप्रतिषेध अर्थ में विद्यमान नञ् से परे सम्पादी-अर्थक तद्धितान्त 'काणविष्टिक' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

(२) अच्छेदिकः। यहां छेद शब्द से 'छेदादिभ्यो नित्यम्' (५।१।६३) से अर्हति अर्थ में यथाविहित तद्धित 'ठक्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अवत्सीयः। यहां वत्स शब्द से 'तस्मै हितम्' (५।१।५) से हित-अर्थ में यथाविहित तद्धित 'छ' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) असान्तापिकः। यहां सन्ताप शब्द से 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः' (५।१।१००) से प्रभवति (अलम्) अर्थ में यथाविहित तद्धित 'ठञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्तम्-

(१४) ययतोश्चातदर्थे।१५६।

प०वि०-य-यतोः ६।२ च अव्ययपदम्, अतदर्थे ७।१।

स०-यश्च यच्च तौ ययतौ, तयोः-ययतोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। तस्मै इदम्-तदर्थम्, न तदर्थमिति अतदर्थम्, तस्मिन्-अतदर्थे (चतुर्थीतत्पुरुषगर्भित-नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, नञः, गुणप्रतिषेधे, तद्धिता इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे गुणप्रतिषेधे नञोऽतदर्थे तद्धितयोर्ययतोश्चोत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे गुणप्रतिषेधेऽर्थे वर्तमानाद् नञः परम् अतदर्थे वर्तमानं तद्धितं य-प्रत्ययान्तं यत्-प्रत्ययान्तं चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(यः) पाशानां समूहः-पाश्या, न पाश्या इति अपाश्या। अतृण्या। **(यत्)** दन्तेषु भवम्-दन्त्यम्, न दन्त्यमिति अदन्त्यम्। अकर्ण्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (गुणप्रतिषेधे) गुण के निषेध अर्थ में विद्यमान (नञः) नञ्-शब्द से परे (अतदर्थे) तदर्थ से भिन्न अर्थ में विद्यमान (तद्धिताः) तद्धित-संज्ञक (ययतोः) य-प्रत्ययान्त और यत्-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (च) भी (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(य) अपाश्या। पाशों का समूह नहीं। अतृण्या। तृणों का समूह नहीं। (यत्) अदन्त्यम्। दांतों में न होनेवाला। अकर्ण्यम्। कानों में न होनेवाला।

सिद्धि-(१) अपाश्या। यहां प्रथम पाश शब्द से 'पाशादिभ्यो यः' (४।२।४९) से समूह अर्थ में तद्धित य-प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'पाश्य' शब्द से 'नञ्' (२।२) से नञ्तत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में गुण-प्रतिषेध अर्थ में विद्यमान नञ् से परे 'पाश्य' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। य-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में होते हैं अतः स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही-अतृण्या।

(२) अदन्त्यम्। यहां दन्त शब्द से 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) से भव-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अकर्ण्यम्।

अन्तोदात्तम्-

(१५) अच्कावशक्तौ।१५७।

प०वि०-अच्कौ १।२ अशक्तौ ७।१।

स०-अच् च कश्च तौ-अच्कौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न शक्तिरिति अशक्तिः, तस्याम्-अशक्तौ (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, नञ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे नञोऽच्कावुत्तरपदमन्त उदात्तः, अशक्तौ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे नञः परम् अच्-प्रत्ययान्तं क-प्रत्ययान्तं चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति, अशक्तौ गम्यमानायाम्।

उदा०-(अच्) पचतीति पचः, न पच इति अपचः। अजयः। (क) विक्षिपतीति विक्षिपः, न विक्षिप इति अविक्षिपः। अविलिखः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (नञः) नञ्-शब्द से परे (अच्कौ) अच्-प्रत्ययान्त और क-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (अशक्तौ) यदि वहां अशक्ति=असामर्थ्य अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-(अच्) अपचः। पकाने में अशक्त पुरुष। अजयः। जीतने में अशक्त पुरुष। (क) अविक्षिपः। विक्षेपण में अशक्त पुरुष। अविलिखः। विलेखन में अशक्त पुरुष।

सिद्धि-(१) अपचः। यहां प्रथम 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से 'अच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'पचः' शब्द से 'नञ्' (२।२।६) से नञ् तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में नञ्-शब्द से परे अच्-प्रत्ययान्त 'पचः' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अजयः। यहां 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। यह उसका अपवाद है।

(२) अविक्षिपः। यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'क्षिप प्रेरणे' (तु०प०) धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) से 'क' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अविलिखः।

अन्तोदात्तम्-

(१६) आक्रोशे च।१५८।

प०वि०-आक्रोशे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, नञः, अच्काविति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे आक्रोशे च नञोऽच्कावुत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे आक्रोशे च गम्यमाने नञः परम् अच्-प्रत्ययान्तं क-प्रत्ययान्तं चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(अच्) अपचोऽयं जाल्मः। अपठोऽयं जाल्मः। पक्तुं पठितुं च शक्तोऽप्येवमाक्रुश्यते। (कः) अविलिखः। अविलिखः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (च) और (आक्रोशे) दोषवचन अर्थ की प्रतीति में (नञः) नञ् से परे (अच्कौ) अच्-प्रत्ययान्त और क-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(अच्) अपचोऽयं जाल्मः। यह नीच पकानेवाला नहीं है (भर्त्सना)। अपठोऽयं जाल्मः। यह नीच पढ़नेवाला नहीं है। (क) अविक्षिपः। यह विक्षेपण करनेवाला नहीं है। अविलिखः। यह विलेखन (हल-चालन) करनेवाला नहीं है (भर्त्सना)।

सिद्धि-अपचः आदि पदों की सिद्धि पूर्ववत् है, यहां आक्रोश (भर्त्सना) अर्थ विशेष है।

अन्तोदात्तम्-

(१७) संज्ञायाम्।१५९।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, नञः, आक्रोशे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां तत्पुरुषे आक्रोशे नञ उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषये तत्पुरुषे समासे आक्रोशे च गम्यमाने नञः परम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-न देवदत्त इति अदेवदत्तः। अयज्ञदत्तः। अविष्णुमित्रः। यो देवदत्तः सन् तत् कार्यं न करोति स एवमाक्रुश्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में तथा (आक्रोशे) भर्त्सना अर्थ में (नञः) नञ्-शब्द से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अदेवदत्तः। जो देवदत्त होता हुआ अपने नाम के सदृश कार्य नहीं करता है। अयज्ञदत्तः। जो यज्ञदत्त होता हुआ अपने नाम के सदृश कार्य नहीं करता है। अविष्णुमित्रः। जो विष्णुमित्र होता हुआ अपने नाम के सदृश कार्य नहीं करता है।

सिद्धि-अदेवदत्तः। यहां नञ् और देवदत्त शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय, तत्पुरुष समास तथा आक्रोश अर्थ की प्रतीति में नञ्-शब्द से परे 'देवदत्त' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अयज्ञदत्तः, अविष्णुमित्रः।

अन्तोदात्तम्-

(१८) कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च।१६०।

प०वि०-कृत्य-उक-इष्णुच्-चार्वादयः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-चारु आदिर्येषां ते चार्वादयः। कृत्याश्च उकश्च इष्णुच् च चार्वादयश्च ते-कृत्योकेष्णुच्चार्वादयः (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयेगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, नञ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे नञः कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्चोत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे नञः परे कृत्य-उक-इष्णुच्प्रत्ययान्ताश्चार्वादयश्च शब्दा उत्तरपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(कृत्याः) कर्तुमर्हम्-कर्त्तव्यम्, न कर्त्तव्यमिति अकर्त्तव्यम्। अकरणीयम्। **(उकः)** आगन्तुं शीलमस्येति आगामुकम्, न आगामुकमिति अनागामुकम्। अनपलाषुकम्। **(इष्णुच्)** अलङ्कर्तुं शीलमस्येति अलङ्करिष्णुः, न अलङ्करिष्णुरिति अनलङ्करिष्णुः। अनिराकरिष्णुः **(चार्वादिः)** न चारुरिति अचारुः। असाधुः। अयौधिकः। अवदान्यः, इत्यादिकम्।

चारु। साधु। यौधिक। अनङ्गमेजय। वदान्य। अकस्मात्। वा०-वर्तमानवर्धमानत्वरमाणध्रियमाणक्रियमाणरोचमानशोभमानाः संज्ञायाम्। वा०-

विकासदृशे व्यस्तसमस्ते। अविकारः। असदृशः। अविकारसदृशः। गृहपति। गृहपतिक। वा०-राजाह्नोश्छन्दसि। अराजा। अनहः। इति चार्वादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (नञः) नञ्-शब्द से परे (कृत्योकेष्णुच्चार्वादयः) कृत्य, उक और इष्णुच् प्रत्ययान्त तथा चारु-आदि शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(कृत्य) अकर्त्तव्यम्। न करने योग्य कर्म। अकरणीयम्। न करने योग्य कर्म। (उक) अनागामुकम्। जो आगमनशील नहीं है। अनपलाषुकम्। जो दुष्कामनाशील नहीं है। (इष्णुच्) अनलङ्करिष्णुः। जो अलंकरणशील है। अनिराकरिष्णुः। जो निराकरणशील नहीं है। (चार्वादि) अचारुः। जो चारु=सुन्दर नहीं है। असाधुः। जो साधु नहीं है। अयौधिकः। जो युद्ध करनेवाला नहीं है। अवदान्यः। जो दानशील नहीं है, इत्यादि।

सिद्धि-(१) अकर्तव्यम्। यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से कृत्य-संज्ञक 'तव्य' प्रत्यय है। तत्पश्चात् नञ् और कर्तव्य शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में नञ्-शब्द से परे कृत्य-प्रत्ययान्त कर्त्तव्य उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

(२) अकरणीयम्। यहां पूर्वोक्त 'कृञ्' धातु से पूर्ववत् 'अनीयर्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अनागामुकम्। यहां आङ्-उपसर्गपूर्वक 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्' (३।२।१५४) से 'उकञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही अप-उपसर्गपूर्वक 'लष कान्तौ' (भ्वा०प०) धातु से-अनपलाषुकम्।

(४) अनलङ्करिष्णुः। यहां अलम्-पूर्वक पूर्वोक्त 'कृञ्' धातु से 'अलङ्कृञ्-निराकृञ्०चर इष्णुच्' (३।२।१३६) से 'इष्णुच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-निर् और आङ्पूर्वक पूर्वोक्त 'कृञ्' धातु से-अनिराकरिष्णुः।

(५) अचारुः। यहां नञ् और चारु शब्दों का पूर्ववत् नञ्तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-असाधुः आदि।

अन्तोदात्तविकल्पः-

(१६) विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु।१६१।

प०वि०-विभाषा १।१ तृन्-अन्न-तीक्ष्ण-शुचिषु ७।३।

स०-तृन् च अन्नं च तीक्ष्णं च शुचिश्च ताः-तृन्नन्नतीक्ष्णशुचयः, तासु-तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, तत्पुरुषे, अन्तः, नञ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे नञस्तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु उत्तरपदं विभाषाऽन्तोदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे नञः परं तृन्-प्रत्ययान्तम् अन्नतीक्ष्णशुचिशब्दाश्चोत्तरपदानि विकल्पेनान्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(तृन्) कर्तुं शीलमस्येति-कर्ता, न कर्ता इति अकर्ता। अकर्ता। **(अन्नम्)** न अन्नमिति अनन्नम्। अनन्नम्। **(तीक्ष्णम्)** न तीक्ष्णमिति अतीक्ष्णम्। अतीक्ष्णम्। **(शुचिः)** न शुचिरिति अशुचिः। अशुचिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (नञः) नञ्-शब्द से परे (तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु) तृन्-प्रत्ययान्त तथा अन्न, तीक्ष्ण और शुचि शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (विभाषा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(तृन्) अकर्ता। अकर्ता। अकरणशील पुरुष। (अन्न) अनन्नम्। अनन्नम्। जो अन्न नहीं है। (तीक्ष्ण) अतीक्ष्णम्। अतीक्ष्णम्। जो तीक्ष्ण=तेज नहीं है। (शुचि) अशुचिः। अशुचिः। अशुद्धि।

सिद्धि-अकर्ता। यहां प्रथम 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तृन्' (३।२।१३५) से तच्छील आदि अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् नञ् और कर्ता शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में नञ्-शब्द से परे तृन्-प्रत्ययान्त कर्ता उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। विकल्प पक्ष में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। 'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्० ४।१२) से नञ्-शब्द आद्युदात्त होता है-अकर्ता।

(२) अनन्नम्। यहां नञ् और अन्न शब्दों का पूर्ववत् नञ्तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अतीक्ष्णम्, अतीक्ष्णम्। अशुचिः, अशुचिः।

अन्तोदात्तम्-

(२०) बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने।१६२।

प०वि०-बहुव्रीहौ ७।१ इदम्-एतत्-तद्भ्यः ५।३ प्रथम-पूरणयोः ७।२ क्रिया-गणने ७।१।

स०-इदं च एतच्च तच्च ते-इदमेतत्तदः, तेभ्यः-इदमेतत्तद्भ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। प्रथमश्च पूरणं च ते प्रथमपूरणे, तयोः-प्रथमपूरणयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। क्रियाया गणनमिति क्रियागणनम्, तस्मिन्-क्रियागणने (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्त इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः क्रियागणने प्रथमपूरणयोरुत्तरपदम् अन्त उदात्तः ।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे इदमेतत्तद्भ्यः परं, क्रियागणने वर्तमानः प्रथमशब्दः, पूरणप्रत्ययान्तश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ।

उदा०-(इदम्) इदं प्रथमं भोजनम्/गमनं यस्य सः-इदम्प्रथमः । (एतत्) एतत्प्रथमः । (तत्) तत्प्रथमः (प्रथमः) । (इदम्) इदं द्वितीयं भोजनम्/गमनं यस्य सः-इदन्द्वितीयः । इदन्तृतीयः । (एतत्) एतद्द्वितीयः । एतत्तृतीयः । (तत्) तद्द्वितीयः । तत्तृतीयः (पूरणम्) ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (इदमेतत्तद्भ्यः) इदम्, एतत् और तत् शब्दों से परे (क्रियागणने) क्रिया की गणना अर्थ में विद्यमान (प्रथमपूरणयोः) प्रथम और पूरण-प्रत्ययान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(इदम्) इदम्प्रथमः । यह प्रथम भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष। (एतत्) एतत्प्रथमः । अर्थ पूर्ववत् है। (तत्) तत्प्रथमः वह प्रथम भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष (प्रथम)। (इदम्) इदन्द्वितीयः । यह दूसरा भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष। इदन्तृतीयः । यह तीसरा भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष। (एतत्) एतद्द्वितीयः । अर्थ पूर्ववत् है। एतत्तृतीयः । अर्थ पूर्ववत् है। (तत्) तद्द्वितीयः । वह द्वितीय भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष। तत्तृतीयः । वह तृतीय भोजन/गमन है जिसका वह पुरुष।

सिद्धि-(१) इदम्प्रथमः । यहां इदम् और प्रथम शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इदम् शब्द से परे क्रिया की गणना अर्थ में विद्यमान प्रथम उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। ऐसे ही-एतत्प्रथमः, तत्प्रथमः ।

(२) इदन्द्वितीयः । यहां इदम् और द्वितीय शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में इदम् शब्द से परे क्रिया की गणना अर्थ में विद्यमान पूरण-प्रत्ययान्त 'द्वितीय' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।१।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। द्वितीय शब्द में 'द्वेस्तीयः' (५।२।५४) से पूरण-अर्थ में 'तीय' प्रत्यय है। ऐसे ही-एतद्द्वितीयः, तद्द्वितीयः, इदन्तृतीयः, एतत्तृतीयः, तत्तृतीयः । 'तृतीय' शब्द में 'त्रि' शब्द से 'त्रेः सम्प्रसारणं च' (५।२।५५) से 'तीय' प्रत्यय और 'त्रि' को सम्प्रसारण भी होता है।

अन्तोदात्तम्–

(२१) संख्यायाः स्तनः ।१६३।

प०वि०–संख्यायाः ५ ।१ स्तनः १ ।१ ।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते ।

अन्वयः–बहुव्रीहौ संख्यायाः स्तन उत्तरपदम् अन्त उदात्तः ।

अर्थः–बहुव्रीहौ समासे संख्यावाचिनः शब्दात् परः स्तनशब्द उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति ।

उदा०–द्वौ स्तनौ यस्याः सा–द्विस्तना । त्रिस्तना । चतुःस्तना ।

आर्यभाषाः *अर्थ–(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (संख्यायाः) संख्यावाची शब्द से परे (स्तनः) स्तन-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–द्विस्तना। दो स्तनोंवाली बकरी। त्रिस्तना। तीन स्तनोंवाली (तिथण)। चतुःस्तना। चार स्तनोंवाली गौ।

सिद्धि–द्विस्तना। यहां द्वि और स्तन शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में संख्यावाची द्वि-शब्द से परे 'स्तन' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से टाप् प्रत्यय है। ऐसे ही–त्रिस्तना, चतुःस्तना।

अन्तोदात्तविकल्पः–

(२२) विभाषा छन्दसि ।१६४।

प०वि०–विभाषा १ ।१ छन्दसि ७ ।१ ।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहौ, संख्यायाः, स्तन इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–छन्दसि बहुव्रीहौ संख्यायाः स्तन उत्तरपदं विभाषा अन्त उदात्तः ।

अर्थः–छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे संख्यावाचिनः शब्दात् परः स्तन-शब्द उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ।

उदा०–द्विस्तनां कुर्याद् वामदेवः । द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय (तै०सं० ५ ।१ ।६ ।४) । चतुःस्तनां करोति ।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (संख्यायाः) संख्यावाची शब्द से परे (स्तनः) स्तन-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (विभाषा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-द्विस्तनां कुर्याद् वामदेवः। द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय चतुःस्तनां करोति। पशूनां दोहाय (तै०सं० ५।१।६।४)। चतुःस्तनां करोति।

सिद्धि-(१) द्विस्तना। यहां द्वि और स्तन शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से वेदविषय में तथा बहुव्रीहि समास में संख्यावाची द्वि-शब्द से परे 'स्तन' शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। विकल्प पक्ष में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। 'द्वि' शब्द 'फिषोऽन्तोदात्तः' (१।१।१) से अन्तोदत्त है-द्विस्तना।

(२) चतुःस्तना। यहां चतुर् और स्तन शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। चतुर्-शब्द में 'चतेरुरन्' (उणा० ५।५८) से उरन् प्रत्यय है। अतः यह प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अन्तोदात्तम्–

(२३) संज्ञायां मित्राजिनयोः।१६५।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१ मित्र-अजिनयोः ६।२।

स०-मित्रं च अजिनं च ते मित्राजिने, तयोः-मित्राजिनयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां बहुव्रीहौ मित्राजिनयोरुत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे मित्राजिनयोरुत्तरपदयोरन्तोदात्तो भवति।

उदा०-(मित्रम्) देवो मित्रं यस्य सः-देवमित्रः। ब्रह्ममित्रः। **(अजिनम्)** वृकमजिनं यस्य सः-वृकाजिनः। कूलाजिनः। कृष्णाजिनः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में तथा (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (मित्राजिनयोः) मित्र और अजिन (उत्तरपदम्) उत्तरपदों को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(मित्र) देवमित्रः। देव है मित्र जिसका वह पुरुष। ब्रह्ममित्रः। ब्रह्मा है मित्र जिसका वह पुरुष। (अजिन) वृकाजिनः। वृक=भेड़िये का चर्म है आच्छादन जिसका वह

तपस्वी। कूलाजिनः। कूल=नदी तट आदि है आच्छादन जिसका वह तपस्वी। कृष्णाजिनः। कृष्ण हरिण का चर्म है आच्छादन जिसका वह ब्रह्मचारी।

सिद्धि-(१) देवमित्रः। यहां देव और मित्र शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय मे तथा बहुव्रीहि समास में देव' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-ब्रह्ममित्रः।

(२) वृकाजिनः। यहां वृक और अजिन शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। यहां वृक शब्द वृक के विकार (चर्म) अर्थ में है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-कूलाजिनः, कृष्णाजिनः।

अन्तोदात्तम्-

(२४) व्यवायिनोऽन्तरम्।१६६।

प०वि०-व्यवायिनः ५।१. अन्तरम् १।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ व्यवायिनोऽन्तरम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे व्यवायिवाचिनः शब्दात् परम् अन्तरमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति। व्यवायी=व्यवधायक इत्यर्थः।

उदा०-वस्त्रमन्तरं यस्य सः-वस्त्रान्तरः। पटान्तरः। कम्बलान्तरः।

आर्यभाषाः अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (व्यवायिनः) व्यवायी=व्यवधायकवाची शब्द से परे (अन्तरम्) अन्तर-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।

उदा०-वस्त्रान्तरः। वस्त्र है अन्तर (व्यवधान) जिसका वह पुरुष। पटान्तरः। कपड़ा है अन्तर जिसका वह पुरुष। कम्बलान्तरः। कम्बल है अन्तर जिसका वह पुरुष। अन्तर=पर्दा।

सिद्धि-वस्त्रान्तरः। यहां वस्त्र और अन्तर शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में व्यवायी=व्यवधायकवाची वस्त्र-शब्द से परे अन्तर उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-पटान्तरः, कम्बलान्तरः।

अन्तोदात्तम्-

(२५) मुखं स्वाङ्गम्।१६७।

प०वि०-मुखम् १।१ स्वाङ्गम् १।१।

अनु०-उदत्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ स्वाङ्गं मुखम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे स्वाङ्गवाचि मुखमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-गौरं मुखं यस्य सः-गौरमुखः। भद्रमुखः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (स्वाङ्गम्) स्वाङ्गवाची (मुखम्) मुख-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-गौरमुखः। गौर वर्ण है मुख जिसका वह पुरुष। भद्रमुखः। भद्र=सुखकारी है मुख जिसका वह पुरुष।

सिद्धि-गौरमुखः। यहां गौर और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-भद्रमुखः।

अन्तोदात्तप्रतिषेधः-

(२६) नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः।१६८।

प०वि०-न अव्ययपदम्, अव्यय-दिक्शब्द-गो-महत्-स्थूल-मुष्टि-पृथु-वत्सेभ्यः ५।३।

स०-अव्ययं च दिक्शब्दश्च गौश्च महच्च स्थूलं च मुष्टिश्च पृथु च वत्सश्च ते-अव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्साः, तेभ्यः-अव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहौ, मुखम्, स्वाङ्गमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ अव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः स्वाङ्गं मुखम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तो न।

अर्थः-बहुव्रीहौ अव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः परं स्वाङ्गवाचि मुखमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं न भवति।

उदा०-**(अव्ययम्)** उच्चैर्मुखं यस्य सः-उच्चैर्मुखः। नीचैर्मुखः। **(दिक्शब्दः)** प्राङ् मुखं यस्य सः-प्राङ्मुखः। प्रत्यङ्मुखः। **(गौः)** गौरिव मुखं यस्य सः-गोमुखः। **(महत्)** महद् मुखं यस्य सः-महामुखः। **(स्थूलम्)**

स्थूलं मुखं यस्य सः-स्थूलमुखः। (मुष्टिः) मुष्टिरिव मुखं यस्य सः-मुष्टिमुखः। (पृथु) पृथु मुखं यस्य सः-पृथुमुखः। (वत्सः) वत्स इव मुखं यस्य सः-वत्समुखः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (अव्यय०वत्सेभ्यः) अव्यय, दिशावाची शब्द, गौ, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु और वत्स शब्दों से परे (स्वाङ्गम्) स्वाङ्गवाची (मुखम्) मुख-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अव्यय) अन्तोदात्त (न) नहीं होता है।*

उदा०-(अव्यय) उच्चैर्मुखः। ऊंचा है मुख जिसका वह पुरुष। नीचैर्मुखः। नीचा है मुख जिसका वह पुरुष। (दिक्शब्द) प्राङ्मुखः। पूर्व दिशा की ओर है मुख जिसका वह उपासक। प्रत्यङ्मुखः। पश्चिम दिशा की ओर है मुख जिसका वह उपासक। (गौ) गोमुखः। गौ के मुख के समान है मुख जिसका वह पुरुष। (महत्) महामुखः। महान्=बड़ा है मुख जिसका वह पुरुष। (स्थूल) स्थूलमुखः। मोटा है मुख जिसका वह पुरुष। (मुष्टि) मुष्टिमुखः। मुट्ठी के समान है मुख जिसका वह पुरुष। (पृथु) पृथुमुखः। पृथु के समान है मुख जिसका वह पुरुष। (वत्स) वत्समुखः। बच्चे के समान है मुख जिसका वह पुरुष।

सिद्धि-(१) उच्चैर्मुखः। यहां उच्चैस् और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में उच्चैस् अव्यय से परे स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर का प्रतिषेध होता है। अतः 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।२) से 'उच्चैस्' शब्द 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (१।१।३७) से अव्यय है और यह वहां स्वरादिगण में अन्तोदात्त पठित है। ऐसे ही-नीचैर्मुखः।

(२) प्राङ्मुखः। यहां प्राक् और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि समास में 'अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये' (६।२।५२) से प्राक्-शब्द को पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है। प्राक्-शब्द में प्र-शब्द 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ४।१३) से आद्युदात्त है। इस प्रकार 'प्राक्' शब्द आद्युदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) प्रत्यङ्मुखः। यहां प्रत्यक् और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। प्रत्यक् शब्द में प्रति-उपसर्गपूर्वक 'अञ्चु गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'गतिकारकोपदात् कृत्' (६।२।१३९) से गतिसंज्ञक प्रति-शब्द से परे अक् कृदन्त को पूर्वोक्त नित् प्रत्यय होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त होता है। इस प्रकार प्रत्यक् शब्द अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) गोमुखः। यहां गो और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। गो शब्द में 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'गमेर्डो' (उणा० २।६८) से 'डो' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

(५) महामुखः। यहां महत् और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। महत् शब्द 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (उणा० २।८५) से अति-प्रत्ययान्त निपातित है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। 'निष्ठोपमानादन्यतरस्याम्' (६।२।१६९) से विकल्प से उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था, उसका यह पूर्व प्रतिषेध है।

(६) स्थूलमुखः। यहां स्थूल और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। स्थूल शब्द 'स्थूल परिबृंहणे' (चु०आ०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से पचादि 'अच्' प्रत्यय है। यह प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) मुष्टिमुखः। यहां मुष्टि और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। मुष्टि शब्द 'मुष स्तेये' (क्र्या०प०) धातु से 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (३।३।१७४) से 'क्तिच्' प्रत्यय है। यह प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। यहां पूर्ववत् पूर्वप्रतिषेध है।

(८) पृथुमुखः। यहां पृथु और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। पृथु शब्द में 'प्रथिमुदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च' (उणा० १।२८) से 'कु' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(९) वत्समुखः। यहां वत्स और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। वत्स शब्द में 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से 'वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः' (उणा० ३।६२) से 'स' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्ववत् है। यहां पूर्ववत् पूर्वप्रतिषेध है।

अन्तोदात्तविकल्पः–

(२७) निष्ठोपमानादन्यतरस्याम्।१६६।

प०वि०-निष्ठा-उपमानात् ५।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-उपमीयतेऽनेनेति उपमानं सिंहादिकम्। निष्ठा च उपमानं च एतयोः समाहारो-निष्ठोपमानम्, तस्मात्-निष्ठोपमानात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहौ, मुखम्, स्वाङ्गमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ निष्ठोपमानात् स्वाङ्गं मुखम् उत्तरपदम् अन्यतरस्याम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्ताद् उपमानवाचिनश्च शब्दात् परं स्वाङ्गवाचि मुखमित्युत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति।

उदा०-(निष्ठा) प्रक्षालितं मुखं येन सः-प्रक्षालितमुखः। प्रक्षालितमुखः। प्रक्षालितमुखः। **(उपमानम्)** सिंह इव मुखं यस्य सः-सिंहमुखः। सिंहमुखः। व्याघ्रमुखः। व्याघ्रमुखः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (निष्ठोपमानात्) निष्ठा-प्रत्ययान्त और उपमानवाची शब्द से परे (स्वाङ्गम्) स्वाङ्गवाची (मुखम्) मुख-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(निष्ठा) प्रक्षालितमुखः। प्रक्षालितमुखः। प्रक्षालितमुखः। धो लिया है मुख जिसने वह पुरुष। (उपमान) सिंहमुखः। सिंहमुखः। शेर के मुख के समान है जिसका वह वीरपुरुष। व्याघ्रमुखः। व्याघ्रमुखः। बाघ के मुख के समान मुख है जिसका वह शूर पुरुष।

सिद्धि-(१) प्रक्षालितमुखः। यहां प्रक्षालित और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। प्रक्षालित शब्द में प्र-उपसर्गपूर्वक 'क्षल शौचकर्मणि' (चु०प०) णिजन्त धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में निष्ठा-संज्ञक क्त-प्रत्यय है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में इस निष्ठान्त-शब्द से परे स्वाङ्गवाची मुख-शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां विकल्प पक्ष में 'निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम्' (६।१।११०) से पूर्वपद को अन्तोदात्त स्वर होता है और उसका भी विकल्प-वचन होने से 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से गति-संज्ञक प्र-शब्द को उदात्तस्वर होता है। इस प्रकार यहां उपरिलिखित तीन स्वर होते हैं।

(२) सिंहमुखः। यहां सिंह और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में उपमानवाची सिंह-शब्द से परे स्वाङ्गवाची मुख-शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। विकल्प पक्ष में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से सिंह पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। सिंह-शब्द में 'हिसि हिंसायाम्' (रुधा०प०) धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से 'अच्' प्रत्यय। प्रत्यय के चित् होने से 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त होता है। 'पृषदोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०७) से वर्ण-विपर्यय होने से 'सिंहः' शब्द सिद्ध होता है-सिंहमुखः।

(३) व्याघ्रमुखः। यहां व्याघ्र और मुख शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में उपमानवाची व्याघ्र शब्द से परे स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

विकल्प पक्ष में व्याघ्र शब्द को पूर्ववत् पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। व्याघ्र शब्द में वि-आङ्-उपसर्गपूर्वक 'घ्रा गन्धोपादाने' (रुधा०प०) धातु 'आतश्चोपसर्गे' (३।१।१३६) से 'क' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। 'व्याघ्र' शब्द में 'पाघ्राध्माधेट्दृशः शः' (३।१।१३७) से 'श' प्रत्यय नहीं है क्योंकि वहां वा०-'जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधः' (३।१।१३७) से संज्ञा विषय में श-प्रत्यय का प्रतिषेध किया गया है।

अन्तोदात्तम्-

(२८) जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छदनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः ।१७०।

प०वि०-जाति-काल-सुखादिभ्यः ५।३ अनाच्छदनात् ५।१ क्तः १।१ अकृत-मित-प्रतिपन्नाः १।३।

स०-सुखम् आदिर्येषां ते सुखादयः। जातिश्च कालश्च सुखादयश्च ते जातिकालसुखादयः, तेभ्यः-जातिकालसुखादिभ्यः (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। आच्छाद्यतेऽनेनेति आच्छादनम्, न आच्छादनमिति अनाच्छादनम्, तस्मात्-आच्छादनात् (नञ्तत्पुरुषः)। **'करणाधिकरणयोश्च'** (३।३।११७) इति करणे कारके ल्युट् प्रत्ययः। कृश्च मितश्च प्रतिपन्नश्च ते कृतमितप्रतिपन्नाः, न कृतमितप्रतिपन्ना इति अकृतमितप्रतिपन्नाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ अनाच्छादनाज्जातिकालसुखादिभ्योऽकृतमितप्रतिपन्नाः क्त उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे आच्छादनवर्जितेभ्यो जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिभ्यश्च शब्देभ्यः परं कृतमितप्रतिपन्नवर्जितं क्तान्तम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-**(जातिः)** सारङ्गो जग्धो येन सः-सारङ्गजग्धः। पलाण्डुभक्षितः। सुरापीतः। **(कालः)** मासो जातो यस्य सः-मासजातः। संवत्सरजातः। द्व्यहजातः। त्र्यहजातः। **(सुखादिः)** सुखं जातं यस्य सः-सुखजातः। दुःखजातः। तृप्रजातः।

सुख। दु:ख। तृप्त। गहन। कृच्छ्र। अस्र। अलीक। प्रतीप। करुण। कृपण। सोढ। इति सुखादय:।। एते **'सुखादिभ्य: कर्तृवेदनायाम्'** (३।१।१८) इत्यत्र सूत्रे पठ्यन्ते।।

आर्यभाषा: *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (अनाच्छादनात्) आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर (जातिकालसुखादिभ्य:) जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से परे (अकृतमितप्रतिपन्ना:) कृत, मित और प्रतिपन्न इन शब्दों को छोड़कर (क्त:) क्त-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्त:) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(जाति) सारङ्गजग्ध:। जिसने सारङ्ग (चितकबरा हरिण) खा लिया है वह मांसभक्षी पुरुष। पलाण्डुभक्षित:। जिसने पलाण्डु (प्याज) खा लिया है वह तामसभोजी पुरुष। सुरापीत:। जिसने सुरा का पान कर लिया है वह शराबी। (काल) मासजात:। जिसे उत्पन्न हुये एक मास हो चुका है वह बालक। संवत्सरजात:। जिसे उत्पन्न हुये एक वर्ष हो चुका है वह बालक। द्व्यहजात:। जिसे उत्पन्न हुये दो दिन हो चुके हैं वह बालक। त्र्यहजात:। जिसे उत्पन्न हुये तीन दिन हो चुके हैं वह बालक। (सुखादि) सुखजात:। जिसे सुख हो गया है वह सुखी पुरुष। दु:खजात:। जिसे दु:ख हो गया है वह दु:खी पुरुष। तृप्रजात:। जिसे तृप्र=पुरोडाश प्राप्त हो चुका है वह यज्ञीय पुरुष।

सिद्धि-(१) सारङ्गजग्ध:। यहां सारङ्ग और जग्ध शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि में जातिवाची सारङ्ग शब्द से परे क्त-प्रत्ययान्त जग्ध उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। जग्ध-शब्द में 'अद भक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (२।४।३६) से अद् के स्थान में जग्धि-आदेश होता है। बहुव्रीहि समास में 'निष्ठा' (२।३।३६) से निष्ठान्त पद का पूर्वनिपात प्राप्त है किन्तु वा०- 'निष्ठाया: पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्य: परवचनम्' (२।२।३९) से क्तान्त पद का परनिपात होता है। ऐसे ही-पलाण्डुभक्षित:, सुरापीत:।

(२) मासजात:। यहां मास और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में कालवाची मास शब्द से परे क्तान्त 'जात' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। जात-शब्द में 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। 'जनसनखनां सञ्झलो:' (६।४।४२) से आत्त्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-संवत्सरजात: आदि।

(३) सुखजात:। यहां सुख और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। सुखादि शब्द 'सुखादिभ्य: कर्तृवेदनायाम्' (३।१।१८) सूत्र में पठित हैं। ऐसे ही-दु:खजात: आदि।

(४) तृप्रजातः। यहां तृप्र और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। विकल्प पक्ष में 'तृप्र' पूर्वपद को पूर्ववत् प्रकृतिस्वर होता है। 'तृप्र' शब्द में 'तृप प्रीणने' (दि०प०) धातु से 'स्फायितञ्चि०' (उणा० २।१३) से 'र' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। शेष कार्य पूर्वोक्त है।

अन्तोदात्तविकल्पः–

(२६) वा जाते।१७१।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, जाते ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहौ, जातिकालसुखादिभ्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ जातिकालसुखादिभ्यो जात उत्तरपदं वाऽन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे जातिकालवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिभ्यश्च शब्देभ्यः परं जात इत्युत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति।

उदा०-(जातिः) दन्ता जाता यस्य सः-दन्तजातः। दन्तजातः। स्तनजाता। स्तनजाता। (कालः) मासो जातो यस्य सः-मासजातः। मासजातः। संवत्सरजातः। संवत्सरजातः। (सुखादिः) सुखं जातं यस्य सः-सुखजातः। सुखजातः। दुःखजातः। दुःखजातः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (जातिकालसुखादिभ्यः) जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से परे (जाते) जात-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (वा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(जाति) दन्तजातः। दन्तजातः। जिसके दांत उत्पन्न हो चुके हैं वह बालक। स्तनजाता। स्तनजाता। जिसके स्तन उत्पन्न हो चुके हैं वह कुमारी। (काल) मासजातः। मासजातः। जिसे उत्पन्न हुये एक मास हो चुका है वह बालक। संवत्सरजातः। संवत्सरजातः। जिसे उत्पन्न हुये एक वर्ष हो चुका है वह बालक। (सुखादि) सुखजातः। सुखजातः। जिसे सुख हो चुका है वह सुखी पुरुष। दुःखजातः। दुःखजातः। जिसे दुःख हो चुका है वह दुःखी पुरुष।

सिद्धि-(१) दन्तजातः। यहां दन्त और जात शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से जातिवाची दन्त शब्द से परे 'जात' शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां विकल्प पक्ष में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से दन्त पूर्वपद को

प्रकृतिस्वर होता है। 'दन्त' शब्द 'स्वाङ्गशिष्टानामदन्तानाम्' (फिट्० २।६) से अन्तोदात्त है-दन्तजातः। ऐसे ही-स्तनजाता। स्तनजाता।

(२) मासजातः। यहां मास और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। विकल्प पक्ष में मास पूर्वपद को पूर्ववत् प्रकृतिस्वर होता है। मास शब्द में 'मसी परिमाणे' (दि०प०) धातु से 'हलश्च' (३।३।१२१) से करणकारक में 'घञ्' प्रत्यय है। प्रत्यय के ञित् होने से यह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) आद्युदात्त है-मासजातः। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) संवत्सरजातः। यहां संवत्सर और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। विकल्प पक्ष में संवत्सर पूर्वपद को पूर्ववत् प्रकृतिस्वर होता है। संवत्सर शब्द में सम्-उपसर्गपूर्वक 'वस निवासे' (भ्वा०प०) धातु से 'सम्पूर्वाच्चित्' (उणा० ३।७२) से सर-प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है-संवत्सरजातः। शेष कार्य पूर्वोक्त है।

(४) सुखजातः। यहां सुख और जात शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। विकल्प पक्ष में सुख पूर्वपद को पूर्ववत् प्रकृतिस्वर होता है। सुख-शब्द में सु-उपसर्ग पूर्वक 'खनु अवदारणे' (भ्वा०प०) धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) से 'ड' प्रत्यय है अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है-सुखजातः। ऐसे ही-दुःखजातः, दुःखजातः।

अन्तोदात्तम्-

(३०) नञ्सुभ्याम्।१७२।

प०वि०-नञ्-सुभ्याम् ५।२।

स०-नञ् च सुश्च तौ-नञ्सू, ताभ्याम्-नञ्सुभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां शब्दाभ्यां परम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(नञ्) न विद्यन्ते यवा यस्मिन् सः-अयवो देशः। अव्रीहिर्देशः। अमाषो देशः। (सुः) शोभना यवा यस्मिन् सः-सुयवो देशः। सुव्रीहिर्देशः। सुमाषो देशः।

आर्यभाषाः अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (नञ्सुभ्याम्) नञ् और सु-शब्दों से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।

उदा०-(नञ्) अयवो देशः। वह देश जिसमें यव=जौ नहीं होते हैं। अव्रीहिर्देशः। वह देश जिसमें व्रीहि=चावल नहीं होते हैं। अमाषो देशः। वह देश जिसमें माष=उड़द नहीं

होते हैं। (सु) सुयवो देशः। वह देश जिसमें यव अच्छे होते हैं। सुव्रीहिर्देशः। वह देश जिसमें व्रीहि अच्छे होते हैं। सुमाषो देशः। वह देश जिसमें माष अच्छे होते हैं।

सिद्धि-(१) अयवः। यहां नञ् और यव शब्दों 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे यव उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है। 'नलोपो नञः' (६।३।७३) से नञ् के नकार का लोप होकर अकार शेष रहता है। ऐसे ही-अव्रीहिः, अमाषः।

(२) सुयवः। यहां सु और यव शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में सु-शब्द से परे यव उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-सुव्रीहिः। सुमाषः।

अन्तोदात्तम्-

(३१) कपि पूर्वम्।१७३।

प०वि०-कपि ७।१ पूर्वम् १।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहौ, नञ्सुभ्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् उत्तरपदं कपि पूर्वम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां शब्दाभ्यां परम् उत्तरपदं कपि प्रत्यये परतः पूर्वमन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(नञ्) न विद्यन्ते कुमार्यो यस्मिन् सः-अकुमारीको देशः। अवृषलीको देशः। अब्रह्मबन्धूको देशः। (सुः) शोभना विद्यन्ते कुमार्यो यस्मिन् सः-सुकुमारीको देशः। सुवृषलीको देशः। सुब्रह्मबन्धूको देशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (नञ्सुभ्याम्) नञ् और सु शब्दों से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (कपि) कप्-प्रत्यय से (पूर्वम्) पूर्व (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(नञ्) अकुमारीको देशः। वह देश जिसमें कुमारियां नहीं हैं। अवृषलीको देशः। वह देश जिसमें वृषलियां नहीं हैं। वृषली=अविवाहित रजस्वला कन्या। अब्रह्मबन्धूको देशः। वह देश जिसमें ब्रह्मबन्धू स्त्रियां नहीं हैं। ब्रह्मबन्धू=पतित ब्राह्मणी। (सु) सुकुमारीको देशः। वह देश जिसमें सुन्दर कुमारियां नहीं हैं। सुवृषलीको देशः। वह देश जिसमें सुन्दर वृषलियां नहीं हैं। सुब्रह्मबन्धूको देशः। वह देश जिसमें सुन्दर ब्रह्मबन्धू स्त्रियां नहीं हैं।

सिद्धि-(१) अकुमारीकः। यहां नञ् और कुमारी शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे

कुमारी उत्तरपद को कप्-प्रत्यय परे होने पर अन्तोदात्त स्वर होता है। कुमारी-शब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से नदी संज्ञा है। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही-अवृषलीकः, अब्रह्मबन्धूकः।

(२) सुकुमारीकः। यहां सु और कुमारी शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। शेष कार्य पूर्वोक्त है। ऐसे ही-सवृषलीकः, सुब्रह्मबन्धूकः।

अन्त्यात् पूर्वमुदात्तम्-

(३२) ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्।१७४।

प०वि०-ह्रस्वान्ते ७।१ अन्त्यात् ५।१ पूर्वम् १।१।

स०-ह्रस्वोऽन्ते यस्य तत्-ह्रस्वान्तम्, तस्मिन्-ह्रस्वान्ते (बहुव्रीहिः)। अन्ते भवम्-अन्त्यम्, तस्मात्-अन्त्यात्। **'दिगादिभ्यो यत्'** (४।३।५४) इति भवार्थे यत् प्रत्ययः।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, बहुव्रीहौ, नञ्सुभ्याम्, कपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ नञ्सुभ्यां ह्रस्वान्तम् उत्तरपदम् कपि अन्त्यात् पूर्वम् उदात्तम्।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां शब्दाभ्यां परं ह्रस्वान्तम् उत्तरपदं कपि प्रत्यये परतोऽन्त्यात् पूर्वम् उदात्तं भवति।

उदा०-(नञ्) न विद्यन्ते यवा यस्मिन् सः-अयवको देशः। अव्रीहिको देशः। अमाषको देशः। **(सुः)** शोभना यवा यस्मिन् सः-सुयवको देशः। सुव्रीहिको देशः। सुमाषको देशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (नञ्सुभ्याम्) नञ् और सु शब्दों से परे (ह्रस्वान्त) ह्रस्व-वर्णान्त (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (कपि) कप् प्रत्यय परे होने पर (अन्त्यात्) अन्तिम वर्ण से (पूर्वम्) पूर्व वर्ण (उदात्तः) उदात्त होता है।*

उदा०-(नञ्) अयवको देशः। वह देश जिसमें यव=जौ नहीं होते हैं। अव्रीहिको देशः। वह देश जिसमें व्रीहि=चावल नहीं होते हैं। अमाषको देशः। वह देश जिसमें माष=उड़द नहीं होते हैं। (सु) सुयवकी देशः। वह देश जिसमें यव=जौ अच्छे होते हैं। सुव्रीहिको देशः। वह देश जिसमें व्रीहि अच्छे होते हैं। सुमाषको देशः। वह देश जिसमें माष अच्छे होते हैं।

सिद्धि-अयवकः । यहां नञ् और यव शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२ ।२ ।२४) से बहुव्रीहि समास है। 'शेषाद् विभाषा' (५ ।४ ।१५४) से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे ह्रस्वान्त 'यव' उत्तरपद को अन्त्य वकार से पूर्ववर्ती यकार को उदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अव्रीहिकः आदि।

नञ्वत्स्वरविधिः–

(३३) बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ।१७५।

प०वि०-बहोः ५ ।१ नञ्वत् अव्ययपदम्, उत्तरपदभूम्नि ७ ।१।

तद्धितवृत्तिः-नञ इव इति नञ्वत् 'तत्र तस्येव' (५ ।१ ।११६) इति इवार्थे वतिः प्रत्ययः।

स०-उत्तरपदस्य भूमा इति उत्तरपदभूमा, तस्मिन्-उत्तरपदभूम्नि (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपरम्, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ उत्तरपदभूम्नि बहोरुत्तरपदं नञ्वत्।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे उत्तरपदस्य बहुत्वेऽर्थे वर्तमानाद् बहु-शब्दात् परम् उत्तरपदं नञ्वत्स्वरं भवति। **उदाहरणम्**–

(१) **'नञ्सुभ्याम्'** (६ ।२ ।१७२) इत्युक्तम्, तद् बहोरपि तथा भवति-बहुयवो देशः। बहुव्रीहिर्देशः। बहुतिलो देशः।

(२) **'कपि पूर्वम्'** (६ ।२ ।१७३) इत्युक्तम्, तद् बहोरपि तथा भवति-बहुकुमारीको देशः। बहुवृषलीको देशः। बहुब्रह्मबन्धूको देशः।

(३) **'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्'** (६ ।२ ।१७४) इत्युक्तम्, तद् बहोरपि तथा भवति-बहुयवको देशः। बहुव्रीहिको देशः। बहुमाषको देशः।

(४) **'नञो जरमरमित्रमृताः'** (६ ।२ ।११६) इत्युक्तम्, तद् बहोरपि भवति-बहुजरः। बहुमरः। बहुमित्रः। बहुमृतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (उत्तरपदभूम्नि) उत्तरपद के बहुत्व अर्थ में विद्यमान (बहोः) बहु-शब्द से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (नञ्वत्) नञ् के समान स्वर होता है। उदाहरण–*

(१) 'नञ्सुभ्याम्' (६ ।२ ।१७२) से बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर कहा है सो बहु-शब्द से परे भी होता है-बहुयवो देशः। वह देश कि

जिसमें बहुत यव=जौ होते हैं। बहुव्रीहिर्देश:। वह देश कि जिसमें व्रीहि=चावल अधिक होते हैं। बहुतिलो देश:। वह देश कि जिसमें तिल अधिक होते हैं।

(२) 'कपि पूर्वम्' (६।२।१७३) से बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे उत्तरपद को कप्-प्रत्यय से पूर्व अन्तोदात्त स्वर कहा है सो बहु-शब्द से परे भी होता है-बहुकुमारीको देश:। वह देश कि जिसमें कुमारियां बहुत हैं। बहुवृषलीको देश:। वह देश कि जिसमें बहुत वृषलियां हैं। वृषली=अविवाहित रजस्वला कन्या। बहुब्रह्मबन्धूको देश:। वह देश कि जिसमें ब्रह्मबन्धू स्त्रियां बहुत हैं। ब्रह्मबन्धू=पतित ब्राह्मणी।

(३) 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' (६।२।१७४) से बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे ह्रस्वान्त उत्तरपद को कप्-प्रत्यय परे होने पर अन्तिम वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण को उदात्त स्वर कहा है सो बहु-शब्द से भी परे होता है-बहुयवको देश:। वह देश कि जिसमें यव अधिक होते हैं। बहुव्रीहिको देश:। वह देश कि जिसमें व्रीहि अधिक होते हैं। बहुमाषको देश:। वह देश कि जिसमें माष अधिक होते हैं।

(४) 'नञो जरमरमित्रमृता:' (६।२।११६) से बहुव्रीहि समास में नञ्-शब्द से परे जर, मर, मित्र और मृत उत्तरपदों को आद्युदात्त स्वर कहा है सो बहु-शब्द से परे भी होता है-बहुजर:। बहुत है जर (जीर्णता) जिसका वह पुरुष। बहुमर:। बहुत है मरण जिसका वह पुरुष। बहुमित्र:। बहुत हैं मित्र जिसके वह पुरुष। बहुमृत:। बहुत हैं मृत जिसके वह पुरुष।

सिद्धि-बहुयवो देश: आदि पदों की सिद्धि 'अयवो देश:' आदि पदों के समान है। उन्हें यथास्थान देख लेवें।

अन्तोदात्तप्रतिषेध:-

(३४) न गुणादयोऽवयवा:।१७६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, गुण-आदय: १।३ अवयवा: १।३।

स०-गुण आदिर्येषां ते गुणादय: (बहुव्रीहि:)।

अनु०-उदात्त:, उत्तरपदम्, अन्त:, बहुव्रीहौ, बहोरिति चानुवर्तते।

अन्वय:-बहुव्रीहौ बहोरवयवा गुणादय उत्तरपदम् अन्त उदात्तो न।

अर्थ:-बहुव्रीहौ समासे बहु-शब्दात् परेऽवयववाचिनो गुणादय: शब्दा उत्तरपदानि अन्तोदात्तानि न भवति।

उदा०-बहवो गुणा यस्यां सा-बहुगुणा रज्जु:। बह्वक्षरं पदम्। बहुच्छन्दोमानं यस्मिँस्तत्-बहुच्छन्दोमानं काव्यम्। बहूनि सूक्तानि यस्मिन्

सः-बहुसूक्तो ग्रन्थः। बहवोऽध्याया यस्मिन् सः-बह्वध्यायो ग्रन्थः। "गुणादिराकृतिगणो द्रष्टव्यः" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (बहोः) बहु-शब्द से परे (अवयवाः) अवयववाची (गुणादयः) गुणादि-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद में (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(गुण) बहुगुणा रज्जुः। बहुत गुणों (लड़) वाली रस्सी। बह्वक्षरं पदम्। बहुत अच्छरोंवाला पद। बहुच्छन्दोमानं काव्यम्। बहुत छन्दोनिर्माणवाला काव्य। बहुसूक्तो ग्रन्थः। बहुत सूक्तोंवाला ग्रन्थ (ऋग्वेद)। बह्वध्यायो ग्रन्थः। बहुत अध्यायोंवाला ग्रन्थ (यजुर्वेद)। "गुणादि आकृतिगण हैं" (काशिका)।

सिद्धि-बहुगुणा। यहां बहु और गुण शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में 'बहु' शब्द से परे अवयववाची गुण उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर का प्रतिषेध है। अतः 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से बहु पूर्वपद को प्रकृतिस्वर है। बहु शब्द में 'बहि वृद्धौ' धातु से 'लंघिबंह्योर्नलोपश्च' (उणा० १।२९) से उ-प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। ऐसे ही-बह्वक्षरम् आदि।

अन्तोदात्तम्-

(३५) उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु।१७७।

प०वि०-उपसर्गात् ५।१ स्वाङ्गम् १।१ ध्रुवम् १।१ अपर्शु १।१।

स०-न पर्शु इति अपर्शु (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, बहुव्रीहाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ उपसर्गाद् अपर्शु ध्रुवं स्वाङ्गम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे उपसर्गात् परं पर्शुवर्जितं ध्रुवं स्वाङ्गवाचि उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-प्रगतं पृष्ठं यस्य :-प्रपृष्ठः। प्रोदरः। प्रललाटः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अपर्शु) पर्शु-शब्द को छोड़कर (ध्रुवम्) एकरूप (स्वाङ्गम्) स्वाङ्गवाची (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-प्रपृष्ठः। ऊपर को उठी हुई पीठवाला पुरुष (कुबड़ा)। प्रोदरः। आगे को उठे हुये उदर=पेटवाला पुरुष (पेटला)। प्रललाटः। आगे को बढ़े हुये ललाट=माथेवाला पुरुष।

सिद्धि-प्रपृष्ठः। यहां प्र और पृष्ठ शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में प्र-उपसर्ग से परे ध्रुव (एकरूप) स्वाङ्गवाची पृष्ठ उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-प्रोदरः, प्रललाटः।

पर्शु के निषेध से यहां अन्तोदात्त स्वर नहीं होता है-उत्पर्शु, विपर्शु। पर्शु=पसली।

अन्तोदात्तम्-

(३६) वनं समासे।१७८।

प०वि०-वनम् १।१ समासे ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासे उपसर्गाद् वनम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रे उपसर्गात् परं वनमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-प्रकृष्टं वनमिति प्रवणम्। प्रवणे यष्टव्यम्। निर्गतं वनादिति निर्वणम्। निर्वणे प्रणिधीयते।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समास मात्र में (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (वनम्) वन-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

*उदा०-**प्रवणम्**। इस पद का यौगिक अर्थ प्रकृष्ट वन है किन्तु यह नीचा अर्थ में रूढ है। **प्रवणे यष्टव्यम्**। पूर्व दिशा की ओर निम्न यज्ञकुण्ड में यज्ञ करना चाहिये। प्राक्प्रवण=पूर्व दिशा में नीची यज्ञवेदिका बनाने का विधान है। **निर्वणम्**। इस पद का यौगिक अर्थ वन से निकला हुआ है किन्तु यह चारों ओर सम-भूमि अर्थ में रूढ है। **निर्वणे प्रणिधीयते**। चारों ओर सम-भूमि पर ईश्वर-प्रणिधान किया जाता है।*

*सिद्धि-**प्रवणम्**। यहां प्र और वन शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादि-तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस तत्पुरुष समास में प्र-उपसर्ग से परे वन उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्राकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि' (८।४।५) से वन-शब्द के नकार को णकार आदेश होता है। ऐसे ही-**निर्वणम्**।*

अन्तोदात्तम्-

(३७) अन्तः।१७९।

वि०-अन्तः अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, वनम्, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासेऽन्तर्वनम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽन्तः-शब्दात् परम् वनमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-अन्तर्वनं यस्मिन् सः-अन्तर्वणो देशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समासमात्र में (अन्तः) अन्तर् शब्द से परे (वनम्) वन-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अन्तर्वणो देशः। वह देश कि जिसके अन्तः=मध्य में वन है। अन्तर् शब्द स्वरादिगण में पठित होने से 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (१।१।३७) से अव्यय है।

सिद्धि-अन्तर्वणः। यहां अन्तर् और वन शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में अन्तर्-शब्द से परे वन उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। 'प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि' (८।४।५) से वन-शब्द के नकार को णकार आदेश होता है।

अन्तोदात्तम्–

(३८) अन्तश्च।१८०।

वि०-अन्तः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गात्, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासे उपसर्गाद् अन्तश्चोत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रे उपसर्गात् परोऽन्त-शब्दश्चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-प्रगतोऽन्तो यस्य सः-प्रान्तः। परिगतोऽन्तो यस्य सः-पर्यन्तः। अथवा-प्रगतोऽन्त इति प्रान्तः। परितोऽन्त इति पर्यन्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समास मात्र में (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अन्तः) अन्त-शब्द (च) भी (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-प्रान्तः। जिसका अन्त भाग प्रगत (प्रसृत) है वह प्रदेश। पर्यन्तः। जिसका अन्त भाग परिगत (परिसृत) है वह प्रदेश। अथवा-प्रगतः। प्रगत अन्त। पर्यन्तः। परिगत अन्त।

सिद्धि-प्रान्तः। यहां प्र और अन्त शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस बहुव्रीहि समास में उपसर्ग से परे अन्त उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादि-समास भी है। ऐसे ही-पर्यन्तः।

अन्तोदात्तप्रतिषेधः–

(३९) न निविभ्याम्।१८१।

प०वि०-न अव्ययपदम्, नि-विभ्याम् ५।२।

स०-निश्च विश्च तौ निवी, ताभ्याम्-निविभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गात्, समासे अन्त इति चानुवर्तति।

अन्वयः-समासे निविभ्याम् उपसर्गाभ्याम् अन्त उत्तरपदं अन्त उदात्तो न।

अर्थः-समासमात्रे निविभ्यामुपसर्गाभ्यां परोऽन्त-शब्द उत्तरपदम् अन्तोदात्तं न भवति।

उदा०-(निः) निगतोऽन्तो यस्य सः-न्यन्तः। अथवा-निगतोऽन्त इति न्यन्तः। (विः) विगतोऽन्तो यस्य सः-व्यन्तः। अथवा-विगतोऽन्त इति व्यन्तः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समास मात्र में (निविभ्याम्) नि और वि (उपसर्गात्) उपसर्गों से परे (अन्तः) अन्त-शब्द (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(नि) न्यन्तः। जिसका अन्त निगत (निकृष्ट) है वह आरम्भ। अथवा-निकृष्ट अन्त। (वि) व्यन्तः। जिसका अन्त विगत (व्यतीत) है वह आरम्भ। अथवा-विगत अन्त।

सिद्धि-न्यन्तः। यहां नि और अन्त शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से नि-उपसर्ग से परे अन्त उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। अथवा यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास भी है। ऐसे ही-व्यन्तः।

अन्तोदात्तम्–

(४०) परेरभितोभावि मण्डलम्।१८२।

प०वि०-परेः ५।१ अभितोभावि १।१ मण्डलम् १।१।

कृद्वृत्तिः-अभितो भवितुं शीलमस्य तत्-अभितोभावि। **'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये'** (३।२।७८) इत्यनेन ताच्छील्येऽर्थे णिनिः प्रत्ययः।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गात्, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासे परेरुपसर्गाद् अभितोभाविमण्डलम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रे परेरुपसर्गात् परम् अभितोभाविवाचि मण्डलशब्दश्चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भावति।

उदा०-**(अभितोभावि)** परितः कूलं यस्य तत्-परिकूलम्। परितीरम् (बहुव्रीहिः)। परिगतं कूलमिति परिकूलम् (प्रादितत्पुरुषः)। परि कूलादिति परिकूलम् (अव्ययीभावः)। एवमेव-परितीरम्। **(मण्डलम्)** परितो मण्डलं यस्य तत्-परिमण्डलम् (बहुव्रीहिः)। परिगतं मण्डलमिति परिमण्डलम् (प्रादितत्पुरुषः)। परि मण्डलादिति परिमण्डलम् (अव्ययीभावः)।

"अभित इत्युभयतः। अभितो भावोऽस्यास्यास्तीति तदभितोभावि, यच्चैवंस्वभावं कूलादि तदभितोभाविग्रहणेन गृह्यते" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समासमात्र में (परेः) परि (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अभितोभावि) उभयतोभावीवाची शब्द और (मण्डलम्) 'मण्डल' (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(अभितोभावी) परिकूलम्। जिसके सब ओर कूल (किनारा) है वह सरोवर (बहुव्रीहि)। परिकूलम्। सब ओर फैला हुआ किनारा (प्रादितत्पुरुषः)। परिकूलम् किनारे को छोड़कर (अव्ययीभाव)।। परितीरम्। जिसके सब ओर तीर=घाट हैं वह सरोवर (बहुव्रीहि)। परितीरम्। सब ओर फैला हुआ तीर (प्रादितत्पुरुष)। परितीरम्। तीर को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (मण्डल) परिमण्डलम्। जिसके सब ओर मण्डल (घेरा) है वह वन आदि (बहुव्रीहि)। परिमण्डलम्। सब ओर फैला हुआ मण्डल। (प्रादितत्पुरुषः)। परिमण्डलम्। मण्डल को छोड़कर (अव्ययीभाव)।

सिद्धि-परिकूलम्। यहां परि और कूल शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में परि-उपसर्ग से परि अभितोभावी (दोनों ओर होनेवाला) वाचक कूल-शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

समासमात्र के कथन से यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष और 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास भी होता है। ऐसे ही-परितीरम्, परिमण्डलम्।

अन्तोदात्तम्–

(४१) प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम्।१८३।

प०वि०–प्रात् ५।१ अस्वाङ्गम् १।१ संज्ञायाम् ७।१।

स०–स्वस्य अङ्गमिति स्वाङ्गम्, न स्वाङ्गमिति अस्वाङ्गम् (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गात्, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–समासे संज्ञायां प्राद् उपसर्गाद् अस्वाङ्गम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः–समासमात्रे संज्ञायां च विषये प्राद् उपसर्गात् परम् अस्वाङ्गवाचि उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०–प्रगतं कोष्ठमिति प्रकोष्ठम्। प्रगतं गृहमिति प्रगृहम्। प्रगतं द्वारमिति प्रद्वारम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ–(समासे) समासमात्र में तथा (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (प्रात्) प्र (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अस्वाङ्गम्) स्वाङ्गवाची शब्द से भिन्न (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–प्रकोष्ठम्। कोहनी के नीचे का भाग। दरवाजे के समीप का कमरा। प्रगृहम्। घर का आंगन। प्रद्वारम्। दरवाजे के सामने का स्थान।

सिद्धि–प्रकोष्ठम्। यहां प्र और कोष्ठ शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में तथा संज्ञाविषय में प्र-उपसर्ग से परे अस्वाङ्गवाची कोष्ठ उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–प्रगृहम्, प्रद्वारम्।

अन्तोदात्तम्–

(४२) निरुदकादीनि च।१८४।

प०वि०–निरुदक-आदीनि १।३ च अव्ययपदम्।

स०–निरुदकम् आदिर्येषां तानि–निरुदकादीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उदात्तः, अन्तः, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–समासे निरुदकादीनि चान्त उदात्तः।

अर्थः–समासमात्रे निरुदकादीनि शब्दरूपाणि चान्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-निर्गतमुदकं यस्मादिति-निरुदकं पात्रम् (बहुव्रीहिः)। निर्गत-मुदकमिति निरुदकम् (प्रादिसमासः)। निर्मक्षिकम्। निर्मशकम्, इत्यादिकम्।

निरुदकम्। निरुलपम्। निरुपलम्। निर्मशकम्। निर्मक्षिकम्। निष्कालकः। निकालिकः। निष्पेषः। दुस्तरीपः। निस्तरीपः। निस्तरीकः। निरजिनम्। उदजिनम्। उपाजिनम्। वा०-परेर्हस्तपादकेशकर्षाः। परिहस्तः। परिपादः। परिकेशः। परिकर्षः। आकृतिगणोऽयम्। इति निरुदकादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समासमात्र में (निरुदकादीनि) निरुदक-आदि शब्द (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

*उदा०-**निरुदकम्**। जिससे उदक=जल निकल चुका है वह पात्र (बहुव्रीहि)। **निरुदकम्**। निकला हुआ जल (प्रादितत्पुरुष)। **निर्मक्षिकम्**। जिससे मक्षिका=मक्खियां निकल चुकी हैं वह स्थान। (बहुव्रीहि)। **निर्मक्षिकम्**। निकली हुई मक्खी (प्रादितत्पुरुष)। **निर्मशकम्**। जिससे मशक=मच्छर निकल चुके हैं वह स्थान (बहुव्रीहि)। **निर्मशकम्**। निकला हुआ मच्छर (प्रादितत्पुरुष) इत्यादि।*

*सिद्धि-**निरुदकम्**। यहां निस् और उदक शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में निस्-उपसर्ग से परे उदक उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।*

*यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास भी होता है। ऐसे ही-**निर्मक्षिकम्, निर्मशकम्**।*

अन्तोदात्तम्–

(४३) अभेर्मुखम्।१८५।

प०वि०-अभेः ५।१ मुखम् १।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, उपसर्गात्, समासे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासे अभेरुपसर्गाद् मुखम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽभेरुपसर्गात् परं मुखमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-अभिगतं मुखं येन सः-अभिमुखः (बहुव्रीहिः)। अभिगतं मुखमिति अभिमुखम् (प्रादितत्पुरुषः)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समासमात्र में (अभेः) अभि (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (मुखम्) मुख (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

*उदा०-**अभिमुखः**। अभिगत (सामने) किया है मुख जिसने वह पुरुष (बहुव्रीहि)। **अभिमुखम्**। अभिगत मुख (प्रादितत्पुरुष)।*

सिद्धि-अभिमुखः। यहां अभि और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में अभि-उपसर्ग से परे मुख उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास भी होता है।

अन्तोदात्तम्–

(४४) अपाच्च।१८६।

प०वि०-अपात् ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गात्, मुखमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासेऽपाद् उपसर्गाच्च मुखम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽपाद् उपसर्गाच्च परं मुखमित्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-अपगतं मुखं यस्मात् सः-अपमुखः (बहुव्रीहिः)। अपगतं मुखमिति अपमुखम् (प्रादितत्पुरुषः)। अप मुखादिति अपमुखम् (अव्ययीभावः)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समास मात्र में (अपात्) अप (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (मुखम्) मुख (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अपमुखः। अपगत=हटा लिया है मुख जिससे वह द्रव्यविशेष (बहुव्रीहि)। अपमुखम्। हटाया हुआ मुख (प्रादितत्पुरुष)। अपमुखम्। मुख को छोड़कर (अव्ययीभाव)।

सिद्धि-अपमुखः। यहां अप और मुख शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में अप-उपसर्ग से परे मुख उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास और 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास भी होता है। अव्ययीभाव पक्ष में 'परिप्रत्युपापा वर्जमानाहोरात्रावयवेषु' (६।२।३३) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह उसका अपवाद है।

अन्तोदात्तम्–

(४५) स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम च।१८७।

प०वि०-स्फिग-पूत-वीणा-अञ्जस्-अध्वन्-कुक्षि-सीरनाम-नाम १।१ च अव्ययपदम्।

स०-स्फिगश्च पूतश्च वीणा च अञ्जस् च अध्वा च कुक्षि च सीरनाम च नाम च एतेषां समाहारः-स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, अपादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासेऽपाद् उपसर्गात् स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम चोत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽपादुपसर्गात्पराणि स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षि-सीरनामनामान्युत्तरपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(**स्फिगः**) अपगतं स्फिगं यस्मात्, तत्-अपस्फिगम् (बहुव्रीहिः)। अपगतं स्फिगमिति अपस्फिगम् (प्रादितत्पुरुषः)। अप स्फिगादिति अपस्फिगम् (अव्ययीभावः)। (**पूतः**) अपगतं पूतं यस्मात् तत्-अपपूतम् (बहुव्रीहिः)। अपगतं पूतमिति अपपूतम् (प्रादितत्पुरुषः)। अप पूतादिति अपपूतम् (अव्ययीभावः)। (**वीणा**) अपगता वीणा यस्मात् तत्-अपवीणम् (बहुव्रीहिः)। अपगता वीणेति अपवीणम् (प्रादितत्पुरुषः)। अप वीणाया इति अपवीणम् (अव्ययीभावः)। (**अञ्जः**) अपगतम् अञ्जो यस्मात् तत्-अपाञ्जः (बहुव्रीहिः)। अपगतम् अञ्ज इति अपाञ्जः (प्रादितत्पुरुषः)। अप अञ्जस इति अपाञ्जः (अव्ययीभावः)। (**अध्वा**) अपगतोऽध्वा यस्य सः-अपाध्वा (बहुव्रीहिः)। अपगतोऽध्वा इति अपाध्वा (प्रादितत्पुरुषः)। अप अध्वन इति अपाध्वा (अव्ययीभावः)। (**कुक्षिः**) अपगतः कुक्षिर्यस्या सा-अपकुक्षिः (बहुव्रीहिः)। अपगतः कुक्षिरिति अपकुक्षिः (प्रादितत्पुरुषः)। अप कुक्षेरिति अपकुक्षि (अव्ययीभावः)। (**सीरनाम**) अपगतः सीरो यस्मात् सः-अपसीरः (बहुव्रीहिः)। अपगतः सीर इति अपसीरः (प्रादितत्पुरुषः)। अप सीरादिति अपसीरम् (अव्ययीभावः)। एवम्-अपहलम्, अपलाङ्गलम्। (**नाम**) अपगतं नाम यस्मात् तत्-अपनाम (बहुव्रीहिः)। अपगतं नाम इति अपनाम (प्रादितत्पुरुषः)। अप नाम्न इति अपनाम (अव्ययीभावः)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समास मात्र में (अपात्) अप (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (स्फिग०नाम) स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि, सीरनाम=हलवाची शब्द और नाम (उत्तरपदम्) उत्तरपद (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होते हैं।*

उदा०-(स्फिग) अपस्फिगम्। नितम्ब=रहित (बहुव्रीहि)। अपस्फिगम्। दूर हुआ नितम्ब। (प्रादितत्पुरुष)। अपस्फिगम्। नितम्ब को छोड़कर (अव्ययीभाव)। नितम्ब=चूतड़। (पूत) अपपूतम्। पवित्रता रहित (बहुव्रीहि)। अपपूतम्। दूर हुई पवित्रता (प्रादितत्पुरुष)। अपपूतम्। पवित्रता को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (वीणा) अपवीणम्। वीणा रहित (बहुव्रीहि)। अपवीणम्। दूर हुई वीणा (प्रादितत्पुरुष)। अपवीणम्। वीणा को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (अञ्जस्) अपाञ्जः। अञ्जन रहित (बहुव्रीहि)। अपाञ्जः। दूर हुआ अञ्जन (प्रादितत्पुरुष)। अपाञ्जः अञ्जन को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (अध्वन्) अपाध्वा। मार्ग रहित (बहुव्रीहि)। अपाध्वा। दूर हुआ मार्ग (प्रादितत्पुरुष)। अपाध्वा। मार्ग को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (कुक्षि) अपकुक्षिः। कुक्षि=गर्भाशय से रहित (बहुव्रीहि)। अपकुक्षिः। दूर हुई कुक्षि (प्रादितत्पुरुष)। अपकुक्षि। कुक्षि को छोड़कर (अव्ययीभाव)। (सीरनाम) अपसीरः। सीर=हल से रहित (बहुव्रीहि)। अपसीरः। दूर हुआ हल (प्रादितत्पुरुष)। अपसीरम्। हल को छोड़कर (अव्ययीभाव)। ऐसे ही हल के पर्यायवाची-अपहलम्, अपलाङ्गलम्। अर्थ पूर्ववत् है। (नाम) अपनाम। नाम रहित (बहुव्रीहि)। अपनाम। दूर हुआ नाम (प्रादितत्पुरुष)। अपनाम। नाम को छोड़कर (अव्ययीभाव)।

सिद्धि-अपस्फिगम्। यहां अप और स्फिग शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में अप-उपसर्ग से परे 'स्फिग' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास तथा 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास भी होता है। ऐसे ही-अपपूतम् आदि।

अन्तोदात्तम्-

(४६) अधेरुपरिस्थम्।१८८।

प०वि०-अधेः ५।१ उपरिस्थम् १।१।

स०-उपरि तिष्ठतीति उपरिस्थम् (उपपदसमासः)। **'सुपि स्थः'** (३।२।४) इति कः प्रत्ययः।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासेऽधेरुपसर्गाद् उपरिस्थम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽधेरुपसर्गात् परम् उपरिस्थवाचि उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-अध्यारूढो दन्त इति अधिदन्तः। अधिकर्णः। अधिकेशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समास मात्र में (अधेः) अधि (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (उपरिस्थम्) उपरिस्थितवाची (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अधिदन्तः। दांत के ऊपर उत्पन्न हुआ दांत। अधिकर्णः। कान के ऊपर उत्पन्न हुआ कान। अधिकेशः। केश=बाळ के ऊपर उत्पन्न हुआ बाळ।

सिद्धि-अधिदन्तः। यहां अधि और दन्त शब्दों को 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में अधि-उपसर्ग से परे उपरि-स्थितवाची 'दन्त' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अधिकर्णः, अधिकेशः।

अध्यारूढो दन्त इति अधिदन्तः। यहां वा०-'समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' (२।१।६०) से उत्तरपदलोपी समानाधिकरण (कर्मधारय) समास भी है।

अन्तोदात्तम्-

(४७) अनोरप्रधानकनीयसी।१८६।

प०वि०-अनोः ५।१ अप्रधान-कनीयसी १।२।

स०-न प्रधानमिति अप्रधानम्। अप्रधानं च कनीयस् च ते-अप्रधानकनीयसी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गादिति चानुवर्तति।

अन्वयः-समासेऽनोरुपसर्गाद् अप्रधानकनीयसी उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽनोरुपसर्गात् परम् अप्रधानवाचि कनीयःशब्दश्चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(अप्रधानम्) अनुगतो ज्येष्ठमिति अनुज्येष्ठः। अनुमध्यमः। पूर्वपदार्थप्रधानः प्रादिसमासोऽयम्। **(कनीयान्)** अनुगतः कनीयानिति अनुकनीयान्। उत्तरपदार्थप्रधानः प्रादिसमासोऽयम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समासमात्र में (अनोः) अनु (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अप्रधानकनीयसी) अप्रधानवाची और कनीयस् (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(अप्रधान) अनुज्येष्ठः। ज्येष्ठ के पश्चात् गया हुआ पुरुष। अनुमध्यमः। मध्यम के पश्चात् गया हुआ पुरुष। यहां पूर्वपदार्थ प्रधान प्रादिसमास है। (कनीयस्) प्रकनीयान्। पश्चात् गया हुआ कनीयान् (छोटा पुरुष)। यहां उत्तरपदार्थप्रधान प्रादिसमास है।

सिद्धि-(१) अनुज्येष्ठः। यहां अनु और ज्येष्ठ शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से पूर्वपदार्थप्रधान प्रादिसमास है। अतः ज्येष्ठ उत्तरपद अप्रधान है। इस सूत्र से इस समास

में अनु-उपसर्ग से परे अप्रधानवाची ज्येष्ठ उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-अनुमध्यमः।

(२) अनुकनीयान्। यहां अनु और कनीयान् शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से उत्तरपदार्थ प्रधान प्रादिसमास है। सूत्र में कनीयस्-शब्द का पाठ उत्तरपदार्थ की प्रधानता के लिये है। इस सूत्र से इस समास में अनु-उपसर्ग से परे कनीयस् उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

अन्तोदात्तम्–

(४८) पुरुषश्चान्वादिष्टः ।१६०।

प०वि०–पुरुषः १।१ च अव्ययपदम्, अन्वादिष्टः १।१।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गात्, अनोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–समासेऽनोरुपसर्गाद् अन्वादिष्टः पुरुष उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः–समासमात्रेऽनोरुपसर्गात् परम् अन्वादिष्टवाची पुरुष इत्युत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०–अन्वादिष्टः पुरुष इति अनुपुरुषः। "अनादिष्टः अन्वाचितः कथितानुकथितो वा" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समासे) समासमात्र में (अनोः) अनु (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अन्वादिष्टः) अप्रधान शिष्ट अथवा कथितानुकथितवाची (पुरुषः) पुरुष (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-अनुपुरुषः। अन्वाचित पुरुष अर्थात् जैसे 'कर्तुः क्यङ् सलोपः' (३।१।११) इस सूत्र में सकार का लोप अप्रधानशिष्ट है यदि शब्द में सकार हो तो लोप हो जाता है इसी प्रकार से जो पुरुष किसी कार्य में अप्रधानशिष्ट होता है उसे अन्वादिष्ट पुरुष कहते हैं। अथवा एक प्रधान कथन में जो गौण कथन किया जाता है उसे अन्वादिष्ट= कथितानुकथित कहते हैं जैसे- 'भिक्षामट गौ चानय' हे शिष्य! तू भिक्षाटन कर और गौ भी ले आ। यहां भिक्षाटन कथन प्रधान और गो-आनयन अप्रधान है। इस प्रकार से आदिष्ट पुरुष को अन्वादिष्ट पुरुष कहते हैं।

सिद्धि-अनुपुरुषः। यहां अनु और पुरुष शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में अनु-उपसर्ग से परे अन्वादिष्टवाची पुरुष उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

अन्तोदात्तम्–

(४६) अतेरकृतपदे ।१६१।

प०वि०–अतेः ५ ।१ अकृत–पदे १ ।२ ।

स०–न कृद् इति अकृत्। अकृच्च पदं च ते–अकृत्पदे (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गादिति चानुवर्तते।

अन्वयः–समासेऽतेरुपसर्गात् अकृत्–पदे उत्तरपदम् अन्त उदात्तः ।

अर्थः–समासमात्रेऽतेरुपसर्गात् परम् अकृदन्तं पदमिति चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०–**(अकृत्)** अङ्कुशमतिक्रान्त इति अत्यङ्कुशो नागः। कशामतिक्रान्त इति अतिकशोऽश्वः। **(पदम्)** पदमतिक्रान्ता इति अतिपदा शक्वरी।

आर्यभाषाः *अर्थ–(समासे) समास मात्र में (अतेः) अति (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अकृत्पदे) अकृदन्त और पद (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–(अकृत्) अत्यङ्कुशो नागः। अङ्कुश को अतिक्रान्त हाथी अर्थात् वह हाथी जो अंकुश की कोई परवाह नहीं करता है। अतिकशोऽश्वः। कशा=कोड़े को अतिक्रान्त घोड़ा अर्थात् वह घोड़ा जो कोड़े की कोई परवाह नहीं करता है। (पद) अतिपदा शक्वरी। पद–व्यवस्था का अतिक्रमण करनेवाली ऋचा।

सिद्धि–(१) अत्यङ्कुशः। यहां अति और अङ्कुश शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में अति–उपसर्ग से परे अकृदन्त 'अङ्कुश' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही–अतिकशः, अतिपदा।

अन्तोदात्तम्–

(५०) नेरनिधाने ।१६२।

प०वि०–नेः ५ ।१ अनिधाने ७ ।१ ।

स०–न निधानमिति अनिधानम्, तस्मिन्–अनिधाने (नञ्तत्पुरुषः)। निधानम्=अप्रकाशनम्। अनिधानम्=प्रकाशनमित्यर्थः ।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-समासेऽनिधाने नेरुपसर्गाद् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-समासमात्रेऽनिधाने चार्थे नेरुपसर्गात् परम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-निगतानि मूलानि यस्य तत्-निमूलम् (बहुव्रीहिः)। निगतं मूलमिति निमूलम् (प्रादितत्पुरुषः)। न्यक्षम्। नितृणम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समासे) समास मात्र में (अनिधाने) प्रकाशित=प्रकट अर्थ में (निः) नि (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-निमूलम्। जिसका मूल निकला हुआ वह वृक्ष आदि (बहुव्रीहि)। निमूलम्। निकला हुआ मूल (प्रादितत्पुरुष)। न्यक्षम्। जिसका अक्ष (धुरा) निकला हुआ है वह रथ आदि (बहुव्रीहि)। निकला हुआ अक्ष (प्रादि०)। नितृणम्। जिसके तृण निकले हुये वह छप्पर आदि (बहुव्रीहि)। निकले हुये तृण (प्रादि०)।

सिद्धि-निमूलम्। यहां नि और मूल शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में अनिधान (प्रकट) अर्थ में नि-उपसर्ग से परे मूल उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-न्यक्षम्, नितृणम्।

यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास भी होता है।

अन्तोदात्तम्-

(५१) प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे।१६३।

प०वि०-प्रतेः ५।१ अंशु-आदयः १।३ तत्पुरुषे ७।१।

स०-अशु आदिर्येषां ते-अंश्वादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गादिति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे प्रतेरुपसर्गाद् अंश्वादय उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे प्रतेरुपसर्गात् पराणि अंश्वादीनि उत्तरपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-प्रतिगतोंऽशुरिति प्रत्यंशुः। प्रतिजनः। प्रतिराजा, इत्यादिकम्।

अंशु। जन। राजा। उष्ट्र। खेटक। अजिर। आर्द्रा। श्रवण। कृत्तिका। अर्ध। पुर। इत्यंश्वादयः॥

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष (समासे) समास में (प्रतेः) प्रति (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (अंश्वादयः) अंशु-आदि (उत्तरपदम्) उत्तरपदों को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-प्रत्यंशुः। प्रतिगत=लौटी हुई अंशु=किरण। प्रतिजनः। लौटा हुआ पुरुष। प्रतिराजा। लौटा हुआ राजा, इत्यादि।

सिद्धि-प्रत्यंशुः। यहां प्रति और अंशु शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में प्रति-उपसर्ग से परे 'अंशु' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-प्रतिजनः, प्रतिराजा।

अन्तोदात्तम्-

(५२) उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः।१६४।

प०वि०-उपात् ५।१ द्व्यच् १।१ अजिनम् १।१ अगौरादयः १।३।

स०-द्वावचौ यस्मिँस्तत्-द्व्यच् (बहुव्रीहिः) गौर आदिर्येषां ते गौरादयः, न गौरादय इति अगौरादयः (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गात्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे उपाद् उपसर्गाद् अगौरादयो द्व्यच्, अजिनम् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे उपाद् उपसर्गात् परं गौरादिवर्जितं द्व्यच्, अजिनमिति चोत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति।

उदा०-(द्व्यच्) उपगतो देवमिति उपदेवः। उपसोमः। उपेन्द्रः। उपहोडः। **(अजिनम्)** उपगतम् अजिनमिति उपाजिनम्।

गौर। तैष। नैष। तैट। लट। लोट। जिह्वा। कृष्णा। कन्या। गुड। कल्य। पाद। इति गौरादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष (समासे) समास में (अगौरादयः) गौर आदि शब्दों से भिन्न (द्व्यच्) दो अचोंवाला शब्द और (अजिनम्) अजिन (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(द्व्यच्) उपदेवः। देव के समीप गया हुआ पुरुष। उपसोमः। सोम के समीप गया हुआ पुरुष। उपेन्द्रः। इन्द्र के समीप गया हुआ पुरुष। उपहोडः। होड=बेड़ा/नौका के पास गया हुआ पुरुष। (अजिन) उपाजिनम्। प्राप्त अजिन (मृगचर्म)।

सिद्धि-उपदेवः। यहां उप और देव शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में उप-उपसर्ग से परे द्वि-अच् (दो अचोंवाले) देव' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। ऐसे ही-उपसोमः आदि।

अन्तोदात्तम्-

(५३) सोरवक्षेपणे।१६५।

प०वि०-सो: ५।१ अवक्षेपणे ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, उपसर्गात्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे सोरुपसर्गाद् उत्तरपदम् अन्त उदात्तः, अवक्षेपणे।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सोरुपसर्गात् परम् उत्तरपदम् अन्तोदात्तं भवति, अक्षेपणे गम्यमाने। अवक्षेपणम्=निन्दा।

उदा०-इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवस्थितः।

सुशब्दोऽत्र पूजायामर्थे वर्तति किन्तु वाक्यार्थेन तु अवक्षेपणम् (निन्दा) अर्थोऽवगम्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष (समासे) समास में (सोः) सु (उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है (अवक्षेपणे) यदि वहां निन्दा अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवस्थितः। अब आप यहां इस सुन्दर चबूतरे पर सुन्दर स्फिगों (नितम्ब=चूतड़) से सुन्दर रीति से बैठे हुये हो। कोई पुरुष अनर्थ उपस्थित होने पर भी सुखपूर्वक बैठा रहे उसे इस प्रकार चिड़ाया जाता है। यहां अवक्षेपण=निन्दा अर्थ स्पष्ट है।

सिद्धि-सुस्थण्डिलम्। यहां सु और स्थण्डिल शब्दों का वा०- 'स्वती पूजायाम्' (भा० २।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में सु-उपसर्ग से परे स्थण्डिल उत्तरपद को अवक्षेपण अर्थ की प्रतीति में अन्तोदात्त स्वर होता है। यद्यपि यहां 'सु' शब्द पूजा अर्थ में है किन्तु वाक्य से अवक्षेपण अर्थ प्रकट हो रहा है। ऐसे ही-सुस्फिगाभ्याम्, सुप्रत्यवस्थितः।

अन्तोदात्तविकल्पः-

(५४) विभाषोत्पुच्छे।१६६।

प०वि०-विभाषा १।१ उत्पुच्छे ७।१।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे समासे उत्पुच्छे उत्तरपदं विभाषाऽन्त उदात्तः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे उत्पुच्छे शब्दे वर्तमानम् उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति।

उदा०-उत्क्रान्तः पुच्छादिति उत्पुच्छः। उत्पुच्छः।

"यदा तु पुच्छमुदस्यति-उत्पुच्छयति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, तदा थाथादिसूत्रेण नित्यमन्तोदात्तत्वे प्राप्ते विकल्पोऽयमिति सेयमुभयत्रविभाषा भवति" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष (समासे) समास में (उत्पुच्छे) उत्पुच्छ-शब्द में विद्यमान (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (विभाषा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-उत्पुच्छः। उत्पुच्छः। पूछ से उठा हुआ (पशु)।

सिद्धि-उत्पुच्छः। यहां उत् और पुच्छ शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस तत्पुरुष समास में उत्पुच्छ शब्द में विद्यमान पुच्छ उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। यहां किसी सूत्र से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त नहीं था।

यहां विकल्प पक्ष में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

"और जब 'पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्' (३।१।२०) से णिङन्त 'उत्पुच्छ' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से अच् प्रत्यय करने पर 'उत्पुच्छः' शब्द सिद्ध किया जाता है तब 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४४) से अनतोदात्त स्वर प्राप्त था। इस प्रकार प्राप्त और अप्राप्त होने से यह उभयत्र विभाषा है" (काशिका)।

अन्तोदात्तविकल्पः-

(५५) द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ।१९७।

प०वि०-द्वित्रिभ्याम् ५।२ पाद्-दन्-मूर्धसु ७।३ बहुव्रीहौ ७।१।

स०-द्विश्च त्रिश्च तौ द्वित्री, ताभ्याम्-द्वित्रिभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। पाच्च दच्च मूर्धा च ते पाद्दन्मूर्धानः, तेषु-पाद्दन्मूर्धसु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ समासे द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु उत्तरपदं विभाषा अन्त उदात्तः।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे द्वित्रिभ्यां पराणि पद्दन्मूर्धन उत्तरपदानि विकल्पेनान्तोदात्तानि भवन्ति।

उदा०-(**द्विः**) द्वौ पादौ यस्य सः-द्विपात्, द्विपात्। (**त्रिः**) त्रयः पादाः यस्य सः-त्रिपात्, त्रिपात् (पात्)। (**द्विः**) द्वौ दन्तौ यस्य सः-द्विदन्, द्विदन्। (**त्रिः**) त्रयो दन्ता यस्य सः-त्रिदन्, त्रिदन् (दन्)। (**द्विः**) द्वौ मूर्धानौ यस्य सः-द्विमूर्धा, द्विमूर्धा, द्विमूर्धः, द्विमूर्धः। (**त्रिः**) त्रयो मूर्धानो यस्य सः-त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धः, त्रिमूर्धः (मूर्धन्)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि (समासे) समास में (द्वित्रिभ्याम्) द्वि और त्रि शब्दों से परे (पाद्दन्मूर्धसु) पाद, दन् और मूर्धन् (उत्तरपदम्) उत्तरपदों को (विभाषा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०-(द्वि) द्विपात्, द्विपात्। दो पावोंवाला। (त्रि) त्रिपात्, त्रिपात्। तीन पावोंवाला छन्द आदि (पात्)। (द्वि) द्विदन्, द्विदन्। दो दांतोंवाला। (त्रि) त्रिदन्, त्रिदन्। तीन दांतोंवाला पशु (दन्)। (द्वि) द्विमूर्धा, द्विमूर्धा, द्विमूर्धः, द्विमूर्धः। दो शिरोंवाला पुरुष। (त्रि) त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धः, त्रिमूर्धः। शिरोंवाला पुरुष (मूर्धन्)।

*सिद्धि-(१) **द्विपात्**। यहां द्वि और पाद शब्दों का **'अनेकमन्यपदार्थे'** (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में द्वि-शब्द से परे 'पात्' उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है। **'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः'** (५।४।१३८) से पाद शब्द के अकार का समासान्त-लोप होता है। ऐसे ही-**त्रिपात्**।*

*(२) **द्विदन्**। यहां द्वि और दन्त शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। **'वयसि दन्तस्य दतृ'** (५।४।१४१) से 'दन्त' शब्द के स्थान में समासान्त 'दतृ' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-**त्रिदन्**।*

*(३) **द्विमूर्धा**। यहां द्वि और मूर्धन् शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। सूत्र में पात् और दत् शब्दों का समासान्त रूप में पाठ है अतः उनका उसी रूप में ग्रहण किया जाता है किन्तु 'मूर्धन्' शब्द का समासान्त रूप में पाठ नहीं है अतः इसका असमासान्त और समासान्त दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता है। **'द्वित्रिभ्यां षो मूर्धनः'** (५।४।११५) से समासान्त 'ष' प्रत्यय करने पर 'द्विमूर्ध' शब्द सिद्ध होता है। इसे भी इस सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है।*

*यहां विकल्प पक्ष में **'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'** (६।२।१) से द्वि और त्रि पूर्वपदों को प्रकृतिस्वर होता है। **'फिषोऽन्तोदात्तः'** (फिट्० १।१) से द्वि और त्रि शब्द अन्तोदात्त हैं, जैसे कि ऊपर उदाहरणों में स्वराङ्कन से दर्शाया गया है।*

अन्तोदात्तविकल्पः–

(५६) सक्थं चाक्रान्तात्।१६८।

प०वि०–सक्थम् १।१ च अव्ययपदम्, अक्रान्तात् ५।१।

स०–क्र-शब्दोऽन्ते यस्य सः-क्रान्तः, न क्रान्तं इति अक्रान्तः, तस्मात्-अक्रान्तात् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उदात्तः, उत्तरपदम्, अन्तः, समासे, विभाषा, बहुव्रीहौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–बहुव्रीहौ समासेऽक्रान्तात् सक्थम् उत्तरपदं च विभाषाऽन्त उदात्तः।

अर्थः–बहुव्रीहौ समासे क्रान्तवर्जिताच्छब्दात् परं सक्थमित्युत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति।

उदा०–गौरं सक्थि यस्य सः-गौरसक्थः। गौरसक्थः। श्लक्ष्णसक्थः। श्लक्ष्णसक्थः। अक्रान्तादिति किम्-चक्रसक्थः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि (समासे) समास में (अक्रान्तात्) क्रान्त से भिन्न शब्द से परे (सक्थम्) सक्थ (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (विभाषा) विकल्प से (अन्त उदात्तः) अन्तोदात्त होता है।*

उदा०–गौरसक्थः। गौरसक्थः। गौरवर्ण सक्थि=जंघावाला पुरुष। श्लक्ष्णसक्थः। श्लक्ष्णसक्थः। श्लक्ष्ण=चिकनी जंघावाला पुरुष।

सिद्धि–गौरसक्थः। यहां गौर और सक्थि शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से इस समास में क्रान्त शब्द से भिन्न गौर शब्द से परे सक्थ उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है।

यहां सूत्र में सक्थ-शब्द का समासान्त रूप में पाठ है। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (५।४।११३) से 'सक्थि' शब्द से समासान्त 'षच्' प्रत्यय है। अतः यहां समासान्त 'सक्थ' रूप का ही ग्रहण किया जाता है।

यहां विकल्प पक्ष में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से गौर पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। गौर शब्द में 'गोर' शब्द से 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५।४।३८) से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय है। अतः यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है-गौरसक्थः। इस प्रकार 'श्लक्ष्ण' शब्द में 'श्लिष आलिङ्गने' (दि०प०) धातु से 'श्लिषेरच्चोपधायाः' (उणा० ३।१९) से 'क्स्न' प्रत्यय है। अतः यह भी प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है-श्लक्ष्णसक्थः।

अन्तोदात्तम्–

(५७) परादिश्छन्दसि बहुलम्।१९९।

प०वि०-परादि: १।१ छन्दसि ७।१ बहुलम् १।१।

स०-परस्य आदिरिति परादि: (षष्ठीतत्पुरुष:)। अत्र पर-शब्देन परगत: सक्थ-शब्दो गृह्यते।

अनु०-उदात्त:, उत्तरपदम्, समासे, इति चानुवर्तते।

अन्वय:-छन्दसि समासे परम्=सक्थम् उत्तरपदं बहुलम् आदि:।

अर्थ:-छन्दसि विषये समासे च परम्=सक्थमित्युत्तरपदं बहुलम् आद्युदात्तं भवति।

उदा०-अ॒ञ्जि॒सक्थमालभेत। त्वा॒ष्ट्रौ लोमस॒क्थौ (तै०सं० ५।५।२३।१)।

अत्र बहुलवचनात् पदान्तरे समासान्तरे चादिरुदात्तो भवति-ऋ॒जुबा॒हु:(बहुव्रीहि:)। वा॒क्पति:, चि॒त्पति: (षष्ठीतत्पुरुष:)।

***आर्यभाषा:** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में और (समासे) समास मात्र में (परम्) परोक्त=पश्चात् कहा सक्थ (उत्तरपदम्) उत्तरपद को (बहुलम्) प्रायश: (आदि:) आद्युदात्त होता है।*

उदा०-अ॒ञ्जि॒सक्थमालभेत। अञ्जिसक्थम्=चमकीली/चन्दनादि से लिप्त जंघा। त्वा॒ष्ट्रौ लोमस॒क्थौ। लोमसक्थम्=लोमवाली जंघा।

सिद्धि-अ॒ञ्जि॒सक्थम्। यहां अञ्जि और सक्थि शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस समास में 'सक्थ' उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो: स्वाङ्गात् षच्' (५।४।११३) से समासान्त 'अच्' प्रत्यय होकर बहुव्रीहि समास में ही 'सक्थ' शब्द सिद्ध होता है किन्तु बहुलवचन से छन्द में बहुव्रीहि से अन्यत्र भी 'सक्थ' शब्द को आद्युदात्त स्वर होता है।

यहां बहुलवचन से सक्थ से भिन्न पदों में तथा अन्य समासों में भी छन्द में आद्युदात्त स्वर होता है-ऋ॒जुबा॒हु:। वह पुरुष कि जिसकी भुजायें ऋजु=सरल है। यहां बहुव्रीहि समास में भी उत्तरपद को आद्युदात्त स्वर होता है जबकि 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) से बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर का विधान है। वा॒क्पति: और चि॒त्पति: शब्दों में षष्ठीतत्पुरुष है। यहां 'समासस्य' (६।१।२२३) से समास को अन्तोदात्त स्वर प्राप्त है किन्तु छन्द में उत्तरपद पति-शब्द को आद्युदात्त स्वर होता है। यह सब बहुल-वचन की महिमा है।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने षष्ठाध्यायस्य द्वितीय: पाद: समाप्त:।।

षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः

विभक्ति-अलुक्प्रकरणम्

अधिकारः–

(१) अलुगुत्तरपदे।१।

प०वि०–अलुक् १।१ उत्तरपदे ७।१।

स०–न लुक् इति अलुक् (नञ्तत्पुरुषः)।

अर्थः–अलुक् उत्तरपदे इत्यधिकारोऽयम्। यदितोऽग्रे वक्ष्यति–अलुग् उत्तरपदे इत्येव तद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति–**'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'** (६।३।२) इति। स्तोकादिभ्यः परस्याः पञ्चम्या उत्तरपदे परतोऽलुग् भवतीत्यर्थः।

उदा०–स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अलुक्-उत्तरपदे) 'अलुक् उत्तरपदे' यह अधिकार सूत्र है। पाणिनिमुनि जो इससे आगे कहेंगे वह 'उत्तरपद परे होने पर अलुक् होता है' ऐसा जानना चाहिये। जैसे कि पाणिनिमुनि कहेंगे–'पञ्चम्याः स्तेकादिभ्यः' (६।३।२) अर्थात् उत्तरपद परे होने पर स्तोक आदि शब्दों से परे पंचमी-विभक्ति का अलुक् होता है।*

उदा०-स्तोकान्मुक्तः। थोड़े प्रयत्न से मुक्त हुआ। स्वल्पान्मुक्तः। बहुत थोड़े प्रयत्न से मुक्त हुआ।

सिद्धि-स्तोकान्मुक्तः आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

पञ्चमी-अलुक्–

(२) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः।२।

प०वि०–पञ्चम्याः ६।१ स्तोकादिभ्यः ५।३।

स०–स्तोक आदिर्येषां ते स्तोकादयः, तेभ्यः–स्तोकादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अलुक्, उत्तरपदे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–स्तोकादिभ्यः पञ्चम्या उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः–स्तोकादिभ्यः शब्देभ्यः परस्याः पञ्चम्या उत्तरपदे परतोऽलुग् भवति।

उदा०-(स्तोकम्) स्तोकाद् मुक्त इति स्तोकान्मुक्तः। **(अल्पम्)** अल्पान्मुक्तः। **(अन्तिकम्)** अन्तिकादगतः। **(अभ्याशम्)** अभ्याशादागतः। **(दूरम्)** दूरादागतः। **(विप्रकृष्टम्)** विप्रकृष्टादागतः। **(कृच्छ्रम्)** कृच्छ्रान्मुक्तः। **'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन'** (२।१।३९) इत्यत्र पठिताः स्तोकादयः शब्दा अत्र गृह्यन्ते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्तोकादिभ्यः) स्तोक आदि शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होनें पर (अलुक्) लुक्=लोप नहीं होता है।*

उदा०-(स्तोक) स्तोकान्मुक्तः। थोड़े प्रयत्न से मुक्त हुआ। (अल्प) अल्पान्मुक्तः। बहुत थोड़े प्रयत्न से मुक्त हुआ। (अन्तिक) अन्तिकादगतः। समीप से आया। (अभ्याश) अभ्याशादागतः। पास से आया। (दूर) दूरदागतः। दूर से आया। (विप्रकृष्ट) विप्रकृष्टादागतः। दूर से आया। (कृच्छ्र) कृच्छ्रान्मुक्तः। दुःख से मुक्त हुआ।

सिद्धि-स्तोकान्मुक्तः। यहां स्तोक और मुक्त शब्दों का 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (२।१।३९) से पञ्चमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से स्तोक आदि शब्दों से परे क्तान्त 'मुक्त' शब्द उत्तरपद होने पर पंचमी विभक्ति का लुक् नहीं होता है। 'सुपो धातुप्रादिपदिकयोः' (२।४।७१) से सुप् का लुक् प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है।

यहां 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (२।१।३९) इस सूत्र में पठित स्तोक आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

तृतीया-अलुक्-

(३) ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः।३।

प०वि०-ओजः-सहः-अम्भः-तमसः ५।१ तृतीयायाः ६।१।

स०-ओजश्च सहश्च अम्भश्च तमश्च एतेषां समाहारः-ओजःसहोऽम्भस्तमः, तस्मात्-ओजःसहोऽम्भस्तमसः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयाया उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-ओजःसहोऽम्भस्तमोभ्यः शब्देभ्यः परस्यास्तृतीयाया उत्तरपदे परतोऽलुग् भवति।

उदा०-(ओजः) ओजसा कृतमिति ओजसाकृतम्। **(सहः)** सहसाकृतम्। **(अम्भः)** अम्भसाकृतम्। **(तमः)** तमसाकृतम्।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(ओजःसहोऽम्भस्तमसः) ओजस्, सहस्, अम्भस् और तमस् शब्दों से परे (तृतीयायाः) तृतीया विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।

*उदा०-(ओजः) **ओजसाकृतम्।** बल से किया हुआ। (सहः) **सहसाकृतम्।** शक्ति से किया हुआ। (अम्भः) **अम्भसाकृतम्।** जल से शुद्ध किया हुआ। (तमः) **तमसाकृतम्।** अन्धकार से आच्छादित किया हुआ।*

*सिद्धि-**ओजसाकृतम्।** यहां ओजस् और कृत शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३२) से तृतीयातत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ओजस् शब्द से परे कृत उत्तरपद होने पर तृतीया विभक्ति का लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-**सहसाकृतम्** आदि।*

तृतीया-अलुक्-

(४) मनसः संज्ञायाम्।४।

प०वि०-मनसः ५।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तृतीयाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां मनसस्तृतीयाया उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-संज्ञायां विषये मनःशब्दात् परस्यास्तृतीयाया उत्तरपदे परतोऽलुग् भवति।

उदा०-मनसा दत्ता इति-मनसादत्ता। मनसागुप्ता। मनसासङ्गता।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में (मनसः) मनस्-शब्द से परे (तृतीयायाः) तृतीया विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।

*उदा०-**मनसादत्ता।** मन से प्रदान की हुई नारी। **मनसागुप्ता।** मन से रक्षा की हुई नारी। **मनसासङ्गता।** मन से संगत हुई नारी। ये नारियों की संज्ञाविशेष हैं।*

*सिद्धि-**मनसादत्ता।** यहां मनस् और दत्ता शब्दें का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (३।१।३२) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से मनस् शब्द से परे दत्ता उत्तरपद होने पर तृतीया विभक्ति का लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-**मनसागुप्ता** आदि। लोक में भी 'मनसाराम' आदि इस प्रकार के नाम मिलते हैं।*

तृतीया-अलुक्-

(५) आज्ञायिनि च।५।

प०वि०-आज्ञायिनि ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-आज्ञातुं शीलं यस्य सः-आज्ञायी, तस्मिन्-आज्ञायिनि (उपपदतत्पुरुषः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तृतीयायाः, मनस इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मनसस्तृतीयाया आज्ञायिनि उत्तरपदे चालुक्।

अर्थः-मनःशब्दात् परस्यास्तृतीयाया आज्ञायिनि शब्दे चोत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-मनसाऽऽज्ञातुं शीलं यस्य सः-मनसाज्ञायी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मनसः) मनस्-शब्द से परे (तृतीयायाः) तृतीयाा विभक्ति का (आज्ञायिनि) आज्ञायिन् शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-मनसाज्ञायी। *मन से आज्ञा करने का स्वभावी।*

सिद्धि-मनसाज्ञायी। *यहां मनस् और आज्ञायिन् शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३२) से तृतीया तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से मनस् शब्द से परे आज्ञायिन् उत्तरपद होने तृतीया विभक्ति का लुक् नहीं होता है।*

तृतीया-अलुक्–

(६) आत्मनश्च पूरणे।६।

प०वि०-आत्मनः ५।१ च अव्ययपदम्, पूरणे ७।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तृतीयाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आत्मनश्च तृतीयायाः पूरणे उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-आत्मनः शब्दाच्च परस्यास्तृतीयायाः पूरणप्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-आत्मना पञ्चम इति आत्मनापञ्चमः। आत्मनाषष्ठः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आत्मनः) आत्मन् शब्द से परे (च) भी (तृतीयायाः) तृतीयाविभक्ति का (पूरण) पूरण-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-आत्मनापञ्चमः। *अपने सें पांचवां पुरुष।* ***आत्मनाषष्ठः।*** *अपने से छठा पुरुष।*

सिद्धि-(१) आत्मनापञ्चमः। यहां आत्मन् और पञ्चम शब्दों का 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' (२।१।३०) इस सूत्र में 'तृतीया' इस योग विभाग से तृतीया तत्पुरुष समास है और यहां वा०-'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति होती है। इस सूत्र से आत्मन् शब्द से परे तृतीया विभक्ति का पूरण-प्रत्ययान्त पञ्चम शब्द उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। 'पञ्चमः' शब्द में 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' (५।२।४९) से पञ्चन् शब्द से पूरणार्थक डट् प्रत्यय और उसे मट् आगम है।

(२) आत्मनाषष्ठः। यहां आत्मन् और षष्ठ शब्दों का पूर्ववत् तृतीया तत्पुरुष समास है। षष्ठ शब्द में 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' (५।२।५१) से षष् शब्द से पूरणार्थक डट् प्रत्यय और थुक् आगम है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

चतुर्थी-अलुक्-

(७) वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः।७।

प०वि०-वैयाकरण-आख्यायाम् ७।१ चतुर्थ्याः ६।१।

स०-वैयाकरणानाम् आख्या इति वैयाकरणाख्या, तस्याम्-वैयाकरणाख्यायाम् (षष्ठीतत्पुरुषः)। आख्या=संज्ञा इत्यर्थः।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, आत्मन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वैयाकरणाख्यायाम् आत्मनश्चतुर्थ्या उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-वैयाकरणाख्यायां विषये आत्मनः शब्दात् परस्याश्चतुर्थ्या उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-आत्मने पदमिति आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(वैयाकरणाख्यायाम्) वैयाकरणों की संज्ञा विषय में (आत्मनः) आत्मन् शब्द से परे (चतुर्थ्याः) चतुर्थी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-आत्मनेपदम्। अपने लिये प्रयुक्त होनेवाला पद। आत्मनेभाषः। अर्थ पूर्ववत्।

सिद्धि-आत्मनेपदम्। यहां आत्मन् और पद शब्दों का 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (२।१।३६) में 'चतुर्थी' इस योगविभाग से तदर्थ-अर्थ में चतुर्थी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वैयाकरणों की संज्ञा विशेष में आत्मन् शब्द से परे चतुर्थी विभक्ति का 'पद' उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-आत्मनेभाषः।

चतुर्थी-अलुक्–

(८) परस्य च ।८।

प०वि०–परस्य ६ ।१ च अव्ययपदम् ।

अनु०–अलुक्, उत्तरपदे, आत्मनः, वैयाकरणाख्यायाम्, चतुर्थ्या इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–वैयाकरणाख्यायां परस्य च चतुर्थ्या उत्तरपदेऽलुक् ।

अर्थः–वैयाकरणाख्यायां विषये परस्य च चतुर्थ्या उत्तरपदेऽलुग् भवति ।

उदा०–परस्मैपदमिति परस्मैपदम् । परस्मैभाषः ।

***आर्यभाषा** अर्थ-(वैयाकरणाख्यायाम्) वैयाकरणों की संज्ञा विषय में (परस्य) पर-शब्द की (च) भी (चतुर्थ्याः) चतुर्थी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०–परस्मैपदम्। दूसरे के लिये प्रयुक्त होनेवाला पद। परस्मैभाषः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि–परस्मैपदम्। यहां पर और पद शब्दें का पूर्ववत् चतुर्थी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वैयाकरणों की संज्ञाविशेष में 'पर' शब्द से परे चतुर्थी विभक्ति का पद उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। यहां चतुर्थी विभक्ति 'ङे' के स्थान में 'सर्वनाम्नः स्मै' (७।१।१४) से स्मै-आदेश होता है। ऐसे ही–परस्मैभाषः।

सप्तमी-अलुक्–

(९) हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।९।

प०वि०–हल्-अदन्तात् ५।१ सप्तम्याः ६।१ संज्ञायाम् ७।१।

स०–हल् च अच्च तौ हलतौ, हलतावन्ते यस्य सः–हलदन्तः, तस्मात्–हलदन्तात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०–अलुक्, उत्तरपदे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संज्ञायां हलदन्तात् सप्तम्या उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः–संज्ञायां विषये हलन्ताद् अदन्ताच्च शब्दात् परस्याः सप्तम्या उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-(हलन्तः) युधि तिष्ठतीति युधिष्ठिरः। त्वचिसारः। 'गविष्ठरः' इत्यत्र तु 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (८।३।८५) इत्यस्मादेव वचनाद् अलुग् भवति। (अदन्तः) अरण्ये तिलका इति अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषकाः। वनेकिंशुकाः। वनेहरिद्रकाः। वनेबल्वजकाः। पूर्वाह्णे-स्फोटकाः। कूपेपिशाचकाः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में (हलदन्तात्) हलन्त और अकारान्त शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-(हलन्त) युधिष्ठिरः। युध्=युद्ध में स्थिर होनेवाला, धर्मराज युधिष्ठिर। गविष्ठरः। गौ=अपनी वाणी पर स्थिर रहनेवाला। (अदन्त) अरण्येतिलकाः। अरण्य=जंगल में होनेवाले तिल। अरण्येमाषकाः। अरण्य में होनेवाले माष=उड़द। वनेकिंशुकाः। वन में होनेवाले किंशुक=ढाक। वनेहरिद्रकाः। वन में होनेवाली हरिद्रा=हल्दी। वनेबल्वजकाः। वन में होनेवाली बल्वज नामक घासविशेष। पूर्वाह्णेस्फोटकाः। पूर्वाह्ण में शब्दविशेष करनेवाले। कूपेपिशाचकाः। कूप में रहनेवाले पिशाच लोग।

सिद्धि-(१) युधिष्ठिरः। यहां युध् और स्थिर शब्दों का 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविशेष में हलन्त युध्-शब्द से परे सप्तमी-विभक्ति का स्थिर उपपद होने पर लुक् नहीं होता है। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (८।३।९५) से स्थिर के सकार को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से थकार को ठकार होता है।

(२) गविष्ठिरः। यहां गो और स्थिर शब्दों का पूर्ववत् सप्तमी तत्पुरुष समास है। गो शब्द न तो हलन्त है और न ही अकारान्त है अतः यहां 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (८।३।९५) इसी सूत्रोक्त कथन से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अरण्येतिलकाः। यहां अरण्य और तिलक शब्दों का पूर्ववत् सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविशेष में अकारान्त अरण्य शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का 'तिलक' उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-वनेकिंशुकाः आदि।

सप्तमी-अलुक्-

(१०) कारनाम्नि च प्राचां हलादौ।१०।

प०वि०-कार-नाम्नि ७।१ च अव्ययपदम्, प्राचाम् ६।३ हलादौ ७।१।

स०-वणिग्भिः कर्षकैः पशुपालैश्च राज्ञे रक्षनिबन्धनो देयो भागः कारः। कारस्य नाम इति कारनाम, तस्मिन्-कारनाम्नि (षष्ठीतत्पुरुषः)। हल् आदिर्यस्य सः-हलादिः, तस्मिन्-हलादौ (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, हलदन्तात्, सप्तम्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हलदन्तात् सप्तम्याः प्राचां कारनाम्नि हलादौ चोत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-हलन्ताद् अकारान्ताच्च शब्दात् परस्याः सप्तम्याः प्राचां देशीये-कारवाचिनि हलादौ चोत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-स्तूपे शाण इति स्तूपेशाणः। दृषदिमाषकः। हलेद्विपदिका। हलेत्रिपदिका।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हलदन्तात्) हलन्त और अकारान्त शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (प्राचाम्) प्राग्देशीय (कारनाम्नि) कारवाचक (हलादौ) हलादि (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-स्तूपेशाणः। स्तूप=स्मृति-चिह्न के निर्माण के समय देय शाण राशि। शाण=साढ़े बारह रत्ती चांदी का सिक्का। दृषदिमाषकः। महल आदि की आधारशिला पर देय माषक राशि। माषक=दो रत्ती चांदी का सिक्का। हलेद्विपदिका। हल की जोत पर देय द्विपदिका राशि। पाद=आठ रत्ती चांदी का सिक्का। हलेत्रिपदिका। हल की जोत पर देय त्रिपदिका राशि।

सिद्धि-(१) स्तूपेशाणः। यहां स्तूप और शाण शब्दों का 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अकारान्त स्तूप शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का प्राग्देशीय, कारवाची, हलादि 'शाण' उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-दृषदिमाषकः।

(२) हलेद्विपदिका। यहां हल और द्विपाद शब्दों का पूर्ववत् सप्तमी तत्पुरुष समास है। पाद शब्द से 'पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च' (५।४।१) से वुन् प्रत्यय और पाद के अन्त्य अकार का लोप होता है। 'पादः पत्' (६।४।१३०) से पाद के स्थान में पत् आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-हलेत्रिपदिका।

सप्तमी-अलुक्-

(११) मध्याद् गुरौ।११।

प०वि०-मध्यात् ५।१ गुरौ ७।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मध्यात् सप्तम्या गुरावुत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-मध्यशब्दात् परस्याः सप्तम्या गुरुशब्दे उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-मध्ये गुरुरिति मध्येगुरुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मध्यात्) मध्य शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (गुरौ) गुरु (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-मध्येगुरुः। मध्य में गुरु जैसे छन्दःशास्त्र का जगण ।ऽ। (करोति)।

सिद्धि-मध्येगुरुः। यहां मध्य और गुरु शब्दों का 'संज्ञायाम्' (२।१।४४) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से मध्य शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का गुरु उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है।

सप्तमी-अलुक्-

(१२) अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे।१२।

प०वि०-अमूर्ध-मस्तकात् ५।१ स्वाङ्गात् ५।१ अकामे ७।१।

स०-मूर्धा च मस्तकं च एतयोः समाहारः-मूर्धमस्तकम्, न मूर्धमस्तकमिति अमूर्धमस्तकम्, तस्मात्-अमूर्धमस्तकात् (समाहारद्वन्द्व-गर्भितनञ्तत्पुरुषः)। स्वस्य अङ्गमिति स्वाङ्गम्, तस्मात्-स्वाङ्गात् (षष्ठीतत्पुरुषः)। न काम इति अकामः, तस्मिन्-अकामे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, हलदन्तात्, सप्तम्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गात् सप्तम्या अकामे उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-मूर्धमस्तकवर्जितात् स्वाङ्गवाचिनः शब्दात् परस्याः सप्तम्या कामवर्जिते उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-कण्ठे स्थितः कालो यस्य सः-कण्ठेकालः। उरसिलोमा। उदरेमणिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अमूर्धमस्तकात्) मूर्धा और मस्तक शब्दों से भिन्न (स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (अकामे) काम शब्द से भिन्न (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-कण्ठेकालः। वह पुरुष कि कण्ठ में काल स्थित है, मरणासन्न पुरुष। उरसिलोमा। वह पुरुष कि जिसके उरःस्थल (छाती) पर रोम स्थित है। उदरेमणिः। वह पुरुष कि जिसके उदर में मणि स्थित है।

सिद्धि-कण्ठेकालः। यहां कण्ठ और काल शब्दों का वा०-'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से स्वाङ्गवाची कण्ठ शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का काल उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-उरसिलोमा, उदरेमणिः।

सप्तमी-अलुग्विकल्पः–

(१३) बन्धे च विभाषा।१३।

प०वि०-बन्धे ७।१ च अव्ययपदम्, विभाषा १।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, हलदन्तात्, सप्तम्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हलदन्तात् सप्तम्या बन्धे चोत्तरपदे विभाषाऽलुक्।

अर्थः-हलदन्तात् अदन्ताच्च परस्याः सप्तम्या बन्धे चोत्तरपदे विकल्पेनाऽलुग् भवति।

उदा०-हस्ते बन्ध इति हस्तबन्धः, हस्तेबन्धः। चक्रे बन्ध इति चक्रबन्धः, चक्रेबन्धः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(हलदन्तात्) हलन्त और अकारान्त शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (बन्धे) बन्ध शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (विभाषा) विकल्प से (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-हस्तबन्धः, हस्तेबन्धः। हाथ में बन्ध। चक्रबन्धः, चक्रेबन्धः। चक्र में बन्ध।

सिद्धि-हस्तबन्धः। यहां हस्त और बन्ध शब्दों को 'सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च' (२।१।४१) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से अकारान्त हस्त शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का बन्ध उत्तरपद होने पर विकल्प पक्ष में लुक् होत है और पक्ष में सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता है-हस्तेबन्धः। ऐसे ही-चक्रबन्धः, चक्रेबन्धः।

बहुलं सप्तमी-अलुक्–

(१४) तत्पुरुषे कृति बहुलम्।१४।

प०वि०-तत्पुरुषे ७।१ कृति ७।१ बहुलम् १।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सप्तम्या कृति उत्तरपदे बहुलम् अलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सप्तम्याः कृदन्ते उत्तरपदे बहुलम् अलुग् भवति।

उदा०-स्तम्बे रमते इति स्तम्बेरमः। कर्णे जपतीति कर्णेजपः। बहुलवचनान्न च भवति-मद्रेषु चरतीति मद्रचरः। कुरुषु चरतीति कुरुचरः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (कृति) कृदन्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (बहुलम्) प्रायशः (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-स्तम्बेरमः। वृक्षों की शाखा अथवा घास में रमण करनेवाला हाथी। हाथी घास नामक एक प्रसिद्ध घास है। कर्णेजपः। कान में कुछ कहनेवाला-चुगलखोर। बहुलवचन से कहीं सप्तमी विभक्ति का अलुक् नहीं होता है-मद्रचरः। मद्र देश में घूमनेवाला पुरुष। कुरुचरः। कुरु देश में घूमनेवाला पुरुष।

सिद्धि-स्तम्बेरमः। यहां स्तम्ब और रम शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' (३।२।१३) से स्तम्ब उपपद होने पर 'रमु क्रीडायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से कृत्संज्ञक 'अच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से इस उपपद तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का कृदन्त 'रम' उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-कर्णेजपः।

बहुलं सप्तमी-अलुक्-

(१५) प्रावृट्शरत्कालदिवां जे।१५।

प०वि०-प्रावृट्-शरत्-काल-दिवाम् ६।३ जे ७।१।

स०-प्रावृट् च शरच्च कालश्च द्यौश्च ताः-प्रावृट्शरत्कालदिवः, तासाम्-प्रावृट्शरत्कालदिवाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्रावृट्शरत्कालदिवां सप्तम्या जे उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे प्रावृट्शरत्कालदिवां शब्दानां सप्तम्या ज-शब्दे उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-(प्रावृट्) प्रावृषि जात इति प्रावृषिजः। (शरत्) शरदिजः। (कालः) कालेजः। (दिव्) दिविजः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (प्रावृट्शरत्कालदिवाम्) प्रावृट्, शरत्, काल और दिव् सम्बन्धी (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (जे) ज-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-(प्रावृट्) प्रावृषिजः। वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुआ। (शरत्) शरदिजः। शरद् ऋतु में उत्पन्न हुआ। (काल) कालेजः। समय पर उत्पन्न हुआ। (दिव्) दिविजः। द्यौ (द्युलोक) में उत्पन्न हुआ।

सिद्धि-प्रावृषिजः। यहां प्रावृट् और ज-शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। ज-शब्द में 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) से 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से भूतकाल में 'ड' प्रत्यय है। वा०- 'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से जन् के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। इस सूत्र से प्रावृट् की सप्तमी विभक्ति का ज-शब्द उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। ऐसे ही-शरदिजः आदि।

सप्तमी-अलुग्विकल्पः-

(१६) विभाषा वर्षक्षरशरवरात्।१६।

प०वि०-विभाषा १।१ वर्ष-क्षर-शर-वरात् ५।१।

स०-वर्षश्च क्षरश्च शरश्च वरश्च एतेषां समाहारः-वर्षक्षरशरवरम्, तस्मात्-वर्षक्षरशरवरात् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे, जे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे वर्षक्षरशरवरात् सप्तम्या जे उत्तरपदे विभाषाऽलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे वर्षक्षरशरवरात् परस्याः सप्तम्या ज-शब्दे उत्तरपदे विकल्पेनालुग् भवति।

उदा०-(वर्षः) वर्षे जात इति वर्षेजः, वर्षजः। (क्षरः) क्षरेजः, क्षरजः। (शरः) शरेजः, शरजः। (वरः) वरेजः, वरजः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (वर्षक्षरशरवरात्) वर्ष, क्षर, शर और वर शब्दों से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (जे) ज-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-(वर्ष) वर्षेजः, वर्षजः। एक वर्ष में उत्पन्न हुआ। (क्षर) क्षरेजः, क्षरजः। प्रवाह में उत्पन्न हुआ। (शर) शरेजः, शरजः। बाण में उत्पन्न हुआ। (वर) वरेजः, वरजः। वर (श्रेष्ठ) में उत्पन्न हुआ।

सिद्धि-वर्षेजः। यहां वर्ष और ज-शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इस उपपद तत्पुरुष समस में वर्ष-शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का ज-शब्द उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। विकल्प पक्ष में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से सप्तमी विभक्ति का लुक् होता है-वर्षजः। ऐसे ही-क्षरेजः, क्षरजः आदि।

सप्तमी-अलुग्विकल्पः—

(१७) घकालतनेषु कालनाम्नः।१७।

प०वि०-घ-काल-तनेषु ७।३ कालनाम्नः ५।१।

स०-घश्च कालश्च तनश्च ते-घकालतनाः, तेषु-घकालतनेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कालस्य नाम इति कालनाम, तस्मात्-कालनाम्नः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कालनाम्नः सप्तम्या घकालतनेषु उत्तरपदेषु विभाषाऽलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कालवाचिनः शब्दात् परस्याः सप्तम्या घ-संज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तन-प्रत्यये चोत्तरपदे विकल्पेनालुग् भवति।

उदा०-**(घः)** पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे। पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। **(कालः)** पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। **(तनः)** पूर्वाह्णेतने। पूर्वाह्णतने।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कालनाम्नः) कालवाची शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (घकालतनेषु) घ-संज्ञक प्रत्यय, काल-शब्द और तन-प्रत्यय (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (अलुक्) लुक् नहीं होता है।*

उदा०-(घ) पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे। दो में से अधिक पूर्वाह्ण में। पूर्वाह्ण=दिन का पूर्वभाग। पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। बहुत में अधिक पूर्वाह्ण में। (काल) पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। पूर्वाह्ण समय में। (तन) पूर्वाह्णेतने। पूर्वाह्णतने। पूर्वाह्ण में होनेवाले कर्म में।

सिद्धि-(१) पूर्वाह्णेतरे। यहां सप्तम्यन्त 'पूर्वाह्ण' शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) से घ-संज्ञक 'तरप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से कालवाची पूर्वाह्ण शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का घ-संज्ञक 'तरप्' प्रत्यय परे होने पर लुक् नहीं होता है।

'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) से तरप्-प्रत्यय की घ-संज्ञा है। विकल्प पक्ष में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से सप्तमी विभक्ति (ङि) का लुक् हो जाता है- पूर्वाह्णतरे।

(२) पूर्वाह्णेतमे। यहां सप्तम्यन्त पूर्वाह्ण शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) से घ-संज्ञक 'तमप्' प्रत्यय है। 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) से 'तमप्' प्रत्यय की घ-संज्ञा है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) पूर्वाह्णेकाले। यहां पूर्वाह्ण और काल शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। सप्तमी विभक्ति के अलुक् प्रकरण में सप्तम्यन्त रूप दर्शाया गया है। 'तत्पुरुषे' पद की अनुवृत्ति का सम्भवबल से इसी के साथ सम्बन्ध है क्योंकि 'घ' और 'तन' तो प्रत्यय है अतः वहां तत्पुरुष सम्भव नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) पूर्वाह्णेतने। यहां पूर्वाह्ण शब्द से 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' (४।३।२४) से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय और उसे 'तुट्' आगम है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' के स्थान मे अन-आदेश होता है। इस प्रकार तन-प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से कालवाची पूर्वाह्ण शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

सप्तमी-अलुग्विकल्पः—

(१८) शयवासवासिष्वकालात्।१८।

प०वि०-शय-वास-वासिषु ७।३ अकालात् ५।१।

स०-शयश्च वासश्च वासी च ते-शयवासवासिनः, तेषु-शयवास-वासिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न काल इति अकालः, तस्मात्-अकालात् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषेऽकालात् शयवासवासिषु उत्तरपदेषु विभाषाऽलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासेऽकालवाचिनः शब्दात् परस्याः सप्तम्याः शयवासवासिषु उत्तरपदेषु विकल्पेनालुग् भवति।

उदा०-(**शयः**) खे शेते इति खेशयः, खशयः। (**वासः**) ग्रामे वास इति ग्रामेवासः, ग्रामवासः। (**वासी**) ग्रामे वस्तुं शीलं यस्य सः-ग्रामेवासी, ग्रामवासी। अन्तेवासी।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (अकालात्) कालवाची से भिन्न शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (शयवासवासिषु) शय, वास, और वासी (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (अलुक्) लुक् नहीं होता है।

उदा०-(शय) __खेशयः, खशयः।__ आकाश में शयन करनेवाली वृक्ष की शाखा। __(वासः) ग्रामेवासः, ग्रामवासः।__ ग्राम में रहना। __(वासी) ग्रामेवासी, ग्रामवासी।__ ग्राम में रहनेवाला। अन्तेवासी। शिष्य।

सिद्धि-(१) __खेशयः।__ यहां ख और शय शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'शयः' शब्द में 'शीङ् स्वप्ने' (अदा०आ०) धातु से 'अधिकरणे शेतेः' (३।२।१५) से 'अच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अकालवाची, ख-शब्द से परे सप्तमी विभक्ति का 'शय' उत्तरपद होने पर लुक् नहीं होता है। विकल्प पक्ष में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से सप्तमी विभक्ति का लुक् होता है-__खशयः।__

(२) __ग्रामेवासः।__ यहां ग्राम और वास शब्दों का 'सप्तमी शौण्डैः' (२।१।४०) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) __ग्रामेवासी।__ यहां और वासी शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। वासी शब्द में 'वस निवासे' (भ्वा०प०) धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से 'णिनि' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-अन्तेवासी आदि।

अलुक्-प्रतिषेधः-

(१६) नेन्सिद्धबध्नातिषु च।१६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, इन्-सिद्ध-बध्नातिषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०-इन् च सिद्धश्च बध्नातिश्च ते-इन्सिद्धबध्नातयः, तेषु-इन्सिद्धबध्नातिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे सप्तम्या इन्सिद्धबध्नातिषु चोत्तरपदेऽलुङ् न।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे सप्तम्या इन्प्रत्ययान्ते सिद्धशब्दे बध्नातौ चोत्तरपदेऽलुङ् न भवति।

उदा०-(इन्) स्थण्डिले शयितुं व्रतं यस्य सः-स्थण्डिलशायी, स्थण्डिलवर्ती। **(सिद्धः)** सांकाश्ये सिद्ध इति सांकाश्यसिद्धः। काम्पिल्यसिद्धः। **(बध्नातिः)** चक्रे बन्ध इति चक्रबन्धः, चारबन्धः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (इन्सिद्धबध्नातिषु) इन्-प्रत्ययान्त, सिद्ध और बध्नाति धातु से निष्पन्न शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (अलुक्) अलुक् (न) नहीं होता है।*

उदा०-(इन्) स्थण्डिलशायी। स्थण्डिल=चबूतरे पर शयन का व्रती। स्थण्डिलवर्ती। स्थण्डिल पर रहने का व्रती। (सिद्ध) सांकाश्यसिद्धः। सांकाश्य नगर में सिद्ध=बना हुआ। काम्पिल्यसिद्धः। काम्पिल्य नगर में सिद्ध हुआ। (बध्नाति) चक्रबन्धः। चक्र में बन्द। चारबन्धः। चार=बन्दीगृह में बन्द।

सिद्धि-(१) स्थण्डिलशायी। यहां स्थण्डिल और शायिन् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में स्थण्डिल शब्द से परे इन्-अन्त शायिन् उत्तरपद होने पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् नहीं होता है। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) से अलुक् प्राप्त था, उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। स्थण्डिलशायी में 'व्रते' (३।२।८०) से 'णिनि' प्रत्यय है। ऐसे ही-स्थण्डिलव्रती।

(२) सांकाश्यसिद्धः। यहां सांकाश्य और सिद्ध शब्दों का 'सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च' (२।१।४१) से सप्तमी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में सिद्ध शब्द उत्तरपद होने पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् नहीं होता है। पूर्ववत् लुक् प्राप्त था। ऐसे ही-चक्रबन्धः, चारबन्धः।

सूत्र में बध्नाति-शब्द के पाठ से काशिका में 'बद्धः' शब्द का भी ग्रहण किया है-चक्रबद्धः, चारबद्धः।

अलुक्-प्रतिषेधः-

(२०) स्थे च भाषायाम्।२०।

प०वि०-स्थे ७।१ च अव्ययपदम्, भाषायाम् ७।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, सप्तम्याः, तत्पुरुषे, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाषायां तत्पुरुषे सप्तम्याः स्थे चोत्तरपदेऽलुङ् न।

अर्थः-भाषायां विषये तत्पुरुषे समासे सप्तम्याः स्थ-शब्दे चोत्तरपदेऽलुङ् न भवति।

उदा०-समे तिष्ठतीति समस्थः। विषमस्थः। कूटस्थः। पर्वतस्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भाषायाम्) लौकिक भाषा में तथा (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (स्थे) स्थ-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (अलुक्) अलुक् (न) नहीं होता है।*

उदा०-समस्थः। हानि-लाभ आदि में सम रहनेवाला पुरुष। विषमस्थः। हानि-लाभ आदि में विषम रहनेवाला पुरुष। कूटस्थः। स्थिर रहनेवाला। पर्वतस्थः। पर्वत पर रहनेवाला।

सिद्धि-समस्थः। यहां सम और स्थ शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपद तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से भाषा में तथा तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का 'स्थ' शब्द उत्तरपद होने पर अलुक् नहीं होता है। 'समस्थः' में सम उपपद 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से 'सुपि स्थः' (३।२।४) से 'क' प्रत्यय है। ऐसे ही-विषमस्थः आदि।

षष्ठी-अलुक्–

(२१) षष्ठ्या आक्रोशे।२१।

प०वि०-षष्ठ्याः ६।१ आक्रोशे ७।१।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे षष्ठ्या उत्तरपदेऽलुक्, आक्रोशे।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे षष्ठ्या उत्तरपदेऽलुग् भवति, आक्रोशे गम्यमाने।

उदा०-चौरस्य कुलमिति-चौरस्यकुलम्। वृषलस्यकुलम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (षष्ठ्याः) षष्ठी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) लुक् नहीं होता है (आक्रोशे) यदि वहां आक्रोश=भर्त्सना अर्थ प्रकट हो।*

उदा०-चौरस्यकुलम्। यह चौर का कुल है। वृषलस्यकुलम्। यह नीच का कुल है, ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है।

सिद्धि-चौरस्यकुलम्। यहां चौर और कुल शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में तथा आक्रोश (भर्त्सना) अर्थ की प्रतीति में षष्ठीविभक्ति का कुल उत्तरपद होने पर अलुक् होता है। ऐसे ही-वृषलस्यकुलम्।

षष्ठी-अलुग्विकल्पः–

(२२) पुत्रेऽन्यतरस्याम्।२२।।

प०वि०-पुत्रे ७।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, षष्ठ्याः, आक्रोशे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे षष्ठ्याः पुत्रे उत्तरपदेऽन्यतरस्याम् अलुक्, आक्रोशे।

अर्थ:-तत्पुरुषे समासे षष्ठ्या: पुत्र-शब्दे उत्तरपदे विकल्पेनाऽलुग् भवति, आक्रोशे गम्यमाने।

उदा०-दास्या: पुत्र इति दास्या:पुत्र:, दासीपुत्र:। वृषल्या:पुत्र:, वृषलीपुत्र:।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (षष्ठ्या:) षष्ठीविभक्ति का (पुत्रे) पुत्र-शब्द उत्तरपद होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अलुक्) अलुक् होता है (आक्रोशे) यदि वहां आक्रोश=भर्त्सना अर्थ प्रकट हो।*

उदा०-दास्या:पुत्र:, दासीपुत्र:। दासी का पुत्र। वृषल्या:पुत्र:, वृषलीपुत्र:। वृषली का पुत्र।

सिद्धि-दास्या:पुत्र:। यहां दासी और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में तथा आक्रोश अर्थ की प्रतीति में पुत्र-शब्द उत्तरपद होने पर षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है। विकल्प पक्ष में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' (२।४।७१) से षष्ठीविभक्ति का लुक् होता है-दासीपुत्र:। ऐसे ही-वृषल्या:पुत्र:, वृषलीपुत्र:।

षष्ठी-अलुक्-

(२३) ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य:।२३।

प०वि०-ऋत: ५।१ विद्या-योनिसम्बन्धेभ्य: ५।३।

स०-विद्या च योनिश्च ते विद्यायोनी, विद्यायोनिभ्यां कृत: सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धा:, तेभ्य:-विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य: (इतरेतरयोगद्वन्द्व-गर्भितबहुव्रीहि:)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तत्पुरुषे, षष्ठ्या इति चानुवर्तते।

अन्वय:-तत्पुरुषे ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य: षष्ठ्या उत्तरपदेऽलुक्।

अर्थ:-तत्पुरुषे समासे ऋकारान्तेभ्यो विद्यासम्बन्धवाचिभ्यो योनिसम्बन्धवाचिभ्यश्च शब्देभ्य: परस्या: षष्ठ्या उत्तरपदेऽलुग् भवति।

उदा०-**(विद्यासम्बन्ध:)** होतुरन्तेवासीति-होतुरन्तेवासी। होतु:पुत्र:। **(योनिसम्बन्ध:)** पितुरन्तेवासीति-पितुरन्तेवासी। पितु:पुत्र:।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (ऋत:) ऋकारान्त (विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्य:) विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची शब्दों से परे (षष्ठ्या:) षष्ठी विभक्ति का (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अलुक्) अलुक् होता है।*

उदा०-(विद्यासम्बन्ध) होतुरन्तेवासी। होता नामक ऋत्विक् का शिष्य। होतुःपुत्रः। होता नामक ऋत्विक् का पुत्र। (योनिसम्बन्ध) पितुरन्तेवासी। पिता का शिष्य। पितुःपुत्रः। पिता का पुत्र।

सिद्धि-होतुरन्तेवासी। यहां होतृ और अन्तेवासी शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में ऋकारान्त विद्या-सम्बन्धवाची होतृ-शब्द से परे षष्ठीविभक्ति का अन्तेवासी उत्तरपद होने पर अलुक् होता है।

'होतुः' शब्द में-होतृ+ङस्। होतृ+अस्। हो त् उ र्+स्। होतुर्+०। होतुः। षष्ठीविभक्ति का ङस् प्रत्यय, 'ऋत उत्' (६।१।११) से ऋकार और अकार के स्थान में उकार आदेश, उसे 'उरण् रपरः' (१।१।५१) से रपरत्व और 'रात्सस्य' (८।२।२४) से सकार का लोप होता है। ऐसे ही-होतुःपुत्रः। पितुरन्तेवासी, पितुःपुत्रः।

षष्ठी-अलुग्विकल्पः-

(२४) विभाषा स्वसृपत्योः।२४।

प०वि०-विभाषा १।१ स्वसृ-पत्योः ७।२।

स०-स्वसा च पतिश्च तौ-स्वसृपती, तयोः-स्वसृपत्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अलुक्, उत्तरपदे, तत्पुरुषे, षष्ठ्याः, ऋतः, विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः षष्ठ्याः स्वसृपत्योर्विभाषाऽलुक्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे ऋकारान्तेभ्यो विद्यासम्बन्धवाचिभ्यो योनिसम्बन्धवाचिभ्यश्च शब्देभ्यः परस्याः षष्ठ्याः स्वसृपत्योः शब्दयोरुत्तरपदयोर्विकल्पेनाऽलुग् भवति।

अत्र स्वसृपत्योरुत्तरपदयोर्योनिसम्बन्ध एव सम्भवति, न विद्यासम्बन्धः।

उदा०-(स्वसा) मातुः स्वसा इति मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा। **(पतिः)** दुहितुः पतिरिति दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः। ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (ऋतः) ऋकारान्त (विद्यायोनि-सम्बन्धेभ्यः) विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची शब्दों से परे (षष्ठ्याः) षष्ठीविभक्ति का (स्वसृपत्योः) स्वसा और पति शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (अलुक्) अलुक् होता है।*

उदा०-(स्वसा) मातुःष्वसा, मातृस्वसा, मातृष्वसा। माता की बहिन=मासी। (पति) दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः। पुत्री का पति=दामाद। ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः। नणन्द का पति=नणदोइया।

यहां स्वसृ और पति उत्तरपद के कथन से योनिसम्बन्ध का सम्भव है, विद्यासम्बन्ध का नहीं। एकपद के बल से 'विद्या' पद की भी अनुवृत्ति दिखाई गई है।

सिद्धि-मातुःस्वसा। यहां मातृ और स्वसृ शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से योनिसम्बन्धवाची ऋकारान्त मातृ-शब्द से परे षष्ठीविभक्ति का स्वसृ शब्द उत्तरपद होने पर अलुक् होता है। विकल्प पक्ष में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से षष्ठीविभक्ति क लुक् होता है-मातृस्वसा। 'मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम्' (८।३।८५) से विकल्प से षत्व भी होता है-मातुःष्वसा। ऐसे ही-पितुःस्वसा आदि।

।। इति विभक्ति-अलुक्प्रकरणम्।।

आदेश-प्रकरणम्

आनङ्-आदेशः-

(१) आनङ् ऋतो द्वन्द्वे।२५।

प०वि०-आनङ् १।१ ऋतः ६।१ द्वन्द्वे ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धानां द्वन्द्वे उत्तरपदे पूर्वपदस्य आनङ्।

अर्थः-ऋकारान्तानां विद्यासम्बन्धवाचिनां योनिसम्बन्धवाचिनां च शब्दानां द्वन्द्वे समासे उत्तरपदे पूर्वपदस्यानङ् आदेशो भवति।

उदा०-(विद्यासम्बन्धः) होता च पोता च तौ होतापोतारौ। नेष्टोद्गातारौ। प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ। **(योनिसम्बन्धः)** माता च पिता च तौ मातापितरौ। याताननान्दरौ।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(ऋतः) ऋकारान्त (विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः) विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची शब्दों के (द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को (आनङ्) आनङ् आदेश होता है।*

*उदा०-(विद्यासम्बन्ध) **होतापोतारौ।** होता और पोता। होता=ऋग्वेदज्ञ ऋत्विक्। पोता=चतुर्वेदज्ञ ब्रह्मा। **नेष्टोद्गातारौ।** नेष्टा और उद्गाता। नेष्टा=सोमयाग के १६ याज्ञिक ऋत्विक्। उद्गाता=सामवेदज्ञ विद्वान्। **प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ।** प्रशास्ता और प्रतिहर्ता। प्रशास्ता=होता ऋत्विक् का प्रधान सहायक इसे मैत्रावरुण भी कहते हैं। प्रतिहर्ता=१६ प्रकार के ऋत्विजों में से एक का नाम। (योनिसम्बन्ध) **मातापितरौ।** माता और पिता। **याताननान्दरौ।** याता और ननान्दा। याता=दोराणी-जेठानी। ननान्दा=नणन्द।*

***सिद्धि-होतापोतारौ।** यहां होतृ और पोतृ शब्दों का **'चार्थे द्वन्द्वः'** (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से ऋकारान्त, विद्यासम्बन्धवाची होतृ और पोतृ शब्दों के इस द्वन्द्वसमासे पोतृ-शब्द उत्तरपद होने पर पूर्वपद के होतृ के ऋकार के स्थान में आनङ् आदेश होता है। आनङ् आदेश के ङित् होने से यह **'ङिच्च'** (१।१।५३) से अन्त्य अल् (ऋ) के स्थान में होता है। 'आनङ्' आदेश में नकार अनुबन्ध के वचन से **'उरण् रपरः'** (१।१।५१) से रपरत्व नहीं होता है, क्योंकि ऋकार के स्थान में विधीयमान अण् को रपरत्व होता है, अण् और अनण् को नहीं है। यहां ऋकार के स्थान में अकार और नकार आदेश अनण् है।*

*होतृ+सु+पोतृ+सु। होत् आनङ्+सु+पोतृ+सु। होत् आन्+सु+पोतृ+सु। होता०+पोतृ। होतापोतृ+औ। होतापोत् अर्+औ। होतापोत् आर्+औ। होतापोतारौ। यहां **'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'** (८।२।७) से नकार का लोप, **'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः'** (७।३।११०) से गुण और **'अप्तृन्तृच्०'** (६।४।११) से दीर्घ होता है। ऐसे ही-नेष्टोद्गातारौ आदि।*

आनङ्-आदेशः-

(२) देवताद्वन्द्वे च।२६।

प०वि०-देवता-द्वन्द्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-देवतानां द्वन्द्व इति देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्-देवताद्वन्द्वे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, आनङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-देवताद्वन्द्वे चोत्तरपदे पूर्वपदस्याऽऽनङ्।

अर्थः-देवतावाचिनां शब्दानां च द्वन्द्वे समासे उत्तरपदे पूर्वपदस्याऽऽनङ् आदेशो भवति।

उदा०-इन्द्रस्य वरुणश्च तौ-इन्द्रावरुणौ। इन्द्रासोमौ। इन्द्राबृहस्पती।

आर्यभाषा: *अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (च) भी (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को (आनङ्) आनङ् आदेश होता है।*

*उदा०-**इन्द्रावरुणौ।** इन्द्र और वरुण देवता। **इन्द्रासोमौ।** इन्द्र और सोम देवता। **इन्द्राबृहस्पती।** इन्द्र और बृहस्पति देवता।*

*सिद्धि-**इन्द्रावरुणौ।** यहां इन्द्र और वरुण शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में वरुण उत्तरपद होने पर इन्द्र पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है। शेष कार्य 'होतापोतारौ' (६।३।२५) के समान है। ऐसे ही-इन्द्रासोमौ आदि।*

ईद्-आदेशः-

(३) ईदग्नेः सोमवरुणयोः।२७।

प०वि०-ईत् १।१ अग्नेः ६।१ सोम-वरुणयोः ७।२।

स०-सोमश्च वरुणश्च तौ सोमवरुणौ, तयोः-सोमवरुणयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-देवताद्वन्द्वे सोमवरुणयोरुत्तरपदयोरग्नेरीत्।

अर्थः-देवतावाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे सोमवरुणयोः शब्दयोरुत्तरपदयोरग्नेः पूर्वपदस्य ईद्-आदेशो भवति।

उदा०-(**सोमः**) अग्निश्च सोमश्च तौ-अग्नीषोमौ। (**वरुणः**) अग्निश्च वरुणश्च तौ-अग्नीवरुणौ।

आर्यभाषा: *अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (सोमवरुणयोः) सोम और वरुण शब्द उत्तरपद होने पर (अग्नेः) अग्नि पूर्वपद को (ईत्) ईकार आदेश होता है।*

*उदा०-(सोम) **अग्नीषोमौ।** अग्नि और सोम देवता। (वरुण) **अग्नीवरुणौ।** अग्नि और वरुण देवता।*

*सिद्धि-**अग्नीषोमौ।** यहां अग्नि और सोम शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस द्वन्द्वसमास में सोम शब्द उत्तरपद होने पर अग्नि पूर्वपद को ईकार अन्त्य आदेश होता है। 'अग्नेः स्तुतस्तोमसोमाः' (८।३।८२) से षत्व होता है। ऐसे ही-**अग्नीवरुणौ।***

इद्-आदेशः–

(४) इद् वृद्धौ।२८।

प०वि०–इत् १।१ वृद्धौ ७।१।

अनु०–उत्तरपदे, देवताद्वन्द्वे, अग्नेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–देवताद्वन्द्वे वृद्धावुत्तरपदेऽग्नेरित्।

अर्थः–देवतावाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे कृतवृद्धौ शब्दे उत्तरपदेऽग्नेः पूर्वपदस्य इदादेशो भवति।

उदा०–आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत (का०सं० १३।६)। आग्निमारुतं कर्म क्रियते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (वृद्धौ) वृद्धि किया हुआ शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अग्नेः) अग्नि पूर्वपद को (इत्) इकार आदेश होता है।*

उदा०–आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत (का०सं० १३।६)। आग्निमारुतं कर्म क्रियते।

सिद्धि–आग्निवारुणी। यहां प्रथम अग्नि और वरुण शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। तत्पश्चात् 'अग्नीवरुण' शब्द से 'साऽस्य देवता' (४।२।२३) से देवता-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और 'देवताद्वन्द्वे च' (७।३।२१) से उभयपद-वृद्धि होकर 'आग्नीवारुणम्' शब्द बनता है। इस सूत्र से इस द्वन्द्वसमास में वृद्धिमान् वारुण-शब्द उत्तरपद होने पर आग्नी शब्द के ईकार को इकार आदेश होता है। 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः' (६।२।२६) से ईकार आदेश प्राप्त था, उसका यह अपवाद है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से 'ङीप्' प्रत्यय होता है–आग्निवारुणी। ऐसे ही–आग्निमारुतम्।

द्यावा-आदेशः–

(५) दिवो द्यावा।२९।

प०वि०–दिवः ६।१ द्यावा १।१।

अनु०–उत्तरपदे, देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे दिवो द्यावा।

अर्थः–देवतावाचिनां शब्दनां द्वन्द्वे समासे उत्तरपदे दिवः स्थाने द्यावाऽऽदेशो भवति।

उदा०-द्यौश्च क्षामा च ते-द्यावाक्षामे। द्यावाक्षामा (ऋ० ८।१८।१६)। द्यौश्च भूमिश्च ते-द्यावाभूमी (ऋ० १०।६५।४)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (दिवः) दिव्-शब्द के स्थान में (द्यावा) द्यावा आदेश होता है।*

उदा०-द्यावाक्षामा (ऋ० ८।१८।१६) द्युलोक और पृथिवीलोक देवता। द्यावाभूमी (ऋ० १०।६५।४) द्युलोक और भूमि लोक देवता।

सिद्धि-द्यावाक्षामे। यहां दिव् और क्षामा शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस देवतावाची द्वन्द्वसमास में दिव् के स्थान में द्यावा आदेश होता है। ऐसे ही-द्यावाभूमी।

दिवस्-आदेशः–

(६) दिवसश्च पृथिव्याम्।३०।

प०वि०-दिवसः १।१ च अव्ययपदम्, पृथिव्याम् ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, देवताद्वन्द्वे, दिवः द्यावा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-देवताद्वन्द्वे पृथिव्याम् उत्तरपदे दिवो दिवसो द्यावा च।

अर्थः-देवतावाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे पृथिव्याम् उत्तरपदे दिवः स्थाने दिवसो द्यावा चाऽऽदेशो भवति।

उदा०-(दिवसः) द्यौश्च पृथिवी च ते-दिवस्पृथिव्यौ। (द्यावा) द्यावापृथिव्यौ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (पृथिव्याम्) पृथिवी-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (दिवः) दिव्-शब्द के स्थान में (दिवसः) दिवस् (च) और (द्यावा) द्यावा आदेश होते हैं।*

उदा०-(दिवस्) दिवस्पृथिव्यौ। द्यौ और पृथिवी देवता। (द्यावा) द्यावापृथिव्यौ। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-दिवस्पृथिव्यौ। यहां दिव् और पृथिवी शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस देवतावाची द्वन्द्वसमास में दिव् के स्थान में पृथिवी-शब्द उत्तरपद होने पर दिवस्-आदेश होता है। ऐसे ही द्वितीय पक्ष में-द्यावापृथिव्यौ।

उषासा-आदेशः–

(७) उषासोषसः।३१।

प०वि०-उषासा १।१ उषसः ६।१।

अनु०-उत्तरपदे, देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे उषस उषासा।

अर्थः-देवतावाचिनां शब्दानां द्वन्द्वे समासे उत्तरपदे उषसः स्थाने उषासाऽऽदेशो भवति।

उदा०-उषाश्च सूर्यश्च एतयोः समाहारः-उषासासूर्यम्। उषाश्च नक्तं च ते-उषासानक्ते। उषासानक्ता (ऋ० १।१२२।२)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(देवताद्वन्द्वे) देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (उषसः) उषस् के स्थान में (उषासा) उषासा आदेश होता है।*

*उदा०-**उषासासूर्यम्**। उषा और सूर्य देवता। **उषासानक्ता** (ऋ० १।१२२।२)। उषा और रात्रि देवता।*

*सिद्धि-**उषासासूर्यम्**। यहां उषस् और सूर्य शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस देवतावाची द्वन्द्वसमास में सूर्य उत्तरपद परे होने पर उषस् के स्थान में उषासा आदेश होता है। ऐसे ही-**उषासानक्ता**। यहां 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) से सुप्=औ के स्थान में आकार आदेश विशेष है।*

निपातनम्-

(८) मातरपितरावुदीचाम्।३२।

प०वि०-मातर-पितरौ १।२ उदीचाम् ६।३।

स०-माता च पिता च तौ-मातरपितरौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-उदीचां मातरपितरौ।

अर्थः-उदीचामाचार्याणां मतेन मातरपितराविति शब्दो निपात्यते।

अत्र मातृ-शब्दस्य उत्तरपदेऽरङ्-आदेशो निपात्यते।

उदा०-माता च पिता च तौ-मातरपितरौ।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(उदीचाम्) उत्तर भारतीय आचार्यों के मत में (मातरपितरौ) मातरपितरौ यह शब्द निपातित है अर्थात् यहां मातृ शब्द को उत्तरपद परे होने पर अरङ् आदेश निपातित है।*

*उदा०-**मातरपितरौ**। माता और पिता देवता।*

*सिद्धि-**मातरपितरौ**। यहां मातृ और पितृ शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से इस देवतावाची द्वन्द्वसमास में मातृ-शब्द को पितृ-शब्द उत्तरपद होने पर उत्तर भारतीय आचार्यों के मत में अरङ्-आदेश निपातित है। आदेश के ङित् होने से यह 'ङिच्च' (१।१।५३) से मातृ-शब्द के अन्त्य ऋकार के स्थान में होता है।*

निपातनम्–

(६) पितरामातरा च छन्दसि।३३।

प०वि०–पितरा-मातरा १।२ च अव्ययपदम्, छन्दसि ७।१।

स०–पिता च माता च ते-पितरामातरौ (पितरामतरा)।

अनु०–छन्दसि पितरामातरा च।

अर्थः–छन्दसि विषये पितरामातरा च शब्दो निपात्यते।

अत्र पूर्वपदस्य पितृ-शब्दस्य उत्तरपदे अराङ् आदेशो निपात्यते।

उदा०–पिता च माता च ते-पितरामातरौ। छन्दसि-पितरामातरा। आ मा गन्तां पितरामातरा च (यजु० ९।१९)

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (पितरामातरा) पितरामातरा शब्द (च) भी निपातित है।*

यहां पितृ पूर्वपद को उत्तरपद परे होने पर अराङ् आदेश निपातित है।

उदा०–पितरामातरौ। पिता और माता देवता।

सिद्धि-पितरामातरा। यहां पितृ और मातृ शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से देवतावाची द्वन्द्वसमास में पितृ पूर्वपद को मातृ उत्तरपद परे होने पर वेदविषय में अराङ् आदेश निपातित है। आदेश के ङित् होने से यह 'ङिच्च' (१।१।५३) से पितृ शब्द के अन्त्य ऋकार के स्थान में होता है। 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) से सुप्='औ' प्रत्यय के स्थान में 'आकार' आदेश और 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (७।३।११०) से अंग को गुण होता है।

।। इति आदेश-प्रकरणम्।।

स्त्रियाः पुंवद्भावप्रकरणम्

पुंवद्भावः–

(१) स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु।३४।

प०वि०–स्त्रियाः ६।१ पुंवत् अव्ययपदम्, भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्ठीकं पदम्, समानाधिकरणे ७।१ स्त्रियाम् ७।१ अपूरणी-प्रियादिषु ७।३।

तद्धितवृत्तिः-पुंस इव इति पुंवत्। **'तत्र तस्येव'** (५।१।११६) इति इवार्थे वतिः प्रत्ययः।

स०-भाषितः पुमान् येन समानायामाकृतौ=एकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कः, तस्मात्-भाषितपुंस्कात्। न ऊङ् इति अनूङ्। भाषितपुंस्काद् अनूङ् इति भाषितपुंस्कादनूङ्, तस्याः-भाषितपुंस्कादनूङ् (बहुव्रीहिनञ्गर्भित-पञ्चमीतत्पुरुषः)। अत्रास्मादेव निपातनात् पञ्चम्या अलुग् वेदितव्यः। छन्दोवशाच्च लुप्तषष्ठीकं पदमिदम्। छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति।

प्रिया आदिर्येषां ते प्रियादयः, पूरणी च प्रियादयश्च ते पूरणीप्रियादयः, न पूरणीप्रियादय इति अपूरणीप्रियादयः, तेषु-अपूरणीप्रियादिषु (बहुव्रीहिद्वन्द्व-गर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः अपूरणीप्रियादिषु स्त्रियां समानाधिकरणे उत्तरपदे पुंवत्।

अर्थः-भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य पूरणीप्रियादिवर्जिते स्त्रीलिङ्गे समानाधिकरणे उत्तरपदे परतः पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं भवति।

उदा०-दर्शनीया भार्या यस्य सः-दर्शनीयभार्यः। श्लक्ष्णचूडः। दीर्घजङ्घः।

प्रिया। मनोज्ञा। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। भक्तिः। सचिवा। अम्बा। कान्ता। क्षान्ता। समा। चपला। दुहिता। वामा। इति प्रियादयः।।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में अर्थात् एक प्रवृत्तिनिमित्त में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है उस ऊङ्-प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (अपूरणीप्रियादिषु) पूरण-प्रत्ययान्त और प्रिया आदि शब्दों से भिन्न (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग (समानाधिकरणे) समानाधिकरणवाला (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (पुंवत्) पुंलिङ्गवाची शब्द के समान होता है।*

*उदा०-**दर्शनीयभार्यः**। वह पुरुष कि जिसकी भार्या (पत्नी) दर्शनीया है। **श्लक्ष्णचूडः**। वह पुरुष कि जिसकी चूडा (चोटी) कोमल है। **दीर्घजङ्घः**। वह पुरुष कि जिसकी जांघ दीर्घ हैं।*

सिद्धि-दर्शनीयभार्यः। यहां दर्शनीया और भार्या शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से ऊङ्-प्रत्यय से रहित, भाषितपुंस्क, स्त्रीलिङ्ग दर्शनीया शब्द के स्थान में पूरण-प्रत्ययान्त और प्रिया-आदिगण पठित शब्दों से भिन्न, समानाधिकरणवाला भार्या-शब्द उत्तरपद होने पर पुंलिङ्ग शब्द के समान 'दर्शनीय' रूप हो जाता है। तत्पश्चात् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) से 'भार्या' शब्द को ह्रस्व होता है। 'दर्शनीया' शब्द इसी आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ का भी वाचक रहा है-दर्शनीयः पुरुषः, और यह टाप्-प्रत्ययान्त होने से ऊङ्प्रत्यय से रहित है।

पुंवद्भावः–

(२) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः।३५।

प०वि०-तसिल्-आदिषु ७।३ आ अव्ययपदम्, कृत्वसुचः ५।१।

स०-तसिल् आदिर्येषां ते तसिलादयः, तेषु-तसिलादिषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०-स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ् इति चानुवर्तते। 'उत्तरपदे' इति च नानुवर्ततेऽर्थासम्भवात्।

अन्वयः-तसिलादिषु आकृत्वसुचो भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाः पुंवत्।

अर्थः-तसिलादिषु प्रत्ययेषु परतो भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य पुंलिङ्शब्दस्येव रूपं भवति।

उदा०-(**तसिल्**) तस्याः शालाया इति ततः। यस्याः शालाया इति यतः। (**त्रल्**) तस्यां शालायामिति तत्र। यस्यां शालायामिति यत्र।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तसिलादिषु) 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५।३।७) से लेकर (आकृत्वसुचः) 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५।४।१७) इस सूत्र तक जो प्रत्यय हैं, उनके परे होने पर (भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है उस ऊङ्-प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (पुंवत्) पुंलिङ्गवाची शब्द के समान रूप होता है।*

उदा०-(तसिल्) ततः। उस शाला से। यतः। जिस शाला से। (त्रल्) तत्र। उस शाला में। यत्र। जिस शाला में।

सिद्धि-(१) ततः। तत्+ङसि+तसिल्। तत्+तस्। त अ+तस्। त+टाप्+तस्। त+०+तस्। ततः।

यहां 'तत्' शब्द से 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५ ।३ ।७) से तसिल् प्रत्यय है। 'त्यदादीनामः' (७ ।२ ।१०२) से 'तत्' के तकार को अकार आदेश होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४ ।१ ।४) से 'टाप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग 'ता' शब्द के स्थान में तसिल्-प्रत्यय परे होने पर उसे पुंलिङ्ग शब्द के समान 'त' रूप हो जाता है।

(२) यतः। यहां 'यत्' शब्द से पूर्ववत् 'तसिल्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) तत्र। यहां 'तत्' शब्द से 'सप्तम्यास्त्रल्' (५ ।३ ।१०) से 'त्रल्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) यत्र। यहां 'यत्' शब्द से पूर्ववत् 'त्रल्' प्रत्यय है।

विशेषः *तसिलादि प्रत्यय-महाभाष्यकार पतंजलि ने तसिलादि प्रत्ययों में इन प्रत्ययों का परिगणन किया है-त्र, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देश्य, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थम्, थाल्, दा, र्हिल्, तिल्, तातिल्।*

पुंवद्भावः—

(३) क्यङ्मानिनोश्च ।३६।

प०वि०-क्यङ्-मानिनोः ७ ।२ च अव्ययपदम्।

स०-क्यङ् च मानिन् च तौ क्यङ्मानिनौ, तयोः-क्यङ्मानिनोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्यङ्मानिनोश्चोत्तरपदे भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाः पुंवत्।

अर्थः-क्यङ्प्रत्यये मानिनि शब्दे चोत्तरपदे भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं भवति।

उदा०-**(क्यङ्)** एनी इवाचरति-एतायते। श्येनी इवाचरति-श्येतायते। **(मानिन्)** दर्शनीयामिमां मन्यतेऽयमिति-दर्शनीयमानी अयमस्याः। दर्शनीयमानिनीयमस्याः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(क्यङ्मानिनोः) क्यङ् और मानिन् शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है, उस ऊङ्प्रत्यय से रहित, (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (पुंवत्) पुंलिङ्गवाची शब्द के समान रूप होता है।*

उदा०-(क्यङ्) एतायते। जो एनी के समान आचरण करता है। एनी=अनेक वर्णोंवाली। श्येतायते। जो श्येनी के समान आचरण करता है। श्येनी=सफेद वर्णवाली। (मानिन्) दर्शनीयमानी अयमस्याः। यह पुरुष इस स्त्री का दर्शनीयमानी है अर्थात् यह इसे दर्शनीय मानती है। दर्शनीयमानिनीयमस्याः। यह स्त्री इस स्त्री की दर्शनीयमानिनी है अर्थात् यह स्त्री इस स्त्री को दर्शनीय मानती है।

सिद्धि-(१) एतायते। एनी+क्यङ्। एत+य। एताय+लट्। एताय+शप्+त। एताय+अ+ते। एतायते।

यहां 'एनी' शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) से 'क्यङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्-प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग 'एनी' शब्द को 'क्यङ्' प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव होता है अर्थात् उसका पुंलिङ्ग के समान 'एत' रूप हो जाता है। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।५४) से दीर्घ होता है। 'एनी' शब्द में 'एत' शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः' (४।१।३९) से ङीप् प्रत्यय और तकार को नकार आदेश है। ऐसे ही श्येनी शब्द से-श्येतायते।

(२) दर्शनीयमानी। यहां दर्शनीया और मानिन् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्-प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग दर्शनीया शब्द को मानिन्-शब्द उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव होता है। ऐसे ही-दर्शनीयमानिनी।

पुंवद्भाव-प्रतिषेधः—

(४) न कोपधायाः।३७।

प०वि०-न अव्ययपदम्, कोपधायाः ६।१।

स०-क उपधा यस्याः सा कोपधा, तस्याः-कोपधायाः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाषितापुंस्कादनूङः कोपधायाः स्त्रिया उत्तरपदे पुंवन्न।

अर्थः-भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य ककारोपधस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य उत्तरपदे परतः पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं न भवति।

उदा०-(स्त्रियां समानाधिकरणे उत्तरपदे) पाचिका भार्या यस्य सः-पाचिकाभार्यः। कारिकाभार्यः। मद्रिकाभार्यः। वृजिकाभार्यः। **(तसिलादिषु)** ईषद् असमाप्ता मद्रिका इति मद्रिकाकल्पा। **(क्यङ्)**

मद्रिका इवाचरति-मद्रिकायते। वृजिकायते। **(मानिन्)** मद्रिकामानिनी। वृजिकामानिनी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है, उस ऊङ्प्रत्यय से रहित (कोपधायाः) ककार उपधावाले (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (पुंवत्) पुंलिङ्ग शब्द के समान रूप (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**(स्त्रियां समानाधिकरणे उत्तरपदे) पाचिकाभार्यः।** वह पुरुष कि जिसकी भार्या (पत्नी) पाचिका है। **कारिकाभार्यः।** वह पुरुष कि जिसकी भार्या कारिका=कार्य करनेवाली है। **मद्रिकाभार्यः।** वह पुरुष कि जिसकी भार्या मद्र जनपद की है। **वृजिकाभार्यः।** वह पुरुष कि जिसकी भार्या वृजि जनपद की है। **(तसिल आदि में) मद्रिकाकल्पा।** मद्रिका नारी से कुछ कम। **(क्यङ्) मद्रिकायते।** जो नारी मद्रिका के समान आचरण करती है। **वृजिकायते।** जो नारी वृजिका के समान आचरण करती है। **(मानिन्) मद्रिकामानिनी।** स्वयं को मद्रिका माननेवाली नारी। **वृजिकामानिनी।** स्वयं को वृजिका माननेवाली नारी।*

*सिद्धि-(१) **पाचिकाभार्यः।** यहां पाचिका और भार्या शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्-प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग पाचिका शब्द को समानाधिकरणवाले स्त्रीलिङ्ग भार्या-शब्द उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव का प्रतिषेध है, क्योंकि 'पाचिका' ककारोपध है। यहां 'स्त्रियाः पुंवत्०' (६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था, उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-कारिकाभार्यः' आदि।*

*(२) **मद्रिकाकल्पा।** यहां 'मद्रिका' शब्द से 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (५।३।६७) से 'कल्पप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से मद्रिका शब्द को कल्पप् प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव का प्रतिषेध है, क्योंकि मद्रिका शब्द ककारोपध है। यहां 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६।३।३५) से पुंवद्भाव प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है।*

*(३) **मद्रिकायते।** यहां 'मद्रिका' शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) से आचार अर्थ में क्यङ् प्रत्यय है। इस सूत्र से मद्रिका शब्द को क्यङ् प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव का प्रतिषेध है, क्योंकि मद्रिका-शब्द ककारोपध है। यहां 'क्यङ्मानिनोश्च' (६।३।३६) से पुंवद्भाव प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-**वृजिकायते, मद्रिकामानिनी, वृजिकामानिनी।***

पुंवद्भाव-प्रतिषेधः-

(५) संज्ञापूरण्योश्च।३८।

प०वि०-संज्ञा-पूरण्योः ६।२ च अव्ययपदम्।

स०-संज्ञा च पूरणी च ते संज्ञापूरण्यौ, तयोः-संज्ञापूरण्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ्, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाषितपुंस्कादनूङः संज्ञापूरण्योश्च स्त्रियाः उत्तरपदे पुंवन्न।

अर्थः-भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ् प्रत्ययो न कृतस्तस्य संज्ञावाचिनः पूरणप्रत्ययान्तस्य च स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य उत्तरपदे परतः पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं न भवति।

उदा०-**(संज्ञा)** दत्ताभार्यः। गुप्ताभार्यः। दत्तापाशा। गुप्तापाशा। दत्तायते। गुप्तायते। दत्तामानिनी। गुप्तामानिनी। **(पूरणी)** पञ्चमीभार्यः। दशमीभार्यः। पञ्चमीपाशा। दशमीपाशा। पञ्चमीयते। दशमीयते। पञ्चमीमानिनी। दशमीमानिनी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है, उस उङ्प्रत्यय से रहित, (संज्ञापूरण्योः) संज्ञावाची और पूरणप्रत्ययान्त (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (च) भी (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (पुंवत्) पुंलिङ्ग शब्द के समान रूप (न) नहीं होता है।*

उदा०-(संज्ञा) ***दत्ताभार्यः।*** *वह पुरुष कि जिसकी दत्ता नामिका भार्या है।* ***गुप्ताभार्यः।*** *वह पुरुष कि जिसकी गुप्ता नामिका भार्या है।* ***दत्तापाशा।*** *दत्ता नामिका निन्दित नारी।* ***गुप्तापाशा।*** *गुप्ता नामिका निन्दित नारी।* ***दत्तायते।*** *दत्ता नामिका नारी के समान आचरण करनेवाली।* ***गुप्तायते।*** *गुप्ता नामिका नारी के समान आचरण करनेवाली।* ***दत्तामानिनी।*** *स्वयं को दत्ता नामिका नारी माननेवाली।* ***गुप्तामानिनी।*** *स्वयं को गुप्ता नामिका नारी माननेवाली। (पूरणी)* ***पञ्चमीभार्यः।*** *वह पुरुष कि जिसकी पांचवीं भार्या है।* ***दशमीभार्यः।*** *वह पुरुष कि जिसकी दशवीं भार्या है।* ***पञ्चमीपाशा।*** *पांचवीं निन्दित नारी।* ***दशमीपाशा।*** *दशवीं निन्दित नारी।* ***पञ्चमीयते।*** *वह नारी कि जो पांचवीं के समान आचरण करती है।* ***दशमीयते।*** *वह नारी कि जो दशवीं के समान आचरण करती है।* ***पञ्चमीमानिनी।*** *स्वयं को पांचवीं माननेवाली नारी।* ***दशमीमानिनी।*** *स्वयं को दशवीं माननेवाली नारी।*

सिद्धि-(१) ***दत्ताभार्यः।*** *यहां दत्ता और भार्या शब्दों का* ***'अनेकमन्यपदार्थे'*** *(२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, संज्ञावाची दत्ता शब्द भार्या उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव नहीं होता है।* ***'स्त्रियाः पुंवद्०'*** *(६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-* ***गुप्ताभार्यः।***

(२) दत्तापाशा। यहां दत्ता शब्द से 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) से 'पाशप्' प्रत्यय है। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६।३।३५) से संज्ञावाची दत्ता-शब्द को पुंवद्भाव प्राप्त था। इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-गुप्तापाशा।

(३) दत्तायते। यहां दत्ता शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) से आचार अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय है। 'क्यङ्मानिनोश्च' (६।३।३६) से संज्ञावाची दत्ता शब्द को पुंवद्भाव प्राप्त था। इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-गुप्तायते, दत्तामानिनी, गुप्तामानिनी।

(४) पञ्चमीभार्यः। यहां पञ्चमी और भार्या शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। 'पञ्चमी' शब्द में पञ्चन् शब्द से 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' (५।२।४९) से पूरणार्थक डट्-प्रत्यय और इसे मट् आगम है। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होकर 'पञ्चमी' शब्द सिद्ध होता है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, पूरण-प्रत्ययान्त ·ीलिङ्ग पञ्चमी शब्द को स्त्रीलिङ् भार्या शब्द उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव नहीं होता है। 'स्त्रियाः पुंवद्०' (६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था, इस सूत्र से उसका प्रतिषेध होता है। ऐसे ही-दशमीभार्यः।

पञ्चमीपाशा आदि शब्दों की सिद्धि दत्तापाशा आदि शब्दों के समान है।

पुंवद्भाव-प्रतिषेधः–

(६) वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे।३६।

प०वि०-वृद्धिनिमित्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्, तद्धितस्य ६।१ अरक्तविकारे ७।१।

स०-वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् सः-वृद्धिनिमित्तः, तस्य-वृद्धिनिमित्तस्य (बहुव्रीहिः)। रक्तं च विकारश्च एतयोः समाहारो रक्तविकारम्, न रक्तविकारमिति अरक्तविकारम्, तस्मिन्-अरक्तविकारे (समाहारद्वन्द्व-गर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, अभाषितपुंस्कादनूङ्, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अरक्तविकारे वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्य भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रिया उत्तरपदे पुंवन्न।

अर्थः-रक्ते विकारे चार्थेऽविहितो यो वृद्धिनिमित्तस्तद्धितप्रत्ययः, तदन्तस्य भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न

कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य उत्तरपदे परतः पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं न भवति।

उदा०-स्त्रौघ्नी भार्या यस्य सः-सौघ्नीभार्यः। माथुरीभार्यः। याप्या स्त्रौघ्नीति-स्त्रौघ्नीपाशा। माथुरीपाशा। स्त्रौघ्नीवाचरति-स्त्रौघ्नीयते। माथुरीयते। आत्मानं स्त्रौघ्नीं मन्यते इति स्त्रौघ्नीमानिनी। माथुरीमानिनी।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(अरक्तविकारे) जो रक्त और विकार अर्थ में अविहित (वृद्धिनिमित्तस्य) वृद्धि का हेतु (तद्धितस्य) तद्धित प्रत्यय है, उस तद्धितप्रत्ययान्त (भाषितपुंस्कादनूङः) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है, उस ऊङ् प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (च) भी (पुंवत्) पुंलिङ्ग शब्द के समान रूप (न) नहीं होता है।

उदा०-सौघ्नीभार्यः। वह पुरुष कि जिसकी भार्या स्रुघ्न जनपद की है। माथुरीभार्यः। वह पुरुष कि जिसकी भार्या मथुरा जनपद की है। स्त्रौघ्नीपाशा। स्रुघ्न जनपद की निन्दित नारी। माथुरीपाशा। मथुरा जनपद की निन्दित नारी। स्त्रौघ्नीयते। स्रुघ्न जनपद की नारी के समान आचरण करती है। माथुरीयते। मथुरा जनपद की नारी के समान आचरण करती है। स्त्रौघ्नीमानिनी। स्वयं को स्रुघ्न जनपद की नारी माननेवाली। माथुरीमानिनी। स्वयं को मथुरा जनपद की नारी माननेवाली।

सिद्धि-सौघ्नीभार्यः। यहां स्त्रौघ्नी और भार्या शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। स्त्रौघ्नी शब्द में स्रुघ्न शब्द में 'तत्र भवः' (४।३।५३) से भव अर्थ में अण्-प्रत्यय है जो कि वृद्धि का निमित्त तद्धित प्रत्यय है और रक्त और विकार अर्थों से भिन्न है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग स्त्रौघ्नी शब्द को भार्या उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव नहीं होता है। ऐसे ही-माथुरीभार्यः।

स्त्रौघ्नीपाशा आदि शब्दों की सिद्धि दत्तापाशा आदि (६।३।३८) शब्दों के समान है।

पुंवद्भाव-प्रतिषेधः-

(७) स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि।४०।

प०वि०-स्वाङ्गात् ५।१ च अव्ययपदम्, ईतः ५।१ अमानिनि ७।१।

स०-स्वस्य अङ्गमिति स्वाङ्गम्, तस्मात्-स्वाङ्गात् (षष्ठी-तत्पुरुषः)। न मानी इति अमानी, तस्मिन् अमानिनि (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ्, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ईतः स्वाङ्गाद् भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाश्च अमानिनि उत्तरपदे पुंवन्न।

अर्थः-ईकारान्तात् स्वाङ्गवाचिनो भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दात् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य मानिनिवर्जिते उत्तरपदे परतश्च पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं न भवति।

उदा०-दीर्घकेशी भार्या यस्य सः-दीर्घकेशीभार्यः। याप्या दीर्घकेशी इति दीर्घकेशीपाशा। श्लक्ष्णकेशीपाशा। दीर्घकेशीवाचरति-दीर्घकेशीयते। श्लक्ष्णकेशीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ईतः) ईकारान्त (स्वाङ्गात्) स्वाङ्वाची (भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है, उस ऊङ्प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (च) भी (अमानिनि) मानी से भिन्न (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (पुंवत्) पुंलिङ्ग शब्द के समान रूप (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**दीर्घकेशीभार्यः**। वह पुरुष कि जिसकी दीर्घ केशोंवाली भार्या है। **दीर्घकेशीपाशा**। दीर्घ केशोंवाली निन्दित नारी। **श्लक्ष्णकेशीपाशा**। कोमल केशोंवाली निन्दित नारी। **दीर्घकेशीयते**। जो दीर्घ केशोंवाली नारी के समान आचरण करती है। **श्लक्ष्णकेशीयते**। जो कोमल केशोंवाली नारी के समान आचरण करती है।*

*सिद्धि-**दीर्घकेशीभार्यः**। यहां दीर्घकेशी और भार्या शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। दीर्घकेशी शब्द में 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (४।१।५४) से 'दीर्घकेशी' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय है। इस सूत्र से ईकारान्त, स्वाङ्गवाची, भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग 'दीर्घकेशी' शब्द को 'भार्या' शब्द उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव नहीं होता है।*

'दीर्घकेशीपाशा' आदि शब्दों की सिद्धि 'दत्तापाशा' आदि (६।३।३८) शब्दों के समान है।

पुंवद्भाव-प्रतिषेधः-

(८) जातेश्च।४१।

प०वि०-जातेः ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उत्तरपदे, स्त्रियाः, पुंवत्, भाषितपुंस्कादनूङ्, न अमानिनि इति चानुवर्तते।

अन्वयः- जातेर्भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाश्च अमानिनि उत्तरपदे पुंवन्न।

अर्थः-जातिवाचिनो भाषितपुंस्कादनूङः=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य च मानिशब्दवर्जिते उत्तरपदे पुंलिङ्गशब्दस्येव रूपं न भवति।

उदा०-कठी भार्या यस्य सः-कठीभार्यः। बह्वृचीभार्यः। याप्या कठीति कठीपाशा। बह्वृचीपाशा। कठीवाचरति-कठीयते। बह्वृचीयते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जातेः) जातिवाची (भाषितपुंस्कादूनङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है उस ऊङ्प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (अमानिनि) मानी शब्द से भिन्न (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (पुंवत्) पुंलिङ्ग शब्द के समान रूप (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**कठीभार्यः**। वह पुरुष कि जिसकी भार्या कठ जाति की है। **बह्वृचीभार्यः**। वह पुरुष कि जिसकी भार्या बह्वृच जाति की है। **कठीपाशा**। कठ जाति की निन्दित नारी। **बह्वृचीपाशा**। बह्वृच जाति की निन्दित नारी। **कठीयते**। कठ जाति की नारी के समान आचरण करनेवाली। **बह्वृचीयते**। बह्वृच जाति की नारी के समान आचरण करनेवाली।*

*सिद्धि-**कठीभार्यः**। यहां कठी और भार्या शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से जातिवाची, भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग कठी शब्द को भार्या उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव नहीं होता है।*

'कठीपाशा' आदि शब्दों की सिद्धि 'दत्तापाशा' आदि (६।३।३८) शब्दों के समान है।

पुंवद्भावः-

(६) पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु।४२।

प०वि०-पुंवत् अव्ययपदम्, कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु ७।३।

स०-कर्मधारयश्च जातीयश्च देशीयश्च ते कर्मधारयजातीयदेशीयाः, तेषु-कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे स्त्रियाः पुंवत् भाषितपुंस्कादनूङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाषितपुंस्कादनूङ: स्त्रियाः कर्मधारयजातीयदेशीयेषु उत्तरपदे पुंवत्।

अर्थः-भाषितपुंस्कादनूङ:=यस्माद् भाषितपुंस्काच्छब्दाद् ऊङ्प्रत्ययो न कृतस्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य शब्दस्य स्थाने कर्मधारयसमासे उत्तरपदे जातीयदेशीययोश्च प्रत्यययोः परतः पुंवद्भावो भवति। प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः। **उदाहरणम्**-

(१) **'न कोपधायाः'** (६।३।३७) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति-**(कर्मधारयः)** पाचिका चासौ वृन्दारिका इति पाचकवृन्दारिका। **(जातीयः)** पाचकजातीया। **(देशीयः)** पाचकदेशीया।

(२) **'संज्ञापूरण्योश्च'** (६।३।३८) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति-**(संज्ञा)** दत्तवृन्दारिका। दत्तजातीया। दत्तदेशीया। **(पूरणी)** पञ्चमवृन्दारिका। पञ्चमजातीया। पञ्चमदेशीया।

(३) **'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे'** (६।३।३९) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति-स्रौघ्नवृन्दारिका। स्रौघ्नजातीया। स्रौघ्नदेशीया।

(४) **'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि'** (६।३।४०) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति-श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका। श्लक्ष्णमुखजातीया। श्लक्ष्णमुखदेशीया।

(५) **'जातेश्च'** (६।३।४१) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति-कठवृन्दारिका। कठजातीया। कठदेशीया।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भाषितपुंस्कादनूङ्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ को कहा है उस ऊङ्-प्रत्यय से रहित (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान में (कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु) कर्मधारय समासविषयक (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर तथा जातीय और देशीय प्रत्यय परे होने पर (पुंवत्) पुंलिङ् शब्द के समान रूप होता है। पहले जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया है उसके प्रतिषेध के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है।*

उदा०-(१) 'न कोपधायाः' (६।३।३७) से जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया गया है, वहां कर्मधारय समास, जातीय और देशीय प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव होता है- ***(कर्मधारय) पाचकवृन्दारिका।*** *श्रेष्ठ पाचिका।* ***(जातीय) पाचकजातीया।*** *विशेष पाचिका।* ***(देशीय) पाचकदेशीया।*** *पाचिका से कम नहीं।*

(२) 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) से जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया है वहां इस सूत्रोक्त विषय में पुंवद्भाव होता है-(संज्ञा) दत्तवृन्दारिका। दत्ता नामक श्रेष्ठ नारी। दत्तजातीया। दत्ता नामिका विशेष नारी। दत्तदेशीया। दत्ता नामिका नारी से कम नहीं। (पूरणी) पञ्चमवृन्दारिका। पञ्चमजातीया। पञ्चमदेशीया।

(३) 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (६।३।३९) से जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया गया है वहां इस सूत्रोक्त विषय में पुंवद्भाव होता है-स्रौघ्नवृन्दारिका। स्रुघ्न जनपद की श्रेष्ठ नारी। स्रौघ्नजातीया। स्रुघ्न जनपद की विशेष नारी। स्रौघ्नदेशीया। स्रुघ्न जनपद की नारी से कम नहीं।

(४) 'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि' (६।३।४०) से जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया है वहां इस सूत्रोक्त विषय में पुंवद्भाव होता है-श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका। कोमल मुखवाली श्रेष्ठ नारी। श्लक्ष्णमुखजातीया। कोमल मुखवाली विशेष नारी। श्लक्ष्णमुखदेशीया। कोमल मुखवाली नारी से कम नहीं।

(५) 'जातेश्च' (६।३।४१) से जहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध किया गया है वहां इस सूत्रोक्त विषय में पुंवद्भाव होता है-कठवृन्दारिका। कठ जाति की श्रेष्ठ नारी। कठजातीया। कठ जाति की विशेष नारी। कठदेशीया। कठ जाति की नारी से कम नहीं।

सिद्धि-(१) पाचकवृन्दारिका। यहां पाचिका और वृन्दारिका शब्दों का 'वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्' (२।१।६२) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित स्त्रीलिङ्ग पाचिका शब्द को वृन्दारिका शब्द उत्तरपद होने पर पुंवद्भाव होता है। 'न कोपधायाः' (६।३।३७) से यहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था, यह सूत्र उसका बाधक है। ऐसे ही-दत्तवृन्दारिका आदि।

(२) पाचकजातीया। यहां पाचिका शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्' (५।३।६९) से जातीयर् प्रत्यय है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्यय से रहित, स्त्रीलिङ्ग पाचिका शब्द को जातीयर् प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव होता है। 'न कोपधायाः' (६।३।३७) से यहां पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था, यह सूत्र उसका बाधक है। ऐसे ही-दत्तजातीया आदि।

(३) पाचकदेशीया। यहां पाचिका शब्द से 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (५।३।६७) से देशीयर् प्रत्यय है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, ऊङ्प्रत्य से रहित, स्त्रीलिङ्ग पाचिका शब्द को देशीयर् प्रत्यय परे होने पर पुंवद्भाव होता है। 'न कोपधायाः' (६।३।३७) सें पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था। यह सूत्र उसका बाधक है। ऐसे ही-दत्तदेशीया आदि।

।। इति स्त्रियाः पुंवद्भावप्रकरणम् ।।

ह्रस्व-प्रकरणम्

ह्रस्वः–

(१) घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ।४३।

प०वि०–घ-रूप-कल्प-चेलड्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ७ ।३ ङ्यः ६ ।१ अनेकाचः ६ ।१ ह्रस्वः १ ।१ ।

स०–घश्च रूपश्च कल्पश्च चेलट् च ब्रुवश्च गोत्रं च मतश्च हतश्च ते घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहताः, तेषु-घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्र-मतहतेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अनेकोऽच् यस्मिन् सः-अनेकाच्, तस्य-अनेकाचः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–उत्तरपदे, भाषितपुंस्काद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–भाषितपुंस्काद् अनेकाचो ङ्यो घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु उत्तरपदेषु ह्रस्वः।

अर्थः–भाषितपुंस्कस्यानेकाचो ङीप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य घरूपकल्प-चेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु उत्तरपदेषु परतो ह्रस्वो भवति।

उदा०–(घः) ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। (रूपः) ब्राह्मणिरूपा। (कल्पः) ब्राह्मणिकल्पा। (चेलट्) ब्राह्मणिचेली। (ब्रुवः) ब्राह्मणिब्रुवा। (गोत्रम्) ब्राह्मणिगोत्रा। (मतः) ब्राह्मणिमता। (हतः) ब्राह्मणिहता।

अत्र घरूपकल्पास्त्रयः प्रत्ययाः, चेलडादीनि चोत्तरपदानि ज्ञेयानि।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(भाषितपुंस्कात्) जिस शब्द ने समान आकृति में पुंलिङ्ग अर्थ के कहा है उस (अनेकाचः) अनेक अच्वाले (ङ्यः) ङी-प्रत्ययान्त शब्द को (घ०हतेषु) घ, रूप, कल्प प्रत्यय तथा चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत और हत (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है।*

*उदा०-(घ) **ब्राह्मणितरा**। दोनों में से अधिक ब्राह्मणी (विदुषी)। **ब्राह्मणितमा**। बहुत में से अधिक ब्राह्मणी। (रूप) **ब्राह्मणिरूपा**। प्रशंसनीय ब्राह्मणी। (कल्प) **ब्राह्मणिकल्पा**। जो ब्राह्मणी से कम नहीं। (चेलट्) **ब्राह्मणिचेली**। गर्हित ब्राह्मणी। (ब्रुव) **ब्राह्मणिब्रुवा**। ब्राह्मणी कहानीवाली। (गोत्रा) **ब्राह्मणिगोत्रा**। गोत्र=जातिमात्र से*

ब्राह्मणी। (मत) ब्राह्मणिमता। मानी हुई ब्राह्मणी। (हत) ब्राह्मणिहता। निन्दित ब्राह्मणी।

यहां घ, रूप और कल्प ये तीन प्रत्यय हैं और चेलड् आदि उत्तरपद हैं। अतः यहां उत्तरपद का यथासम्भव सम्बन्ध है।

सिद्धि-(१) ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणी+तरप्। ब्राह्मणी+तर। ब्राह्मणितर+टाप्। ब्राह्मणितरा+सु। ब्राह्मणितरा।

यहां ब्राह्मणी शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) से 'तरप्' प्रत्यय है। 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) से 'तरप्' प्रत्यय की 'घ' संज्ञा है। इस सूत्र से भाषितपुंस्क, अनेकाच्, ङी-प्रत्ययान्त ब्राह्मणी शब्द को घ-संज्ञक 'तरप्' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व होता है। 'ब्राह्मणी' शब्द में 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) से 'ङीष्' प्रत्यय है।

(२) ब्राह्मणितमा। यहां ब्राह्मणी शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) से 'तमप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) ब्राह्मणिरूपा। यहां ब्राह्मणी शब्द से 'प्रशंसायां रूपप्' (५।३।६६) से 'रूपप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) ब्राह्मणिकल्पा। यहां ब्राह्मणी शब्द से 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (५।३।६७) से 'कल्पप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) ब्राह्मणिचेली। यहां ब्राह्मणी और चेली शब्दों का 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (२।१।५३) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। चेलट् शब्द कुत्सनवाची है। इसके टित् होने से 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही-ब्राह्मणिब्रुवा और ब्राह्मणिगोत्रा। ब्रुव और गोत्र शब्द कुत्सनवाची हैं।

(६) ब्राह्मणिमता। यहां ब्राह्मणी और मता शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-ब्राह्मणिहता।

ह्रस्व-विकल्पः—

(२) नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्।४४।

प०वि०-नद्याः ६।१ शेषस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-उत्तरपदे, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शेषस्य नद्या घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु उत्तरपदेषु अन्यतरस्यां ह्रस्वः।

अर्थः-शेषस्य नदीसंज्ञकस्य शब्दस्य घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु उत्तरपदेषु विकल्पेन ह्रस्वो भवति। पूर्वसूत्रोक्तादन्यः शेषः। कश्च स शेषः ? अङी च या नदी, ङ्यन्तं च यदेकाच् स शेषः।

उदा०-(घः) ब्रह्मबन्धूतरा, ब्रह्मबन्धुतरा। ब्रह्मबन्धूतमा, ब्रह्मबन्धुतमा। स्त्रीतरा, स्त्रितरा। स्त्रीतमा, स्त्रितमा। रूपबादीनामुदाहरणानि-

उत्तरपदम्		रूपम्	भाषार्थः
(रूपप्-	(क)	ब्रह्मबन्धूरूपा, ब्रह्मबन्धुरूपा	प्रशंसनीया ब्रह्मबन्धू।
प्रत्ययः)	(ख)	स्त्रीरूपा, स्त्रिरूपा	प्रशंसनीया स्त्री।
(कल्पप्-	(क)	ब्रह्मबन्धूकल्पा, ब्रह्मबन्धुकल्पा	ब्रह्मबन्धू से कम नहीं।
प्रत्ययः)	(ख)	स्त्रीकल्पा, स्त्रिकल्पा	स्त्री से कम नहीं।
चेलट्	(क)	ब्रह्मबन्धूचेली, ब्रह्मबन्धुचेली	गर्हित ब्रह्मबन्धू।
	(ख)	स्त्रीचेली, स्त्रिचेली	गर्हित स्त्री।
ब्रुवः	(क)	ब्रह्मबन्धूब्रुवा, ब्रह्मबन्धुब्रुवा	ब्रह्मबन्धू कहानेवाली।
	(ख)	स्त्रीब्रुवा, स्त्रिब्रुवा	स्त्री कहानेवाली।
गोत्र	(क)	ब्रह्मबन्धूगोत्रा, ब्रह्मबन्धुगोत्रा	जातिमात्र से ब्रह्मबन्धू।
	(ख)	स्त्रीगोत्रा, स्त्रिगोत्रा	जातिमात्र से स्त्री।
मतः	(क)	ब्रह्मबन्धूमता, ब्रह्मबन्धुमता	मानी हुई ब्रह्मबन्धू।
	(ख)	स्त्रीमता, स्त्रिमता	मानी हुई स्त्री।
हतः	(क)	ब्रह्मबन्धूहता, ब्रह्मबन्धुहता	हिंसित ब्रह्मबन्धू।
	(ख)	स्त्रीहता, स्त्रिहता	निन्दित स्त्री।

ब्रह्मबन्धू=पतित ब्राह्मणी। वीरबन्धू=पतित क्षत्रिया।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(शेषस्य) पूर्व सूत्रोक्त से अन्य (नद्याः) नदी-संज्ञक शब्द को (घ०हतेषु) घ, रूप, कल्प प्रत्यय तथा चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत और हत (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है।*

पूर्व सूत्रोक्त से अन्य शेष शब्द कौन है ? जो कि ङी-अन्त नहीं है और नदी-संज्ञक है जैसे कि-ब्रह्मबन्धू और जो कि ङी-अन्त है तथा एकाच् है जैसे कि-स्त्री।

उदा०-(घ) ब्रह्मबन्धूतरा, ब्रह्मबन्धुतरा। दोनों में से अधिक ब्रह्मबन्धू (पतित ब्राह्मणी)। ब्रह्मबन्धूतमा, ब्रह्मबन्धुतमा। बहुत में से अधिक ब्रह्मबन्धू।

कल्पप् आदि के उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में देख लेवें।

सिद्धि-'ब्रह्मबन्धूतरा' आदि पदों की सिद्धि 'ब्राह्मणितरा' आदि पदों के समान है, यहां केवल ह्रस्व-विकल्प विशेष है।

ह्रस्व-विकल्पः-

(३) उगितश्च।४५।

प०वि०-उगितः ६।१ च अव्ययपदम्।

स०-उक् इद् यस्य स उगित्, तस्य-उगितः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, नद्याः, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-उगितो नद्याश्च घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु अन्यतरस्यां ह्रस्वः।

अर्थः-उगित्सम्बन्धिनो नदीसंज्ञकस्य शब्दस्य च घरूपकल्पचेलड्-ब्रुवगोत्रमतहतेषु उत्तरपदेषु विकल्पेन ह्रस्वो भवति। **उदाहरणानि-**

उत्तरपदम्		रूपम्	भाषार्थः
(घः	(१)	श्रेयसीतरा, श्रेयसितरा	दोनों में से अधिक प्रशस्या नारी।
प्रत्ययः)	(२)	श्रेयसीतमा, श्रेयसितमा	बहुत में अधिक प्रशस्या नारी।
	(१)	विदुषीतरा, विदुषितरा	दोनों में से अधिक विदुषी।
	(२)	विदुषीतमा, विदुषितमा	बहुत में अधिक विदुषी।
(रूपप्-	(१)	श्रेयसीरूपा, श्रेयसिरूपा	दोनों में से अत्यधिक प्रशस्या नारी।
प्रत्ययः)	(२)	विदुषीरूपा, विदुषिरूपा	प्रशंसनीय विदुषी।
(कल्पप्-	(१)	श्रेयसीकल्पा, श्रेयसिकल्पा	श्रेयसी नारी से कम नहीं।
प्रत्ययः)	(२)	विदुषीकल्पा, विदुषिकल्पा	विदुषी से कम नहीं।

उत्तरपदम्		रूपम्	भाषार्थः
चेलट्	(१)	श्रेयसीचेली, श्रेयसिचेली	गर्हित श्रेयसी नारी।
	(२)	विदुषीचेली, विदुषिचेली	गर्हित विदुषी नारी।
ब्रुवः	(१)	श्रेयसीब्रुवा, श्रेयसिब्रुवा	श्रेयसी कहानेवाली नारी।
	(२)	विदुषीब्रुवा, विदुषिब्रुवा	विदुषी कहानेवाली नारी।
गोत्रम्	(१)	श्रेयसीगोत्रा, श्रेयसिगोत्रा	जातिमात्र से श्रेयसी नारी।
	(२)	विदुषीगोत्रा, विदुषिगोत्रा	जातिमात्र से विदुषी नारी।
मतः	(१)	श्रेयसीमता, श्रेयसिमता	श्रेयसी मानी हुई नारी।
	(२)	विदुषीमता, विदुषिमता	विदुषी मानी हुई नारी।
हतः	(१)	श्रेयसीहता, श्रेयसिहता	हिंसित श्रेयसी नारी।
	(२)	विदुषीहता, विदुषिहता	निन्दित विदुषी नारी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उगित्) उगित् से सम्बन्धित (नद्याः) नदीसंज्ञक शब्द को (च) भी (घ०हतेषु) घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत और हत शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में देख लेवें।

*सिद्धि-श्रेयसीतरा। यहां श्रेयसी शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) से 'तरप्' प्रत्यय है। 'तरप्' प्रत्यय की 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) से 'घ' संज्ञा है। इस सूत्र से घ-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर उगित्सम्बन्धी नदीसंज्ञक श्रेयसी शब्द को विकल्प से ह्रस्व होता है। ह्रस्व पक्ष में-**श्रेयसितरा**।*

प्रशस्य+ईयसुन्। श्र+ईयस्। श्रेयस्। श्रेयस्+ङीप्। श्रेयसी+सु। श्रेयसी। प्रशस्य शब्द से 'प्रशस्यस्य श्रः' (५।३।६०) से 'ईयसुन्' प्रत्यय और उसे श्र-आदेश होता है। प्रत्यय के उगित् होने से 'उगितश्च' (४।१।६) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। ङीबन्त श्रेयसी शब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।२) से नदी संज्ञा है।

(२) विदुषीतरा। यहां विदुषी शब्द से पूर्ववत् 'तरप्' प्रत्यय है। 'विदुषी' शब्द की सिद्धि अधोलिखित है-

विद्+लट्। विद्+शप्+शतृ। विद्+०+वसु। विद्+वस्। विद्वस्। विद् उ अस्। विद्उस्। विदुष्+ङीप्। विदुष्+ई। विदुषी+सु। विदुषी।

यहां 'विद ज्ञाने' (अदा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) से 'लट्' के स्थान में

'शतृ' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप्-विकरण प्रत्यय, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक्, 'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) से 'शतृ' के स्थान में 'वसु' आदेश, 'वसोः सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) से पूर्वरूप एकादेश होता है। प्रत्यय के उगित् होने से 'उगितश्च' (४।१।६) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

'श्रेयसीरूपा' आदि पदों की सिद्धि 'ब्राह्मणिरूपा' आदि (६।३।४३) पदों के समान है, ह्रस्व-विकल्प विशेष है।

आदेश-प्रकरणम्

आकारादेशः–

(१) आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः।४६।

प०वि०–आत् १।१ महतः ६।१ समानाधिकरण-जातीययोः ७।२।

स०–समानाधिकरणं जातीयश्च तौ समानाधिकरणजातीययौ, तयोः–समानाधिकरणजातीययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–महतः समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये चाऽऽत्।

अर्थः–महच्छब्दस्य समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये प्रत्यये च परत आकारादेशो भवति।

उदा०–**(समानाधिकरणम्)** महाँश्चासौ देव इति महादेवः। महाब्राह्मणः। महान् बाहुर्यस्य सः–महाबाहुः। महाबलः। **(जातीयः)** महाजातीयः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(महतः) महत् शब्द को (समानाधिकरणजातीययोः) समानाधिकरण विषयक (उत्तरपदे) उत्तरपद तथा जातीय प्रत्यय परे होने पर (आत्) आकार आदेश होता है।*

*उदा०–(समानाधिकरण) **महादेवः**। महान्=पूज्य देवता। **महाब्राह्मणः**। पूज्य ब्राह्मण। **महाबाहुः**। वह पुरुष कि जिसका बाहु (भुजा) महान् है। **महाबलः**। वह पुरुष कि जिसका बल महान् है। (जातीय) **महाजातीयः**। विशेष प्रकार का महान् पुरुष।*

*सिद्धि–(१) **महादेवः**। महत्+सु+देव+सु। मह आ+देव। महादेव+सु। महादेवः।*

यहां महत् और देव शब्दों का 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' (२।२।६१) से समानाधिकरण (कर्मधारय) तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'महत्' शब्द के तकार को

समानाधिकरण तत्पुरुष समास में 'देव' शब्द उत्तरपद होने पर आकार आदेश होता है। ऐसे ही-महाब्राह्मणः।

(२) महाबाहुः। यहां महत् और बाहु शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से समानाधिकरण-बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से महत् शब्द के तकार को समानाधिकरण बहुव्रीहि समास में बाहु-शब्द उत्तरपद होने पर आकार आदेश होता है। ऐसे ही-महाबलः।

(३) महाजातीयः। यहां महत् शब्द से 'प्रकारवचने जातीयर्' (५।३।६९) से 'जातीयर्' प्रत्यय है। इस सूत्र से महत् शब्द के 'तकार' को जातीयर् प्रत्यय परे होने पर 'आकार' आदेश होता है।

आकारादेशः--

(२) द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः।४७।

प०वि०-द्वि-अष्टनः ६।१ संख्यायाम् ७।१ अबहुव्रीहि-अशीत्योः ७।२।

स०-द्विश्च अष्टन् च एतयोः समाहारः-द्व्यष्टन्, तस्मात्-द्व्यष्टनः (समाहारद्वन्द्वः)। बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च तौ बहुव्रीह्यशीती, न बहुव्रीह्यशीती इति अबहुव्रीह्यशीती, तयोः-अबहुव्रीह्यशीत्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, आद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-द्व्यष्टनः संख्यायाम् उत्तरपदे आत्, अबहुव्रीह्यशीत्योः।

अर्थः-द्वि-अष्टनोः शब्दयोः संख्यावाचिनि शब्दे उत्तरपदे आकारादेशो भवति, बहुव्रीहिसमासेऽशीतिशब्दे चोत्तरपदे न भवति।

उदा०-(द्विः) द्वौ च दश च एतयोः समाहारः-द्वादश। द्वाविंशतिः। (अष्टन्) अष्ट च दश च एतयोः समाहारः-अष्टादश। अष्टाविंशतिः। अष्टात्रिंशत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(द्व्यष्टनः) द्वि और अष्टन् शब्दों को (संख्यायाम्) संख्यावाची शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (आत्) आकार आदेश होता है (अबहुव्रीह्यशीत्योः) बहुव्रीहि समास में तथा अशीति शब्द उत्तरपद होने पर तो नहीं होता है।*

उदा०-(द्वि) द्वादश। दो और दश-बारह। द्वाविंशति। दो और बीस-बाईस। (अष्टन्) अष्टादश। आठ और दश-अठारह। अष्टाविंशतिः। आठ और बीस-अठाईस। अष्टात्रिंशत्। आठ और तीस-अठतीस।

सिद्धि-द्वादश। द्वि+औ+दशन्+जस्। द्वि+दश। दव् आ+दश। द्वादशन्+सु। द्वादश।

यहां द्वि और दशन् शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से समाहारद्वन्द्व समास है। इस सूत्र से द्वि-शब्द को संख्यावाची दशन् शब्द उत्तरपद होने पर आकार आदेश होता है। 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) से यहां समाहारद्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है क्योंकि लिंग पर शासन करना सम्भव नहीं है क्योंकि वह लोकाश्रित है- 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'। ऐसे ही- 'द्वाविंशतिः' और 'अष्टादश' आदि।

त्रयसादेशः–

(३) त्रेस्त्रयः।४८।

प०वि०-त्रेः ६।१ त्रयः १।१।

अनु०-उत्तरपदे, संख्यायाम्, अबहुव्रीह्यशीत्योरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-त्रेः संख्यायाम् उत्तरपदे त्रयः, अबहुव्रीह्यशीत्योः।

अर्थः-त्रि-शब्दस्य संख्यावाचिनि शब्दे उत्तरपदे त्रयसादेशो भवति, बहुव्रीहिसमासेऽशीतिशब्दे चोत्तरपदे न भवति।

उदा०-त्रयश्च दश च एतयोः समाहारः-त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्। 'त्रयः' इति सकारान्तोऽयमादेशः (त्रयस्)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(त्रेः) त्रि-शब्द के स्थान में (संख्यायाम्) संख्यावाची शब्द उत्तरपद होने पर (त्रयः) त्रयस् आदेश होता है (अबहुव्रीह्यशीत्योः) बहुव्रीहि समास में तथा अशीति शब्द उत्तरपद होने पर तो नहीं होता है।*

उदा०-त्रयोदश। तीन और दश-तेरह। त्रयोविंशतिः। तीन और बीस-तेईस। त्रयस्त्रिंशत्। तीन और तीस-तैंतीस।

सिद्धि-त्रयोदश। यहां त्रि और दश शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से समाहार द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से त्रि-शब्द के स्थान में संख्यावाची दश-शब्द उत्तरपद होने पर 'त्रयस्' आदेश होता है। उसके सकार को 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से रुत्व, 'हशि च' (६।१।११४) से रेफ को उत्व और 'आद्गुणः' (६।१।८७) से अकार-उकार को गुणरूप एकादेश (ओ) होता है। ऐसे ही-त्रयोविंशतिः आदि।

आदेश-विकल्पः–

(४) विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्।४९।

प०वि०-विभाषा १।१ चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१ सर्वेषाम् ६।३।

स०-चत्वारिंशत् प्रभृतिर्यस्याः सा चत्वारिंशत्प्रभृतिः, तस्याम्-चत्वारिंशत्प्रभृतौ (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, संख्यायाम्, अबहुव्रीह्यशीत्योरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-सर्वेषाम्=द्वि-अष्टन्-त्रीणां चत्वारिंशत्प्रभृतौ संख्यायाम् उत्तरपदे विभाषा, अबहुव्रीह्योरशीत्योः।

अर्थः-सर्वेषाम्=द्वि-अष्टन्-त्रीणां पूर्वोक्तानां शब्दानां चत्वारिंशत्प्रभृतौ संख्यावाचिनि शब्दे उत्तरपदे यदुक्तं तद् विकल्पेन भवति, बहुव्रीहिसमासेऽशीतिशब्दे चोत्तरपदे न भवति।

उदा०-(**द्विः**) द्वौ च चत्वारिंशच्च एतयोः समाहारः-द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। (**त्रिः**) त्रयश्च पञ्चाशच्च एतयोः समाहारः-त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत्। (**अष्टन्**) अष्ट च पञ्चाशच्च एतयोः समाहारः-अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सर्वेषाम्) द्वि, अष्टन् और त्रि इन सबको (चत्वारिंशत्प्रभृतौ) चत्वारिंशत् ४० आदि (संख्यायाम्) संख्यावाची शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) जो कहा गया है, वह विकल्प से होता है (अबहुव्रीह्यशीत्योः) बहुव्रीहि समास और अशीति शब्द उत्तरपद होने पर तो नहीं होता है।*

उदा०-(द्वि) द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। दो और चालीस-बियालीस। (त्रि) त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत्। तीन और पचास-तिरेपन। (अष्टन्) अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत्। आठ और पचास-अठावन।

सिद्धि-(१) द्विचत्वारिंशत्। यहां द्वि और चत्वारिंशत् शब्दों का 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से समाहार द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से द्वि-शब्द को संख्यावाची चत्वारिंशत् शब्द उत्तरपद होने पर आकार आदेश नहीं होता है और विकल्प पक्ष में 'द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' (६।३।४७) से आकार आदेश भी होता है-द्वाचत्वारिंशत्।

(२) त्रिपञ्चाशत्। यहां त्रि और पञ्चाशत् शब्दों का पूर्ववत् समाहार द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से 'त्रि' शब्द को संख्यावाची पञ्चाशत् शब्द उत्तरपद होने पर 'त्रयस्' आदेश नहीं होता है और विकल्प पक्ष में 'त्रेस्त्रयः' (६।४।४८) से त्रयस् आदेश भी होता है-त्रयःपञ्चाशत्।

(३) अष्टपञ्चाशत्। यहां अष्टन् और पञ्चाशत् शब्दों का पूर्ववत् समाहार द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र से अष्टन् शब्द को संख्यावाची पञ्चाशत् शब्द उत्तरपद होने पर

आकार आदेश नहीं होता है और विकल्प पक्ष में 'द्व्यष्टन: संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो:' (६।३।४७) से आकार आदेश भी होता है-अष्टापञ्चाशत्।

हृदादेश:-

(५) हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु।५०।

प०वि०-हृदयस्य ६।१ हृत् १।१ लेख-यत्-अण्-लासेषु ७।३।

स०-लेखश्च यच्च अण् च लासश्च ते-लेखयदण्लासा:, तेषु लेखयदण्लासेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-हृदयस्य लेखयदण्लासेषु उत्तरपदेषु हृद्।

अर्थ:-हृदयस्य स्थाने लेखयदण्लासेषु उत्तरपदेषु हृद् आदेशो भवति।

अत्र यदणौ प्रत्ययौ लेखलासौ च पदे वर्तेते, अत उत्तरपदस्य यथायोगं सम्बन्धो भवति, एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

उदा०-(लेख:) हृदयं लिखतीति हृल्लेख:। **(यत्)** हृदयस्य प्रियमिति हृद्यम्। **(अण्)** हृदयस्येदमिति हार्दम्। **(लास:)** हृदयस्य लास इति हृल्लास:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(हृदयस्य) हृदय शब्द के स्थान में (लेखयदण्लासेषु) लेख, यत्, अण् और लास (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (हृत्) हृत् आदेश होता है।*

यहां 'यत्' और 'अण्' प्रत्यय हैं तथा लेख और लस पद हैं अत: उत्तरपद शब्द का यथायोग सम्बन्ध होता है। ऐसे ही अन्यत्र भी समझें।

उदा०-(लेख) हृल्लेख:। हृदय को काटनेवाला। (यत्) हृद्यम्। हृदय को प्रिय। (अण्) हार्दम्। हृदयसम्बन्धी। (लास) हृल्लास:। हृदय की कामना।

सिद्धि-(१) हृल्लेख:। यहां हृदय और लेख शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। हृदय शब्द उत्तरपद होने पर 'लिख अक्षरविन्यासे' (भ्वा०प०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से अण् प्रत्यय है।

यहां 'लिख' धातु काटने अर्थ में है- "अनेकार्था हि धातवो भवन्ति" (महाभाष्यम्)। इस सूत्र से हृदय के स्थान में लेख शब्द उत्तरपद होने पर हृत् आदेश होता है। 'तोर्लि' (८।४।६०) से तकार को परसवर्ण लकार होता है।

(२) हृद्यम्। यहां हृदय शब्द से 'हृदयस्य प्रिय:' (४।४।९५) से 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से हृदय के स्थान में 'यत्' प्रत्यय परे होने पर 'हृत्' आदेश होता है।

(३) हार्दम्। यहां हृदय शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से यथाविहित 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से हृदय के स्थान में 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'हृत्' आदेश होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है।

(४) हृल्लासः। यहां हृदय और लास शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से हृदय के स्थान में लास उत्तरपद होने पर हृत् आदेश होता है। 'तोर्लि' (८।४।५९) से तकार को लकार परे होने पर परसवर्ण होता है।

हृदादेश-विकल्पः–

(६) वा शोकष्यञ्रोगेषु।५१।

प०वि०–वा अव्ययपदम्, शोक-ष्यञ्-रोगेषु ७।३।

स०–शोकश्च ष्यञ् च रोगश्च ते शोकष्यञ्रोगाः, तेषु-शोकष्यञ्रोगेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, हृदयस्य, हृद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–हृदयस्य शोकष्यञ्रोगेषु उत्तरपदेषु वा हृत्।

अर्थः–हृदयस्य स्थाने शोकष्यञ्रोगेषु उत्तरपदेषु विकल्पेन हृद् आदेशो भवति।

अत्र ष्यञ् इति प्रत्यय उत्तरपदेन न युज्यतेऽर्थासम्भवात्।

उदा०–**(शोकः)** हृदयस्य शोक इति हृच्छोकः, हृदयशोकः। **(ष्यञ्)** सुहृदयस्य भाव इति सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम्। **(रोगः)** हृदयस्य रोग इति हृद्रोगः, हृदयरोगः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हृदयस्य) हृदय शब्द के स्थान में (शोकष्यञ्रोगेषु) शोक, ष्यञ् और रोग (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (वा) विकल्प से (हृत्) हृत् आदेश होता है।*

यहां ष्यञ् प्रत्यय है अतः इसका उत्तरपद के साथ योग नहीं है।

उदा०-(शोक) हृच्छोकः, हृदयशोकः। हृदय का शोक। (ष्यञ्) सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम्। सुहृदय का भाव/कर्म। (रोग) हृद्रोगः, हृदयरोगः। हृदय का रोग।

सिद्धि- हृच्छोकः। हृदय और शोक शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से हृदय शब्द को शोक शब्द उत्तरपद होने पर हृत् आदेश होता है। 'शश्छोऽटि' (८।४।६३) से शोक के शकार को छकार और 'स्तोः श्चुना श्चुः'

(८।४।४०) से हृत् के तकार को चकार आदेश होता है। विकल्प पक्ष में हृदय के स्थान में हृत् आदेश नहीं होता है-हृदयशोक:। ऐसे ही-हृद्रोग:, हृदयरोग:।

(२) सौहार्दम्। सु+हृदय+ष्यञ्। सु+हृत्+य। सौ+हार्द्+य। सौहार्द्य+सु। सौहार्द्यम्।

यहां 'सुहृदय' शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य: कर्मणि च' (५।१।१२३) से भाव और कर्म अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'हृदय' के स्थान में 'ष्यञ्' प्रत्यय परे होने पर 'हृत्' आदेश होता है। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (७।३।१९) से उभयपदवृद्धि होती है। विकल्प पक्ष में 'हृदय' के स्थान में 'हृत्' आदेश नहीं होता है-सौहृदय्यम्। 'यस्येति च' से अंग के अकार का लोप और 'तद्धितेष्वचामादे:' (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है।

पदादेश:-

(७) पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु।५२।

प०वि०-पादस्य ६।१ पद १।१ (सु-लुक्) आजि-आति-ग-उपहतेषु ७।३।

स०-आजिश्च आतिश्च गश्च उपहतश्च ते-आज्यातिगोपहता:, तेषु-आज्यातिगोपहतेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-पादस्य आज्यातिगोपहतेषु उत्तरपदेषु पद:।

अर्थ:-पादस्य स्थाने आज्यातिगोपहतेषु उत्तरपदेषु पद आदेशो भवति।

उदा०-(आजि:) पादाभ्यामजतीति पदाजि:। (आति:) पादाभ्याममततीति पदाति:। (ग:) पादाभ्यां गच्छतीति पदग:। (उपहत:) पादेनोपहत इति पादोपहत:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(पादस्य) पाद शब्द के स्थान में (आज्यातिगोपहतेषु) आजि, आति, ग और उपहत (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (पद:) पद आदेश होता है।*

उदा०-(आजि) पदाजि:। पांवों से चलनेवाला-पैदल। (आति) पदाति:। पांवों से निरन्तर चलनेवाला-पैदल। (ग) पदग:। पांवों से जानेवाला-पैदल। (उपहत) पादोपहत:। पांव से घायल किया हुआ।

सिद्धि-(१) पदाजि:। यहां 'पाद' और 'आजि' शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'आजि:' शब्द में 'अज गतिक्षेपणयो:' (भ्वा०प०) धातु से

'पादे च' (उणा० ४।१३३) से 'इण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से पाद के स्थान में आजि उत्तरपद होने पर 'पद' आदेश होता है।

(२) पदातिः। यहां 'आतिः' शब्द में 'अत सातत्यगमने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'इण्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) पदगः। यहां 'पाद' और 'ग' शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'गः' शब्द में वा०- 'डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।४८) से पाद उत्तरपद होने पर भी 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ड' प्रत्यय है। वा०- 'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से 'गम्' के टि-भाग (अम्) का लोप होता है। इस सूत्र से पाद के स्थान में 'ग' उत्तरपद होने पर 'पद' आदेश होता है।

(४) पदोपहतः। यहां पाद और उपहत शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३९) से तृतीयातत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पाद के स्थान में उपहत उत्तरपद होने पर 'पद' आदेश होता है।

पद्-आदेशः–

(८) पद् यत्यतदर्थे।५३।

प०वि०-पद् १।१ यति ७।१ अतदर्थे ७।१।

स०-तस्मै इदमिति तदर्थम्, न तदर्थमिति अतदर्थम्, तस्मिन्-अतदर्थे (चतुर्थीगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, पादस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पादस्य पद् अतदर्थे यति।

अर्थः-पादस्य स्थाने पद्-आदेशो भवति, तदर्थवर्जिते यति प्रत्यये परतः।

उदा०-पादौ विध्यन्तीति पद्याः शर्कराः, पद्याः कण्टकाः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(पादस्य) पाद शब्द के स्थान में (पद्) पद् आदेश होता है (अतदर्थे) यदि तदर्थ से भिन्न (यति) यत् प्रत्यय परे हो।*

उदा०-पद्याः शर्कराः। पांवों को बींधनेवाली कांकर। पद्याः कण्टकाः। पांवों को बींधनेवाले कांटे।

सिद्धि-पद्याः। यहां पाद शब्द से 'विध्यत्यधनुषा' (४।४।८३) से विध्यति-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'पाद' के स्थान में 'यत्' प्रत्यय परे होने पर पद् आदेश होता है।

यहां 'अतादर्थ्ये' का कथन इसलिये किया है कि यहां पाद के स्थान में 'पद्' आदेश न हो-पादार्थमुदकम्-पाद्यम्। यहां 'पादार्घाभ्यां च' (५।४।२५) से तादर्थ्य अभिधेय में 'यत्' प्रत्यय है।

पद्-आदेशः–

(६) हिमकाषिहतिषु च।५४।

प०वि०-हिम-काषि-हतिषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०-हिमं च काषी च हतिश्च ता हिमकाषिहतयः, तासु-हिमकाषिहतिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, पादस्य, पद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पादस्य हिमकाषिहतिषु चोत्तरपदेषु पद्।

अर्थः-पादस्य स्थानें हिमकाषिहतिषु चोत्तरपदेषु पद् आदेशो भवति।

उदा०-**(हिमम्)** पादस्य हिममिति पद्धिमम्। हिमम्=शीतमित्यर्थः। **(काषी)** पादौ कषन्तीति पत्काषिणः। पादचारिण इत्यर्थः। **(हतिः)** पादाभ्यां हन्यते इति पद्धतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पादस्य) पाद शब्द के स्थान में (हिमकाषिहतिषु) हिम, काषिन् और हति (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (पद्) पद् आदेश होता है।*

*उदा०-(हिम) **पद्धिमम्।** पांव को लगनेवाली ठण्ड। (काषी) **पत्काषिणः।** पांवों से चलनेवाले पैदल। (हति) **पद्धतिः।** जो पांवों से आहत की जाती है-राह, रीति।*

*सिद्धि-(१) **पद्धिमम्।** यहां पाद और हिम शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'पाद' के स्थान में 'हिम' उत्तरपद होने पर 'पद्' आदेश होता है। 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६१) से हिम के हकार को पूर्वसवर्ण धकार आदेश होता है।*

*(२) **पत्काषिणः।** यहां पाद और काषिन् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पाद के स्थान में काषिन् उत्तरपद होने पर पद् आदेश होता है। 'काषिन्' शब्द में 'कष हिंसार्थः' (भ्वा०प०) धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से 'णिनि' प्रत्यय है। यहां 'कष' धातु गत्यर्थक है-'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति' (महाभाष्यम्)।*

*(३) **पद्धतिः।** यहां पाद और हति शब्दों का पूर्ववत् उपपद तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'पाद' के स्थान में 'हति' उत्तरपद होने पर 'पद्' आदेश होता है। 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६२) से 'हति' के हकार को पूर्वसवर्ण धकार आदेश होता है।*

पद्-आदेशः–

(१०) ऋचः शे।५५।

प०वि०–ऋचः ६।१ शे ७।१।

अनु०–उत्तरपदे, पादस्य, पद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–ऋचः पादस्य शे पद्।

अर्थः–ऋक्सम्बिन्धनः पादस्य स्थाने शे प्रत्यये परतः पद् आदेशो भवति।

उदा०–पादं पादं शंसतीति–पच्छः शंसति। पच्छो गायत्रीं शंसति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ऋचः) ऋचासम्बन्धी (पादस्य) पाद शब्द के स्थान में (शे) शस् प्रत्यय परे होने पर (पद्) पद् आदेश होता है।*

*उदा०–**पच्छो गायत्रीं शंसति।** गायत्री छन्द की ऋचा के एक-एक पाद (चरण) का जप करता है।*

*सिद्धि–**पच्छः।** यहां 'पाद' शब्द से **'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्'** (५।४।४३) से वीप्सा अर्थ में 'शस्' प्रत्यय है। सूत्रपाठ में शस् के अवयव 'श' का ग्रहण किया गया है। इस सूत्र से ऋचासम्बन्धी पाद के स्थान में 'शस्' प्रत्यय परे होने पर 'पद्' आदेश होता है। **'स्तोः श्चुना श्चुः'** (८।४।४०) से पत् के तकार को चकार और **'शश्छोऽटि'** (८।४।६३) से शस् के शकार को छकार आदेश होता है।*

पद्-आदेशविकल्पः–

(११) वा घोषमिश्रशब्देषु।५६।

प०वि०–वा अव्ययपदम्, घोष-मिश्र-शब्देषु ७।३।

स०–घोषश्च मिश्रश्च शब्दश्च ते घोषमिश्रशब्दाः, तेषु-घोषमिश्र-शब्देषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, पादस्य, पद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–पादस्य घोषमिश्रशब्देषु उत्तरपदेषु वा पद्।

अर्थः–पादस्य स्थाने घोषमिश्रशब्देषु उत्तरपदेषु विकल्पेन पद् आदेशो भवति।

उदा०–**(घोषः)** पादस्य घोष इति पद्घोषः, पादघोषः। **(मिश्रः)** पादेन मिश्र इति पन्मिश्रः, पादमिश्रः। **(शब्दः)** पादस्य शब्द इति पच्छब्दः, पादशब्दः।

आर्यभाषाः अर्थ-(पादस्य) पाद शब्द के स्थान में (घोषमिश्रशब्देषु) घोष, मिश्र और शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (वा) विकल्प से (पद्) पद् आदेश होता है।

उदा०-(घोष) पद्घोषः, पादघोषः। पांव की गम्भीर ध्वनि। (मिश्र) पन्मिश्रः, पादमिश्रः। पांव से मिश्रित किया हुआ। (शब्द) पच्छब्दः, पादशब्दः। पांव की ध्वनि।

सिद्धि-(१) पद्घोषः। यहां पाद और घोष शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पाद के स्थान में घोष उत्तरपद होने पर 'पद्' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'पद्' आदेश नहीं होता है-पादघोषः। ऐसे ही-पच्छब्दः, पादशब्दः।

(२) पन्मिश्रः। यहां पाद और मिश्र शब्दों का 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुण-मिश्रश्लक्ष्णैः' (२।१।३१) से तृतीयातत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पाद के स्थान में मिश्र उत्तरपद होने पर पद् आदेश होता है। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४४) से द् को अनुनासिक नकार आदेश है। विकल्प पक्ष में पद् आदेश नहीं होता है-पादमिश्रः।

उदादेशः-

(१२) उदकस्योदः संज्ञायाम्।५७।

प०वि०-उदकस्य ६।१ उदः १।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायाम् उदकस्य उत्तरपदे उदः।

अर्थः-संज्ञायां विषये उदकस्य स्थाने उत्तरपदे उद आदेशो भवति।

उदा०-उदकस्य मेघ इति उदमेघः। उदमेघो नाम-यस्य औदमेघिः पुत्रः। उदकं वहतीति-उदवाहः। उदवाहो नाम-यस्य औदवाहिः पुत्रः।

आर्यभाषाः अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (उदकस्य) उदक शब्द के स्थान में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (उदः) उद आदेश होता है।

उदा०-औदमेघिः पुत्रः। उदक=जल से भरा हुआ मेघ=बादल-उदमेघ। उदमेघ नामक पुरुष का पुत्र-'औदमेघि' कहाता है। औदवाहिः पुत्रः। उदक को वहन करनेवाला-उदवाह। उदवाह नामक पुरुष का पुत्र-'औदवाहि' कहाता है।

सिद्धि-(१) औदमेघिः। यहां उदक और मेघ शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में 'उदक' के स्थान में मेघ उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। 'उदमेघ' शब्द से 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अंग के अकार का लोप और तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है।

(२) औदवाहिः। यहां उदक और वाह शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। उदक उपपद 'वह प्रापणे' (भ्वा०प०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

उदादेशः–

(१३) पेषंवासवाहनधिषु च।५८।

प०वि०–पेषम्-वास-वाहन-धिषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०–पेषं च वासश्च वाहनश्च धिश्च ते पेषंवासवाहनधियः, तेषु-पेषंवासवाहनधिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, उदकस्य, उद इति चानुवर्तते।

अन्वयः–उदकस्य पेषंवासवाहनधिषु चोत्तरपदेषु उदः।

अर्थः–उदकस्य स्थाने पेषंवासवाहनधिषु चोत्तरपदेषु उद आदेशो भवति।

उदा०–(**पेषम्**) उपदेषं पिनष्टि। उदकेन पिनष्टीत्यर्थः। (**वासः**) उदकस्य वास इति उदवासः। (**वाहनः**) उदकस्य वाहन इति उदवाहनः। (**धिः**) उदकं धीयतेऽस्मिन्निति-उदधिः कुम्भः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(उदकस्य) उदक शब्द के स्थान में (पेषंवासवाहनधिषु) पेषम्, वास, वाहन और धि शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (उदः) उद आदेश होता है।*

उदा०-(पेषम्) उपदेषं पिनष्टि। जल के सहाय से औषध आदि को पीसता है। (वास) उदवासः। जल का निवास। (वाहन) उदवाहनः। जल का वाहन (गाड़ी)। (धि) उदधिः कुम्भः। जिसमें जल रखा जाता है वह घट आदि। यहां उदधि शब्द का समुद्र अर्थ नहीं है क्योंकि संज्ञाविषय में पूर्वसूत्र से ही 'उद' आदेश सिद्ध है।

सिद्धि-(१) उदपेषम्। यहां उदक और पेषम् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। उदक उपपद होने पर 'पिष्लृ संचूर्णने' (रुधा०प०) धातु से 'स्नेहने पिषः' (३।४।३८) से 'णमुल्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में पेषम् उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है।

*(२) उदवासः। यहां उदक और वास शब्दों का '**षष्ठी**' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में 'वास' उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। ऐसे ही-उदवाहनः।*

(३) उदधिः। यहां उदक और धि शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। उदक उपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) से अधिकरण कारक में 'कि' प्रत्यय है। 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'धा' के आकार का लोप होता है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में 'धि' उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है।

उदादेश-विकल्पः–

(१४) एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्।५६।

प०वि०–एकहलादौ ७।१ पूरयितव्ये ७।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०–एको हल् आदिर्यस्य सः–एकहलादिः, तस्मिन्–एकहलादौ (त्रिपद-बहुव्रीहिः)।

अनु०–उत्तरपदे, उदकस्य, उद इति चानुवर्तते।

अन्वयः–उदकस्य एकहलादौ पूरयितव्ये उत्तरपदेऽन्यतरस्याम् उदः।

अर्थः–उदकस्य स्थाने एकहलादौ पूरयितव्यवाचिनि शब्दे उत्तरपदे विकल्पेन उद आदेशो भवति।

उदा०–उदकस्य कुम्भ इति उदकुम्भः, उदककुम्भः। उदकस्य पात्रमिति उदपात्रम्, उदकपात्रम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उदकस्य) उदक शब्द के स्थान में (एकहलादौ) जिसके आदि में एक हल है उस (पूरितव्ये) पूरयितव्य {भरने योग्य} वाची शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (उदः) उद आदेश होता है।*

उदा०-उदकुम्भः, उदककुम्भः। जल का कुम्भ (घड़ा)। उदपात्रम्, उदकपात्रम्। जल का पात्र।

सिद्धि-उदकुम्भः। यहां उदक और कुम्भ शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में पूरयितव्ययवाची कुम्भ शब्द उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'उद' आदेश नहीं होता-उदककुम्भः। ऐसे ही-उदपात्रम्, उदकपात्रम्।

उदादेश-विकल्पः–

(१५) मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च।६०।

प०वि०- मन्थ-ओदन-सक्तु-बिन्दु-वज्र-भार-हार-वीवीध-गाहेषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०-मन्थश्च ओदनं च सक्तुश्च बिन्दुश्च वज्रश्च भारश्च हारश्च वीवधश्च गाहश्च ते मन्थ०गाहाः, तेषु-मन्थ०गाहेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, उदकस्य, उदः, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-उदकस्य मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु उत्तरपदेषु चान्यतरस्याम् उदः।

अर्थः-उदकस्य स्थाने मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु चोत्तरपदेषु विकल्पेन उद आदेशो भवति। **उदाहरणम्**-

उत्तरपदम्	शब्दरूपम्	भाषार्थः
मन्थः	उदकेन संयुक्तो मन्थ इति उदमन्थः, उदकमन्थः	जल से संयुक्त मन्थ।
ओदनः	उदकेन संयुक्त ओदन इति उदौदनः, उदकौदनः	जल से संयुक्त ओदन(भात)
सक्तुः	उदकेन संयुक्तः सक्तुरिति उदसक्तुः, उदकसक्तुः	जल से संयुक्त सत्तु।
बिन्दुः	उदकस्य बिन्दुरिति उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः	जल का बिन्दु।
वज्रः	उदकस्य वज्र इति उदवज्रः, उदकवज्रः	जल का वज्र (बिजली)।
भारः	उदकं बिभर्तीति उदभारः, उदकभारः	जल भरनेवाला पुरुष।
हारः	उदकं हरतीति उदहारः, उदकहारः	जल ढोनेवाला पुरुष।
वीवधः	उदकस्य वीवध इति उदवीवधः, उदकवीवधः	जल की बहंगी।
गाहः	उदकं गाहते इति उदगाहः, उदकगाहः	जल का विलोडन करनेवाला (गोता खोर)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(उदकस्य) उदक शब्द के स्थान में (मन्थौदन०गाहेषु) मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध और गाह शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (उदः) उद आदेश होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका अर्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) उदमन्थः। यहां उदक और मन्थ शब्दों का 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' (२।१।३०) में 'तृतीया' इस योग-विभाग से तृतीयातत्पुरुष समास है। इस सूत्र से उदक के स्थान में मन्थ उत्तरपद होने पर उद आदेश होता है। किसी द्रव पदार्थ से संयुक्त सत्तु 'मन्थ' कहाता है। विकल्प पक्ष में उद आदेश नहीं है-उदकमन्थ। ऐसे ही-उदौदनः, उदकौदनः। उदसक्तुः, उदकसक्तुः।

(२) उदबिन्दुः। यहां उदक और बिन्दु शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में बिन्दु उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'उद' आदेश नहीं है-उदकबिन्दुः।

(३) उदभारः। यहां उदक और भार शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। यहां उदक उपपद 'भृञ् भरणे' (भ्वा०उ०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'भृ' को वृद्धि होती है। इस सूत्र से 'उदक' के स्थान में भार उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'उद' आदेश नहीं है-उदकभारः। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-उदहारः, उदकहारः।

(४) उदवीवधः। यहां उदक और वीवध शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से उदक के स्थान में 'वीवध' उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'उद' आदेश नहीं है-उदकवीवधः।

(५) उदकगाहः। यहां उदक और गाह शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। यहां उदक उपपद 'गाहू विलोडने' (भ्वा०आ०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से उदक के स्थान में 'गाह' उत्तरपद होने पर 'उद' आदेश होता है। विकल्प पक्ष में 'उद' आदेश नहीं है-उदकगाहः।

ह्रस्वादेश-विकल्पः–

(१६) इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य।६१।

प०वि०-इकः ६।१ ह्रस्वः १।१ अङ्यः ६।१ गालवस्य ६।१।

स०-न ङी इति अङी, तस्य-अङ्यः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्य इक उत्तरपदेऽन्यतरस्यां ह्रस्वः, गालवस्य।

अर्थः-ङ्यन्तवर्जितस्य इगन्तस्य शब्दस्य उत्तरपदे विकल्पेन ह्रस्वादेशो भवति, गालवस्याचार्यस्य मतेन।

उदा०-ग्रामण्या पुत्र इति ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। ब्रह्मबन्ध्वाः पुत्र इति ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः।

अत्र गालवग्रहणं पूजार्थं न तु विकल्पार्थम्, अन्यतरस्यामिति हि अनुवर्तते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्यः) ङी-अन्त से भिन्न (इकः) इगन्त शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है (गालवस्य) गालव आचार्य के मत में।*

उदा०-ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। गांव के नेता (प्रधान) का पुत्र। ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः। पतित ब्राह्मणी का पुत्र।

यहां गालव आचार्य का ग्रहण पूजा के लिये किया गया है, विकल्प के लिये नहीं क्योंकि उसके लिये तो 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है ही।

सिद्धि-ग्रामणिपुत्रः। यहां ग्रामणी और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इससे ङी-अन्त से भिन्न, इगन्त 'ग्रामणी' शब्द को पुत्र उत्तरपद होने पर ह्रस्व-आदेश होता है। विकल्प पक्ष में ह्रस्व आदेश नहीं है-ग्रामणीपुत्रः। 'ग्रामणी' शब्द में 'सत्सूद्विष०' (३।२।६१) से क्विप् प्रत्यय है-ग्रामं नयतीति ग्रामणीः। ऐसे ही-ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः।

ह्रस्वादेशः-

(१७) एक तद्धिते च।६२।

प०वि०-एक ६।१ (लुप्तषष्ठीकं पदम्) तद्धिते ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उत्तरपदे, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-एकस्य उत्तरपदे तद्धिते च ह्रस्वः।

अर्थः-एकशब्दस्य उत्तरपदे तद्धिते च परतो ह्रस्वादेशो भवति।

उदा०-(उत्तरपदम्) एकस्याः क्षीरमिति एकक्षीरम्। एकदुग्धम्। **(तद्धितः)** एकस्या आगतमिति एकरूप्यम्। एकमयम्। एकस्या भाव एकत्वम्, एकता।

अत्र एकशब्दः स्त्रियां गृह्यते तत्रैवार्थस्य सम्भवात्, स चाऽसहायपर्यायो न संख्यावचनः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(एकस्य) एक शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद और (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (च) भी (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-(उत्तरपद) एकक्षीरम्। अकेली गौ का दूध। एकदुग्धम्। अर्थ पूर्ववत् है। (तद्धित) एकरूप्यम्। अकेली शुल्कशाला से आया हुआ द्रव्य। एकमयम्। अर्थ पूर्ववत् है। एकत्वम्। अकेली होना। एकता। अर्थ पूर्ववत् है।

यहां स्त्रीलिङ्ग एका शब्द का ग्रहण किया जाता है क्योंकि ह्रस्वादेश वहीं संभव है और यहां एक शब्द असहायवाची है; संख्यावाची नहीं।

सिद्धि-(१) एकक्षीरम्। यहां एका और क्षीर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से असहायवाची 'एका' शब्द को क्षीर उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है। ऐसे ही-एकदुग्धम्।

(२) एकरूप्यम्। यहां 'एका' शब्द से हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः' (४।३।८१) से तद्धित 'रूप्य' प्रत्यय है। इस सूत्र से असहायवाची एका शब्द को तद्धित 'रूप्य' प्रत्यय पदे होने पर ह्रस्व आदेश होता है।

(३) एकमयम्। यहां 'एका' शब्द से 'मयट् च' (४।३।८२) से तद्धित 'मयट्' प्रत्यय हे। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) एकत्वम्। यहां 'एका' शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) से तद्धित 'त्व' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) एकता। यह 'एका' शब्द से पूर्वोक्त सूत्र से 'तल्' प्रत्यय है। 'तलन्तः' (लिङ्गा० १७) से तल्-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। अतः स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

बहुलं ह्रस्वादेशः–

(१८) ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्।६३।

प०वि०–ङ्यापोः ६।२ संज्ञा-छन्दसोः ७।२ बहुलम् १।१।

स०–ङीश्च आप् च तौ ङ्यापौ, तयोः-ङ्यापोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। संज्ञा च छन्दश्च ते संज्ञाच्छन्दसी, तयोः-संज्ञाच्छन्दसोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संज्ञाच्छन्दसोर्ङ्यापोरुत्तरपदे बहुलं ह्रस्वः।

अर्थः–संज्ञायां छन्दसि च विषये ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च शब्दस्य उत्तरपदे बहुलं ह्रस्वो भवति। उदाहरणम्–

	विषयः	शब्दरूपम्	भाषार्थः
(१)	ङ्यन्तस्य	रेवतिपुत्रः	रेवती का पुत्र।
	संज्ञायाम्	रोहिणिपुत्र	रोहिणी का पुत्र।
		भरणिपुत्रः	भरणी का पुत्र।
	बहुलवचनान्न	नान्दीकरः	नान्दीपाठ करनेवाला।
	च भवति-	नान्दीघोषः	नान्दी में घोष करनेवाला।
		नान्दीविशालः	नान्दी को विशाल करनेवाला।
(२)	ङ्यन्तस्य	कुमारिदा	कुमारी को देनेवाली।
	छन्दसि	प्रफर्विदा	प्रफर्वी को देनेवाली।

	विषयः	शब्दरूपम्	भाषार्थः
	बहुलवचनान्न	फाल्गुनीपौर्णमासी	फाल्गुन की पौर्णमासी।
	च भवति-	जगतीच्छन्दः	जगती नामक छन्द।
(३)	आबन्तस्य	शिलवहम्	शिलवह नामक नगर।
	संज्ञायाम्	शिलप्रस्थम्	शिलप्रस्थं नामक नगर।
	बहुलवचनान्न	लोमकागृहम्	लोमका का घर।
	च भवति-	लोमकाषण्डम्	लोमका का षण्ड (रोग)।
(४)	आबन्तस्य	अजक्षीरेण जुहोति	अजा के दूध से होम करता है।
	संज्ञायाम्	ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत (शा०सं० १८।३।४९)।	दक्षिणावान् की ऊन के समान मृदु (सुखद) पृथिवी।
	बहुलवचनान्न च भवति-	ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।	कवि जन ऊन के सूत से कपड़ा बुनते हैं।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञाच्छन्दसोः) संज्ञा और वेदविषय में (ङ्यापोः) ङी-प्रत्ययान्त और आप्-प्रत्ययान्त शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (बहुलम्) प्रायशः (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

*सिद्धि-(१) **रेवतिपुत्रः।** यहां रेवती और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में ङी-प्रत्ययान्त 'रेवती' शब्द को पुत्र उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है। ऐसे ही-**रोहिणिपुत्रः, भरणिपुत्रः।***

*(२) **नान्दीकरः।** यहां नान्दी और कर शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। नान्दी-उपपद 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'दिवाविभा०' (३।२।२१) से 'ट' प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में ङी-प्रत्ययान्त 'नान्दी' शब्द को 'कर' उत्तरपद होने पर बहुलवचन से ह्रस्व आदेश नहीं होता है। ऐसे ही-**नान्दीघोषः, नान्दीविशालः।***

*(३) **कुमारिदा।** यहां कुमारी और दा शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। कुमारी-उपपद 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से वेदविषय में ङी-प्रत्ययान्त कुमारी शब्द को 'दा' उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है। ऐसे ही-**प्रफर्विदा।***

(४) फाल्गुनीपौर्णमासी। यहां फाल्गुनी और पौर्णमासी शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वेदविषय में ङीप्रत्ययान्त फाल्गुनी शब्द को पौर्णमासी उत्तरपद होने पर बहुलवचन से ह्रस्व आदेश नहीं होता है। ऐसे ही-जगतीच्छन्दः।

(५) शिलवहम्। यहां शिला और वह शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में आबन्त 'शिला' शब्द को वह-उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है। ऐसे ही-शिलप्रस्थम्।

(६) लोमकागृहम्। यहां लोमका और गृह शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में आबन्त 'लोमका' शब्द को गृह उत्तरपद होने पर बहुलवचन से ह्रस्व आदेश नहीं होता है। ऐसे ही-लोमकाषण्डम्।

(७) अजक्षीरम्। यहां अजा और क्षीर शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वेदविषय में आबन्त 'अजा' शब्द को क्षीर उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है।

(८) ऊर्णम्रदाः। यहां ऊर्णा और म्रदीयसी शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है-ऊर्णावद् म्रदीयसीति ऊर्णम्रदाः। इस सूत्र से वेदविषय में आबन्त 'ऊर्णा' शब्द को म्रदीयसी उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है।

'ईयसी' शब्द को आकार आदेश छान्दस है। "तैत्तिरीयास्तु दीर्घमधीयते-ऊर्णाम्रदसं चास्तृणामीति" (पदमञ्जरी)।

(९) ऊर्णासूत्रम्। यहां ऊर्णा और सूत्र शब्द का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वेदविषय में आबन्त 'ऊर्णा' शब्द को सूत्र-उत्तरपद होने पर बहुलवचन से ह्रस्व आदेश नहीं होता है।

बहुलं ह्रस्वादेशः-

(१६) त्वे च।६४।

प०वि०-त्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-ह्रस्वः, ङ्यापोः, छन्दसि इति चानुवर्तते, संज्ञायामिति च नानुवर्ततेऽर्थासम्भावात्।

अन्वयः-छन्दसि ङ्यापोस्त्वे च बहुलं ह्रस्वः।

अर्थः-छन्दसि विषये ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च शब्दस्य त्व-प्रत्यये च परतो बहुलं ह्रस्वादेशो भवति।

उदा०-(अप्) तदजाया भावोऽजत्वम्, अजात्वम्। **(आप्)** तद् रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्, रोहिणीत्वम् (काठ०सं० ८।१)। **"संज्ञायामसम्भवाच्छन्दस्येवोदाहरणानि भवन्ति"** (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (ङ्यापोः) ङी-प्रत्ययान्त और आप्-प्रत्ययान्त शब्दों को (त्वे) त्व-प्रत्यय परे होने पर (च) भी (बहुलम्) प्रायशः (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-(आप्) तदजाया भावोऽजत्वम्, अजात्वम्। वह अजा (बकरी) का होना अजत्व, अजात्व कहाता है। (ङी) तद् रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्, रोहिणीत्वम्। वह रोहिणी का होना रोहिणित्व, रोहिणीत्व कहाता है।

सिद्धि-(१) अजत्वम्। यहां अजा शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) से 'त्व' प्रत्यय है। इस सूत्र से वेदविषय में आबन्त 'अजा' शब्द को 'त्व' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व आदेश होता है और बहुलवचन से नहीं भी होता है-अजात्वम्।

(२) रोहिणित्वम्। यहां रोहिणी शब्द से पूर्ववत् 'त्व' प्रत्यय है। इस सूत्र से वेदविषय में ङी-अन्त रोहिणी शब्द को 'त्व' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व आदेश होता है और बहुलवचन से नहीं भी होता है-रोहिणीत्वम्।

ह्रस्वादेशः-

(२०) इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु।६५।

प०वि०-इष्टका-इषीका-मालानाम् ६।३ चित-तूल-भारिषु ७।३।

स०-इष्टका च इषीका च माला च ता इष्टकेषीकामालाः, तासाम्-इष्टकेषीकामालानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। चितं च तूलं च भारी च ते चिततूलभारिणः, तेषु-चिततूलभारिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु उत्तरपदेषु ह्रस्वः।

अर्थः-इष्टकेषीकामालानां शब्दानां यथासंख्यं चिततूलभारिषु उत्तरपदेषु ह्रस्वादेशो भवति।

उदा०-**(इष्टका)** इष्टकाभिश्चितमिति इष्टकचितम्। **(इषीका)** इषीकाणां तूलमिति इषीकतूलम्। **(माला)** मालां भर्तुं शीलमस्या इति मालभारिणी कन्या।

आर्यभाषाः *अर्थ-(इष्टकेषीकामालानाम्) इष्टका, इषीका और माला शब्दों को यथासंख्य (चिततूलभारिषु) चित, तूल और भारी (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-(इष्टका) इष्टकचितम्। ईंटों के द्वारा चिणना। (इषीका) इषीकतूलम्। सींक (सरकंडा) का तूल (रूई)। (माला) मालभारिणी कन्या। स्वभाव से माला धारण करनेवाली कन्या।

सिद्धि-(१) इष्टकचितम्। यहां इष्टका और चित शब्दों का 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३२) से तृतीयातत्पुरुष समास है। 'चित' शब्द में 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४) से कृत्-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'इष्टका' शब्द को 'चित' उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है।

(२) इषीकतूलम्। यहां इषीका और तूल शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'इषीका' शब्द को 'तूल' उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है।

(३) मालभारिणी। यहां माला और भारिणी शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'भारिणी' शब्द में 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

ह्रस्वादेशः-

(२१) खित्यनव्ययस्य।६६।

प०वि०-खिति ७।१ अनव्ययस्य ६।१।

स०-ख इद् यस्य सः-खित्, तस्मिन्-खिति (बहुव्रीहिः)। न अव्ययमिति अनव्ययम्, तस्य-अनव्ययस्य (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनव्ययस्य खिति उत्तरपदे ह्रस्वः।

अर्थः-अनव्ययस्य=अव्ययवर्जितस्य शब्दस्य खित्प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदे ह्रस्वादेशो भवति।

उदा०-कालीमात्मानं मन्यते इति कालिम्मन्या। हरिणिम्मन्या।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनव्ययस्य) अव्यय से भिन्न शब्द को (खित्) खित्-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।*

उदा०-कालिम्मन्या। स्वयं को काली=पार्वती माननेवाली नारी। हरिणिम्मन्या। स्वयं को हरिणी=सुन्दरी माननेवाली नारी।

सिद्धि-कालिम्मन्या। यहां काली और मन्या शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। काली शब्द उपपद होने पर 'मन ज्ञाने' (दि०आ०) धातु से 'आत्ममाने खश् च' (३।२।८३) से खश् प्रत्यय है। प्रत्यय के शित्-धर्म से सार्वधातुक होने से 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) से श्यन् विकरण प्रत्यय होता है और इस सूत्र से 'काली' शब्द को खित्-प्रत्ययान्त 'मन्या' शब्द उत्तरपद होने पर ह्रस्व आदेश होता है। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) से मुम् आगम है। मुम् आगम ह्रस्व आदेश में बाधक नहीं होता है। ऐसे ही-हरिणिम्मन्या।

।। इति आदेश-प्रकरणम् ।।

आगम-प्रकरणम्

मुम्-आगमः-

(१) अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्।६७।

प०वि०-अरुस्-द्विषत्-अजन्तस्य ६।१ मुम् १।१।

स०-अच् अन्ते यस्य सः-अजन्तः, अरुश्च द्विषन् च अजन्तश्च एतेषां समाहारः-अरुर्द्विषदजन्तम्, तस्य-अरुर्द्विषदजन्तस्य (बहुव्रीहिगर्भित-समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, खिति, अनव्ययस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अरुर्द्विषदजन्तस्यानव्ययस्य खिति उत्तरपदे मुम्।

अर्थः-अरुर्द्विषतोरव्ययवर्जितस्य अजन्तस्य शब्दस्य च खित्प्रत्ययान्ते उत्तरपदे मुम् आगमो भवति।

उदा०-(**अरुस्**) अरुषं तुदतीति अरुन्तुदः। (**द्विषत्**) द्विषन्तं तापयतीति द्विषन्तपः। (**अजन्तः**) आत्मानं कालीं मन्यते इति कालिम्मन्या। हरिणिम्मन्या।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अरुर्द्विषत्) अरुष्, द्विषत् और (अनव्ययस्य) अव्यय से भिन्न (अजन्तस्य) अजन्त शब्द को (खिति) खित्-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (मुम्) मुम् आगम होता है।*

उदा०-(अरुस्) अरुन्तुदः। मर्मस्थल को पीड़ित करनेवाला। (द्विषत्) द्विषन्तपः। द्वेष करनेवाले (शत्रु) को सन्ताप देनेवाला। (अजन्तः) कालिम्मन्या। स्वयं को काली=पार्वती माननेवाली नारी। हरिणिम्मन्या। स्वयं को हरिणी=सुन्दरी माननेवाली नारी।

सिद्धि-(१) अरुन्तुदः। यहां अरुष् और तुद शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। अरुष् कर्म उपपद होने पर 'तुद व्यथने' (तु०प०) धातु से 'विध्वरुषोस्तुदः' (३।२।३५) से खश् प्रत्यय है। इस सूत्र से अरुष् शब्द को खित्-प्रत्ययान्त 'तुद' उत्तरपद होने पर मुम् आगम होता है। यह आगम मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (१।१।४६) से अरुष् के अन्त्य अच् उकार से परे किया जाता है। 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से सकार का लोप, 'मोऽनुस्वारः' (८।३।२३) से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५७) से अनुस्वार को परसवर्ण नकार होता है।

(२) द्विषन्तपः। यहां द्विषत् और तपः शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। द्विषत् कर्म-उपपद होने पर 'तप सन्तापे' (भ्वा०प०) इस णिजन्त धातु से 'द्विषत्परयोस्तापेः' (३।२।३९) से खच् प्रत्यय है। 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णिच्' का लोप और 'खचि ह्रस्वः' (६।४।९४) से 'ताप्' को ह्रस्व (तप्) होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) 'कालिम्मन्या' और 'हरिणिम्मन्या' पदों की सिद्धि पूर्ववत् (६।३।६६) है।

अम्-आगमः—

(२) इचः एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च।६८।

प०वि०-इचः ६।१ एकाचः ६।१ अम् १।१ प्रत्ययवत् अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्।

स०-एकोऽच् यस्मिन् सः-एकाच्, तस्य-एकाचः (बहुव्रीहिः)। अम् च अम् एतयोः समाहारः-अम् (एकशेषसमाहारद्वन्द्वः)।

तद्धितवृत्तिः-प्रत्ययस्य इव इति प्रत्ययवत्। **'तत्र तस्येव'** (५।१।११६) इति इवार्थे वतिः प्रत्ययः।

अनु०-उत्तरपदे, खिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-एकाच इचः खिति उत्तरपदेऽम्, स च प्रत्ययवत्।

अर्थः-एकाच इजन्तस्य शब्दस्य खित्-प्रत्ययान्ते शब्दे उत्तरपदेऽम् आगमो भवति, स च अम्-आगमः प्रत्ययवत् (द्वितीयैकवचनवत्) भवति।

उदा०-(ई) आत्मानं स्त्रीं मन्यते इति स्त्रीम्मन्यः, स्त्रियम्मन्यः। श्रियम्मन्यः। (ऊ) आत्मनं भ्रुवं मन्यते इति भ्रुवम्मन्यः। (ऋ) आत्मानं नरं मन्यते इति नरम्मन्यः। (ओ) आत्मानं गां मन्यते इति गाम्मन्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(एकाचः) एक अच्वाले (इचः) इजन्त शब्द को (खिति) खित्-प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद होने पर (अम्) अम् आगम होता है (च) और (अम्) वह अम् (प्रत्ययवत्) द्वितीया एकवचन 'अम्' प्रत्यय के समान होता है।*

*उदा०-(ई) **स्त्रियम्मन्यः।** स्वयं को स्त्री के तुल्य माननेवाला। **श्रियम्मन्यः।** स्वयं को श्री=लक्ष्मी माननेवाला। (ऊ) **भ्रुवम्मन्यः।** स्वयं को भ्रू=भौं के समान भ्रमणशील माननेवाला। (ऋ) **नरम्मन्यः।** स्वयं को नर माननेवाला। (ओ) **गाम्मन्यः।** स्वयं को गौ के समान निर्बल माननेवाला।*

*सिद्धि-(१) **स्त्रीम्मन्यः।** यहां स्त्री और मन्य शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'अम्' आगम के प्रत्यय के समान होने से 'अमि पूर्वः' (६।१।१०३) से पूर्वसवर्ण एकादेश होता है। 'वाऽम्शसोः' (६।४।८०) से विकल्प-पक्ष में इयङ् आदेश भी होता है-**स्त्रियम्मन्यः।***

*(२) **श्रियम्मन्यः।** यहां श्री और मन्य शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'अम्' आगम को अजादि प्रत्यय मानकर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से 'इयङ्' आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **नरम्मन्यः।** यहां नृ और मन्य शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'अम्' आगम को सर्वनामस्थान के समान मानकर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (७।३।११०) से 'नृ' को गुण होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(४) **गाम्मन्यः।** यहां गो और मन्य शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'मन्य' शब्द में 'मनु अवबोधने' (दि०आ०) धातु से 'आत्ममाने खश् च' (३।२।८३) से 'खश्' प्रत्यय है। 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) से 'श्यन्' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से एक अच्वाले तथा इजन्त 'गो' शब्द को खित्-प्रत्ययान्त 'मन्य' शब्द उत्तरपद होने पर 'अम्' आगम होता है। आगम के 'अम्' प्रत्यय के समान होने से 'औतोऽम्शसोः' (६।१।९०) से पूर्व-पर के स्थान में 'आकार' एकादेश होता है।*

निपातनम्-

(३) वाचंयमपुरन्दरौ च।६६।

प०वि०-वाचंयम-पुरन्दरौ १।२ च अव्ययपदम्।

स०:-वाचंयमश्च पुरन्दरश्च तौ-वाचंयमपुरन्दरौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, अम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वाचंयमपुरन्दरौ चोत्तरपदेऽम्।

अर्थः-'वाचंयमपुरन्दरौ' इत्यत्र चोत्तरपदे परतः पूर्वपदस्यामन्तत्वं निपात्यते।

उदा०-वाचं यच्छतीति वाचंयमः। पुरं दारयतीति पुरन्दरः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वाचंयमपुरन्दरौ) वाचंयम और पुरन्दर इन शब्दों में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को (अम्) अमन्त भाव निपातित है।*

उदा०-वाचंयमः। वाणी को शास्त्रोक्त विधि से नियम में रखनेवाला व्रती। पुरन्दरः। किले को तोड़नेवाला इन्द्र।

*सिद्धि-(१) वाचंयमः। यहां वाच् और यम शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'वाच्' पूर्वपद को 'यम' उत्तरपद होने पर अमन्तभाव निपातित है। 'वाच्' कर्म उपपद होने पर **'यम उपरमे'** (भ्वा०प०) धातु से **'वाचि यमो व्रते'** (३।२।४०) से 'खच्' प्रत्यय है।*

*(२) पुरन्दरः। यहां पुर् और दर शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से पुर् पूर्वपद को दर उत्तरपद होने पर **'दॄ विदारणे'** (क्र्या०प०) इस णिजन्त धातु से **'पूःसर्वयोर्दारिसहोः'** (३।२।४१) से 'खच्' प्रत्यय है। **'णेरनिटि'** (६।४।५१) से 'णिच्' का लोप और **'खचि ह्रस्वः'** (६।४।९४) से 'दार्' को ह्रस्व (दर्) होता है।*

मुम्-आगमः-

(४) कारे सत्यागदस्य।७०।

प०वि०-कारे ७।१ सत्य-अगदस्य ६।१।

स०-सत्यं च अगदं च एतयोः समाहारः सत्यागदम्, तस्य-सत्यागदस्य (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, मुमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-सत्यागदस्य कारे उत्तरपदे मुम्।

अर्थः-सत्यागदयोः शब्दयोः कारे शब्दे उत्तरपदे मुम् आगमो भवति।

उदा०-**(सत्यम्)** सत्यं करोतीति सत्यङ्कारः। **(अगदम्)** अगदं करोतीति-अगदङ्कारः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सत्यागदस्य) सत्य और अगद शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (मुम्) मुम् आगम होता है।*

उदा०-(सत्य) सत्यङ्कारः। सत्य प्रतिज्ञावाला। (अगद)-अगदङ्कारः। औषध बनानेवाला। 'विषप्रतिपक्षद्रव्यविशेषकरणम्' (पदमञ्जरी)।

सिद्धि-सत्यङ्कारः। यहां सत्य और कार शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'सत्य' कर्म-उपपद 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'कर्मण्यण्' (३।२।१) से 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सत्य' शब्द को 'कार' उत्तरपद होने पर 'मुम्' आगम होता है। 'मोऽनुस्वारः' (८।३।२३) से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण ङकार होता है। ऐसे ही-अगदङ्कारः।

मुम्-आगमः–

(५) श्येनतिलस्य पाते ञे।७१।

प०वि०-श्येन-तिलस्य ६।१ पाते ७।१ ञे ७।१।

स०-श्येनश्च तिलं च एतयोः समाहारः श्येनतिलम्, तस्य श्येनतिलस्य (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, मुम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-श्येनतिलस्य पाते उत्तरपदे ञे मुम्।

अर्थः-श्येनतिलयोः शब्दयोः पाते शब्दे उत्तरपदे ञे प्रत्यये परतो मुमागमो भवति।

उदा०-(श्येनः) श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तति सा श्यैनंपाता मृगया। **(तिलम्)** तिलपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तति सा तैलम्पाता क्रीडा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्येनतिलस्य) श्येन और तिल शब्दों को (पाते) पात शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद में (ञे) ञ-प्रत्यय परे होने पर (मुम्) मुम् आगम होता है।*

उदा०-(श्येन) श्यैनंपाता मृगया। वह मृगया (शिकार खेलना) कि जिसमें बाज गिराया जाता है। (तिल) तैलम्पाता मृगया। वह मृगया कि जिसमें तिल गिराया जाता है।

सिद्धि-श्यैनम्पाता। यहां श्येन और पात शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'पात्' शब्द में 'पत्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'पात' शब्द से 'घञः साऽस्यां क्रियेति ञः' (४।२।५७) से 'ञ' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'श्येन' शब्द को 'पात' शब्द उत्तरपद होने पर कि जिससे 'ञ' प्रत्यय परे है, मुम् आगम होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अंग को आदिवृद्धि होती है। ऐसे ही-तैलम्पाता क्रीडा।

मुमागम-विकल्पः–

(६) रात्रेः कृति विभाषा।७२।

प०वि०-रात्रेः ६।१ कृति ७।१ विभाषा १।१।

अनु०-उत्तरपदे, मुम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-रात्रेः कृति उत्तरपदे विभाषा मुम्।

अर्थः-रात्रि-शब्दस्य कृदन्ते शब्दे उत्तरपदे विकल्पेन मुमागमो भवति।

उदा०-रात्रौ चरतीति रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः। रात्रावटतीति-रात्रिमटः, रात्र्यटः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(रात्रेः) रात्रि शब्द को (कृति) कृत्-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (मुम्) मुम् आगम होता है।*

उदा०-रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः। रात्रि में विचरण करनेवाला। रात्रिमटः, रात्र्यटः। रात्रि में घूमनेवाला।

उदा०-रात्रिञ्चरः। यहां रात्रि और चर शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। रात्रि उपपद 'चर गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'चरेष्टः' (३।२।१६) से कृत्-संज्ञक 'ट' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'रात्रि' शब्द को कृदन्त 'चर' उत्तरपद होने पर 'मुम्' आगम होता है। विकल्प-पक्ष में 'मुम्' आगम नहीं है-रात्रिचरः। ऐसे ही 'अट गतौ' (भ्वा०प०) धातु से-रात्रिमटः, रात्र्यटः।

नकार-लोपः–

(७) नलोपो नञः।७३।

प०वि०-न-लोपः १।१ नञः ६।१।

स०-नस्य लोप इति नलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नञो नलोप उत्तरपदे।

अर्थः-नञो नकारस्य लोपो भवति, उत्तरपदे परतः।

उदा०-न ब्राह्मण इति अब्राह्मणः। अवृषलः। असुरापः। असोमपः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(नञः) नञ् शब्द के (नलोपः) नकार का लोप होता है (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर।*

उदा०-अब्राह्मणः। जो कि ब्राह्मण नहीं है। अवृषलः। जो कि वृषल नहीं है। असुरापः। जो कि सुरापान करनेवाला नहीं है। असोमपः। जो कि सोमपान करनेवाला नहीं है।

सिद्धि-अब्राह्मणः। यहां नञ् और ब्राह्मण शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'नञ्' शब्द के नकार का ब्राह्मण उत्तरपद होने पर लोप होता है और अकार शेष रहता है। ऐसे ही-अवृषलः आदि।

नुट्-आगमः—

(८) तस्मान्नुडचि।७४।

प०वि०-तस्मात् ५।१ नुट् १।१ अचि ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, नञ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तस्माद् नञोऽचि उत्तरपदे नुट्।

अर्थः-तस्माल्लुप्तनकाराद् नञः परस्य अजादेरुत्तरपदस्य नुडागमो भवति।

उदा०-न अश्व इति अनश्वः। अनजः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तस्मात्) उस लुप्त नकारवाले (नञः) नञ् शब्द से परे (अचि) अजादि (उत्तरपदे) उत्तरपद को (नुट्) नुट् आगम होता है।*

उदा०-अनश्वः। जो कि घोड़ा नहीं है। अनजः। जो कि बकरा नहीं है।

सिद्धि-अनश्वः। यहां नञ् और अश्व शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास है। 'नलोपो नञः' (६।३।७२) से 'नञ्' शब्द के नकार का लोप होता है। इस सूत्र से उस लुप्त नकारवाले 'नञ्' शब्द से परे अजादि अश्व उत्तरपद को 'नुट्' आगम होता है। ऐसे ही-अनजः।

प्रकृतिभावः—

(९) नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनख-नपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या।७५।

प०वि०-नभ्राट्-नपात्-नवेदास्-नासत्याः-नमुचि-नकुल-नख-नपुंसक-नक्षत्र-नक्र- नाकेषु ७।३ प्रकृत्या ३।१।

स०-नभ्राट् च नपाच्च, नवेदाश्च, नासत्याश्च नमुचिश्च नकुलश्च, नखं च नपुंसकं च नक्षत्रं च नक्रश्च नाकं च तानि-नभ्राण्०नाकानि, तेषु-नभ्राण्०नाकेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, नञ इति चनुवर्तते।

अन्वयः-नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु नञ् उत्तरपदे प्रकृत्या।

अर्थः-नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु शब्देषु नञ्-शब्द उत्तरपदे परतः प्रकृत्या भवति। **उदाहरणम्**-

शब्दः	विग्रहः	भाषार्थः
नभ्राट्	न भ्राजते इति नभ्राट्	न चमकनेवाली।
नपात्	न पातयतीति नपात्	कुल को न गिरानेवाला (पौत्र)।
नवेदाः	न वेत्तीति नवेदाः	न जाननेवाला।
नासत्याः	सत्सु साधवः सत्याः, न सत्या इति असत्याः, न असत्या इति नासत्याः।	सज्जनों में साधु सत्य, जो सत्य नहीं वे असत्य और जो असत्य नहीं हैं, वे नासत्या कहाते हैं (अश्विनीकुमार)
नमुचिः	न मुञ्चतीति नमुचिः	न छोड़नेवाला, कामदेव।
नकुलः	नास्य कुलमस्तीति नकुलः	कुल से रहित, नेवला।
नखम्	नास्य खमस्तीति नखम्	आकाश से रहित, नाखुन।
नपुंसकम्	न स्त्री न पुमानिति नपुंसकम्	न स्त्री और न पुरुष, नपुंसक।
नक्षत्रम्	न क्षरति क्षीयते इति वा नक्षत्रम्	क्षरण और क्षीणता से रहित-नक्षत्र।
नक्रः	न क्रामतीति नक्रः	पांव से न चलनेवाला मगरमच्छ, घड़ियाल।
नाकम्	नास्मिन्नकमस्तीति नाकम्	क=सुख। अक=दुःख। जिसमें अक=दुःख नहीं है वह नाक (स्वर्ग)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नभ्राण्०नाकेषु) नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र और नाक शब्दों में (नञ्) नञ् शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है, अर्थात् उसके नकार का लोप नहीं होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) नभ्राट्। *यहां नञ् और भ्राट् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'नञ' शब्द 'भ्राट्' उत्तरपद होने पर प्रकृतिभाव*

से रहता है अर्थात् 'नलोपो नञः' (६।३।७३) से प्राप्त उसके नकार का लोप नहीं होता है। 'भ्राट्' शब्द में 'भ्राजृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) धातु से 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिग्रावस्तुवः क्विप्' (३।२।१७७) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'भ्राज्' के जकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से षकार को जश् डकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से डकार को चर् टकार होता है।

(२) नपात्। यहां नञ् और पात् शब्दों का पूर्ववत् नञ्तत्पुरुष समास है। 'पात्' शब्द में 'पत्लृ गतौ' (भ्वा०प०) इस णिजन्त धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से क्विप्-प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) नवेदाः। यहां नञ् और वेदस् शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। वेदस्' शब्द में 'विद ज्ञाने' (अदा०प०) धातु से 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उणा० ४।१९०) से 'असुन्' प्रत्यय है। 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से दीर्घ होता है।

(४) नासत्याः। यहां नञ् और असत्य शब्दों का 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास है। असत्य शब्द में प्रथम सत् शब्द से 'तत्र साधुः' (४।४।९८) से साधु (योग्य) अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है पश्चात् 'सत्य' शब्द से पूर्ववत् नञ्ततपुरुष समास होकर-असत्य और तत्पश्चात् 'नञ्' और 'असत्य' के नञ्तत्पुरुष समास में इस सूत्र से प्रकृतिभाव होता है।

(५) नमुचिः। यहां नञ् और मुचि शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'मुचि' शब्द में 'मुच्लृ मोचने' (रुधा०प०) धातु से 'इगुपधात् कित्' (उणा० ४।१२१) से 'इन्' प्रत्यय और वह कित् होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(६) नकुलः। यहां नञ् और कुल शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) नखम्। यहां नञ् और खम् शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है।

(८) नपुंसकम्। यहां नञ् और स्त्रीपुंस शब्दों का नञ्तत्पुरुष समास है 'स्त्रीपुंस' के स्थान में पुंसकभाव निपातित है।

(९) नक्षत्रम्। यहां नञ् और क्षत्र शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'क्षत्र' शब्द में 'क्षर संचलने' (भ्वा०प०) धातु से 'त्र' प्रत्यय और धातु के रेफ का लोप निपातित है और 'क्षि निवासगत्योः' (तु०प०) धातु से 'त्र' प्रत्यय और 'क्षि' धातु के इकार को अकार आदेश निपातित है।

(१०) नक्रः। यहां नञ् क्र शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'क्रः' शब्द 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०) धातु से 'ड' प्रत्यय निपातित है।

(११) नाकम्। यहां नञ् और अक शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है।

कम्=सुखम्। अकम्=दुःखम्, तद् यत्र नास्ति स नाकः स्वर्गः।

दुःखेन यन्न सम्भिन्नं न ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम्।। पदमञ्जरी।।

प्रकृतिभाव आदुक्-आगमश्च–

(१०) एकादिश्चैकस्य चादुक्।७६।

प०वि०-एकादिः १।१ च अव्ययपदम्, एकस्य ६।१ च अव्ययपदम्, आदुक् १।१।

स०-एक आदिर्यस्य सः-एकादिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, नञः, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-एकादिश्च नञ् उत्तरपदे प्रकृत्या, एकस्य चाऽऽदुक्।

अर्थः-एकादिश्च नञ्-शब्दे उत्तरपदे परतः प्रकृत्या भवति, एकशब्दस्य चाऽऽदुग् आगमो भवति।

उदा०-एकेन न विंशतिरिति एकान्नविंशतिः, एकान्नत्रिंशत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(एकादिः) एक शब्द आदि में है जिसके वह (नञ्) नञ्-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है (च) और (एकस्य) एक शब्द को (आदुक्) आदुक् आगम होता है।*

उदा०-एकान्नविंशतिः। जो कि एक से बीस नहीं है अर्थात् उन्नीस। एकान्नत्रिंशत्। जो कि एक से तीस नहीं है अर्थात् उणतीस।

सिद्धि-एकान्नविंशतिः। एक+नञ्+विंशति। एक+आदुक्+न+विंशति। एक+आत्+न विंशति। एक+आन्+न+विंशति। एकान्नविंशति+सु। एकान्नविंशति।

यहां एक और नविंशति शब्दों का 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' (२।१।३०) इस सूत्र में 'तृतीया' इस योगविभाग से तृतीयातत्पुरुष समास है।

एक शब्द से परे नञ्-शब्द विंशति शब्द उत्तरपद होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है। 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से 'आत्' के तकार को दकार, 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से इसे अनुनासिक नकार आदेश है। आदुक् आगम को पूर्व का अन्तवत् मानकर विकल्प-पक्ष में 'एकादनविंशतिः' रूप भी होता है। ऐसे ही-एकान्नत्रिंशत्, एकादनत्रिंशत्।

प्रकृतिभाव-विकल्पः–

(११) नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ।७७।

प०वि०–नगः १।१ अप्राणिषु ७।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०–न प्राणिन इति अप्राणिनः, तेषु–अप्राणिषु (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उत्तरपदे, नञः, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अप्राणिषु नगो नञ् उत्तरपदेऽन्यतरस्यां प्रकृत्या।

अर्थः–अप्राणिषु वर्तमानो यो नगः शब्दोऽत्र च यो नञ् स उत्तरपदे परतो विकल्पेन प्रकृत्या भवति।

उदा०–न गच्छन्तीति नगाः। नगा वृक्षाः, अगा वृक्षाः। नगाः पर्वताः, अगाः पर्वताः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अप्राणिषु) अप्राणी अर्थों में विद्यमान (नगः) जो नग शब्द है (नञ्) और इसमें जो नञ् शब्द है वह (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०–नगा वृक्षाः। अगा वृक्षाः। न चलनेवाले-वृक्ष। नगाः पर्वताः, अगाः पर्वताः। न चलनेवाले पहाड़।

सिद्धि–नगः। यहां 'नञ्' और 'ग' शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'ग' शब्द में 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से वा०-'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।४८) से 'ड' प्रत्यय है। प्रत्यय के डित् होने से वा०-'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से गम् के टि-भाग (अम्) का लोप होता है। इस सूत्र से अप्राणीवाची 'नग' शब्द में 'ग' शब्द उत्तरपद होने पर 'नञ्' शब्द प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'नलोपो नञः' (६।३।७३) से नञ् के नकार का लोप नहीं होता है। विकल्प-पक्ष में नकार का लोप होकर 'अगः' रूप भी बनता है।

।। इति आगम-प्रकरणम् ।।

आदेश-प्रकरणम्

स-आदेशः–

(१) सहस्य स संज्ञायाम् ।७८।

प०वि०–सहस्य ६।१ सः १।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०–उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायां सहस्य उत्तरपदे सः।

अर्थः-संज्ञायां विषये सह-शब्दस्य स्थाने उत्तरपदे परतः स-आदेशो भवति।

उदा०-अश्वत्थेन सह वर्तते इति साश्वत्थम्। सपलाशम्, सशिंशपम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (सहस्य) सह शब्द के स्थान में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

*उदा०-**साश्वत्थम्**। अश्वत्थ (पीपळ) के साथ वर्तमान। **सपलाशम्**। पलाश (ढाक) के साथ वर्तमान। **सशिंशपम्**। शिंशपा (शीशम) के साथ वर्तमान।*

*सिद्धि-**साश्वत्थम्**। यहां सह और अश्वत्थ शब्दों का 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।८) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में सह के स्थान में अश्वत्थ उत्तरपद होने पर स-आदेश होता है। ऐसे ही-**सपलाशम्, सशिंशिपम्**।*

स-आदेशः-

(२) ग्रन्थान्ताधिके च।७६।

प०वि०-ग्रन्थान्त-अधिके ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-ग्रन्थस्य अन्त इति ग्रन्थान्तः। ग्रन्थान्तश्च अधिकं च एतयोः समाहारः-ग्रन्थान्ताधिकम्, तस्मिन्-ग्रन्थान्ताधिके (षष्ठीगर्भितसमाहार-द्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ग्रन्थान्ताधिके च सहस्य उत्तरपदे सः।

अर्थः-ग्रन्थान्तेऽधिके चार्थे वर्तमानस्य सह-शब्दस्य स्थाने उत्तरपदे परतः स-आदेशो भवति।

उदा०-(ग्रन्थान्तम्) सह कलया वर्तते इति सकलम्। सकलं ज्यौतिषमधीते। कला=कालविशेषः, तत्सहचरितो ग्रन्थोऽपि 'कला' इत्युच्यते। मुहूर्तेन सह वर्तते इति समुहूर्तम्। समुहूर्तं ज्यौतिषमधीते। **(अधिकम्)** द्रोणेन सह वर्तते इति सद्रोणा खारी। समाषः कार्षापणः। सकाकिणीको माषः।

"ससंग्रहं व्याकरणमधीयते, इत्येतदुदाहरणं प्रमादादिदानीन्तनैः कुलेखकैर्लिखितम्, तत्र हि **'अव्ययभावे चाकाले'** (६।३।८१) इत्येव सिद्धः सभावः" (न्यासकारः)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ग्रन्थान्ताधिके) ग्रन्थान्त और अधिक अर्थ में (च) भी विद्यमान (सहस्य) सह शब्द के स्थान में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-(ग्रन्थान्त) ***सकलं ज्यौतिषमधीते।*** *कालविशेष को 'कला' कहते हैं, तत्सहचरित ग्रन्थ भी 'कला' कहाता है। वह कलापर्यन्त ज्यौतिष ग्रन्थ को पढ़ता है।* ***समुहूर्तं ज्यौतिषमधीते।*** *वह मुहूर्त विषयपर्यन्त ज्यौतिष ग्रन्थ को पढ़ता है। (अधिक)* ***सद्रोणा खारी।*** *खारी परिमाण द्रोण से अधिक है।* ***समाषः कार्षापणः।*** *कार्षापण सिक्का माष नामक सिक्के से अधिक है।* ***सकाकिणीको माषः।*** *माष नामक सिक्का काकिणी नामक सिक्के से अधिक है।*

विशेषः *(१) कला=चन्द्रमण्डल का १६वां भाग। (२) द्रोण=२०० पल=८०० तोला (१० सेर)। खारी=१६० सेर (४ मण)। कार्षापण=३२ रत्ती चांदी का सिक्का। माष=२ रत्ती चांदी का सिक्का। काकिणी=१/२ रत्ती चांदी का सिक्का।*

स-आदेशः--

(३) द्वितीये चानुपाख्ये।८०।

प०वि०-द्वितीये ७।१ च अव्ययपदम्, अनुपाख्ये ७।१।

स०-उपाख्यायते=प्रत्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः, न उपाख्य इति अनुपाख्यः, तस्मिन्-अनुपाख्ये, अनुमेये इत्यर्थः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य, स इति चानुवतति।

अन्वयः-सहस्य अनुपाख्ये द्वितीये चोत्तरपदे सः।

अर्थः-सह-शब्दस्य स्थानेऽनुपाख्ये द्वितीये शब्दे उत्तरपदे परतः स-आदेशो भवति।

उदा०-अग्निना सह वर्तते इति साग्निः। साग्निर्धूमः। सवृष्टिर्मेघः। द्वयोः सहयुक्तयोर्योऽप्रधानः स द्वितीय इति कथ्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सहस्य) सह शब्द के स्थान में (अनुपाख्ये) अनुमान के योग्य (द्वितीये) अप्रधानवाची (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (च) भी (सः)-आदेश होता है।*

उदा०-साग्निर्धूमः। धूम (धूंवा) अग्नि के साथ वर्तमान है। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। यहां धूम और अग्नि दो सहयुक्त पदार्थ हैं, इनमें धूम प्रधान और अग्नि द्वितीय अर्थात् अप्रधान और अनुपाख्य=अनुमेय है। धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। सवृष्टिर्मेघः। मेघ वृष्टि के साथ वर्तमान है। 'मेघोन्नतिं दृष्ट्वाऽनुमीयते भविष्यति वृष्टिरिति।' मेघों की वृद्धि को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि वृष्टि होगी। यहां वृष्टि और मेघ दो सहयुक्त पदार्थ हैं, इनमें मेघ प्रधान और वृष्टि अर्थात् द्वितीय अप्रधान है और अनुपाख्य=अनुमेय है।

सिद्धि-साग्निः। यहां सह और अग्नि शब्दों का 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से 'सह' शब्द के स्थान में अनुपाख्य (अनुमेय) तथा द्वितीय=अप्रधानवाची अग्नि शब्द उत्तरपद होने पर स-आदेश होता है। ऐसे ही-सवृष्टिः।

***विशेषः** यहां काशिका में 'साग्निः कपोतः, सपिचाशा वात्या' और 'सराक्षसीका शाला' उदाहरण दिये गये हैं। कपोत को देखकर अग्नि का अनुमान, वात्या (भबूळिया) को देखकर पिशाच का अनुमान और शाला (फूटा ढूंढ़) को देखकर राक्षसी का अनुमान करना अन्धविश्वास से ग्रस्त है।*

स-आदेशः--

(४) अव्ययीभावे चाकाले।८१।

प०वि०-अव्ययीभावे ७।१ च अव्ययपदम्, अकाले ७।१।

स०-न काल इति अकालः, तस्मिन्-अकाले (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अव्ययीभावे सहस्य अकाले उत्तरपदे च सः।

अर्थः-अव्ययीभावे समासे सह-शब्दस्य स्थाने अकालवाचिनि शब्दे उत्तरपदे च स-आदेशो भवति।

उदा०-युगपच्चक्रमिति सचक्रम्। सचक्रं धेहि। सधुरं प्राज। महाभाष्यस्यान्त इति समहाभाष्यम्। समहाभाष्यं व्याकरणमधीते।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अव्ययीभावे) अव्ययीभाव समास में (सहस्य) सह शब्द के स्थान में (अकाले) कालवाची शब्द से भिन्न (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-सचक्रं धेहि। तू युगपत् (एक साथ) चक्र को धारण कर। सधुरं प्राज। तू युगपत् धुर् (जूआ) को दूर फैंक। समहाभाष्यं व्याकरणमधीते। वह महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण पढ़ता है।

सिद्धि-(१) सचक्रम्। यहां सह और चक्र शब्दों का 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) से यौगपद्य अर्थ में अव्ययीभाव समास है। इस सूत्र से अव्ययीभाव समास में सह शब्द को कालवाची से भिन्न चक्र शब्द उत्तरपद होने पर स-आदेश होता है।

(२) सधुरम्। यहां सह और धुर् शब्दों का पूर्ववत् अव्ययीभाव समास है। 'ऋक्पूरब्धू:पथामानक्षे' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) समहाभाष्यम्। यहां सह और महाभाष्य शब्दों का पूर्ववत् अन्तवचन अर्थ में अव्ययीभाव समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

सादेश-विकल्पः-

(५) वोपसर्जनस्य।८२।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, उपसर्जनस्य ६।१।

उपसर्जनसर्वावयवः समास उपसर्जनमिति कथ्यते। यस्य समासस्य सर्वेऽवयवा उपसर्जनीभूताः स सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिसमासोऽत्रोपसर्जनशब्देन गृह्यते।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपसर्जनस्य सहस्य उत्तरपदे वा सः।

अर्थः-उपसर्जनस्य=बहुव्रीहिसमासस्यावयवभूतस्य सह-शब्दस्य स्थाने उत्तरपदे परतो विकल्पेन स-आदेशो भवति।

उदा०-पुत्रेण सह इति सपुत्रः, सहपुत्रः। सच्छात्रः, सहच्छात्रः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(उपसर्जनस्य) जिसमें सब अवयव उपसर्जन हैं उस बहुव्रीहि समास के अवयव भूत (सहस्य) सह शब्द के स्थान में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (वा) विकल्प से (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-सपुत्रः, सहपुत्रः। पुत्र के सहित पिता। सच्छात्रः, सहच्छात्रः। छात्रों के सहित उपाध्याय।

सिद्धि-सपुत्रः। यहां सह और पुत्र शब्दों का 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२७) से उपसर्जन=बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि समास में सब शब्द उपसर्जन-संज्ञक होते हैं क्योंकि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' (१।२।४३) अर्थात् समास-विधायक सूत्रों में जो पद प्रथमा-विभक्ति से निर्दिष्ट किया गया है उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है।

'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) इस बहुव्रीहि समासविधायक सूत्र में 'अनेकम्' पद प्रथमा-विभक्ति से निर्दिष्ट है अतः इस समास में सब शब्द उपसर्जन हैं। यहां 'उपसर्जन' शब्द से सर्वोपसर्जन=बहुव्रीहि समास का ही ग्रहण किया गया है। इस सूत्र से उपसर्जन= बहुव्रीहि समास में सह शब्द को उत्तरपद परे होने पर स-आदेश होता है। विकल्प पक्ष में स-आदेश नहीं है-सहपुत्रः। ऐसे ही-सच्छात्रः, सहच्छात्रः।

प्रकृतिभावः-

(६) प्रकृत्याशिषि।८३।

प०वि०-प्रकृत्या ३।१ आशिषि ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आशिषि सह उत्तरपदे प्रकृत्या।

अर्थः-आशिषि विषये सह-शब्द उत्तरपदे परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-पुत्रेण सह इति सहपुत्रः, तस्मै-सहपुत्राय। स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय, सहच्छात्राय, सहामात्याय।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आशिषि) आशीर्वाद विषय में (सहः) सह-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय, सहच्छात्राय, सहामात्याय। पुत्रों के सहित, छात्रों के सहित और मन्त्रियों के सहित राजा देवदत्त का कल्याण हो।

सिद्धि-सहपुत्राय। यहां सह और पुत्र शब्दों का तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से आशीर्वाद विषय में सह शब्द पुत्र उत्तरपद होने पर प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् उसके स्थान में स-आदेश नहीं होता है। 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' (२।३।१६) से स्वस्ति के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। ऐसे ही-सहच्छात्राय, सहामात्याय।

विशेषः *'प्रकृत्याशिषि' यह पाणिनीय सूत्रपाठ है। काशिकाकार ने इसमें 'अगोवत्सहलेषु' यह पाठ मिश्रित किया है।*

स-आदेशः-

(७) समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु।८४।

प०वि०-समानस्य ६।१ छन्दसि ७।१ अमूर्ध-प्रभृति-उदर्केषु ७।३।

स०-मूर्धा च प्रभृतिश्च उदर्कश्च ते मूर्धप्रभृत्युदर्काः, न मूर्धप्रभृत्युदर्का इति अमूर्धप्रभृत्युदर्काः, तेषु-अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि समानस्य अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु उत्तरपदेषु सः।

अर्थः-छन्दसि विषये समान-शब्दस्य स्थाने मूर्धप्रभृत्युदर्कवर्जितेषु उत्तरपदेषु परतः स-आदेशो भवति।

उदा०-अनु भ्राता सगर्भ्यः (यजु० ४।२०)। अनु सखा सयूथ्यः (यजु० ४।२०)। यो नः सनुत्यः (ऋ० २।३०।९)।

आर्यभाषाः अर्थ-*(छन्दसि) वेदविषय में (समानस्य) समान शब्द के स्थान में (अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु) मूर्धन्, प्रभृति और उदर्क से भिन्न (उत्तरपदेषु) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-अनु भ्राता सगर्भ्यः (यजु० ४।२०)। हे मुनष्य ! तुझे सगर्भ्य=सगा भाई विद्याप्राप्ति के लिये अनुमति प्रदान करे। अनु सखा सयूथ्यः (यजु० ४।२०)। एक समूह में रहनेवाला मित्र तुझे विद्या-प्राप्ति के लिये अनुमति प्रदान करे। यो नः सनुत्यः (ऋ० २।३०।९)। वह बृहस्पति (विदज्ञ विद्वान्) हमारे लिये समान रूप से स्तुति के योग्य है।

सिद्धि-सगर्भ्यः। यहां समान और गर्भ शब्दों का 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्य-समानमध्यमध्यमवीराश्च' (२।१।५८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वेदविषय में समान शब्द के स्थान में गर्भ उत्तरपद होने परे स-आदेश होता है। तत्पश्चात् 'सगर्भ' शब्द से 'सगर्भसयूथसनुताद् यन्' (४।४।११४) से भव-अर्थ में 'यन्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही-'सयूथ' शब्द से-सयूथ्यः, और 'सनुत' शब्द से-सनुत्यः।

स-आदेशः-

(८) ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप-स्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु।८५।

प०वि०- ज्योतिर्-जनपद-रात्रि-नाभि-नाम-गोत्र-रूप-स्थान-वर्ण-वयस्-वचन-बन्धुषु ७।३।

स०-ज्योतिश्च जनपदश्च रात्रिश्च नाभिश्च नाम च गोत्रं च रूपं च स्थानं च वर्णश्च वयश्च वचनं च बन्धुश्च ते ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुवः, तेषु-ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, समानस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समानस्य ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु उत्तरपदेषु सः।

अर्थः-समानशब्दस्य स्थाने ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु उत्तरपदेषु परतः स-आदेशो भवति। **उदाहरणम्**-

उत्तरपदम्	शब्द-रूपम्	भाषार्थः
ज्योतिः	समानं ज्योतिर्यस्य सः-सज्योतिः	समान ज्योतिवाला।
जनपदः	समानो जनपदो यस्य सः-सजनपदः	समान जनपदवाला।
रात्रिः	समाना रात्रिर्यस्य सः-सरात्रिः	समान रात्रिवाला।
नाभिः	समाना नाभिर्यस्य सः-सनाभिः	समान नाभिवाला।
नामन्	समानं नाम यस्य सः-सनामा	समान नामवाला।
गोत्रम्	समानं गोत्रं यस्य सः-सगोत्रः	समान गोत्रवाला।
रूपम्	समानं रूपं यस्य सः-सरूपः	समान रूपवाला।
स्थानम्	समानं स्थानं यस्य सः-सस्थानः	समान स्थानवाला।
वर्णः	समानो वर्णो यस्य सः-सवर्णः	समान वर्णवाला।
वयः	समानं वयो यस्य सः-सवयाः	समान आयुवाला।
वचनः	समानं वचनं यस्य सः-सवचनः	समान वचनवाला।
बन्धुः	समानो बन्धुर्यस्य सः-सबन्धुः	समान बन्धुवाला।
		समान=सदृश/एक।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(समानस्य) समान शब्द के स्थान में (ज्योतिर्०बन्धुषु) ज्योतिर्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन और गोत्र (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

***उदा०**-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत भाग में लिखा है।*

सिद्धि-सज्योतिः। यहां समान और ज्यातिष् शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से समान के स्थान में ज्योतिष् उत्तरपद होने पर स-आदेश होता है। ऐसे ही-सजनपदः, आदि।

'सनामा' यहां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।९) से तथा 'सवयाः' यहां 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) से दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

स-आदेशः–

(६) चरणे ब्रह्मचारिणि।८६।

प०वि०-चरणे ७।१ ब्रह्मचारिणि ७।१।

स०-ब्रह्म=वेदः, वेदस्याध्ययनार्थं यद् व्रतं तदपि 'ब्रह्म' इत्युच्यते। ब्रह्म=वेदाध्ययनव्रतं चरतीति ब्रह्मचारी (उपपदतत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, समानस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समानस्य ब्रह्मचारिणि उत्तरपदे सः, चरणे।

अर्थः-समानशब्दस्य स्थाने ब्रह्मचारिणि उत्तरपदे परतः स-आदेशो भवति, चरणे गम्यमाने।

उदा०-समानो ब्रह्मचारीति सब्रह्मचारी। समाने ब्रह्मणि व्रतचारीति सब्रह्मचारी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समानस्य) समान शब्द के स्थान में (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है (चरणे) यदि वहां चरण अर्थ अभिधेय हो। चरण=वैदिक विद्यापीठ।*

उदा०-सब्रह्मचारी। ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद है। वेद के अध्ययन के लिये जो व्रत किया जाता है वह भी 'ब्रह्म' कहाता है। जो एक काल में वेद की एक शाखाविशेष के लिये व्रत का अनुष्ठान करते हैं, वे परस्पर सब्रह्मचारी कहाते हैं।

सिद्धि-सब्रह्मचारी। यहां समान और ब्रह्मचारी शब्दों का 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्य-समानमध्यमध्यमवीराश्च' (२।१।५८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से शब्द के स्थान में ब्रह्मचारी उत्तरपद होने पर तथा चरणविशेष अर्थ में स-आदेश होता है।

स-आदेशः–

(१०) तीर्थे ये।८७।

प०वि०-तीर्थे ७।१ ये ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, समानस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समानस्य ये तीर्थे उत्तरपदे सः।

अर्थः-समानशब्दस्य स्थाने य-प्रत्ययान्ते तीर्थशब्दे उत्तरपदे परतः स-आदेशो भवति।

उदा०-समाने तीर्थे वसतीति सतीर्थ्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समानस्य) समान शब्द के स्थान में (ये) य-प्रत्ययान्त (तीर्थे) तीर्थ-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-सतीर्थ्यः। समान तीर्थ=उपाध्याय (गुरु) के पास में रहनेवाला।

सिद्धि-सतीर्थ्यः। यहां समान और तीर्थ शब्दों का 'पूर्वापर०' (२।१।५८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। तत्पश्चात् 'समानतीर्थ' शब्द से 'समानतीर्थे वासी' (४।४।१०७) से 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'समान' शब्द के स्थान में यत्-प्रत्ययान्त 'तीर्थ्य' शब्द उत्तरपद होने पर स-आदेश होता है।

सादेश-विकल्पः-

(११) विभाषोदरे।८८।

प०वि०-विभाषा १।१ उदरे ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, सहस्य, सः, ये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समानस्य ये उदरे उत्तरपदे विभाषा सः।

अर्थः-समानशब्दस्य स्थाने य-प्रत्ययान्ते उदरशब्दे उत्तरपदे परतो विकल्पेन स-आदेशो भवति।

उदा०-समानोदरे शयित इति सोदर्यो भ्राता। समानोदर्यो भ्राता।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समानस्य) समान शब्द के स्थान में (ये) य-प्रत्ययान्त (उदरे) उदरशब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-सोदर्यो भ्राता। समान=एक उदर में शयन किया हुआ सगा भाई। समानोदर्यो भ्राता। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) सोदर्यः। यहां समान और उदर शब्दों का 'पूर्वापर०' (२।२।५८) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। 'सोदराद् यः' (४।४।१०९) से 'य' प्रत्यय की विवक्षा में इस सूत्र से समान के स्थान में स-आदेश होता है।

(२) समानोदर्यः। यहां समान और उदर शब्दों का पूर्ववत् कर्मधारय तत्पुरुष समास है। उदर शब्द से 'समानोदरे शयित ओ चादात्तः' (४।४।१०८) से यत् प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प पक्ष में समान के स्थान में स-आदेश नहीं है।

विशेषः *यहां 'य' प्रत्यय का सामान्य से ग्रहण किया है अतः इससे 'य' और 'यत्' दोनों प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'सोदर्यः' में 'य' प्रत्यय और 'समानोदर्यः' में 'यत्' प्रत्यय है। 'सतीर्थ्यः' में भी 'यत्' प्रत्यय है।*

स-आदेशः–

(१२) दृक्दृशवतुषु।८६।

प०वि०–दृक्-दृश-वतुषु ७।३।

स०–दृक् च दृशश्च वतुश्च ते-दृक्दृशवतवः, तेषु-दृक्दृशवतुषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, समानस्य, स इति चानुवर्तते।

अन्वयः–समानस्य दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु सः।

अर्थः–समानशब्दस्य स्थाने दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु परतःस-आदेशो भवति।

उदा०–(दृक्) समानं पश्यतीति सदृक्। (दृशः) समानं पश्यतीति सदृशः। अत्र दृशधातुस्तुल्यभावेऽर्थे वर्तते नालोचने, **'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'** (महाभाष्यम्)।

अत्र वतु-ग्रहणमुत्तरार्थम्, स च प्रत्ययोऽत उत्तरपदेन सह न युज्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समानस्य) समान शब्द के स्थान में (दृक्दृशवतुषु) दृक्, दृश और वतु (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सः) स-आदेश होता है।*

उदा०-(दृक्) सदृक्। समान=एक के तुल्य होना। (दृश) सदृशः। अर्थ पूर्ववत् है।

यहां 'वतु' का ग्रहण उत्तर-सूत्र के लिये किया गया है। 'वतु' प्रत्यय है अतः इसका उत्तरपद के साथ योग नहीं होता है।

सिद्धि-सदृक्। यहां समान और दृक् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'दृक्' शब्द में 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' (३।२।६०) से 'क्विन्' प्रत्यय है। यहां 'दृश्' धातु तुल्यभाव अर्थ में है प्रेक्षण=आलोचन (देखना) अर्थ में नहीं 'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'

(महाभाष्य)। 'क्विन्' प्रत्यय का 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६७) से सर्वहारी लोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।२।६२) से दृश् के शकार को कुत्व खकार, 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से खकार को जश्त्व गकार और 'वावसाने' (८।४।५५) से गकार को चर्त्व ककार होता है। इस सूत्र से समान के स्थान में दृश्-उत्तरपद परे होने पर स-आदेश होता है।

(२) सदृशः। यहां समान और दृश शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'दृश' शब्द में 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' (३।२।६०) से 'कञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

ईश्-की आदेशौ–

(१३) इदं किमोरीश्की।६०।

प०वि०–इदम्-किमोः ६।२ ईश्-की १।१।

स०–इदं च किं च तौ–इदं किमौ, तयोः–इदं किमोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। ईश् च की च एतयोः समाहार ईश्की (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, दृक्दृशवतुषु इति चानुवर्तते।

अन्वयः–इदंकिमोर्दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु ईश्की।

अर्थः–इदंकिमोः शब्दयोः स्थाने दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु परतो यथासंख्यम् ईश्की आदेशौ भवतः।

उदा०–**(इदम्)** इदमिव पश्यतीति–ईदृक्, ईदृशः। इदं परिमाणमस्य इति इयान्। **(किम्)** किमिव पश्यतीति–कीदृक्, कीदृशः। किं परिमाणमस्य इति कियान्।

ईदृक्, ईदृश। कीदृक्, कीदृश इत्यत्र व्युत्पत्तिमात्रार्थे विग्रहः क्रियते, न तु विग्रहवाक्येनावयवार्थ उपदर्शितो भवति, रूढिशब्दा हि एते। 'वतुः' इति प्रत्ययः स उत्तरपदेन सह न युज्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(इदंकिमोः) इदम् और किम् शब्दों के स्थान में (दृक्दृशवतुषु) दृक्, दृश् और वतु (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (ईश्की) यथासंख्य ईश् और की आदेश होते हैं।*

उदा०-(इदम्) ईदृक्, ईदृशः। इसके तुल्य=ऐसा। इयान्। यह परिमाणवाला=इतना। (किम्) कीदृक्, कीदृशः। किसके तुल्य=कैसा। कियान्। क्या परिमाणवाला=कितना।

ईदृक्, ईदृशः और कीदृक्, कीदृशः यहां व्युत्पत्तिमात्र के लिये विग्रह किया जाता है, विग्रहवाक्य से अवयवार्थ उपदर्शित नहीं होता है क्योंकि ये रूढि शब्द है। यहां 'वतु' प्रत्यय है, अतः इसका उत्तरपद के साथ योग नहीं है।

सिद्धि-(१) ईदृक्। यहां इदम् और दृक् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से इदम् के स्थान में 'दृक्' उत्तरपद होने पर 'ईश्' आदेश होता है। आदेश के शित् होने से यह 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (१।१।५५) से सर्वादेश किया जाता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-ईदृशः।

(२) इयान्। यहां इदम् शब्द से 'किमिदंभ्यां वो घः' (५।२।४०) से वतुप् प्रत्यय है। इस सूत्र से इदम् के स्थान में वतुप् प्रत्यय परे होने पर 'ईश्' आदेश होता है। पूर्वोक्त सूत्र से 'वतुप्' के 'व' को 'घ' आदेश और 'आयनेय०' (७।१।२) से 'घ' को 'इय' आदेश होकर 'यस्येति च' (६।४।१४८) से 'ईश्' के ईकार का लोप होता है। प्रत्यय के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से नुम् आगम और 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौः' (६।४।८) से उपधा को दीर्घ होता है।

(३) कीदृक्। यहां किम् और दृक् शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से किम् के स्थान में दृक् उत्तरपद होने पर की-आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-कीदृशः।

(४) कियान्। यहां किम् शब्द से पूर्ववत् वतुप् प्रत्यय है। इस सूत्र से किम् के स्थान पर वतुप्-प्रत्यय परे होने पर की-आदेश होता है। शेष कार्य 'इयान्' के समान है।

आकार-आदेशः-

(१४) आ सर्वनाम्नः।६१।

प०वि०-आ १।१ (सु-लुक्) सर्वनाम्नः ६।१।

अनु०-उत्तरपदे, दृक्दृशवतुषु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सर्वनाम्नो दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु आः।

अर्थः-सर्वनामसंज्ञकस्य शब्दस्य दृक्दृशवतुषु उत्तरपदेषु परत आकारादेशो भवति।

उदा०-(दृक्) तत् पश्यतीति तादृक्। यत् पश्यतीति यादृक्। **(दृशः)** तत् पश्यतीति तादृशः। यत् पश्यतीति यादृशः। **(वतुः)** तत् परिमाणमस्य इति तावान्। यत् परिमाणमस्य इति यावान्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(सर्वनाम्नः) सर्वनामसंज्ञक शब्द को (दृक्दृशवतुषु) दृक्, दृश और वतु (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (आ) आकार आदेश होता है।*

उदा०-(दृक्) तादृक्। उसके तुल्य-वैसा। यादृक्। जिसके तुल्य-जैसा। (दृश) तादृशः, यादृशः। अर्थ पूर्ववत् है। (वतु) तावान्। उस परिमाणवाला=उतना। यावान्। जिस परिमाणवाला=जितना।

सिद्धि-(१) तादृक्। यहां तत् और दृक् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (१।१।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञक 'तत्' शब्द को दृक् उत्तरपद परे होने पर आकार आदेश होता है। यह 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) से अन्त्य अल् के स्थान में किया जाता है। तत् शब्द की 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) से सर्वनाम संज्ञा है। ऐसे ही 'यत्' शब्द से-यादृक्।

(२) तादृशः। यहां तत् दृश शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'यत्' प्रत्यय से-यादृशः।

(३) तावान्। यहां तत् शब्द से 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' (५।२।३९) से 'वतुप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से तत् को वतुप् प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। शेष कार्य 'इयान्' (६।३।९०) के समान है। ऐसे ही 'यत्' शब्द से-यावान्।

अद्रि-आदेशः-

(१५) विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये।६२।

प०वि०-विष्वक्-देवयोः ६।२ च अव्ययपदम्, टेः ६।१ अद्रि १।१ (सु-लुक्) अञ्चतौ ७।१ अप्रत्यये ७।१।

स०-विष्वक् च देवश्च तौ विष्वग्देवौ, तयोः-विष्वग्देवयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अविद्यमानः प्रत्ययो यस्मात् सः-अप्रत्ययः, तस्मिन्-अप्रत्यये (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, सर्वनाम्न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्च टेरप्रत्ययेऽञ्चतौ उत्तरपदेऽद्रिः।

अर्थः-विष्वग्देवयोः शब्दयोः सर्वनामसंज्ञकस्य शब्दस्य टि-भागस्य स्थाने अप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे परतोऽद्रिरादेशो भवति।

उदा०-(विष्वक्) विश्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्। **(देवः)** देवमञ्चतीति देवद्र्यङ्। **(सर्वनाम)** तद् अञ्चतीति तद्र्यङ्। यदञ्चतीति यद्र्यङ्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(विष्वग्देवयोः) विष्वक् और देव शब्द और (सर्वनाम्नः) सर्वनामसंज्ञक शब्द के (टेः) टि-भाग को (अप्रत्यये) अ-प्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चति-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (अद्रिः) अद्रि आदेश होता है।*

उदा०-(विष्वक्) विष्वद्र्यङ्। विष्वक्=सब में व्यापक। (देव) देवद्र्यङ्। देवों में व्यापक। (सर्वनाम) तद्र्यङ्। उसमें व्यापक। यद्र्यङ्। उसमें व्यापक।

सिद्धि-विष्वद्र्यङ्। विष्व्+अञ्चु+क्विन्। विष्वक्+अञ्च्+वि। विष्वक्+अञ्च्+०। विष्व् अद्रि+अनुम् च्+०। विष्वद्रि+अन् च्। विष्वद्रि+अन्०। विष्वद्रि+अङ्। विष्वद्र्यङ्+सु। विष्वद्र्यङ्।

यहां विष्वक् उपपद 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६७) से 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वहारी लोप होता है। इस सूत्र से विष्वक् शब्द के टि-भाग (अक्) को व-प्रत्ययान्त अञ्च्-शब्द परें होने पर अद्रि आदेश होता है। यहां 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से अञ्च् धातु के उपधाभूत नकार का लोप, प्रत्यय के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से अच् को नुम् आगम होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से सु का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से संयोगान्त चकार का लोप, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।२।६२) से नुम् के नकार को कुत्व ङकार होता है। ऐसे ही-देवद्र्यङ्।

(२) तद्र्यङ्। यहां तत् और अङ् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञक तत् शब्द के टि-भाग (अत्) को व-प्रत्ययान्त 'अञ्च्' शब्द परे होने पर अद्रि-आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'यत्' शब्द से-यद्र्यङ्।

***विशेषः** इस सूत्र में 'अप्रत्यये' के स्थान में 'वप्रत्यये' पाठ भी काशिका में मिलता है। अश्रूयमाणः प्रत्ययः=अप्रत्ययः। अश्रूयमाण प्रत्यय अप्रत्यय कहाता है। 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वहारी लोप होने से यह सुनाई नहीं देता है, अतः यह 'अप्रत्यय' है। प्रत्ययस्थ वकार की दृष्टि से इसे 'वप्रत्यय' भी कहा जा सकता है।*

समि-आदेशः—

(१६) समः समि।६३।

प०वि०-समः ६।१ समि १।१ (सु-लुक्)।

अनु०-उत्तरपदे, अञ्चतौ, अप्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-समोऽप्रत्ययेऽञ्चतावुत्तरपदे समिः।

अर्थः-सम्-शब्दस्य स्थानेऽप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे परतः समिरादेशो भवति।

उदा०-समञ्चतीति सम्यङ्। सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(समः) सम् शब्द के स्थान में (अप्रत्यये) अ-प्रत्ययन्त (अञ्चतौ) अञ्चति शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (समिः) समि आदेश होता है।*

*उदा०-**सम्यङ्**। मिलकर चलनेवाला (ठीक)। **सम्यञ्चौ**। दो मिलकर चलनेवाले। **सम्यञ्चः**। सब मिलकर चलनेवाले। "**सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया**" (अथर्व० ३।३०।३)।*

*सिद्धि-**सम्यङ्**। यहां सम् और अङ् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सम्-शब्द के स्थान में अ-प्रत्ययान्त अञ्च् उत्तरपद होने पर समि आदेश होता है। शेष कार्य 'विष्वद्र्यङ्' (६।३।९२) के समान है।*

तिरि-आदेशः—

(१७) तिरसस्तिर्यलोपे।६४।

प०वि०-तिरसः ६।१ तिरि १।१ (सु-लुक्) अलोपे ७।१।

स०-न लोप इति अलोपः, तस्मिन्-अलोपे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, अञ्चतौ, अप्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तिरसोऽलोपेऽप्रत्ययेऽञ्चतावुत्तरपदे तिरिः।

अर्थः-तिरस्-शब्दस्य स्थाने लोपरहितेऽप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे परतस्तिरिरादेशो भवति।

उदा०-तिरोऽञ्चतीति तिर्यङ्। तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तिरसः) तिरस् शब्द के स्थान में (अलोपे) लोप आदेश से रहित (अप्रत्यये) अ-प्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चति शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (तिरिः) तिरि आदेश होता है।*

*उदा०-**तिर्यङ्**। टेढ़ा चलनेवाला। **तिर्यञ्चौ**। दो टेढ़े चलनेवाले। **तिर्यञ्चः**। सब टेढ़े चलनेवाले।*

*सिद्धि-**तिर्यङ्**। यहां तिरस् और अङ् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तिरस् के स्थान में लोप आदेश से रहित, अ-प्रत्ययान्त, अञ्च् उत्तरपद होने पर 'तिरि' आदेश होता है। शेष कार्य 'विष्वद्र्यङ्' (६।३।९२) के समान है।*

'अलोप' का कथन इसलिये किया गया है कि जहां अञ्चति के अकार को लोप-आदेश होता है वहां तिरस् को तिरि आदेश न हो जैसे- 'तिरश्चा' (३।१), 'तिरश्चे' (४।१)। यहां 'अचः' (६।४।१३८) से अञ्चति के अकार का लोप होता है अतः यहां तिरस् को तिरि आदेश नहीं होता है।

सध्रि-आदेशः–

(१८) सहस्य सध्रिः।६५।

प०वि०–सहस्य ६।१ सध्रिः १।१।

अनु०–उत्तरपदे, अञ्चतौ, अप्रत्यये इति चानुवर्तते।

अन्वयः–सहस्य अप्रत्ययेऽञ्चतावुत्तरपदे सध्रिः।

अर्थः–सहशब्दस्य स्थानेऽप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे परतः सध्रिरादेशो भवति।

उदा०–सहाञ्चतीति सध्र्यङ्। सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्र्यञ्चः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सहस्य) सह शब्द के स्थान में (अप्रत्यये) अ-प्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चति शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सध्रिः) सध्रि आदेश होता है।*

*उदा०–**सध्र्यङ्**। साथ चलनेवाला। **सध्र्यञ्चौ**। दो साथ चलनेवाले। **सध्र्यञ्चः**। सब साथ चलनेवाले।*

*सिद्धि–**सध्र्यङ्**। यहां सह और अङ् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से सह के स्थान में अ-प्रत्ययान्त अञ्च् उत्तरपद होने पर सध्रि आदेश होता है। शेष कार्य 'विष्वद्र्यङ्' (६।३।९२) के समान है।*

सध-आदेशः–

(१९) सध मादस्थयोश्छन्दसि।६६।

प०वि०–सध १।१ (सु-लुक्) माद-स्थयोः ७।२ छन्दसि ७।१।

स०–मादश्च स्थश्च तौ मादस्थौ, तयोः-मादस्थयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उत्तरपदे, सहस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि सहस्य मादस्थयोरुत्तरपदयोः सधः।

अर्थः–छन्दसि विषये सहशब्दस्य स्थाने मादस्थयोरुत्तरपदयोः परतः सध आदेशो भवति।

उदा०–**(मादः)** सधमादो द्युम्निनीरापः (यजु० १०।७)। **(स्थः)** सधस्थाः (तै०सं० ५।७।७।१)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (सहस्य) सह शब्द के स्थान में (मादस्थयोः) माद और स्थ (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (सधः) सध-आदेश होता है।*

उदा०-(माद) सधमादो द्युम्निनीरापः (यजु० १०।७)। साथ हर्षित होनेवाली, प्रशस्त धनवाली और जल के समान शान्त स्वभाववाली स्त्रियां। (स्थ) सधस्थाः (तै०सं० ५।७।७।१)। साथ अवस्थित रहनेवाले।

सिद्धि-(१) सधमादः। यहां सह और माद शब्दों का 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से वेदविषय में सह के स्थान में माद उत्तरपद होने पर सध आदेश होता है। 'माद' शब्द में 'मदी हर्षग्लेपनयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'भावे' से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है।

(२) सधस्थाः। यहां सह और स्थ शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'स्थः' शब्द में 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से 'सुपि स्थः' (३।२।४) से 'क' प्रत्यय है। इस सूत्र से वेदविषय में 'सह' के स्थान में 'स्थ' उत्तरपद होने पर 'सध' आदेश होता है।

ईत्-आदेशः-

(२०) द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्।६७।

प०वि०-द्वि-अन्तर्-उपसर्गेभ्यः ५।३ अपः ६।१ ईत् १।१।

स०-द्विश्च अन्तश्च उपसर्गश्च ते द्व्यन्तरुपसर्गाः, तेभ्यः- द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवतति।

अन्वयः-द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप उत्तरपदस्य ईत्।

अर्थः-द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः परस्याप उत्तरपदस्य ईदादेशो भवति।

उदा०-(**द्विः**) द्विर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम्। (**अन्तः**) अन्तर्गता आपो यस्मिन्निति अन्तरीपम्। (**उपसर्गः**) संगता आपो यस्मिन्निति समीपम्। विगता आपो यस्मिन्निति वीपम्। निगता आपो यस्मिन्निति नीपम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः) द्वि, अन्तर् और उपसर्ग से परे (अपः) अप् (उत्तरपदस्य) उत्तरपद के (ईत्) ईकार आदेश होता है।*

उदा०-(द्वि) द्वीपम्। भूमि का वह भाग जिसके दोनों ओर जल हो वह-द्वीप। (अन्तर्) अन्तरीपम्। भूमि का एक टुकड़ा जो किसी समुद्र या खाड़ी के भीतर तक चला गया हो वह-अन्तरीप। (उपसर्ग) समीपम्। जिसमें जल संगत हो वह-समीप। वीपम्। जिसमें जल विगत हो वह-वीप। नीपम्। जिसमें जल निगत हो वह-नीप।

सिद्धि-द्वीपम्। यहां द्वि और अप् शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से 'द्वि' शब्द से परे 'अप्' उत्तरपद को ईकार आदेश होता है और वह 'आदेः परस्य' (१।१।५३) के 'अप्' के आदिम अल् अकार के स्थान में होता है। ऐसे ही-अन्तरीपम्, आदि।

ऊत्-आदेशः-

(२१) ऊदनोर्देशे।६८।

प०वि०-ऊत् १।१ अनोः ५।१ देशे ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, अप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनोरप उत्तरपदस्य ऊत्, देशे।

अर्थः-अनोः परस्याप उत्तरपदस्य ऊकार आदेशो भवति, देशेऽभिधेये।

उदा०-अनुगता आपो यस्मिन् सः-अनूपो देशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनोः) अनु शब्द से परे (अपः) अप् (उत्तरपदस्य) उत्तरपद को (ऊत्) ऊकार अदेश होता है (दिशे) यदि वहां देश अर्थ अभिधेय हो।*

उदा०-अनूपो देशः। जल का समीपवर्ती देश।

सिद्धि-अनूपः। यहां अनु और अप् शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।१९) से बहुव्रीहि समास है। इससे अनु शब्द से परे अप् शब्द को देश अभिधेय में ऊकार आदेश होता है और यह 'आदेः परस्य' (१।१।५३) से अप् के आदिम अल् अकार के स्थान में होता है।

दुक्-आगमः-

(२२) अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशाऽऽस्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु।६९।

प०वि०-अषष्ठी-अतृतीयास्थस्य ६।१ अन्यस्य ६।१ दुक् १।१ आशिस्-आशा-आस्थित-उत्सुक-ऊति-कारक-राग-छेषु ७।३।

स०-न षष्ठीति अषष्ठी, न तृतीयेति अतृतीया। अषष्ठी च अतृतीया च ते अषष्ठ्यतृतीये, तयोः-अषष्ठ्यतृतीययोः, अषष्ठ्यतृतीययोस्तिष्ठतीति

अषष्ठ्यतृतीयास्थ:, तस्य-अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य। (नञितरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितोपपदतत्पुरुष:)। आशीश्च आशा च आस्थितश्च उत्सुकश्च ऊतिश्च कारकश्च रागश्च छश्च ते-आशीराशास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छा:, तेषु-आशीराशास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वय:- अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्याऽऽशीराशास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु उत्तरपदेषु दुक्।

अर्थ:-अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्याऽऽशीराशास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु उत्तरपदेषु परतो दुगागमो भवति। **उदाहरणम्**-

उत्तरपदम्	शब्द-रूपम्	भाषार्थ:
१. आशी:	अन्याऽऽशीरिति अन्यदाशी:	अन्य इच्छा।
२. आशा	अन्याऽऽशेति अन्यदाशा	अन्य आशा।
३. आस्थित:	अन्य आस्थित इति अन्यदास्थित:	अन्य आस्थित।
४. उत्सुक:	अन्य उत्सुक इति अन्यदुत्सुक:	अन्य उत्सुक।
५. ऊति:	अन्या ऊतिरिति अन्यदूति:	अन्य ऊति (रक्षा आदि)
६. कारक:	अन्य: कारक इति अन्यत्कारक:	अन्य कारक।
७. राग:	अन्यो राग इति अन्यद्राग:	अन्य राग।
८. छ:	अन्यस्मिन् भव इति अन्यदीय:	अन्य में होनेवाला।

अत्र 'छ' इति प्रत्ययोऽत उत्तरपदेन सह न युज्यते।

आर्यभाषा: *अर्थ-(अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य) अषष्ठी और अतृतीया विभक्ति में अवस्थित (अन्यस्य) अन्य शब्द को (आशीराशा०छेषु) आशिस्, आशा, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग और छ (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दुक्) दुक् आगम होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) अन्यदाशी:। यहां अन्य और आशिस् शब्दों का 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से कर्मधारय तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से षष्ठी और तृतीया विभक्ति से रहित अन्य शब्द को आशिस् उत्तरपद होने पर दुक् आगम होता है। ऐसे ही-अन्यदाशा आदि।

(२) अन्यदीयः। यहां अन्य शब्द से 'गहादिभ्यश्छः' (४।२।१३७) से भव-अर्थ में 'छ' प्रत्यय है। इस सूत्र से षष्ठी और तृतीया विभक्ति से रहित अन्य शब्द को 'छ' प्रत्यय परे होने पर दुक् आगम होता है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'छ' के स्थान में 'ईय' आदेश होता है।

दुगागम-विकल्पः-

(२३) अर्थे विभाषा।१००।

प०वि०-अर्थे ७।१ विभाषा १।१।

अनु०-उत्तरपदे, अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य, अन्यस्य, दुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याऽन्यस्याऽर्थे उत्तरपदे विभाषा दुक्।

अर्थः-अषष्ठीस्थस्यातृतीयास्थस्य चान्यशब्दस्य अर्थशब्दे उत्तरपदे परतो विकल्पेन दुगागमो भवति।

उदा०-अन्यस्मै इदमिति अन्यदर्थम्, अन्यार्थम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य) षष्ठी और तृतीया विभक्ति से रहित (अन्यस्य) अन्य शब्द को (अर्थे) अर्थ (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (दुक्) दुक् आगम होता है।*

उदा०-अन्यदर्थम्, अन्यार्थम्। अन्य के लिये।

सिद्धि-अन्यदर्थम्। यहां अन्य और अर्थ शब्दों का 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहित-सुखरक्षितैः' (२।१।३६) से चतुर्थी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से षष्ठी और तृतीया विभक्ति से रहित अन्य शब्द को अर्थ उत्तरपद होने पर दुक् आगम होता है। विकल्प पक्ष में दुक् आगम नहीं है-अन्यार्थम्।

कत्-आदेशः-

(२४) कोः कत् तत्पुरुषेऽचि।१०१।

प०वि०-कोः ६।१ कत् १।१ तत्पुरुषे ७।१ अचि ७।१।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कोरचि उत्तरपदे कत्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थानेऽजादौ शब्दे उत्तरपदे परतः कदादेशो भवति।

उदा०-कुत्सितोऽज इति कदजः। कदश्वः। कदुष्ट्रः। कदन्नम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कु-शब्द के स्थान में (अचि) अजादि शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (कत्) कत् आदेश होता है।*

उदा०-कदजः। कुत्सित=निन्दित बकरा। कदश्वः। कुत्सित घोड़ा। कदुष्ट्रः। कुत्सित ऊंट। कदन्नम्। कुत्सित अन्न।

सिद्धि-कदजः। यहां कु और अज शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में 'कु' शब्द को अजादि 'अज' शब्द उत्तरपद होने पर 'कत्' आदेश होता है। 'झलां जशोऽन्ते' (८।३।३९) से 'कत्' के तकार को 'जश्' दकार होत है। ऐसे ही-कदश्वः आदि।

कत्-आदेशः-

(२५) रथवदयोश्च।१०२।

प०वि०-रथ-वदयोः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-रथश्च वदश्च तौ रथवदौ, तयोः-रथवदयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, कोः, कत्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे को रथवदयोश्चोत्तरपदयोः कत्।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने रथवदयोश्चोत्तरपदयोः परतः कदादेशो भवति।

उदा०-(रथः) कुत्सितो रथ इति कद्रथः। (वंदः) कुत्सितो वद इति कद्वदः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कु-शब्द के स्थान में (रथवदयोः) रथ और वद शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (कत्) कत् आदेश होता है।*

उदा०-(रथ) कद्रथः। कुत्सित=निन्दित रथ। (वद) कद्वदः। कुत्सित बोलनेवाला।

सिद्धि-कद्रथः। यहां कु और रथ शब्दों का 'कुगतिप्रादय' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में 'कु' शब्द को 'रथ' उत्तरपद होने पर 'कत्' आदेश होता है। ऐसे ही 'वद' शब्द से उत्तरपद होने पर-कद्वदः।

कत्-आदेशः-

(३६) तृणे च जातौ।१०३।

प०वि०-तृणे ७।१ च अव्ययपदम्, जातौ ७।१।

स०-उत्तरपदे, कोः, कत्, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कोस्तृणे चोत्तरपदे कत्, जातौ।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने तृणशब्दे चोत्तरपदे कदादेशो भवति, जातावभिधेयायाम्।

उदा०-कुत्सितं तृणमिति कत्तृणम्। कत्तृणा नाम जातिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कुशब्द के स्थान में (तृणे) तृण-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (कत्) कत् आदेश होता है (जातौ) यदि जाति अर्थ अभिधेय हो।*

उदा०-कत्तृणा नाम जातिः। कत्तृण नामक जाति। कत्तृण=कुत्सित (निन्दित घासविशेष)।

सिद्धि-कत्तृणम्। यहां कु और तृण शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'कु' शब्द के स्थान में 'तृण' उत्तरपद होने पर तथा जाति अर्थ अभिधेय में 'कत्' आदेश होता है।

का-आदेशः–

(२७) का पथ्यक्षयोः।१०४।

प०वि०-का १।१ (सु-लुक्) पथि-अक्षयोः ७।२।

स०-पन्थाश्च अक्षश्च तौ पथ्यक्षौ, तयोः-पथ्यक्षयोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, कोः, तत्पुरुषे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कोः पथ्यक्षयोरुत्तरपदयोः काः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने पथ्यक्षयोरुत्तरपदयोः परतः का-आदेशो भवति।

उदा०-कुत्सितः पन्था इति कापथः। कुत्सितोऽक्ष इति काक्षः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कुशब्द के स्थान में (पथ्यक्षयोः) पथिन् और अक्ष शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (काः) का-आदेश होता है।*

उदा०-कापथः। कुत्सित पन्था (मार्ग) काक्षः। गाड़ी का कुत्सित धुरा।

सिद्धि-कापथः। कु+पथिन्। का+पथिन्। कापथिन्+अ। कापथ्+अ। कापथ+सु। कापथः।

यहां कु और पथिन् शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से तत्पुरुष समास में कुशब्द को पथिन् शब्द उत्तरपद होने पर का-आदेश होता है। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय और 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से अंग के टि-भाग (इन्) का लोप होत है। ऐसे ही 'अक्ष' शब्द उत्तरपद होने पर-काक्षः।

का-आदेशः–

(२८) ईषदर्थे च।१०५।

प०वि०–ईषदर्थे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०–ईषदोऽर्थ इति ईषदर्थः, तस्मिन्–ईषदर्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–उत्तरपदे, कोः, का इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तत्पुरुषे ईषदर्थे च कोरुत्तरपदे काः।

अर्थः–तत्पुरुषे समासे ईषदर्थे च वर्तमानस्य कुशब्दस्य स्थाने उत्तरपदे परतः का-आदेशो भवति।

उदा०–ईषद् मधुरमिति कामधुरम्। कालवणम्। अजादावपि परत्वात् का-आदेश एव भवति–ईषदम्लमिति काम्लम्। कोष्णम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में और (ईषदर्थे) ईषत्=थोड़ा अर्थ में (च) भी विद्यमान (कोः) कुशब्द के स्थान में (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (काः) का आदेश होता है।*

उदा०-कामधुरम्। थोड़ा मीठा। कालवणम्। थोड़ा नमक (खारा)।

अजादि शब्द उत्तरपद होने पर भी परत्व से का-आदेश ही होता है-ईषदम्लम्। थोड़ा खट्टा। कोष्णम्। थोड़ा गर्म। 'कोः कत् तत्पुरुषेऽचि' (६।३।१०१) से प्राप्त कत्-आदेश नहीं होता है।

सिद्धि-कामधुरम्। यहां कु और मधुर शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से ईषद् अर्थ में विद्यमान कुशब्द को मधुर उत्तरपद होने पर का-आदेश होता है। ऐसे ही-कालवणम् आदि।

कादेश-विकल्पः–

(२९) विभाषा पुरुषे।१०६।

प०वि०–विभाषा १।१ पुरुषे ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, कोः, तत्पुरुषे, का इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कोः पुरुषे उत्तरपदे विभाषा काः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने पुरुषशब्दे उत्तरपदे परतो विकल्पेन का-आदेशो भवति।

उदा०-कुत्सितः पुरुष इति कापुरुषः, कुपुरुषः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कुशब्द के स्थान में (पुरुषे) पुरुष शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (विभाषा) विकल्प से (काः) का-आदेश होता है।*

उदा०-कुत्सितः पुरुष इति कापुरुषः, कुपुरुषः। कुत्सित=निन्दित पुरुष।

सिद्धि-कापुरुषः। यहां कु और पुरुष शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कुशब्द को पुरुष शब्द उत्तरपद होने पर का-आदेश होता है। विकल्प पक्ष में का-आदेश नहीं है-कुपुरुषः।

कव-आदेशः कादेशविकल्पश्च-

(३०) कवं चोष्णे।१०७।

प०वि०-कवम् १।१ च अव्ययपदम्, उष्णे ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, कोः, तत्पुरुषे, का, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्पुरुषे कोष्णे उत्तरपदे कवं च विभाषा च काः।

अर्थः-तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने उष्णशब्दे उत्तरपदे परतः कवमादेशो भवति, विकल्पेन च का-आदेशो भवति।

उदा०-कुत्सितमुष्णमिति कवोष्णम् (कवादेशः)। कोष्णम् (कादेशः)। कदुष्णम् (कदादेशः)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ततपुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कुशब्द के स्थान में (उष्णे) उष्ण शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (कवम्) कव आदेश (च) भी होता है और (विभाषा) विकल्प से (काः) का-आदेश होता है।*

*उदा०-**कवोष्णम्**। (कवादेश) कुत्सित गर्म। **कोष्णम्**। (कादेश) अर्थ पूर्ववत् है। **कदुष्णम्**। (कदादेश) अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-(१) कवोष्णम्। यहां कु और उष्ण शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१९) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से कुशब्द को उष्ण शब्द उत्तरपद होने पर कव-आदेश होता है।

(२) कोष्णम्। यहां कु और उष्ण शब्दों का पूर्ववत् तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'कु' शब्द को उष्ण शब्द उत्तरपद होने पर का-आदेश है। विकल्प पक्ष में 'कोः कत् तत्पुरुषेऽचि' (६।३।१०१) से कत्-आदेश होता है-कोष्णम्।

कव-कादेशविकल्पः-

(३१) पथि च च्छन्दसि।१०८।

प०वि०-पथि ७।१ च अव्ययपदम्, छन्दसि ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, कोः, तत्पुरुषे, काः, विभाषा, कवमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि तत्पुरुषे कोः पथि चोत्तरपदे कवम्, विभाषा काः।

अर्थः-छन्दसि विषये तत्पुरुषे समासे कुशब्दस्य स्थाने पथिन्-शब्दे चोत्तरपदे कवमादेशो भवति, विकल्पेन च का-आदेशो भवति।

उदा०-कुत्सितः पन्था इति कवपथः (कवादेशः)। कापथः (कादेशः)। कुपथः (न कादेशः)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (तत्पुरुषे) तत्पुरुष समास में (कोः) कुशब्द के स्थान में (पथि) पथिन् शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (कवम्) कव-आदेश होता है और (विभाषा) विकल्प से (काः) का-आदेश होता है।*

उदा०-कवपथः (कव-आदेश) कुत्सित मार्ग। कापथः। (का-आदेश) अर्थ पूर्ववत् है। कुपथः (विकल्प पक्ष में का-आदेश नहीं) अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-कवपथः। यहां कु और पथिन् शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से वेदविषय में तथा तत्पुरुष समास में कुशब्द को पथिन् शब्द उत्तरपद परे होने पर कव-आदेश होता है। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय और 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से पथिन् के टि-भाग (इन्) का लोप हेता है।

(२) कापथः। यहां कुशब्द के स्थान में का-आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है। विकल्प-पक्ष में का-आदेश नहीं है-कुपथः।

यथोपदिष्टं साधुत्वम्–

(३२) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।१०६।

प०वि०–पृषोदरादीनि १।३ यथोपदिष्टम् १।१।

स०–पृषोदर आदिर्येषां तानीमानि–पृषोदरादीनि (बहुव्रीहिः)। शिष्टैर्यानि यानि उपदिष्टानीति यथोपदिष्टम्। **'यथाऽसादृश्ये'** (२।१।७) इति वीप्सार्थेऽव्ययीभावसमासः।

अन्वयः–पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं साधूनि।

अर्थः–पृषोदरादीनि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टम्=शिष्टैर्यथा यथोच्चारितानि तानि तथैव साधूनि भवन्ति। **उदाहरणम्**–

(१) पृषद् उदरं यस्य तत्–पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य तत् पृषोद्वानम्। अत्र तकारलोपो भवति।

(२) वारिवाहको बलाहकः। अत्र वारिशब्दस्य ब–आदेशः, उत्तरपदादेश्च लत्वं भवति।

(३) जीवनस्य मूत इति जीमूतः। अत्र वन–शब्दस्य लोपो भवति।

(४) शवानां शयनमिति श्मशानम्। अत्र शवशब्दस्य श्मादेशः शयनशब्दस्य च शानादेशो भवति।

(५) ऊर्ध्वं खमस्येति उलूखलम्। अत्र ऊर्ध्वखशब्दयोर्यथासंख्यम् उलू–खलावादेशौ भवतः।

(६) पिशिताश इति पिशाचः। अत्र पिशित–आशशब्दयोर्यथायोगं पिश–आचावादेशौ भवतः।

(७) ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी। अत्र **'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'** (भ्वा०प०) इत्यस्माद् धातोरधिकरणे कारके डट् प्रत्ययः, ब्रुवत्–उपपदस्य च स्थाने बृ–आदेशो भवति।

(८) मह्यां रौतीति मयूरः। अत्र **'रु शब्दे'** (अ०प०) इत्यस्माद् धातोः **'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः'** (३।१।१३४) इत्यच् प्रत्ययः, टेर्लोपः, महीस्थाने च मयू–आदेशो भवति।

एवमन्येऽपि-अश्वत्थ-कपित्थादयः शब्दा यथायोगमनुगन्तव्याः।

आर्यभाषाः अर्थ-(पृषोदरादीनि) जो पृषोदर आदि शब्द (यथोपदिष्टम्) शिष्ट=विद्या पारंगत जनों के द्वारा यथा-उच्चारित हैं वे उसी रूप में साधु हैं। उदाहरण-

(१) पृषोदरम्। बिन्दुमान् उदरवाला (मृगविशेष)। पृषोद्वानम्। बिन्दुमान् (बुलबुला) वमन करनेवाला। यहां पृषत् के तकार का लोप है।

(२) बलाहकः। बादल। यहां 'वारिवाह' शब्द के वारि शब्द को ब-आदेश और वाह उत्तरपद के आदिम वकार को लकार आदेश है।

(३) जीमूतः। मेघ वा पर्वत। यहां जीवनमूत शब्द के 'वन' का लोप है।

(४) श्मशान। मरघट। यहां 'शवशयन' शब्द के शव को श्म और शयन को शान आदेश है।

(५) उलूखल। ऊखल। यहां 'ऊर्ध्वख' शब्द के ऊर्ध्व को उलू और ख को खल आदेश है।

(६) पिशाच। कच्चा मांस खानेवाला। यहां 'पिशिताश' शब्द के पिशित को पिश और आश को आच आदेश है।

(७) बृसी। यज्ञीय आसन। यहां 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' (भ्वा०प०) धातु से अधिकरण कारक में 'ड' प्रत्यय और ब्रुवत् उपपद को बृ-आदेश है।

(८) मयूरः। मही=पृथिवी पर शब्द करनेवाला मोर। यहां मही उपपद 'रु शब्द' (अदा०प०) धातु से पचादि अच् प्रत्यय, धातु के टि-भाग (उ) का लोप और मही को मयू आदेश है।

इस प्रकार अन्य अश्वत्थ और कपित्थ आदि शब्द भी जो कि शिष्ट जनों के द्वारा उपदिष्ट हैं, वे हमारे अनुगमनीय हैं।

शिष्टलक्षणम्-

(१) एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या, अलोलुपा, अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्ते नत्रभवन्तः शिष्टाः।

(महाभाष्यम् ६।३।१०७)।

(२) आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ (पदमञ्जरी ६।३।१०७)।

अह्नादेश-विकल्पः–

(३३) संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहन्नन्यतरस्यां ङौ।११०।

प०वि०–संख्या-वि-सायपूर्वस्य ६।१ अह्नस्य ६।१ अहन् १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्, ङौ ७।१।

स०–संख्या च विश्च सायश्च एतेषां समाहारः संख्याविसायम्, संख्याविसायं पूर्वं यस्य सः संख्याविसायपूर्वः, तस्य संख्याविसायपूर्वस्य (समाहारद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०–उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्य उत्तरपदस्य ङावन्यतरस्यामहन्।

अर्थः–संख्यापूर्वस्य विपूर्वस्य सायपूर्वस्य चाह्नस्य उत्तरपदस्य ङिप्रत्यये परतो विकल्पेनाऽह्न् आदेशो भवति।

उदा०–**(संख्यापूर्वः)** द्वयोरह्नोर्भव इति द्व्यह्नः, तस्मिन्–द्व्यह्नि, द्व्यहनि, द्व्यह्ने। त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यह्ने। **(विपूर्वः)** व्यपगतमह इति व्यह्नः, तस्मिन्–व्यह्नि, व्यहनि, व्यह्ने। **(सायपूर्वः)** सायमह्न इति सायाह्नः, तस्मिन्–सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संख्याविसायपूर्वस्य) संख्यापूर्वक, विपूर्वक और सायपूर्वक (अह्नस्य) अह्न (उत्तरपदस्य) उत्तरपद के स्थान में (ङौ) ङिप्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अहन्) अहन् आदेश होता है।*

*उदा०-(संख्यापूर्वक) **द्व्यह्नि, द्व्यहनि, द्व्यह्ने।** दो दिन में होनेवाले कर्म में। **त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यह्ने।** तीन दिन में होनेवाले कर्म में। (विपूर्वक) **व्यह्नि, व्यहनि, व्यह्ने।** बीते हुये दिन में। (सायपूर्वक) **सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने।** दिन के अन्तिम भाग में।*

*सिद्धि-**द्व्यह्नि।** यहां द्वि और अहन् शब्दों का 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) से द्विगुतत्पुरुष समास है। तत्पश्चात् 'कालाट्ठञ्' (४।३।११) से भव-अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय और उसका 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) से लुक् होता है। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (४।५।९१) से समासान्त 'टच्' प्रत्यय और 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' (५।४।८८) से अह्न आदेश होता है। 'ङि' प्रत्यय परे होने पर 'विभाषा ङिश्योः' (६।४।१३६) से विकल्प से अहन् के अकार का लोप होता है-**द्व्यह्नि।** जहां विकल्प पक्ष में अकार का लोप नहीं है वहां-**द्व्यहनि।** जहां अहन् आदेश नहीं होता है वहां-**द्व्यह्ने।***

यहां 'आद्गुणः' (६।१।८७) से ङि' 'प्रत्यय को गुणरूप एकादेश है। ऐसे ही-त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यह्ने।

(२) व्यह्नि। यहां वि और अहन् शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) सायाह्नि। यहां सायम् और अहन् शब्दों का 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' (२।२।१) से एकदेशितत्पुरुष समास है। 'सायम्' शब्द इस सूत्र में पठित नहीं है किन्तु सूत्रोक्त ज्ञापक से सायंपूर्वक तथा पूर्वादि से अन्यपूर्वक का भी एकदेशितत्पुरुष समास होता है जैसे-मध्याह्न आदि। शेष कार्य पूर्ववत् है।

दीर्घ-आदेशः–

(३४) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः।१११।

प०वि०-ढ्रलोपे ७।१ पूर्वस्य ६।१ दीर्घः १।१ अणः ६।१।

स०-ढश्च रश्च तौ ढ्रौ, तयोः-ढ्रोः। ढ्रोर्लोपो यस्मिन् स ढ्रलोपः, तस्मिन्-ढ्रलोपे (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पूर्वस्याणो ढ्रलोपे उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-पूर्वस्याणो ढ्रकारलोपे रेफलोपे चोत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(ढलोपः) लीढम्। मीढम्। उपगूढम्। मूढः। (रलोपः) नीरक्तम्। अग्नी रथः। इन्दू रथः। पुना रक्तं वासः। प्राता राजक्रयः।

अत्र सूत्रे पूर्वग्रहणादनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्याणो दीर्घो भवति। ढलोप-उत्तरपदेन सह न युज्यते, तत्र ढलोपस्यासम्भवात्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण को (ढ्रलोपे) ढकार और रेफ लोपवाला (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।*

उदा०-(ढलोप) लीढम्। आस्वादित किया हुआ (चखा हुआ)। मीढम्। सींचा हुआ। उपगूढम्। संवृत किया हुआ (ढका हुआ)। मूढः। मूर्ख। (रलोप) नीरक्तम्। रक्त से निष्क्रान्त=निकला हुआ। अग्नी रथः। अग्नि, रथ। इन्दू रथः। इन्दु=चन्द्रमा, रथ। पुना रक्तं वासः। पुनः रंगा हुआ कपड़ा। प्राता राजक्रयः। प्रातःकाल, राजक्रय।

यहां सूत्र में 'पूर्वस्य' के ग्रहण करने से अनुत्तरपद में भी पूर्वमात्र अण् को दीर्घ होता है। ढलोप का उत्तरपद के साथ योग नहीं है क्योंकि वहां ढलोप सम्भव नहीं।

सिद्धि-(१) लीढम्। लिह्+क्त। लिह्+त। लिढ+ध। लिढ्+ढ। लि०+ढ। लीढ+सु। लीढम्।

यहां 'लिह आस्वादने' (अदा०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। 'हो ढः' (८।२।३१) से लिह् के हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से क्त के तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से धकार को ढकार और 'ढो ढे लोपः' (८।३।१३) से ढकार परे होने पर पूर्ववर्ती ढकार का लोप होता है। इस सूत्र से ढलोप परे होने पर 'लिह्' के पूर्ववर्ती इकार अण् को दीर्घ होता है।

(२) मीढम्। यहां 'मिह सेचने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) उपगूढम्। यहां उप-उपसर्गपूर्वक 'गुहू संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) मूढः। यहां 'मुह वैचित्ये' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है।

(५) नीरक्तम्। यहां निर् और रक्त शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) प्रादितत्पुरुष समास है। 'रो रि' (८।३।१४) से 'रक्त' का रेफ परे होने पर पूर्ववर्ती रेफ का लोप होता है। इस सूत्र से रेफलोपी रक्त उत्तरपद परे होने पर पूर्ववर्ती इकार अण् को दीर्घ होता है।

ऐसे ही-अग्निर्+रथः। अग्नि०+रथः। अग्नी रथः। इन्दुर्+रथः। इन्दु०+रथः। इन्दू रथः।। पुनर्+रक्तम्। पुन०+रक्तम्। पुना रक्तम्।। प्रातर्+राजक्रयः। प्रात०+राजक्रयः। प्राता राजक्रयः।।

ओकार आदेशः–

(३५) सहिवहोरोदवर्णस्य।११२।

प०वि०-सहि-वहोः ६।२ ओत् १।१ अवर्णस्य ६।१।

स०-सहिश्च वह् च तौ सहिवहौ, तयोः-सहिवहोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अश्चासौ वर्ण इति अवर्णः, तस्य-अवर्णस्य (कर्मधारयः)।

अनु०-उत्तरपदे इति नानुवर्तति, अर्थासम्भवात्, ढ्रलोपे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सहिवहोरवर्णस्य ढ्रलोपे परत ओकारादेशो भवति।

उदा०-(सहिः) सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्। **(वह्)** वोढा, वोढुम्, वोढव्यम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(सहिवहोः) सह और वह धातुओं के (अवर्णस्य) अकार के स्थान में (ढ्रलोपे) ढकारलोपी और रेफलोपी वर्ण परे होने पर (ओत्) ओकार आदेश होता है।

उदा०-(सहि) सोढा। सहन करनेवाला। सोढुम्। सहन करने के लिये। सोढव्यम्। सहन करनेवाला। (वह्) वोढा। वहन करनेवाला। वोढुम्। वहन करने के लिये। वोढव्यम्। वहन करना चाहिये।

'ढ्रलोपे' यह एक पद है अतः एकपद के वशीभूत हुई रलोप की अनुवृत्ति की जाती है किन्तु सह और वह धातुओं में रलोप का सम्भव नहीं है।

सिद्धि-(१) सोढा। सह्+तृच्। सह+तृ। सढ्+धृ। सद्+दृ। स०+ढृ। सो+ढृ। सोढृ+सु। सोढ् अनङ्+सु। सोढन्+सु। सोढान्+सु। सोढान्+०। सोढा०। सोढा।

यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। 'हो ढः' (८।२।३१) से 'सह्' धातु के हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से तृच् के तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से धकार को ढकार और 'ढो ढे लोपः' (८।३।१३) से ढकार परे होने पर सह् के पूर्ववर्ती ढकार का होता है। इस सूत्र से 'सह्' के अकार को ओकार आदेश होता है। 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' (७।१।९४) से अनङ्, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से सु का लोप और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही 'वह प्रापणे' (भ्वा०प०) धातु से-वोढा।

(२) सोढुम्। यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से तव्यत् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। 'वह प्रापणे' (भ्वा०प०) धातु से-वोढव्यम्।

निपातनम्-

(३६) साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे।११३।

प०वि०-साढ्यै अव्ययपदम्, साढ्वा अव्ययपदम्, साढा १।१ इति अव्ययपदम्, निगमे ७।१।

अर्थः-निगमे साढ्यै, साढ्वा, साढा इत्येते शब्दा निपात्यन्ते।

उदा०-साढ्यै समन्तात् (मै०सं० १।६।३)। साढ्वा शत्रून् (मै०सं० ३।८।५)। साढा।

आर्यभाषाः अर्थ-(निगमे) वेदविषय में (साढ्यै) साढ्यै (साढ्वा) साढ्वा और (साढा) साढा (इति) ये शब्द निपातित हैं।

उदा०-साढ्यै समन्तात् (मै०सं० १।६।३)। सब ओर से सहन करके। साढ्वा शत्रून् (मै०सं० ३।८।५)। शत्रुओं का मर्षण करके। साढा। सहन करनेवाला।

सिद्धि-(१) साढ्यै। सह्+क्त्वा। सह्+त्वा। सढ्+ध्यै। सढ्+ढ्यै। स०+ढ्यै। सा+ढ्यै। साढ्यै+सु। साढ्यै।

यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में ध्यै-आदेश निपातित है। 'हो ढः' (८।२।३१) से हकार को ढकार, 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से 'ध्यै' के धकार को ढकार, 'ढो ढे लोपः' (८।३।१३) से सढ् के ढकार का लोप और 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से सह् के अकार अण् को दीर्घ होता है। वेद में 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (६।३।११२) से अवर्ण को ओकार आदेश नहीं होता है।

(२) साढ्वा। यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'क्त्वा' के स्थान में ध्यै-आदेश नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) साढा। यहां 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

।। इति आदेशप्रकरणम्।।

संहिताधिकारीयदीर्घप्रकरणम्

संहिता-अधिकारः-

(१) संहितायाम्।११४।

प०वि०-संहितायाम् ७।१।

अर्थः-'संहितायाम्' इत्यधिकारोऽयम् आ पादपरिसमाप्तेः। यदितोऽग्रे वक्ष्यति 'संहितायाम्' इति तद् वेदतिव्यम्। यथा वक्ष्यति-**'द्व्यचोऽतस्तिङः'** (६।३।१३५) इति। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) 'संहितायाम्' यह अधिकार सूत्र है, इसका इस पाद की समाप्ति तक अधिकार है। पाणिनि मुनि जो इससे आगे कहेंगे वह संहिता विषय में जानना चाहिये। जैसे कि पाणिनि मुनि कहेंगे- 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) अर्थात् ऋग्वेद में दो अचोंवाले तिङन्त शब्द के अकार को दीर्घ होता है, जैसे- विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)।*

सिद्धि-'विद्मा' इस पद की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

दीर्घः–

(२) कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य।११५।

प०वि०–कर्णे ७।१ लक्षणस्य ६।१ अविष्ट-अष्ट-पञ्च-मणि-भिन्न-छिन्न-छिद्र-स्रुव-स्वस्तिकस्य ६।१।

स०–विष्टं च अष्ट च पञ्च च मणिश्च भिन्नं च छिन्नं च छिद्रं च स्रुवश्च स्वस्तिकं च एतेषां समाहारोऽविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकम्, न विष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकमिति अविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकम्, तस्य अविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य (समाहारद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उत्तरपदे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायामिति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् अविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य लक्षणस्य पूर्वस्याणः कर्णे उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः–संहितायां विषयेऽविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य लक्षणवाचिनः शब्दस्य पूर्वस्याणः कर्णशब्दे उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०–दात्रं कर्णे यस्य सः–दात्राकर्णः। द्विगुणाकर्णः। त्रिगुणाकर्णः। द्व्यङ्गुलाकर्णः। त्र्यङ्गुलाकर्णः।

"यत् पशूनां स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञापनार्थं दात्राकारादि क्रियते तदिह लक्षणं गृह्यते" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (अविष्ट०स्वस्तिकस्य) विष्ट, अष्ट, पञ्च, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव और स्वस्तिक शब्दों से भिन्न (लक्षणस्य) लक्षणवाची शब्द के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (कर्णे) कर्ण शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०–**दात्राकर्णः।** वह पशु की जिसके कान पर दांती का लक्षण (चिह्न) है। **द्विगुणाकर्णः।** कान पर दो ओर से मुड़े हुये लक्षणवाला पशु। **त्रिगुणाकर्णः।** कान पर तीन ओर से मुड़े हुये लक्षणवाला पशु। **द्व्यङ्गुलाकर्णः।** कान पर दो अंगुलियों के लक्षणवाला पशु। **त्र्यङ्गुलाकर्णः।** कान पर तीन अंगुलियों के लक्षणवाला पशु।*

सिद्धि-दात्राकर्णः। यहां दात्र और कर्ण शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से लक्षणवाची दात्र शब्द के कर्ण-शब्द उत्तरपद होने पर पूर्ववर्ती अण् अकार को दीर्घ होता है। ऐसे ही-द्विगुणाकर्णः आदि।

दीर्घः-

(३) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ।११६।

प०वि०-नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु ७।३ क्वौ ७।१।

स०-नहिश्च वृतिश्च वृषिश्च व्यधिश्च रुचिश्च सहिश्च तनिश्च ते नहि०तनयः, तेषु-नहि०तनिषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-उत्तरपदे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां पूर्वस्याणः क्वौ नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु उत्तरपदेषु दीर्घः।

अर्थः-संहितायां विषये पूर्वस्याणः क्विप्-प्रत्ययान्तेषु नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु उत्तरपदेषु परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(नहिः) उपनह्यते इति उपानत्। परिणह्यतीति परीणत्। **(वृतिः)** निवर्तते इति नीवृत्। **(वृषिः)** प्रवर्षतीति प्रावृट्। **(व्यधिः)** मर्माणि विध्यतीति मर्मावित्। **(रुचिः)** निरोचणमिति नीरुक्। **(सहिः)** ऋतिं सहते इति ऋतीषट्। **(तनिः)** परितनोतीति परीतत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (क्वौ) क्विप्-प्रत्ययान्त (नहि०तनिषु) नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, और तनि (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(नहि) उपानत्। जूता। परीणत्। परिबन्धक। (वृति) नीवृत्। आबाद स्थान। (वृषि) प्रावृट्। वर्षा ऋतु। (व्यधि) मर्मावित्। मर्मस्थलों को बींधनेवाला शस्त्र। (रुचि) नीरुक्। मन्द दीप्ति। (सहि) ऋतीषट्। निन्दा को सहन करनेवाला। (तनि) परीतत्। विस्तारक।

सिद्धि-(१) उपानत्। यहां उप और नत् शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। 'नत्' शब्द में 'णह बन्धने' (दि०प०) धातु से वा०- 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' (३।३।९४) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'नहो धः' (८।२।२४) से 'नह' धातु के हकार को धकार, 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३८) से धकार को 'जश्' हकार और

'वाऽवसाने' (८।४।५५) से दकार को चर् तकार होता है। इस सूत्र से क्विबन्त नत्-शब्द उत्तरपद होने पर पूर्ववर्ती उप के अण् अकार को दीर्घ होता है।

(२) परीणत्। यहां परि और नत् शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। यहां नत् शब्द में 'णह बन्धने' (दि०प०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।७५) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से णत्व होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(३) नीवृत्। यहां नि और वृत् शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। 'वृत्' शब्द में 'वृतु वर्तने' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(४) प्रावृट्। यहां प्र और वृट् शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। 'वृषु सेचने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३८) से वृष् के षकार को जश् डकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५५) से डकार को चर् टकार होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(५) मर्मावित्। यहां मर्म और वित् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। 'वित्' शब्द में 'व्यध ताडने' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०' (६।१।१६) से 'व्यध्' धातु के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। धकार को पूर्ववत् जश् हकार और दकार को चर् तकार होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(६) नीरुक्। यहां नि और रुक् शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। रुक्-शब्द में 'रुच दीप्तौ' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। 'रुच्' धातु के चकार को 'चोः कुः' (८।२।३०) से कुत्व ककार होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(७) ऋतीषट्। यहां ऋति और षट् शब्दों का पूर्ववत् उपपदतत्पुरुष समास है। 'षट्' शब्द में 'षह मर्षणे' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। 'हो ढः' (८।२।३१) से 'सह्' धातु के हकार को ढकार, 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३८) से ढकार को जश् डकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५५) से डकार को चर् टकार होता है। 'सहेः पृतनार्ताभ्यां च' (८।३।१०९) में योगविभाग से 'सह्' को षत्व होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(८) परीतत्। यहां परि और तत् शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। 'तत्' शब्द में 'तनु विस्तारे' (तना०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। वा०- 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' (६।४।४०) से 'तन्' के अनुनासिक नकार का लोप तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से तुक् आगम होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

दीर्घः–

(४) वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्।११७।

प०वि०-वन-गिर्योः ७।२ संज्ञायाम् ७।१ कोटर-किंशुलकादीनाम् ६।३।

स०-वनं च गिरिश्च तौ वनगिरी, तयोः-वनगिर्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कोटरश्च किंशुलकश्च तौ कोटरकिंशुलकौ, कोटरकिंशुलकौ आदी येषां ते कोटरकिंशुलकादयः, तेषाम्-कोटरकिंशुलकादीनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-उत्तरपदे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां च कोटरकिंशुलकादीनां पूर्वस्याणो वनगिर्योरुत्तरपदयोर्दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषये कोटरादीनां किंशुलकादीनां च शब्दानां पूर्वस्याणो यथासंख्यं वनशब्दे गिरिशब्दे चोत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-**(कोटरादयः)** कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, सारिकावणम्। **(किंशुलकादयः)** किंशुलकागिरिः, अञ्जनागिरिः।

(१) कोटर। मिश्रक। पुरक। सिध्रक। सारिक। इति कोटरादयः।।

(२) किंशुलक। शाल्वक। अञ्जन। भञ्जन। लोहित। कुक्कुट। इति किंशुलकादयः।।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (कोटरकिंशुलकादीनाम्) कोटर आदि और किंशुल आदि सम्बन्धी (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (वनगिर्योः) यथासंख्य वन और गिरि शब्द उत्तरपद होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-(कोटरादि) **कोटरावणम्।** कोटरावण नामक जंगल। **मिश्रकावणम्।** मिश्रकावण नामक जंगल। **सिध्रकावणम्।** सिध्रका नामक जंगल। **सारिकावणम्।** सारिकावण नामक जंगल। (किंशुलकादि) **किंशुलकागिरिः।** किंशुलकागिरि नामक पहाड़। **अञ्जनागिरिः।** अञ्जनागिरि नामक पहाड़।*

सिद्धि-(१) कोटरावणम्। यहां कोटर और वन शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में कोटर शब्द के पूर्ववर्ती अण् अकार का वन उत्तरपद होने पर दीर्घ होता है। 'वनं पुरगामिश्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः' (८।४।४) से 'वन' के नकार को णत्व होता है। ऐसे ही-मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, सारिकावणम्।

(२) किंशुलकागिरिः। यहां किंशुलका और गिरि शब्दों का पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में किंशुलक शब्द के पूर्ववर्ती अण् अकार को गिरि-शब्द उत्तरपद परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-अञ्जनागिरिः।

***विशेषः** (१) कोटरावण-यह लखीमपुर जिले का कोई जंगल ज्ञात होता है जहां कोटरा नामक रियासत है। यहां अधिकतर साखू और शीशम के वृक्ष हैं।*

(२) मिश्रकावण-यह नैमिषारण्य के पास वर्तमान मिसरिख ज्ञात होता है, जो अब नीमखार मिसरिख (सीतापुर से १३ मील दक्षिण) कहलाता है।

(३) सिध्रकावण-यह सिध्रक नाम की लकड़ियों का वन था। सामविधान ब्राह्मण में सैध्रकमयी समिधाओं को घी में डुबाकर सहस्र आहुतियों से हवन करने का उल्लेख है।

(४) सारिकावण-यह आर्वाचीन सारन (बिहार) का पुराना नाम जान पड़ता है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४८)।

(५) किंशुलकागिरि-पलाश के वृक्षों का पहाड़। "भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर-दक्खिन दौड़ती हुई पहाड़ों की जो ऊंची दीवार है, उसी की बड़ी चोटियों में से किसी का नाम" (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४८)।

(६) अञ्जनागिरि-त्रिककुत् पर्वत, जहां का प्रसिद्ध अंजन वैदिककाल से ही सारे पंजाब में जाता था। यही पाणिनि का अंजनागिरि है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४८)।

दीर्घः-

(५) वले।११८।

प०वि०-वले ७।१।

अनु०-पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायाम्, संज्ञायामिति चानुवर्तते। 'वलच्' इत्यत्र प्रत्ययोऽत्र 'उत्तरपदे' इति नानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां पूर्वस्याणो वले दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषये पूर्वस्याणो वले परतो दीर्घो भवति।

उदा०-दन्तावलः, कृषीवलः, आसुतीवलः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (वले) वलच् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-दन्तावलः। बड़े दांतोंवाला-हाथी। कृषीवलः। कृषिवाला-किसान। आसुतीवलः। आसववाला-शौण्डिक (शराब बेचनेवाला)।

सिद्धि-(१) दन्तावलः। यहां दन्त शब्द से 'दन्तशिखात् संज्ञायाम्' (५।२।११३) से मतुप्-अर्थ में वलच् प्रत्यय है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में पूर्ववर्ती अकार अण् को वलच् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है।

(२) कृषीवलः। यहां कृषि शब्द से 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५।२।११२) से वलच् प्रत्यय है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-आसुतीवलः।

विशेषः *यहां 'वलच्' प्रत्यय है, अतः 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति नहीं की जाती है।*

दीर्घः-

(६) मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्।११६।

प०वि०-मतौ ७।१ बह्वचः ६।१ अनजिरादीनाम् ६।३।

स०-बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, तस्य-बह्वचः (बहुव्रीहिः)। अजिर आदिर्येषां ते अजिरादयः, न अजिरादय इति अनजिरादयः, तेषाम्-अनजिरादीनाम् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायाम्, संज्ञायामिति चानुवर्तते। 'मतुप्' इत्यत्र प्रत्ययोऽत उत्तरपदे इति नानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां अनजिरादीनां बह्वचः पूर्वस्याणो मतौ दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषयेऽजिरादिवर्जितस्य बह्वचः शब्दस्य पूर्वस्याणो मतौ परतो दीर्घो भवति।

उदा०-उदुम्बरा यस्यां सन्तीति उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। पुष्करावती। अमरावती।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविष्य में (अनजिरादीनाम्) अजिर-आदि शब्दों से भिन्न (बह्वचः) बहुत अचोंवाले शब्द के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (मतौ) मतुप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। पुष्करावती। अमरावती। ये नदीविशेष के संयोग से देशविशेष की संज्ञायें हैं।

सिद्धि-उदुम्बरावती। यहां उदुम्बर शब्द से 'नद्यां मतुप्' (४।२।८५) से चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय है। 'संज्ञायाम्' (८।२।११) से मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में बहुत अचोंवाले उदुम्बर शब्द के पूर्ववर्ती अकार अण् को मतुप् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-मशकावती आदि।

विशेषः (१) उदुम्बरावती-व्यास और रावी के बीच में त्रिगर्त (कांगड़ा) का जहां से रास्ता गया है, वहां गुरुदासपुर, पठानकोट और नूरपुर इलाके में औदुम्बरों के सिक्के मिले हैं। औदुम्बरों (क्षत्रिय) के देश की ही किसी नदी का नाम उदुम्बराती होना चाहिये।

(२) मशकावती। मशकावती नाम मस्सग या मस्सक से सम्बन्धित है जो गंधार के आश्वकायनों की राजधानी थी। यूनानियों के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था, जिसके नीचे नदी बहती थी। अश्वक लोग स्वात नहीं के कांठे पर रहते थे उन्होंने दुरासह मशकावती (मस्सक) के दुर्ग में युद्ध का साज सजाकर अभियान करते हुए सिकन्दर का मार्ग छेद दिया था।

(३) वीरणावती-वीरणावती नदी ही प्राचीन वरणावती ज्ञात होती है, आश्वकायनों की शान्तिकाल की राजधानी मशकावती थी किन्तु संकटकाल के लिये सुदृढ़ पहाड़ी दुर्ग 'वरणा' था। इसी के पास वरणावती नदी होनी चाहिये।

(४) पुष्करावती-सुवास्तु और कुंभा के संगम पर स्थित पच्छिमी गन्धार की राजधानी थी जिसके प्राचीन अवशेष आधुनिक चारसदा और प्राङ् में पाये गये हैं। इस दृष्टि से संभव है गौरीसुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा पुष्कलावती कही जाती थी (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ५४-५५)

(५) अमरावती-इन्द्र की पुरी का नाम है।

(६) यहां 'मतुप्' प्रत्यय है, अतः 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति नहीं की जाती है।

दीर्घः-

(७) शरादीनां च।१२०।

प०वि०-शर-आदीनां ६।३ च अव्ययपदम्।

स०-शर आदिर्येषां ते शरादयः, तेषाम्-शरादीनाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, संहितायाम्, संज्ञायाम्, मताविति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां शरादीनां च मतौ दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषये शरादीनां च शब्दानां पूर्वस्याणो मतौ परतो दीर्घो भवति।

उदा०-शरा यस्यां सन्तीति शरावती, वंशावती, इत्यादिकम्।

शर। वंश। धूम। अहि। कपि। मणि। मुनि। शुचि। इति शरादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (शरादीनाम्) शर आदि शब्दों के (च) भी (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (मतौ) मतुप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-शरावती, वंशावती इत्यादि।

सिद्धि-शरावती। यहां शर शब्द से 'नद्यां मतुप्' (४।२।८५) से मतुप् प्रत्यय है। 'संज्ञायाम्' (८।२।११) से मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है। ऐसे ही-वंशावती।

विशेषः *(१) शरावती-कुरुक्षेत्र की घग्घर नदी के साथ इसकी पहचान की गई है। यह भारत के प्राच्य और उदीच्य देशों की बीच की सीमा थी।*

(२) यहां 'मतुप्' प्रत्यय है, अतः 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति नहीं की जाती है।

दीर्घः-

(८) इको वहेऽपीलोः।१२१।

प०वि०-इकः ६।१ वहे ७।१ अपीलोः ६।१।

स०-न पीलुरिति अपीलुः, तस्य-अपीलोः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अपीलोरिको वहे उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-पीलुवर्जितस्य इगन्तस्य पूर्वपदस्य वह-शब्दे उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-ऋषेर्वहमिति ऋषीवहम्। मुनीवहम्। कपीवहम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (अपीलोः) पीलु शब्द से भिन्न (इकः) इगन्त पूर्वपद को (वहे) वह-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-ऋषीवहम्। ऋषि की सवारी (घोड़ा आदि)। मुनीवहम्। मुनि की सवारी। कपीवहम्। वानरों की गाड़ी।

सिद्धि-ऋषीवहम्। यहां ऋषि और वह शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'वह' शब्द में 'वह प्रापणे' (भ्वा०प०) धातु से 'नन्दिग्रहि०' (३।१।१३४) से पचादि-अच् प्रत्यय है। इस सूत्र से इगन्त 'ऋषि' पूर्वपद को 'वह' उत्तरपद परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-मुनीवहम्, कपीवहम्।

दीर्घः–

(६) उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्।१२२।

प०वि०–उपसर्गस्य ६।१ घञि ७।१ अमनुष्ये ७।१ बहुलम् १।१।

स०–न मनुष्य इति अमनुष्यः, तस्मिन्–अमनुष्ये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः, अण इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् उपसर्गस्याणो घञि उत्तरपदे बहुलं दीर्घः, अमनुष्ये।

अर्थः–संहितायां विषये उपसर्गस्याणो घञन्ते शब्दे उत्तरपदे परतो बहुलं दीर्घो भवति, अमनुष्येऽभिधेये।

उदा०–विक्लिद्यते येन सः–वीक्लेदः। वीमार्गः। अपामार्गः। बहुलवचनान्न च भवति–प्रसेवः, प्रसारः।

आर्यभाषाः *अर्थ–(संहितायाम्) संहिता विषय में (उपसर्गस्य) उपसर्ग के (अणः) अण् को (घञि) घञ्-प्रत्ययान्त शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (बहुलम्) प्रायशः (दीर्घः) दीर्घ होता है (अमनुष्ये) यदि वहां मनुष्य अर्थ अभिधेय न हो।*

उदा०–विक्लेदः। आर्द्रीभाव को दूर करने का साधन। वीमार्गः। विशुद्धि का साधन। अपामार्गः। विष आदि को दूर करने का साधन ओषधिविशेष (चिरचिटा)। बहुलवचन से कहीं दीर्घ नहीं भी होता है–प्रसेवः। थैला आदि। प्रसारः। फैलाव।

सिद्धि–(१) विक्लेदः। यहां 'वि' और 'क्लेद' शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। इस सूत्र से 'वि' उपसर्ग के अण् इकार को घञन्त 'क्लेद' शब्द उत्तरपद परे होने पर दीर्घ हेत है। 'क्लेद' श्ब्द में 'क्लिदू आर्द्रीभावे' (दि०प०) धातु से 'हलश्च' (३।३।१२१) से संज्ञाविषय में 'घञ्' प्रत्यय है।

(२) वीमार्गः। यहां 'वि' और 'मार्ग' शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। 'मार्ग' शब्द में 'मृजूष शुद्धौ' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। 'चोः कुः' (८।२।३०) से 'मृज्' धातु के जकार को कुत्व गकार होता है। ऐसे ही–अपामार्गः।

(३) प्रसेवः। यहां 'प्र' और 'सेव' शब्दों का पूर्ववत् प्रादितत्पुरुष समास है। यहां बहुलवचन से उपसर्ग को दीर्घ नहीं होता है। 'सेव' शब्द में 'षिवु तन्तुसन्ताने' (दि०प०) धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) से 'घञ्' प्रत्यय है। ऐसे ही 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'सृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से–प्रसारः।

यहां अमनुष्य का कथन इसलिये किया गया है कि यहां दीर्घ न हो–निषादो मनुष्यः।

दीर्घः–

(१०) इकः काशे।१२३।

प०वि०–इकः ६।१ काशे ७।१।

अनु०–उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः, उपसर्गस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् इक उपसर्गस्य काशे उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः–संहितायां विषये इगन्तस्य उपसर्गस्य काश-शब्दे उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०–निगतः काश इति नीकाशः। विगतः काश इति वीकाशः। अनुगतः काश इति अनूकाशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (इकः) इगन्त (उपसर्गस्य) उपसर्ग को (काशे) काश-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-**नीकाशः।** निम्न दीप्तिवाला। **वीकाशः।** अतीत दीप्तिवाला। **अनूकाशः।** अनुकूल दीप्तिवाला (दीपक आदि)।*

सिद्धि-नीकाशः। *यहां 'नि' और 'काश' शब्दों का **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। 'काश' शब्द में **'काशृ दीप्तौ'** (भ्वा०आ०) धातु से **'नन्दिग्रहि०'** (३।१।१३४) से पचादि-अच् प्रत्यय हे, 'घञ्' प्रत्यय नहीं है। ऐसे ही-**वीकाशः, अनूकाशः।***

दीर्घः–

(११) दस्ति।१२४।

प०वि०–दः ६।१ ति ७।१।

अनु०–उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः, उपसर्गस्य, इक इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायाम् इक उपसर्गस्य दस्ति उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः–संहितायां विषये इगन्तस्य उपसर्गस्य दा-स्थाने यस्तकारादि-रादेशस्तस्मिन् उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०–नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (इकः) इगन्त (उपसर्गस्य) उपसर्ग के (दा) दा धातु को (ति) जो तकारादि आदेश है उस (उत्तरपदे) उत्तरपद के परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-**नीत्तम्।** निम्न दान। **वीत्तम्।** विशेष दान। **परीत्तम्।** सर्वतः दान।*

सिद्धि-नीत्तम्। नि+दा+क्त। नि+दा+त। नि+द् त्+त्। नि+तत्+त। नि+त्०+त। नीत्त+सु। नीत्तम्।

यहां 'नि' और 'त्त' शब्दों का 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। 'त्त' शब्द में 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४) से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। 'अच उपसर्गात् तः' (७।४।४७) से 'दा' धातु के अन्त्य आकार को तकार-आदेश होता है तत्पश्चात् 'खरि च' (८।४।५५) से दकार को चर् तकार आदेश होता है। 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६५) से अन्त्य तकार को लोप हो जाता है। इस सूत्र से इगन्त 'नि' उपसर्ग को दा-धातुसम्बन्धी तकारादि आदेश के उत्तरपद में होने पर दीर्घ होता है।

विशेषः *यद्यपि 'अच उपसर्गात्तः' (७।४।४७) से 'दा' धातु के अन्त्य आकार को तकार आदेश होता है किन्तु दकार को 'खरि च' (८।४।५५) से विहित तकार को मानकर यह तकारादि आदेश है। इस सूत्र से दीर्घविधि करते समय चर्त्व से विहित तकार असिद्ध नहीं होता है, अपितु दीर्घ-आश्रय से सिद्ध माना जाता है, यदि उक्त तकार आदेश असिद्ध हो जाये तो यह दीर्घविधान अनर्थक हो जायेगा।*

दीर्घः–

(१२) अष्टनः संज्ञायाम्।१२५।

प०वि०-अष्टनः ६।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायाम् अष्टन उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषयेऽष्टन्-शब्दस्य उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-अष्टौ वक्राणि यस्य सः-अष्टावक्रः। अष्टाबन्धुरः। अष्टापदम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (अष्टनः) अष्टन् शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-अष्टावक्रः। अष्टावक्र नामक ऋषि। अष्टाबन्धुरः। आठ अंगों में लहराता हुआ-हंस। अष्टापदम्। आठ चरणोंवाला।

सिद्धि-अष्टावक्रः। यहां अष्टन् और वक्र शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में अष्टन् शब्द को उत्तरपद परे होने पर दीर्घ होता है। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप हो जाता है। ऐसे ही-अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम्।

दीर्घः–

(१३) छन्दसि च।१२६।

प०वि०–छन्दसि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः, अष्टन इति चानुवर्तते।

अन्वयः–संहितायां छन्दसि च अष्टन उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः–संहितायां छन्दसि च विषये अष्टन्-शब्दस्य उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०–आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् (मै०सं० २।१।३)। अष्टाहिरण्या दक्षिणा। अष्टापदी देवता सुमती।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहिता) संहिता और (छन्दसि) वेदविषय में (च) भी (अष्टनः) अष्टन् शब्द को (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०–आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् (मै०सं० २।१।३)। अष्टाहिरण्या दक्षिणा। अष्टापदी देवता सुमती।

सिद्धि-(१) अष्टाकपालम्। यहां अष्ट और कपाल शब्दों का 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' (२।१।५१) से तद्धित-अर्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है-अष्टसु कपालेषु संस्कृतमिति अष्टाकपालम्। 'संस्कृतं भक्षाः' (४।२।१६) से संस्कृत-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय और उसका 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) से लुक् होता है। इस सूत्र से वेदविषय में अष्टन् शब्द को कपाल उत्तरपद होने पर दीर्घ होता है। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है।

(२) अष्टाहिरण्या। यहां अष्टन् और हिरण्य शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है-अष्टौ हिरण्यानि यस्यां सा-अष्टाहिरण्या। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

(३) अष्टापदी। यहां अष्टन् और पाद शब्दों का पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है-अष्टौ पादा यस्या सा-अष्टापदी। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' (५।४।१३८) से पाद शब्द के अकार का समासान्त-लोप और स्त्रीत्व-विवक्षा में 'पादोऽन्यतरस्याम्' (४।१।८) से 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

दीर्घः–

(१४) चितेः कपि।१२७।

प०वि०–चितेः ६।१ कपि ७।१।

अनु०–पूर्वस्य, अणः, दीर्घः, संहितायामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां चितेः पूर्वस्याणः कपि दीर्घः।

अर्थः-संहितायां विषये चिति-शब्दस्य पूर्वस्याणः कपि प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

उदा०-एका चितिर्यस्य स एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (चितेः) चिति शब्द के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (कपि) कप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-एकचितीकः। एक चिति=राशि (ढेर) वाला। द्विचितीकः। दो राशियों वाला। त्रिचितीकः। तीन राशियों वाला।

सिद्धि-एकचितीकः। यहां एक और चिति शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। 'एकचिति' शब्द में 'स्त्रियाः पुंवत्०' (६।३।३२) से पुंवद्भाव और 'शेषाद् विभाषा' (५।४।१५४) से समासान्त 'कप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से चिति शब्द के पूर्ववर्ती अण् (इकार) को कप् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-द्विचितीकः, त्रिचितीकः।

दीर्घः-

(१५) विश्वस्य वसुराटोः।१२८।

प०वि०-विश्वस्य ६।१ वसु-राटोः ७।२।

स०-वसुश्च राट् च तौ वसुराटौ, तयोः-वसुराटोः।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां विश्वस्य वसुराटोरुत्तरपदयोर्दीर्घः।

अर्थः-संहितायां विषये विश्व-शब्दस्य वसुराटोरुत्तरपदयोः परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(वसुः) विश्वं वसु यस्य सः-विश्वावसुः। **(राट्)** विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (विश्वस्य) विश्व शब्द को (वसुराटोः) वसु और राट् शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(वसु) विश्वावसुः। विश्व=समस्त वसु=धनवाला ईश्वर। अमरावती में रहनेवाले एक गन्धर्व का नाम (श०कौ०)। (राट्) विश्वाराट्। विश्व में विराजमान ईश्वर।

सिद्धि-(१) विश्वावसुः। यहां विश्व और वसु शब्दों क 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। इस सूत्र से 'विश्व' शब्द को 'वसु' उत्तरपद होने पर दीर्घ होता है।

(२) विश्वाराट्। यहां विश्व और राट् शब्दों का 'उपपदमतिङ्' (२।२।१९) से उपपदतत्पुरुष समास है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है। 'राट्' शब्द में 'राजृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) धातु से 'सत्सूद्विष०' (३।२।६१) से 'क्विप्' प्रत्यय है।

दीर्घः-

(१५) नरे संज्ञायाम्।१२९।

प०वि०-नरे ७।१ संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः, विश्वस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां संज्ञायां विश्वस्य पूर्वस्याणो नरे उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-संहितायां संज्ञायां च विषये विश्व-शब्दस्य पूर्वस्याणो नर-शब्दे उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-विश्वानरो नाम कश्चित्, यस्य वैश्वानरिः पुत्रः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (संज्ञायाम्) संज्ञाविषय में (विश्वस्य) विश्व शब्द के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (नरे) नर-शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-**विश्वानरो नाम कश्चित्, यस्य वैश्वानरिः पुत्रः।** विश्वानर नामक कोई पुरुष है उसका पुत्र वैश्वानरि कहाता है। विश्वानर=सविता, इन्द्र, अग्नि के पिता, सबका नेता।*

सिद्धि-विश्वानरः। यहां विश्व और नर शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस सूत्र से संज्ञाविषय में विश्व शब्द के पूर्ववर्ती अण् अकार को उत्तरपद परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'विश्वानर' शब्द से 'अत इञ्' (४।१।७५) से अपत्य-अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है-वैश्वानरिः।

दीर्घः-

(१६) मित्रे चर्षौ।१३०।

प०वि०-मित्रे ७।१ च अव्ययपदम्, ऋषौ ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, पूर्वस्य, अणः, दीर्घः, विश्वस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां विश्वस्य पूर्वस्याणो मित्रे चोत्तरपदे दीर्घः, ऋषौ।

अर्थः-संहितायां विषये विश्वशब्दस्य पूर्वस्याणो मित्र-शब्दे चोत्तरपदे परतो दीर्घो भवति, ऋषावभिधेये।

उदा०-विश्वामित्रो नाम ऋषिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (विश्वस्य) विश्व-शब्द के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अण्) अण् को (मित्रे) मित्र शब्द (उत्तरपदे) उत्तरपद होने पर (च) भी (दीर्घः) दीर्घ होता है (ऋषौ) यदि वहां ऋषि अर्थ अभिधेय हो।*

*उदा०-**विश्वामित्रो नाम ऋषिः।** विश्वामित्र नामक ऋषि। एक प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि जो गाधिज, गांगेय और कौशिक भी कहलाते हैं। आयुर्वेद-पारदर्शी सुश्रुत के पिता का नाम (श०कौ०)।*

दीर्घः-

(१७) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ।१३१।

प०वि०-मन्त्रे ७।१ सोम-अश्व-इन्द्रिय-विश्वदेव्यस्य ६।१ मतौ ७।१।

स०-सोमश्च अश्वश्च इन्द्रियं च विश्वदेव्यं च एतेषां समाहारः सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यम्, तस्य-सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, पूर्वस्य, दीर्घः, अण इति चानुवर्तते। अत्र 'मतुप्' इति प्रत्ययोऽत्र उत्तरपदे इति नानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य पूर्वस्याणो मतौ दीर्घः।

अर्थः-संहितायां मन्त्रे च विषये सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यशब्दानां पूर्वस्याणो मतुप्-प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

उदा०-**(सोमः)** सोमावती (ऋ० १०।९७।७)। **(अश्वः)** अश्वावती (ऋ० १०।९७।७)। **(इन्द्रियम्)** इन्द्रियावती (तै०सं० २।४।२।१)। **(विश्वदेव्यम्)** विश्वदेव्यावती (तै०सं० ४।१।६।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (मन्त्रे) मन्त्र विषय में (सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य) सोम, अश्व, इन्द्रिय और विश्वदेव्य शब्दों के (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (मतौ) मतुप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(सोम) सोमावती (ऋ० १०।९७।७)। सोमवाली। (अश्व) अश्वावती (ऋ० १०।९७।७)। घोड़ोंवाली। (इन्द्रिय) इन्द्रियावती (तै०सं० २।४।२।१)। इन्द्रियोंवाली। (विश्वदेव्यम्) विश्वदेव्यावती (तै०सं० ४।१।६।१)। विश्वदेव्यवाली।

सिद्धि-सोमावती। यहां सोम शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।१।१६) से मतुप् प्रत्यय है। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) से मतुप् के मकार को वकार आदेश होता है। प्रत्यय के उगित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'उगितश्च' (४।१।६) से 'ङीप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से मन्त्र विषय में सोम शब्द के पूर्ववर्ती अण् (अकार) को मतुप् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-अश्वावती, इन्द्रियावती, विश्वदेव्यावती।

विशेषः यहां 'मतुप्' प्रत्यय है, अतः 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति नहीं की जाती है।

दीर्घः-

(१८) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्।१३२।

प०वि०-ओषधेः ६।१ च अव्ययपदम्, विभक्तौ ७।१ अप्रथमायाम् ७।१।

स०-न प्रथमा इति अप्रथमा, तस्याम्-अप्रथमायाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-संहितायाम्, पूर्वस्य, अणः, दीर्घः, मन्त्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां मन्त्रे ओषधेश्चाप्रथमायां विभक्तौ दीर्घः।

अर्थः-संहितायां मन्त्रे च विषये ओषधि-शब्दस्य च प्रथमावर्जितायां विभक्तौ परतो दीर्घो भवति।

उदा०-ओषधीभिः पुनीतात् (ऋ० १०।३०।५)। नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः (तै०आ० २।१२।१)।

आर्यभाषाः अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (मन्त्रे) मन्त्र विषय में (ओषधेः) ओषधि शब्द को (च) भी (अप्रथमायाम्) प्रथमा से भिन्न (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता होता है।

उदा०-ओषधीभिः पुनीतात् (ऋ० १०।३०।५)। ओषधियों से स्वयं को पवित्र (स्वस्थ) करे। नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः (तै०आ० २।१२।१)। पृथिवी को नमस्कार, ओषधियों को नमस्कार अर्थात् उनका यथावत् उपयोग करना चाहिये।

सिद्धि-ओषधीभिः। ओषधि+भिस्। ओषधीभिरु। ओषधीभीर्। ओषधीभिः।

यहां 'ओषधि' शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'भिस्' प्रत्यय है। 'भिस्' की 'विभक्तिश्च' (१।४।१०४) से विभक्ति संज्ञा है। इस सूत्र से मन्त्र विषय में ओषधि

शब्द को प्रथमा से भिन्न 'भिस्' तृतीया-विभक्ति (बहुवचन) परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही 'भ्यस्' प्रत्यय परे होने पर-ओषधीभ्यः।

दीर्घः-

(१६) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्।१३३।

प०वि०-ऋचि ७।१ तु-नु-घ-मक्षु-तङ्-कुत्र-उरुष्याणाम् ६।३।

स०-तुश्च नुश्च घश्च मक्षुश्च तङ् च कुत्रश्च उरुष्यश्च ते तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याः, तेषाम्-तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-संहितायाम्, दीर्घः, अण इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् अणो दीर्घः।

अर्थः-संहितायाम् ऋचि च विषये तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणां शब्दानामणो दीर्घो भवति।

उदा०-(तु) आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० ४।३२।१)। (नु) नू करणे। (घ) उत वा घा स्यालात् (ऋ० १।१०९।२)। (मक्षु) मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० ८।३३।३)। (तङ्) भरता जातवेदसम् (ऋ० १०।१७६।२)। (कु) कू मनः। (त्र) अत्रा गौः। (उरुष्य) उरुष्या णो अभिशस्तेः (ऋ० १।९१।१५)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (ऋचि) ऋग्वेद विषय में (तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्) तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कुत्र और उरुष्य शब्दों के (अणः) अण् को (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-सब उदाहरण संस्कृतभाग में लिखे हैं। सूत्रोक्त पदों का अर्थ यह है-तु=किन्तु, प्रत्युत, और, अब, इस सम्बन्ध में, भेदसूचक। नु=सन्देह और अनिश्चितता सूचक अव्यय है, यह सम्भावना और अवश्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। घ=एव-अर्थक तथा अपि-अर्थक निपात है। मक्षु=शीघ्र। क्षिप्र-नाम (निघण्टु २।१५)। तङ्-थ-प्रत्यय के स्थान में त-आदेश है। कुत्र=कहां। उरुष्य=पाहि (तू रक्षा कर) 'उरुष रक्षायाम्' (कण्ड्वादि आकृतिगण से)।

सिद्धि-तू। 'तु' शब्द को इस सूत्र से ऋचा विषय में दीर्घ होता है-तू। ऐसे ही-'नू' आदि।

दीर्घः–

(२०) इकः सुञि।१३४।

प०वि०-इकः ६।१ सुञि ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः, ऋचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् ऋचि इकः सुञि दीर्घः।

अर्थः-संहितायाम् ऋचि च विषये इगन्तस्य शब्दस्य सुञि परतो दीर्घो भवति।

उदा०-अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (ऋचि) ऋग्वेद विषय में (इकः) इगन्त शब्द को (सुञि) सु-शब्द परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३)।

सिद्धि-अभी षु णः। यहां इस सूत्र से इगन्त अभि शब्द को 'सु' शब्द परे होने पर दीर्घ होता है-अभी। 'सु' शब्द को 'सुञः' (८।३।१०५) से षत्व और 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) से 'नः' को णत्व होता है-णः। ऐसे ही-'ऊ षु णः'।

दीर्घः–

(२१) द्व्यचोऽतस्तिङः।१३५।

प०वि०-द्व्यचः ६।१ अतः ६।१ तिङः ६।१।

स०-द्वावचौ यस्मिन् स द्व्यच्, तस्य-द्व्यचः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-संहितायाम्, दीर्घः, ऋचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् ऋचि द्व्यचस्तिङोऽतो दीर्घः।

अर्थः-संहितायाम् ऋचि च विषये द्व्यचस्तिङन्तस्य शब्दस्याकारस्य दीर्घो भवति।

उदा०-विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)। विद्मा शरस्य पितरम् (शौ०सं० १।२।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (ऋचि) ऋग्वेद विषय में (द्व्यचः) दो अचोंवाले (तिङः) तिङन्त शब्द के (अतः) अकार को (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)। विद्मा शरस्य पितरम् (शौ०सं० १।२।१)।

सिद्धि-विद्मा। यहां 'विद ज्ञाने' (अदा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से लोट् प्रत्यय और इसके लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'मस्' आदेश है। 'नित्यं ङितः' (३।४।९९) से मस् के सकार का लोप होता है। इस सूत्र से दो अचोंवाले, तिङन्त 'विद्म' शब्द के अकार को दीर्घ होता है-विद्मा।

दीर्घः-

(२२) निपातस्य च।१३६।

प०वि०-निपातस्य ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-संहितायाम्, दीर्घः, ऋचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् ऋचि निपातस्य च दीर्घः।

अर्थः-संहितायाम् ऋचि च विषये निपातस्य च दीर्घो भवति।

उदा०-एवा ते (ऋ० १०।२०।१०)। अच्छा जरितारः (ऋ० १।२।२)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(संहितायाम्) संहिता और (ऋचि) ऋग्वेद विषय में (निपातस्य) निपात-संज्ञक शब्द को (च) भी (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-एवा ते (ऋ० १०।२०।१०)। अच्छा जरितारः (१।२।२)। एव=निश्चयार्थक निपात है। अच्छ=उत्तमार्थक निपात है।

सिद्धि-एवा। 'एव' शब्द की 'चादयोऽसत्वे' (१।४।५७) से निपात संज्ञा है। इस सूत्र से ऋग्वेद विषय में 'एव' निपात को दीर्घ होता है-एवा। ऐसे ही-अच्छा।

दीर्घः-

(२३) अन्येषामपि दृश्यते।१३७।

प०वि०-अन्येषाम् ६।३ अपि अव्ययपदम्, दृश्यते क्रियापदम्।

अनु०-संहितायाम्, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायाम् अन्येषामपि दीर्घः दृश्यते।

अर्थः-संहितायां विषयेऽन्येषामपि शब्दानां दीर्घो दृश्यते, यस्य शब्दस्य दीर्घत्वं न विहितं, शिष्टप्रयोगे च दृश्यते तस्यानेन साधुत्वं वेदितव्यम्।

उदा०-केशाकेशि। कचाकचि। नारकः। पूरुषः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (अन्येषाम्) अन्य शब्दों को (अपि) भी (दीर्घः) दीर्घ (दृश्यते) देखा जाता है। जिस शब्द को पहले दीर्घ-विधान नहीं किया गया है, और शिष्ट प्रयोग में दीर्घ देखा जाता है, उसका इस सूत्र से साधुत्व जानें।*

उदा०-केशाकेशि। परस्पर के केश पकड़ कर प्रवृत्त हुआ युद्ध। कचाकचि। अर्थ पूर्ववत् है। नारकः। नरक। पूरुषः। पुरुष।

सिद्धि-केशाकेशि। यहां केश और केश शब्दों का 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) से बहुव्रीहि समास है। 'इच् कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) से समासान्त 'इच्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से केश शब्द को केश शब्द उत्तरपद होने पर दीर्घत्व को साधु माना जाता है। ऐसे ही-कचाकचि, नारकः, पूरुषः।

दीर्घः-

(२४) चौ।१३८।

वि०-चौ ७।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, पूर्वस्य, दीर्घः, अण् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां पूर्वस्याणश्चावुत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-संहितायां विषये पूर्वस्याणश्चावुत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-दधि अञ्चतीति-दध्यङ्। दधीचः पश्य। दधीचा कृतम्। दधीचे देहि। मधु अञ्चतीति-मध्वङ्। मधूचः पश्य। मधूचा कृतम्। मधूचे देहि।

अत्र 'चौ' इत्यनेन लुप्तनकाराकारोऽञ्चतिर्गृह्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती (अणः) अण् को (चौ) लुप्त नकारक अञ्चति शब्द परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-दध्यङ्। दधि (दही) को प्राप्त करनेवाला। दधीचः पश्य। तू दधि को प्राप्त करनेवालों को देख। दधीचा कृतम्। दधि को प्राप्त करनेवाले के द्वारा किया गया कार्य। दधीचे देहि। दधि को प्राप्त करनेवाले को दे। मध्वङ्। मधु को प्राप्त करनेवाला। मधूचः पश्य। मधु को प्राप्त करनेवालों को देख। मधूचा कृतम्। मधु को प्राप्त करनेवाले के द्वारा किया गया। मधूचे देहि। मधु को प्राप्त करनेवाले को दे।

सिद्धि-दधीचः। दधि+अञ्चु+क्विप्। दधि+अञ्च्+वि। दधि+अञ्च्+०। दधि+अच्+शस्। दधि+अच्+अस्। दधी+०च्+अस्। दधीचस्। दधीचरु। दधीचर्। दधीचः।

यहां दधि उपपद 'अञ्चु गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विक्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'अञ्चु' के

नकार का लोप और 'अचः' (६।४।१३८) से 'अञ्चु' के अकार का भी होता है। 'अञ्चु' का केवल 'चु' शेष रहता है। लुप्त नकार तथा लुप्त अकारवाली 'अञ्चु' धातु का 'चौ' नाम से ग्रहण किया गया है। इस सूत्र से पूर्वपद दधि के इकार अण् को उक्त अञ्चति (चु) शब्द परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-दधीचा, दधीचे। मधु शब्द से-मधूचः, मधूचा, मधूचे।

दीर्घः-

(२५) सम्प्रसारणस्य।१३६।

वि०-सम्प्रसारणस्य ६।१।

अनु०-उत्तरपदे, संहितायाम्, पूर्वस्य, अणः, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां सम्प्रसारणस्य पूर्वस्याण उत्तरपदे दीर्घः।

अर्थः-संहितायां विषये सम्प्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्याण उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति।

उदा०-कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः। कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संहितायाम्) संहिता विषय में (सम्प्रसारणस्य) सम्प्रसारण जिसके अन्त में है, उस (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती पद के (अणः) अण् को (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्ध्या का पुत्र। कारीषगन्धीपतिः। कारीषगन्ध्या का पति। कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्ध्या का पुत्र। कौमुदगन्धीपतिः। कौमुदगन्ध्या का पति।

सिद्धि-कारीषगन्धीपुत्रः। यहां कारीषगन्ध्या और पुत्र शब्दों का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। 'कारीषगन्ध्या' शब्द में 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' (४।१।७८) से गोत्रापत्य अर्थ में अण्-प्रत्यय को 'ष्यङ्' आदेश और 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे' (६।१।१३) से 'ष्यङ्' के यकार को इकार सम्प्रसारण होता है। इस सूत्र से सम्प्रसारणान्त कारीषगन्धि शब्द के अण् (इकार) को पुत्र उत्तरपद होने पर दीर्घ होता है-कारीषगन्धीपुत्रः। ऐसे ही-कारीषगन्धीपतिः। कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः।

।। इति संहिताधिकारीयदीर्घप्रकरणम्।।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः

अङ्गसंज्ञा-अधिकारः

{दीर्घ-प्रकरणम्}

अङ्गाधिकारः–

(१) अङ्गस्य।१।

वि०–अङ्गस्य ६।१।

अर्थः–'अङ्गस्य' इत्यधिकारोऽयम्, आ सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। इतोऽग्रे यद् वक्ष्यति 'अङ्गस्य' इत्येवं तद् वेदितव्यम्। यथा वक्ष्यति-हलः (६।४।२) इति। हूतः। जीनः। संवीतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्गस्य यह अधिकार सूत्र है। इसका सप्तम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त अधिकार है। पाणिनि मुनि इससे आगे जो कहेंगे वह अंग के सम्बन्ध में जानना चाहिये। जैसे कि पाणिनि मुनि कहेंगे–'हलः' (६।४।२) हूतः। बुलाया/पुकारा हुआ। जीनः। जीर्ण हुआ। संवीतः। आच्छादित किया हुआ।*

सिद्धि–'हूतः' आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (१।४।१३) से जो अङ्ग संज्ञा की गई है, यहां तत्सम्बन्धी कार्यों का विधान किया जायेगा।

दीर्घः–

(२) हलः।२।

वि०–हलः ५।१।

अनु०–दीर्घः, अणः, सम्प्रसारणस्य, अङ्गस्य दीर्घः।

अन्वयः–हलः सम्प्रसारणस्य अङ्गस्य दीर्घः।

अर्थः–अङ्गावयवाद् हल उत्तरं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य अङ्गस्य दीर्घो भवति।

उदा०–हूतः। जीनः। संवीतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हल:) अङ्ग के अवयवभूत हल् से परे जो (सम्प्रसारणस्य) सम्प्रसारण है, उस सम्प्रसारणान्त (अङ्गस्य) अंग को (दीर्घ:) दीर्घ होता है।*

उदा०-हूत:। बुलाया/पुकारा हुआ। जीन:। जीर्ण हुआ। संवीत:। आच्छादित किया हुआ।

सिद्धि-(१) हूत:। ह्वेञ्+क्त। ह्वा+त। ह उ आ+त। हु+त। हू+त। हूत+सु। हूत:।

यहां 'ह्वेञ् स्पर्धायाम्' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् निष्ठा प्रत्यय है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से 'ह्वा' के वकार को उकार सम्प्रसारण, आकार को पूर्ववत् पूर्वसवर्ण उकार और इस सूत्र से हल् से उत्तरवर्ती सम्प्रसारणभूत उकार को दीर्घ होता है।

(२) जीन:। ज्या+क्त। ज्या+त। ज्या+न। ज इ आ+न। जि+न। जी+न। जीन+सु। जीन:।

यहां 'ज्या वयोहानौ' (क्र्या०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।३।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। 'ल्वादिभ्य:' (८।२।४४) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है। 'ग्रहिज्यावयि०' (६।१।१६) से 'ज्या' को सम्प्रसारण इकार, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) से 'ज्या' के आकार को पूर्वरूप इकार और इस सूत्र से हल् से उत्तरवर्ती सम्प्रसारणभूत इकार को दीर्घ होता है।

(३) संवीत:। सम्+व्यञ्+क्त। सम्+व्या+त। सम्+व् इ आ+त। सम्+वि+त। सम्+वी+त। संवीत+सु। संवीत:।

यहां सम्-उपसर्गपूर्वक 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय और पूर्ववत् सम्प्रसारण तथा पूर्वसवर्ण होकर इस सूत्र से हल् से उत्तरवर्ती सम्प्रसारणभूत इकार को दीर्घ होता है।

दीर्घ:–

(३) नामि।३।

वि०-नामि ७।१।

अनु०-दीर्घ:, अङ्गस्य इति चानुवर्तति। 'अण:' इति च निवृत्तम्।

अन्वय:-अङ्गस्य नामि दीर्घ:।

अर्थ:-{अजन्तस्य} अङ्गस्य नामि परतो दीर्घो भवति।

उदा०-अग्नीनाम्। वायूनाम्। कर्तॄणाम्।

'नाम्' इत्येतत् षष्ठीबहुवचनम् आगतनुट्कं गृह्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अजन्त अंग को (नामि) नुट्-आगम सहित आम् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-अग्नीनाम्। बहुत अग्नियों का। वायूनाम्। बहुत वायुओं का। कर्तॄणाम्। बहुत कर्ताओं का।

सिद्धि-(१) अग्नीनाम्। अग्नि+आम्। अग्नि+नुट्+आम्। अग्नि+न्+आम्। अग्नी+नाम्। अग्नीनाम्।

*यहां 'अग्नि' शब्द से षष्ठीविभक्ति के बहुवचन की विवक्षा में **'स्वौजस०'** (४।१।२) से 'आम्' प्रत्यय है, **'ह्रस्वनद्यापो नुट्'** (७।१।५४) से 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। इस सूत्र से अजन्त 'अग्नि' शब्द को 'नाम्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-वायूनाम्।*

*(२) **कर्तॄणाम्।** यहां कर्तृ शब्द से पूर्ववत् 'आम्' प्रत्यय और 'नुट्' आगम है। वा०- **'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्'** (८।४।१) से णत्व होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।*

दीर्घ-प्रतिषेधः-

(४) न तिसृचतसृ।४।

प०वि०-न अव्ययपदम्, तिसृ-चतसृ ६।१ (लुप्तषष्ठीकं पदम्)।

स०-तिसृश्च चतसृश्च एतयोः समाहारः-तिसृचतसृ। अत्र **'सुपां सुलुक्०'** (७।१।३९) इत्यनेन षष्ठ्या लुक्।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, नामि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तिसृचतसृ अङ्गस्य नामि दीर्घो न।

अर्थः-तिसृ, चतसृ इत्येतरङ्ग्योर्नामि परतो दीर्घो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते।

उदा०-(तिसृ) तिसृणाम्। **(चतसृ)** चतसृणाम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ इन (अङ्गस्य) अंगों को (नामि) नाम् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता है।*

उदा०-(तिसृ) तिसृणाम्। तीन स्त्रियों का। (चतसृ) चतसृणाम्। चार स्त्रियों का।

सिद्धि-तिसृणाम्। तिसृ+आम्। तिसृ+नुट्+आम्। तिसृ+न्+आम्। तिसृ+नाम्। तिसृणाम्।

*यहां 'तिसृ' शब्द से षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में **'स्वौजस०'** (४।१।२) से 'आम्' प्रत्यय और इसे **'ह्रस्वनद्यापो नुट्'** (७।१।५४) से 'नुट्' आगम होता है। इस सूत्र*

से 'तिसृ' अंग को 'नाम्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ नहीं होता है। 'नामि' (६।४।३) से दीर्घ प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया गया है। वा०- 'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्' (८।४।१) से णत्व होता है। ऐसे ही-चतसृणाम्।

उभयथा दर्शनम्-

(५) छन्दस्युभयथा।५।

प०वि०-छन्दसि ७।१ उभयथा अव्ययपदम्।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, नामि, तिसृचतसृ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि तिसृचतसृ अङ्गस्य नामि उभयथा दीर्घः।

अर्थः-छन्दसि विषये तिसृचतस्रोरङ्गयोर्नामि परत उभयथा दीर्घोऽदीर्घश्च दृश्यते।

उदा०-(तिसृ) तिसृणां मध्यन्दिने (द्र०का०सं० २७।९)। तिसृणां मध्यन्दिने (द्र०ऋ० ५।६९।२)। **(चतसृ)** चतसृणां मध्यन्दिने (द्र०का०सं० २७।९)। चतसृणां मध्यन्दिने।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ (अङ्गस्य) अंगों का (नामि) नाम् प्रत्यय परे होने पर (उभयथा) दीर्घ और अदीर्घ दोनों प्रकार का रूप देखा जाता है।*

*उदा०-(तिसृ) **तिसृणां मध्यन्दिने** (द्र०का०सं० २७।९)। **तिसॄणां मध्यन्दिने** (द्र०ऋ० ५।६९।२)। (चतसृ) **चतसृणां मध्यन्दिने** (द्र०का०सं० २७।९)। **चतसॄणां मध्यन्दिने**।*

***सिद्धि-**तिसृणाम् और चतसृणाम् पदों की सिद्धि पूर्ववत् (६।४।४) है। दीर्घभाव विशेष है-तिसॄणाम्, चतसॄणाम्।*

उभयथा दर्शनम्-

(६) नृ च।६।

प०वि०-नृ ६।१ (लुप्तषष्ठीकं पदम्) च अव्ययपदम्।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, नामि, छन्दसि, उभयथा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि नृ चाऽङ्गस्य नामि उभयथा दीर्घः।

अर्थः-छन्दसि विषये नृ इत्येतस्याङ्गस्य नामि परत उभयथा दीर्घोऽदीर्घश्च दृश्यते।

उदा०-त्वां नृणां नृपते (द्र०पै०सं० २।१०।४)। त्वं नृणां नृपते (ऋ० २।१।१)।

अत्र केचित् 'छन्दसि' इति नानुवर्तयन्ति, तेन लौकिकभाषायामपि विकल्पो भवति-नृणाम्, नृणाम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (नृ) नृ इस (अङ्गस्य) अंग को (नामि) नाम् प्रत्यय परे होने पर (उभयथा) दीर्घ और अदीर्घ दोनों प्रकार का रूप देखा जाता है।*

उदा०-त्वां नॄणां नृपते (द्र०पै०सं० २।१०।४)। त्वं नृणां नृपते (ऋ० २।१।१)।

यहां कई आचार्य 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति नहीं करते हैं। अतः लौकिक भाषा में भी यह विकल्प होता है-नृणाम्, नॄणाम्। सब नरों का।

सिद्धि-नृणाम् और नॄणाम् पदों की सिद्धि तिसृणाम् और तिसॄणाम् पदों के समान है।

दीर्घः-

(७) नोपधायाः।७।

प०वि०-न ६।१ (लुप्तषष्ठीकं पदम्) उपधायाः ६।१।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, नामि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नस्य अङ्गस्य उपधाया नामि दीर्घः।

अर्थः-नकारान्तस्याङ्गस्य उपधाया नामि दीर्घो भवति।

उदा०-पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नस्य) नकारान्त (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (नामि) नाम् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-पञ्चानाम्। पांचों का। सप्तानाम्। सातों का। नवानाम्। नौओं का। दशानाम्। दशों का।

सिद्धि-पञ्चनाम्। पञ्चन्+आम्। पञ्चन्+नुट्+आम्। पञ्चन्+नाम्। पञ्चान्+नाम्। पञ्चा०+नाम्। पञ्चानाम्।

यहां 'पञ्चन्' शब्द से षष्ठी बहुवचन की विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'आम्' प्रत्यय है। 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) से 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। इस सूत्र से नकारान्त 'पञ्चन्' अंग के उपधाभूत अकार को 'नाम्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही-सप्तानाम् आदि।

दीर्घः–

(८) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ।८।

प०वि०–सर्वनामस्थाने ७।१ च अव्ययपदम्, असम्बुद्धौ ७।१।

स०–न सम्बुद्धिरिति असम्बुद्धिः, तस्याम्–असम्बुद्धौ (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–दीर्घः, अङ्गस्य, नामि, नस्य, उपधाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः–नस्य अङ्गस्य उपधाया असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने च दीर्घः।

अर्थः–नकारान्तस्याङ्गस्य उपधायाः सम्बुद्धिवर्जिते सर्वनामस्थाने च परतो दीर्घो भवति।

उदा०–राजा, राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ। सामानि तिष्ठन्ति, सामानि पश्य।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नस्य) नकारान्त (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (च) भी (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०–राजा। एक राजा ने। राजानौ। दो राजाओं ने। राजानः। सब राजाओं ने। राजानम्। एक राजा को। राजानौ। दो राजाओं को। सामानि तिष्ठन्ति। बहुत साम हैं। सामानि पश्य। तू बहुत सामों को देख।

सिद्धि-(१) राजा। राजन्+सु। राजान्+सु। राजान्+०। राजा०। राजा।

यहां 'राजन्' शब्द से प्रथमा एकवचन की विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'सु' प्रत्यय है। 'सु' प्रत्यय की 'सुडनपुंसकस्य' (१।१।४३) से सर्वनामस्थान संज्ञा है। इस सूत्र से नकारान्त राजन् अंग की उपधा को सर्वनामस्थान संज्ञक 'सु' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही–राजानौ आदि।

(२) सामानि। सामन्+जस्। सामन्+शि। सामन्+इ। सामान्+इ। सामानि।

यहां 'सामन्' शब्द से प्रथमा बहुवचन की विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'जस्' प्रत्यय है। 'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) से 'जस्' के स्थान में 'शि' आदेश होता है और इसकी 'शि सर्वनामस्थानम्' (१।१।४२) से सर्वनामस्थान संज्ञा है। इस सूत्र से नकारान्त 'सामन्' अंग की उपधा को सर्वनामस्थान संज्ञक 'शि' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही 'शस्' प्रत्यय में-त्वं सामानि पश्य।

दीर्घ-विकल्पः–

(९) वा षपूर्वस्य निगमे।९।

प०वि०–वा अव्ययपदम्, षपूर्वस्य ६।१ निगमे ७।१।

स०–षः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वः, तस्य–षपूर्वस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०–दीर्घः, अङ्गस्य, नस्य, उपधायाः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धाविति चानुवर्तते।

अन्वयः–निगमे षपूर्वस्य नस्याङ्गस्य उपधाया असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने वा दीर्घः।

अर्थः–निगमे विषये षपूर्वस्य नकारान्तस्याङ्गस्य उपधायाः सम्बुद्धिवर्जिते सर्वनामस्थाने परतो विकल्पेन दीर्घो भवति।

उदा०–स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै०सं० २।४।१)। स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्। ऋभुक्षाणमिन्द्रम्। ऋभुक्षणमिन्द्रम् (ऋ० १।१११।४)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(निगमे) वेदविषय में (षपूर्वस्य) षकार पूर्ववाले (नस्य) नकारान्त (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै०सं० २।४।१)। तक्षाणम्=बढ़ई को। **स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्।** तक्षणम्=बढ़ई को। **ऋभुक्षाणमिन्द्रम्।** ऋभुक्षाणम्=महान् इन्द्र को। **ऋभुक्षणमिन्द्रम्** (ऋ० १।१११।४)। ऋभुक्षणम्=महान् इन्द्र को।*

*सिद्धि-(१) **तक्षाणम्।** तक्षन्+अम्। तक्षान्+अम्। तक्षाण्+अम्। तक्षाणम्।*

*यहां 'तक्षन्' शब्द से द्वितीया एकवचन की विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'अम्' प्रत्यय है। इस सूत्र से वेदविषय में षकारपूर्वी, नकारान्त 'तक्षन्' अंग के उपधाभूत आकार को सर्वनामस्थानसंज्ञक 'अम्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। विकल्प पक्ष में दीर्घ नहीं है-**तक्षणम्।** 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।४।२) से णत्व होता है।*

*(२) **ऋभुक्षाणम्।** यहां 'ऋभुक्षिन्' शब्द से पूर्ववत् 'अम्' प्रत्यय है। प्रथम 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'ऋभुक्षिन्' के इकार को अकार आदेश होता है। तत्पश्चात् इस सूत्र से अकार को दीर्घ होता है। विकल्प-पक्ष में दीर्घ नहीं है-**ऋभुक्षणम्।***

दीर्घः–

(१०) सान्तमहतः संयोगस्य।१०।

प०वि०–सान्तमहतः ६।१ संयोगस्य ६।१।

स०-सोऽन्ते यस्य सः-सान्तः। सान्तश्च महाँश्च एतयोः समाहारः सान्तमहत्, तस्य-सान्तमहतः।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, नस्य, उपधायाः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-सान्तमहतोऽङ्गस्य संयोगस्य नस्य उपधाया असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने दीर्घः।

अर्थः-सकारान्तस्य महतश्चाङ्गस्य संयोगस्थस्य नकारस्य उपधाया सम्बुद्धिवर्जिते सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवति।

उदा०-**(सान्तः)** श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः। श्रेयांसि, पयांसि, यशांसि। **(महत्)** महान्, महान्तौ, महान्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(सान्तमहतः) सकारान्त और (महतः) महत् (अङ्गस्य) अंग के (संयोगस्य) संयोगस्थ के (नस्य) नकार की (उपधायाः) उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-(सान्त) **श्रेयान्**। एक प्रशस्य ने। **श्रेयांसौ**। दो प्रशस्यों ने। **श्रेयांसः**। सब प्रशस्यों ने। **श्रेयांसि**। बहुत प्रशस्यों ने/को। **पयांसि**। बहुत दूध/जलों ने/को। **यशांसि**। बहुत यशों ने/को। (महत्) **महान्**। एक महान् ने। **महान्तौ**। दो महानों ने। **महान्तः**। सब महानों ने।*

*सिद्धि-(१) **श्रेयान्**। प्रशस्य+ईयसुन्। श्र+ईयस्। श्रेयस्+सु। श्रेय नुम् स्+सु। श्रेयन्स्+सु। श्रेयान्स्+सु। श्रेयान्स्+०। श्रेयान्०। श्रेयान्।*

*यहां 'प्रशस्य' शब्द से '**द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ**' (५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। '**प्रशस्यस्य श्रः**' (५।३।६०) से 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश होता है। प्रत्यय के उगित् होने से '**उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः**' (७।१।७०) से 'नुम्' आगम होता है। इस सूत्र से इस सकारान्त संयोग के उपधाभूत अकार को दीर्घ होता है। '**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०**' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और '**संयोगान्तस्य लोपः**' (८।२।२३) से सकार का लोप होता है। ऐसे ही-**श्रेयांसौ, श्रेयांसः**।*

*(२) **श्रेयांसि**। यहां पूर्वोक्त 'श्रेयस्' शब्द से 'जस्' प्रत्यय और '**जश्शसोः शि**' (७।१।२०) से जस् के स्थान में 'शि' आदेश और इसकी '**शि सर्वनामस्थानम्**' (१।१।४२) से सर्वनामस्थान संज्ञा है। '**नपुंसकस्य झलचः**' (७।१।७२) से 'नुम्' आगम और इसके नकार को '**नश्चापदास्य झलि**' (८।३।२४) से अनुस्वार होता है। ऐसे ही-**पयांसि, यशांसि**।*

(३) महान्। महत्+सु। महानमृत्+सु। महन्त्+सु। महान्त्+०। महान्०। महान्।

यहां 'महत्' शब्द से 'सु' प्रत्यय 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महच्छतृवच्च' (उणा०) से 'महत्' को शतृवद्भाव होने से 'उदगिचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से 'नुम्' आगम होता है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है।

दीर्घः–

(११) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृ-होतृपोतृप्रशास्तृणाम्।११।।

प०वि०- अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृणाम् ६।३।

स०-आपश्च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च होता च पोता च प्रशास्ता च ते-अप्०प्रशास्तारः, तेषाम्-अप्०प्रशास्तृणाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, उपाधायाः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् अङ्गानाम् उपधाया असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने दीर्घः।

अर्थः-अप् इत्येतस्य तृन्नन्तस्य तृजन्तस्य स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ-प्रशास्तृणां चाङ्गानाम् उपधाया सम्बुद्धिवर्जिते सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवति। **उदाहरणम्–**

अङ्गानि	शब्दरूपम्	भाषार्थः
१. अप्	आपः, आपः।	जल, सर्वव्यापक ईश्वर।
२. तृन्-अन्त	कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः।	करणशील, करणधर्मा, साधुकारी।
३. तृच्-अन्त	कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः।	करनेवाला।
४. स्वसृ	स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः।	बहिन।
५. नप्तृ	नप्ता, नप्तारौ, नप्तारः।	नाती। पौत्र/दौहित्र।

अङ्गानि	शब्दरूपम्	भाषार्थः
६. नेष्टृ	नेष्टा, नेष्टारौ, नेष्टारः।	सोमयाग के १६ याज्ञिकों में से एक। यजुर्वेदज्ञ ऋत्विक्।
७. त्वष्टृ	त्वष्टा, त्वष्टारौ, त्वष्टारः।	बढ़ई। विश्वकर्मा।
८. क्षत्तृ	क्षत्ता, क्षत्तारौ, क्षत्तारः।	मूर्तिकार।
९. होतृ	होता, होतारौ, होतारः।	ऋग्वेदज्ञ ऋत्विक्।
१०. पोतृ	पोता, पोतारौ, पोतारः।	चतुर्वेदज्ञ ब्रह्मा।
११. प्रशास्तृ	प्रशास्ता, प्रशास्तारौ, प्रशास्तारः।	प्रशास्ता (ऋत्विक् विशेष)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अप्०प्रशास्तॄणाम्) अप्, तृन्-प्रत्ययान्त, तृच्-प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ अंगों की उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (दीर्घ) दीर्घ होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) आपः। अप्+जस्। अप्+अस्। आपस्। आपरु। आपर्। आपः।

यहां 'अप्' शब्द से 'सु' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'अप्' अंग के उपधाभूत अकार को सर्वनामस्थान संज्ञक 'सु' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है।

(२) कर्ता। कृ+तृन्। कृ+तृ। कर्तृ+सु। कर्तृ अनङ्+सु। कर्तन्+सु। कर्तान्+सु। कर्तान्+०। कर्ता०। कर्ता।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तृन्' (३।२।१३५) से 'तृन्' प्रत्यय है। 'ऋदुशनस०' (७।१।९५) से अनङ् आदेश है। इस सूत्र से तृन्नन्त अंग के उपधाभूत अकार को दीर्घ होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है।

(३) कर्तारौ। कर्तृ+औ। कतर्+औ। कर्तार्+औ। कर्तारौ।

यहां कर्तृ शब्द से औ प्रत्यय करने पर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (७।३।११०) से ऋकार गुण अकार (अर्) होता है। इस सूत्र से तृन्नन्त कर्तर् अंग के उपधाभूत अकार को दीर्घ होता है। ऐसे ही-कर्तारः।

(४) कर्ता। यहां 'कृ' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। शेष कार्य तृन्नन्त 'कर्तृ' शब्द के समान है।

(५) स्वसा आदि पदों की सिद्धि कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः के समान है।

दीर्घः-

(१२) इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।१२।

प०वि०-इन्-हन्-पूष-अर्यम्णाम् ६ ।३ शौ ७ ।१।

स०-इन् च हन् च पूषा च अर्यमा च ते-इन्हन्पूषार्यमाणः, तेषाम्-इन्हन्पूषार्यम्णाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, उपधायाः, सर्वनामस्थाने इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इन्हन्पूषार्यम्णाम् अङ्गानाम् उपधायाः सर्वनामस्थाने शौ दीर्घः।

अर्थः-इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् इत्येवमन्तानाम् अङ्गानाम् उपधायाः सर्वनामस्थाने शौ परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(इन्) बहवो दण्डिनो एषां सन्तीति-बहुदण्डीनि कुलानि। बहुच्छत्रीणि कुलानि। **(हन्)** बहवो वृत्रहण एषु सन्तीति-बहुवृत्रहाणि कुलानि। बहुभ्रूणहानि कुलानि। **(पूषन्)** बहवः पूषाण एषु सन्तीति बहुपूषाणि कुलानि। **(अर्यमन्)** बहवोऽर्यमाण एषु सन्तीति-बह्वर्यमाणि कुलानि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्द जिनके अन्त में हैं उन (अङ्गानाम्) अंगों की (उपधायाः) उपधा को (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान संज्ञक (शौ) शि-प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

*उदा०-(इन्) **बहुदण्डीनि कुलानि।** बहुत दण्डी जनों वाला कुल। **बहुच्छत्रीणि कुलानि।** बहुत छत्री जनों वाला कुल। (हन्) **बहुवृत्रहाणि कुलानि।** बहुत वृत्रहा=इन्द्रवाले कुल। **बहुभ्रूणहानि कुलानि।** बहुत भ्रूणहा (गर्भघाती) वाला कुल। (पूषन्) **बहुपूषाणि कुलानि।** बहुत पूषा देवताओं वाला कुल। (अर्यमन्) **बह्वर्यमाणि कुल।** बहुत न्यायाधीशों वाला कुल।*

*सिद्धि-(१) **बहुदण्डीनि।** यहां 'बहु' और 'दण्डिन्' शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२ ।२ ।२४) से बहुव्रीहि समास है। 'दण्डिन्' शब्द में 'दण्ड' शब्द से 'अत इनिठनौ' (५ ।२ ।११५) से 'इनि' प्रत्यय है। 'बहुदण्डिन्' शब्द से 'जस्' प्रत्यय और 'जश्शसोः शिः' (७ ।१ ।२०) 'जस्' को 'शि' आदेश होता है। इस सूत्र से इन्नन्त 'बहुदण्डिन्' शब्द के उपधाभूत इकार को सर्वनामस्थान-संज्ञक 'शि' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही-**बहुच्छत्रीणि।***

*(२) **बहुवृत्रहाणि।** यहां 'बहुवृत्रहन्' शब्द से 'जस्' प्रत्यय और इसे पूर्ववत् 'शि' आदेश है। दीर्घ-कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-**बहुपूषाणि, बह्वर्यमाणि।***

दीर्घः–

(१३) सौ च।१३।

प०वि०–सौ ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–दीर्घः, अङ्गस्य, उपधायाः, असम्बुद्धौ, इनहन्पूषार्यम्णामिति चानुवर्तते।

अन्वयः–इन्हन्पूषार्यम्णाम् अङ्गानाम् उपधाया असम्बुद्धौ सौ च दीर्घः।

अर्थः–इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् इत्येवमन्तानाम् अङ्गानाम् उपधायाः सम्बुद्धिवर्जिते सौ च परतो दीर्घो भवति।

उदा०–**(इन्)** दण्डी। **(हन्)** वृत्रहा। **(पूषन्)** पूषा। **(अर्यमन्)** अर्यमा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् शब्द जिनके अन्त में हैं उन (अङ्गानाम्) अंगों की (उपधायाः) उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सौ) सु-प्रत्यय परे होने पर (च) भी (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(इन्) दण्डी। दण्डवाला। (हन्) वृत्रहा। वृत्रा को मारनेवाला-इन्द्र। (पूषन्) पूषा। पूषा नामक देवता-चन्द्र (ओषधियों को पुष्ट करनेवाला)। (अर्यमन्) अर्यमा। न्यायाधीश।

सिद्धि-दण्डी। दण्ड+इनि। दण्ड्+इन्। दण्डिन्+सु। दण्डीन्+सु। दण्डीन्+०। दण्डी०। दण्डी।

यहां 'दण्ड' शब्द से 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) से मतुप्-अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अंग के अकार का लोप होता है। इस सूत्र से इन्नन्त अंग 'दण्डिन्' शब्द के सम्बुद्धि से भिन्न उपधाभूत इकार को 'सु' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही-वृत्रहा, पूषा, अर्यमा।

दीर्घः–

(१४) अत्वसन्तस्य चाधातोः।१४।

प०वि०–अतु-असन्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्, अधातोः ६।१।

स०-अतुश्च अस् च तौ-अत्वसौ, अत्वसावन्ते यस्य सः-अत्वसन्तः, तस्य-अत्वसन्तस्य (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)। न धातुरिति अधातुः, तस्य-अधातोः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, उपधायाः, असम्बुद्धौ, साविति चानुवर्तते।

अन्वयः-अधातोरत्वसन्तस्य चाङ्गस्य उपधाया असम्बुद्धौ सौ दीर्घः।

अर्थः-धातुवर्जितस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चाङ्गस्य उपधायाः सम्बुद्धिवर्जिते सौ परतो दीर्घो भवति।

उदा०-**(अत्वन्तः)** डवतु-भवान्। क्तवतु-कृतवान्। मतुप्-गोमान्। यवमान्। **(असन्तः)** सुपयाः। सुयशाः। सुस्रोताः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अधातोः) धातु से भिन्न (अत्वसन्तस्य) अतु-अन्तवाले और अस्-अन्तवाले (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धि से भिन्न (सौ) सु प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(अत्वन्त) डवतु-भवान्। आप। क्तवतु-कृतवान्। उसने किया। मतुप्-गोमान्। गौवाला। यवमान्। जौवाला। (असन्त) सुपयाः। उत्तम दूध/जलवाला। सुयशाः। उत्तम कीर्तिवाला। सुस्रोताः। उत्तम स्रोतवाला।

सिद्धि-(१) भवान्। भा+डवतुप्। भा+अवत्। भ्+अवत्। भवंत्+सु। भवात्+सु। भवानुम् त्+सु। भवान्त्+०। भवान्०। भवान्।

यहां 'भा दीप्तौ' (अदा०प०) धातु से 'भातेर्डवतुप्' (उणा० १।६३) से 'डवतुप्' प्रत्यय है। वा०-'डित्यभस्यापि टेर्लोपः' (६।४।१४३) से 'भा' के टि-भाग (आ) का लोप होता है। इस सूत्र से अत्वन्त 'भवत्' अंग को 'सु' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् प्रत्यय के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से 'नुम्' आगम है। यद्यपि 'नुम्' आगम पर और नित्य है किन्तु यह दीर्घ-विधि के पश्चात् ही किया जाता है क्योंकि प्रथम 'नुम्' आगम करने पर दीर्घ की निमित्तभूत उपधा का विघात होता जाता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से तकार का लोप होता है।

(२) कृतवान्। कृ+क्तवतु। कृ+तवत्। कृतवत्+सु। कृतवात्+सु। कृतवा नुम् त्+सु। कृतवान्त्+सु। कृतवान्त्०। कृतवान्०। कृतवान्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्तवतु' प्रत्यय है। दीर्घ और 'नुम्' आदि कार्य पूर्ववत् हैं।

(३) गोमान्। गो+मतुप्। गो+मत्। गोमत्+सु। गोमात्+सु। गोमानुम्त्+सु। गोमान्त्+सु। गोमानत्+०। गोमान्०। गोमान्।

यहां 'गो' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय है। दीर्घ और 'नुम्' आदि कार्य पूर्ववत् हैं। ऐसे ही-यवमान्।

(४) सुपयाः। सुपयस्+सु। सुपयास्+सु। सुपयास्+०। सुपयारु। सुपयार्। सुपयाः।

यहां 'सुपयस्' शब्द से प्रथमा एकवचन की विवक्षा में 'सु' प्रत्यय है। इस सूत्र से असन्त 'सुपयस्' के उपधाभूत अकार को 'सु' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप, 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से विसर्जनीय होता है। ऐसे ही-सुयशाः, सुस्रोताः।

दीर्घः-

(१५) अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति।१५।

प०वि०-अनुनासिकस्य ६।१ क्वि-झलोः ७।२ क्ङिति ७।१।

स०-क्विश्च झल् च तौ क्विझलौ, तयोः-क्विझलोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कश्च ङश्च तौ क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मन्-क्ङिति (इतरेतरयोगगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु-दीर्घः, अङ्गस्य, उपधाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनुनासिकस्याङ्गस्य उपधायाः क्विझलोः क्ङिति दीर्घः।

अर्थः-अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य उपधायाः क्विप्प्रत्यये झलादौ च क्ङिति प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

उदा०-क्वौ-प्रशान्, प्रतान्। **झलादौ किति-**शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्तिः। **झलादौ ङिति-**तौ शंशान्तः, तौ तन्तान्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनुनासिकस्य) अनुनासिक अन्तवाले (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (क्विझलोः) क्विप् प्रत्यय और झलादि (क्ङिति) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-क्वौ-प्रशान्। उपशमन करनेवाला। प्रतान्। आकांक्षा करनेवाला। झलादि कित्-शान्तः। उपशमन किया। शान्तवान्। अर्थ पूर्ववत् है। शान्त्वा। उपशमन करके। शान्तिः। उपशमन करना। झलादि ङित्-तौ शंशान्तः। वे दोनों अधिक उपशमन करते हैं। तौ तन्तान्तः। वे दोनों अधिक आकांक्षा करते हैं।

सिद्धि-प्रशान्। प्र+शम्+क्विप्। प्र+शम्+वि। प्र+शाम्+०। प्र+शान्+०। प्रशान्+सु। प्रशान्+। प्रशान्।

यहां प्र-उपसर्ग पूर्वक 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनुनासिकान्त 'शम्' धातु के उपधाभूत अकार को 'क्विप्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'मो नो धातोः' (८।२।६४) से धातु के मकार को नकार आदेश होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप होता है। ऐसे ही- 'तमु काङ्क्षायाम्' (दि०प०) धातु से-प्रतान्।

(२) शान्तः। शम्+क्त। शम्+त। शाम्+त। शा ं +त। शान्+त। शान्त+सु। शान्तः।

यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनुनासिकान्त 'शम्' धातु के उपधाभूत अकार को झलादि 'क्त' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'मोऽनुस्वारः' (८।३।२३) से मकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण नकार होता है।

(३) शान्तवान्। यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्तवतु' प्रत्यय है। दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् हैं।

(४) शान्त्वा। यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् हैं।

(५) शान्तिः। यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् हैं।

(६) शशान्तः। शम्+यङ्। शम्+शम्+य। श+शम्+य। श नुक्+शम्+य। शन्+शम्+०। शंशम्+लट्। शंशाम्+तस्। शं शा ं +तस्। शंशान्तस्। शंशान्तरु। शंशान्तर्। शंशान्तः।

यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय, 'सन्यङोः' (६।१।९) से धातु को द्वित्व, 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' (७।४।८५) से अभ्यास को 'नुक्' आगम, 'यङोऽचि च' (२।४।७४) से यङ् का लुक् होता है। तत्पश्चात् यङ्लुगन्त 'शंशम्' धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'तस्' लादेश, 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'तस्' को ङित्त्व होकर इस सूत्र से अनुनासिकान्त 'शंशम्' धातु के उपधाभूत अकार को झलादि ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। ऐसे ही 'तमु काङ्क्षायाम्' (दि०प०) धातु से-तन्तान्तः।

दीर्घः-

(१६) अज्झन्गमां सनि ।१६।

प०वि०-अच्-हन्-गमाम् ६।३ सनि ७।१।

स०-अच् च हन् च गम् च ते-अज्झन्गमः, तेषाम्-अज्झन्गमाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, उपधायाः, झलि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अज्झन्गमाम् अङ्गानाम् उपधाया झलि सनि दीर्घः।

अर्थः-अजन्तानाम् अङ्गानां हनिगम्योश्च अङ्गयोरुपधाया झलादौ सनि परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(अजन्तः) चिचीषति। तुष्टूषति। चिकीर्षति। **(हन्)** जिघांसति। **(गम्)** अधिजिगांसते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अज्झन्गमाम्) अजन्त अंगों और हन् और गम् (अङ्गस्य) अंगों की (उपधायाः) उपधा को (झलि) झलादि (सनि) सन् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०-(अजन्त) चिचीषति। वह चयन करना चाहता है। तुष्टूषति। वह स्तुति करना चाहता है। चिकीर्षति। वह करना चाहता है। (हन्) जिघांसति। वह हिंसा/गति करना चाहता है। (गम्) अधिजिगांसते। वह अध्ययन करना चाहता है।

सिद्धि-(१) चिचीषति। चि+सन्। ची+सन्। ची+ची+स। चिचीष+लट्। चिचीष+तिप्। चिचीष+शप्+ति। चिचीष+अ+ति। चिचीषति।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अजन्त 'चि' धातु को झलादि सन् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से दीर्घीभूत 'ची' धातु को द्वित्व होता है। पुनः सन्नन्त 'चिचीष' धातु से लट् आदि कार्य होते हैं।

(२) तुष्टूषति। यहां 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय है। 'शर्पूर्वाः खयः' (७।४।६१) से अभ्यास को खय् तकार शेष रहता है। दीर्घ आदि कार्य पूर्ववत् है।

(३) चिकीर्षति। यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अजन्त 'कृ' धातु को झलादि 'सन्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) से ऋकार को इत्व, 'उरण् रपरः' (१।१।५१)

से इसे रपरत्व, 'हलि च' (८।३।७७) से दीर्घत्व और 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व होता है।

(४) जिघांसति। यहां 'हन् हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'हन्' धातु के उपधाभूत अकार को झलादि 'सन्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से द्वित्व, 'अभ्यासाच्च' (७।३।५५) से 'हान्' के हकार के चुत्व घकार, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के हकार के चुत्व झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से जश्त्व जकार होता है।

(५) अधिजिगांसते। यहां अधि-उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' (अदा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय है। 'इङश्च' (२।४।४८) से 'इङ्' को 'गमि' आदेश होता है। इस सूत्र से 'गम्' धातु के उपधाभूत अकार का झलादि 'सन्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। यहां 'इङ्' के स्थान में विहित 'गमि' आदेश का ग्रहण है, 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु का नहीं।

दीर्घ-विकल्पः–

(१७) तनोतेर्विभाषा।१७।

प०वि०–तनोतेः ६।१ विभाषा १।१।

अनु०–दीर्घः, अङ्गस्य, झलि, उपधायाः, सनि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तनोतेरङ्गस्य उपधाया झलि सनि विभाषा दीर्घः।

अर्थः–तनोतेरङ्गस्य उपधाया झलादौ सनि परतो विकल्पेन दीर्घो भवति।

उदा०–तितांसति, तितंसति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तनोतेः) तनु इस (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (झलि) झलादि (सनि) सन् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (दीर्घः) दीर्घ होता है।*

उदा०–तितांसति, तितंसति। वह विस्तार करना चाहता है।

सिद्धि-तितांसति। यहां 'तनु विस्तारे' (तना०प०) धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'तनु' अंग के उपधाभूत अकार को झलादि 'सन्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से धातु को द्वित्व, 'सन्यतः' (७।४।७९) से अभ्यास को 'इत्त्व' और 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।४।२७) से धातु के नकार को अनुस्वार होता है। विकल्प-पक्ष में दीर्घ नहीं है-तितंसति।

दीर्घ-विकल्पः-

(१८) क्रमश्च क्त्वि।१८।

प०वि०-क्रमः ६।१ च अव्ययपदम्, क्त्वि ७।१।

अनु०-दीर्घः, अङ्गस्य, उपधायाः, झलि, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्रमोऽङ्गस्य च उपधायाः झलि क्त्वि विभाषा दीर्घः।

अर्थः-क्रमोङ्गस्य चोपधाया झलादौ क्त्वा-प्रत्यये परतो विकल्पेन दीर्घो भवति।

उदा०-क्रान्त्वा, क्रन्त्वा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(क्रमः) क्रम् (अङ्गस्य) अंग की (उपधायाः) उपधा को (झलि) झलादि (क्त्वि) क्त्वा प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से दीर्घ होता है।*

उदा०-क्रान्त्वा, क्रन्त्वा। चलकर।

सिद्धि-क्रान्त्वा। यहां 'क्रमु पादविक्षेपे' (दि०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'क्रम्' अंग के उपधाभूत अकार को झलादि 'क्त्वा' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ है। विकल्प-पक्ष में दीर्घ नहीं है-क्रन्त्वा।

।। इति दीर्घप्रकरणम् ।।

आदेश-प्रकरणम्

श-ऊठ्-

(१) च्छ्वोः शूडनुनासिके च।१६।

प०वि०-च्छ्-वोः ७।२ श्-ऊठ् १।१ अनुनासिके ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-च्छश्च वश्च तौ च्छ्वौ, तयोः-च्छ्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। शश्च ऊठ् च एतयोः समाहारः-शूठ् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्विझलोः, क्ङिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य च्छ्वोरनुनासिके क्विझलोः क्ङिति च शूठ्।

अर्थः-अङ्गस्य च्छकार-वकारयोः स्थानेऽनुनासिकादौ, क्वौ, झलादौ क्ङिति च परतो यथासंख्यं श-ऊठावादेशौ भवतः।

उदा०-अनुनासिकादौ-प्रश्नः, विश्नः (शादेशः)। स्योनः (ऊडादेशः)। **क्वौ-**शब्दप्राट्, गोविट् (शादेशः)। अक्षद्यूः। हिरण्यद्यूः।

(ऊठ्)। झलादौ किति-पृष्टः, पृष्टवान्, पृष्ट्वा (शादेशः)। द्यूतः, द्यूतवान्, द्यूत्वा (ऊठ्)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अंग के (च्छ्वोः) च्छकार और वकार के स्थान में (अनुनासिके) अनुनासिक आदि, (क्वौ) क्विप् और (झलि) झलादि (क्ङिति) कित् तथा ङित् प्रत्यय परे होने पर (च) भी यथासंख्य (शूठ्) शकार और ऊठ् आदेश होते हैं।*

उदा०-अनुनासिकादि-प्रश्नः। पूछना। विश्नः। गति करना (शादेश)। स्योनः। सुखी (ऊठ्)। क्वौ-शब्दप्राट्। शब्द को पूछनेवाला। गोविट्। गौ को प्राप्त करनेवाला (शादेश)। अक्षद्यूः। पासों से खेलनेवाला-जुआरी। हिरण्यद्यूः। स्वर्ण का व्यवहार करनेवाला-स्वर्णकार। (ऊठ्)। झलादि कित्-पृष्टः। पूछा। पृष्टवान्। पूछा। पृष्ट्वा। पूछकर (शादेश)। द्यूतः। जूआ खेला। द्यूतवान्। जूआ खेला। द्यूत्वा। जूआ खेलकर। (ऊठ्)।

सिद्धि-(१) प्रश्नः। प्रच्छ्+नङ्। प्रश्+न। प्रश्न+सु। प्रश्नः।

यहां 'प्रछ ज्ञीप्सायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३।३।९०) से 'नङ्' प्रत्यय हे। इस सूत्र से 'प्रछ्' के च्छकार को अनुनासिकादि 'नङ्' प्रत्यय परे होने पर शकार आदेश होता है। ऐसे ही 'विछ गतौ' (तु०प०) धातु से-विश्नः।

(२) स्योनः। सिव्+न। सि ऊठ्+न। सि ऊ+न। स्यू+न। स्यो+न। स्योन+सु। स्योनः।

यहां 'षिवु तन्तुसन्ताने' (दि०प०) धातु से 'सिवेष्टेर्यु च' (उणा० ३।९) से बहुवचन से केवल 'न' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सिव्' के वकार को अनुनासिकादि 'न' प्रत्यय परे होने पर 'ऊठ्' आदेश होता है। 'इको यणचि' (६।१।७६) से यण्-आदेश और 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण होता है।

(३) शब्दप्राट्। शब्द+प्रच्छ्+क्विप्। शब्द+प्राश्+वि। शब्द+प्राश्+०। शब्दप्राष्। शब्दप्राड्। शब्दप्राट्।

यहां शब्द उपपद 'प्रछ ज्ञीप्सायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'क्विब् वचिप्रच्छि-श्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च' (उणा० २।५८) से 'क्विप्' प्रत्यय, दीर्घ और 'ग्रहिज्यावयि०' (६।१।१६) से प्राप्त सम्प्रसारण का प्रतिषेध है। इस सूत्र से 'प्रच्छ्' के च्छकार को शकार, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से शकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से षकार को जश् डकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से डकार को चर् टकार होता है।

(३) अक्षद्यूः। अक्ष+दिव्+क्विप्। अक्ष्+दि ऊठ्+वि०। अक्ष+ दि ऊ+०। अक्षद्यू+सु। अक्षद्यूः।

यहां अक्ष-उपपद 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदस्वप्नकान्तिगतिषु' (दि०आ०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'दिव्' के वकार को 'क्विप्' प्रत्यय परे होने पर ऊठ् आदेश होता है। 'इको यणचि' (६।१।७६) से 'यण् आदेश होता है। ऐसे ही-हिरण्यद्यूः।

(५) पृष्टः। प्रच्छ्+क्त। प्रच्छ्+त। पृश्+त। पृष्+त। पृष्+ट। पृष्ट+सु। पृष्टः।

यहां 'प्रछ ज्ञीप्सायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'प्रच्छ्' के छकार को झलादि कित् 'त' प्रत्यय परे होने पर शकार आदेश होता है। 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से धातु को सम्प्रसारण, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से शकार को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकारवर्ग को टवर्ग टकार होता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय करने पर-पृष्टवान्।

(६) पृष्ट्वा। यहां 'प्रछ ज्ञीप्सायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (८।२।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) द्यूतः। दिव्+क्त। दि ऊठ्+त। दि ऊ+त। द्यूत+सु। द्यूतः।

यहां 'दिवु क्रीडादिषु' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'दिव्' के वकार को झलादि, कित् 'त' प्रत्यय परे होने पर 'ऊठ्' आदेश होता है। 'इको यणचि' (७।१।७६) से 'यण्' आदेश है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय करने पर द्यूतवान् और 'क्त्वा' प्रत्यय करने पर 'द्यूत्वा' शब्द सिद्ध होता है।

ऊडादेशः–

(२) ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च।२०।

प०वि०-ज्वर-त्वर-स्त्रिवि-अवि-मवाम् ६।३ उपधायाः ६।१ च अव्ययपदम्।

स०-ज्वरश्च त्वरश्च स्त्रिविश्च अविश्व मव् च ते- ज्वरत्वर-स्त्रिव्यविमवः, तेषाम्-ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्विझलोः, क्ङिति, वः, ऊठ् इति चानुवर्तते। 'च्छ्वोः' इत्यस्माद् 'वः' शूठ् इत्यस्माच्च ऊठ् इत्यनुवर्तनीयमर्थसम्भवात्।

अन्वयः-ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवाम् अङ्गानां वस्य उपधायाश्च क्विझलोः क्ङिति च ऊठ्।

अर्थः-ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामङ्गानां वकारस्य उपधायाश्च स्थाने क्वौ झलादौ क्ङिति, च प्रत्यये परतः ऊडादेशो भवति।

उदा०-(**ज्वरः**) **क्विप्**-जूः, जूरौ, जूरः। **झलादौ किति**-जूर्तिः। (**त्वरः**) **क्विप्**-तूः तूरौ, तूरः। **झलादौ किति**-तूर्तिः। (**स्रिविः**) **क्विप्**-स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः। **झलादौ किति**-स्रूतिः। (**अविः**) **क्विप्**-ऊः, उवौ, उवः। **झलादौ किति**-ऊतिः। (**मवः**) **क्विप्**-मूः, मुवौ, मुवः। **झलादौ किति**-मूतिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ज्वरत्वर०) ज्वर, त्वर, स्रिवि, अवि और मव (अङ्गस्य) अंगों के (वः) वकार और (उपधायाः) उपधा के स्थान में (च) भी (क्विझलोः) क्विप् और झलादि (क्ङिति) कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर (ऊठ्) ऊठ् आदेश होता है।*

उदा०-(ज्वर) क्विप्-जूः, जूरौ, जूरः। जूः=रोगी। झलादि कित्-जूर्तिः। रोगी होना। (त्वर) क्विप्-तूः तूरौ, तूरः। तूः=सम्भ्रान्त। झलादि कित्-तूर्तिः। सम्भ्रान्ति। (स्रिवि) क्विप्-स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः। स्रू=गति/शोषण करनेवाला। झलादि कित्-स्रूतिः। गति/शोषण करना। (अवि) क्विप्-ऊः, उवौ, उवः। ऊः=रक्षा आदि करनेवाला। झलादि कित्-ऊतिः। रक्षा आदि करना। (मव) क्विप्-मूः, मुवौ, मुवः। मूः=बांधनेवाला। झलादि कित्-मूतिः। बांधना।

सिद्धि-(१) जूः। ज्वर्+क्विप्। ज् ऊठ् र्+वि। ज ऊ र्+०। जूर्+सु। जूर्+०। जूः।

यहां 'ज्वर रोगे' (भ्वा०प०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'ज्वर्' के वकार और उपधाभूत अकार को 'क्विप्' प्रत्यय परे होने पर 'ऊठ्' आदेश होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से रेफ को विसर्जनीय आदेश होता है। ऐसे ही-'ञित्वरा सम्भ्रमे' (भ्वा०आ०) धातु से-तूः, 'स्रिवु गतिशोषणयोः' (दि०प०) धातु से-स्रूः, 'अव रक्षणादिषु' (भ्वा०प०) धातु से-ऊः, 'मव बन्धने' (भ्वा०प०) धातु से-मूः।

(२) जूर्तिः। ज्वर्+क्तिन्। ज्वर्+ति। ज् ऊठ् र्+ति। जूर्+ति। जूर्ति+सु। जूर्तिः।

यहां 'ज्वर रोगे' (भ्वा०प०) धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'ज्वर' के वकार और उपधाभूत अकार को झलादि क्तिन् प्रत्यय परे होने पर ऊठ् आदेश होता है। ऐसे ही-'त्वर' से-तूर्तिः, स्रिवु से-स्रुतिः, अव से-ऊतिः, मव से-मूतिः।

लोपादेशः-

(३) राल्लोपः।२१।

प०वि०-रात् ५।१ लोपः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, क्विझलोः, क्ङिति, छ्वोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य रात् च्छ्वोः क्विझलोः क्ङिति लोपः।

अर्थः-अङ्गावयवाद् रेफात् परयोश्छकारवकारयोः क्वौ झलादौ च क्ङिति प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-छकारलोपः-(मुर्छा) क्विप्-मूः, मुरौः, मुरः। **झलादौ किति**-मूर्तः, मूर्तवान्, मूर्तिः। **(हुर्छा) क्विप्**-हूः, हुरौ, हुरः। **झलादौ किति**-हूर्णः, हूर्णवान्, हूर्तिः। **वकारलोपः-(तुर्वी) क्विप्**-तूः, तुरौ, तुरः। **झलादौ किति**-तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः। **(धुर्वी)** धूः, धुरौ, धुरः। **झलादौ किति**-धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्तिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अंग के (रात्) रेफ से परे (छ्वोः) छकार और वकार का (क्विझलोः) क्विप् और झलादि (क्ङिति) कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-छकारलोप-(मुर्छा) क्विप्-मूः, मुरौः, मुरः। मूः=मोह करनेवाला। झलादि कित्-मूर्तः। मोह किया। मूर्तवान्। मोह किया। मूर्तिः। मोह करना/समुच्छ्राय=ऊंचा होना। (हुर्छा) क्विप्-हूः, हुरौ, हुरः। हूः=कुटिल। झलादि कित्-हूर्णः। कुटिलता की। हूर्णवान्। कुटिलता की। हूर्तिः। कुटिलता करना। वकारलोप-(तुर्वी) क्विप्-तूः, तुरौ, तुरः। तूः=हिंसा करनेवाला। झलादि कित्-तूर्णः। हिंसा की। तूर्णवान्। हिंसा की। तूर्तिः। हिंसा करना। (धुर्वी) धूः, धुरौ, धुरः। धूः=हिंसा करनेवाला। झलादि कित्-धूर्णः। हिंसा की। धूर्णवान्। हिंसा की। धूर्तिः। हिंसा करना।

सिद्धि-मूः। मूर्छ्+क्विप्। मूर्+०+वि। मूर्+०। मूर्। मूः।

यहां 'मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः' (भ्वा०प०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'मुर्छ्' के रेफ से परवर्ती छकार का 'क्विप्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही-'हुर्छा कौटिल्ये' (भ्वा०प०) धातु से-हूः।

(२) मूर्तः। मूर्छ्+क्त। मूर्०+त। मूर्त+सु। मूर्तः।

यहां 'मुर्छ्' धातु से 'निष्ठा' (३।३।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'मुर्छ्' के रेफ से परवर्ती छकार का झलादि कित् 'क्त' प्रत्यय परे होने पर

लोप होता है। 'न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम्' (८।२।५७) से निष्ठातकार को नकरादेश और 'आदितश्च' (८।३।७७) से इट्-आगम का प्रतिषेध है। 'हलि च' (८।२।७७) से रेफान्त की उपधा को दीर्घ होता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय में-मूर्तवान्। ऐसे ही 'हुर्छा कौटिल्ये' (भ्वा०प०) धातु से-हूर्णः, हूर्णवान्। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) से निष्ठा के तकार को नकार और 'रषाभ्यां णो नः समानपदे' (८।४।१) से णत्व होता है।

(३) मूर्तिः। यहां 'मुर्छ्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'हुर्छ्' धातु से-हूर्तिः।

(४) तूः। यहां 'तुर्वी हिंसार्थः' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'तुर्व्' के रेफ से परवर्ती वकार को लोप होता है। ऐसे ही-क्त, क्तवतु और क्तिन् प्रत्यय करने पर-तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः। 'धुर्वी हिंसार्थः' (भ्वा०प०) धातु से-धूः, धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्तिः।

असिद्धवत्-प्रकरणम्

असिद्धवत्-अधिकारः-

(१) असिद्धवदत्राभात्।२२।

प०वि०-असिद्धवत् अव्ययपदम्, अत्र अव्ययपदम्, आ अव्ययपदम्, भात् ५।१।

स०-न सिद्धमिति असिद्धम्, असिद्धेन तुल्यं वर्तते इति असिद्धवत् (नञ्तत्पुषः)।

सिद्धशब्दोऽत्र निष्पन्नपर्यायः। 'आ भात्' इत्यत्राभिविधावर्थे आङ् वेदितव्यः।

अर्थः-अत्र=एकाश्रये आ भात् अर्थाद् भाधिकारपर्यन्तम्=आ अध्यायपरिसमाप्तेर्यद् वक्ष्यति तद् असिद्धवद् भवतीत्यधिकारोऽयम्।

'आभीये कार्ये कर्तव्ये जातमाभीयमसिद्धं स्यादित्यधिकारोऽयम्' इति गुरुवरपण्डितविश्वप्रियशास्त्रिणः प्राहुः।

उदा०-एधि। शाधि। आगहि। जहि।

आर्यभाषाः अर्थ-(अत्र) यहां एक आश्रय=निमित्त में (आ भात्) भ-अधिकार पर्यन्त अर्थात् इस अध्याय की समाप्ति तक पाणिनि मुनि जो कहेंगे वह (असिद्धवत्) असिद्ध=अनिष्पन्न के तुल्य होता है, यह अधिकार सूत्र है।

तात्पर्य यह है कि "यहां भ-अधिकार तक के कार्य करने में किया हुआ भ-सम्बन्धी कार्य असिद्ध के समान हो जाता है" (गुरुवर पण्डित विश्वप्रिय शास्त्री)।

उदा०-एधि। तू हो। शाधि। तू शिक्षा कर। आगहि। तू आ। जहि। तू हिंसा कर (मार)।

सिद्धि-(१) एधि। अस्+लोट्। अस्+सिप्। अस्+शप्+सि। अस्+०हि। ०स्+हि। ए+हि। ए+धि। एधि।

यहां 'अस भुवि' (अदा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से लोट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लादेश 'सिप्', 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् और 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) से 'सिप्' को 'हि' आदेश होता है। 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'अस्' के अकार का लोप और 'घ्वसोरेद्घावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) से शेष सकार को एकार आदेश होता है। इस अवस्था में 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' आदेश प्राप्त नहीं होता है, अतः उक्त एकार-आदेश को असिद्ध (न हुआ) मानकर 'धि' आदेश होता है।

(२) शाधि। शास्+लोट्। शास्+सिप्। शास्+शप्+सि। शास्+०+हि। शा+हि। शा+धि। शाधि।

यहां 'शासु अनुशिष्टौ' (अदा०प०) धातु से 'लोट्' आदि कार्य पूर्ववत् है। 'शास्' के स्थान में 'शा हौ' (६।४।३५) से 'शा' आदेश होता है। इस अवस्था में 'हु झल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' आदेश प्राप्त नहीं होता है, अतः उक्त शा-आदेश को असिद्ध मानकर 'धि' आदेश होता है।

(३) आगहि। आङ्+गम्+लोट्। आ+गम्+सिप्। आ+गम्+शप्+सि। अ+गम्+०हि। आ+ग०+हि। आगहि।

यहां आङ् उपसर्गपूर्वक 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' आदि कार्य हैं। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७६) से 'शप्' का लुक् होता है। 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (६। ।३७) से 'गम्' के अनुनासिक मकार का लोप होता है, तत्पश्चात् 'अतो हेः' (६।४।१०५) से 'हि' का लोप प्राप्त होता है, अतः उक्त अनुनासिक-लोप को असिद्ध मानकर 'हि' का लुक् नहीं होता है।

(४) जहि। हन्+लोट्। हन्+सिप्। हन्+शप्+सि। हन्+०+हि। ज+हि। जहि।

यहां 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से 'लोट्' आदि कार्य पूर्ववत् है। 'हन्तेर्जः' (६।४।३६) से 'हन्' के स्थान में 'ज' आदेश करने पर पूर्ववत् 'हि' का लुक् प्राप्त होता है, अतः ज-आदेश को असिद्ध मानकर 'हि' का लुक् नहीं होता है।

आदेश-प्रकरणम्

नलोपः–

(१) श्नान्नलोपः ।२३।

प०वि०–श्नात् ५ ।१ नलोपः १ ।१ ।

स०–नस्य लोप इति नलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः) ।

अनु०–अङ्गस्य इत्यनुवर्तते ।

अन्वयः–श्नाद् अङ्गस्य नलोपः ।

अर्थः–श्नात्=श्नम्-प्रत्ययात् परस्य अङ्गावयवस्य नकारस्य लोपो भवति ।

उदा०–अनक्ति देवदत्तः । भनक्ति यज्ञदत्तः । हिनस्ति ब्रह्मदत्तः ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्नात्) श्नम् प्रत्यय से परे (अङ्गस्य) अंग के अवयवभूत (नलोपः) नकार का लोप होता है।*

उदा०-अनक्ति देवदत्तः । देवदत्त प्रकट करता है। भनक्ति यज्ञदत्तः । यज्ञदत्त तोड़ता है। हिनस्ति ब्रह्मदत्तः । ब्रह्मदत्त हिंसा करता है (मारता है)।

सिद्धि-(१) अनक्ति । अञ्ज्+लट् । अञ्ज्+तिप् । अश्नम् न् ज्+ति । अ न न्ज्+ति । अन०ज्+ति । अनग्+ति । अनक्+ति । अनक्ति ।

यहां 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (रुधा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३ ।२ ।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३ ।४ ।७८) से लादेश 'तिप्' और रुधादिभ्यः श्नम्' (३ ।१ ।७८) से 'श्नम्' विकरण-प्रत्यय होता है। प्रत्यय के 'मित्' होने से यह 'मिदचोऽन्यात् परः' (१ ।१ ।४७) से 'अञ्ज्' के अन्त्य अच् अकार से परे रहता है। इस सूत्र से इस 'श्नम्' से परवर्ती नकार का लोप होता है। अञ्ज् में दृश्यमान ञकार वस्तुतः नकार है, 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८ ।४ ।४०) से इसे चवर्ग ञकार हो गया है। ऐसा ही सर्वत्र जानें।

(२) भनक्ति । यहां 'भञ्जो आमर्दने' (रुधा०प०) धातु से 'लट्' आदि सब कार्य पूर्ववत् है।

(३) हिनस्ति । यहां 'हिसि हिंसायाम्' (रुधा०प०) धातु के इदित् होने से 'इदितो नुम् धातोः' (७ ।१ ।५८) से 'नुम्' आगम होता है। इस सूत्र से 'श्नम्' से परवर्ती इस 'नुम्' के नकार का लोप होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

नलोपः-

(२) अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति।२४।

प०वि०-अनिदिताम् ६।३ हलः ६।१ उपधायाः ६।१ क्ङिति ७।१।

स०-इकार इद् येषां ते इदितः, न इदित इति अनिदितः, तेषाम्-अनिदिताम् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)। कश्च ङश्च तौ क्ङौ, क्ङावितौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्-क्ङिति (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, नलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनिदितां हलाम् अङ्गानाम् उपधायाः क्ङिति नलोपः।

अर्थः-अनिदितां हलन्तानाम् अङ्गानाम् उपधायाः क्ङिति प्रत्यये परतो नकारस्य लोपो भवति।

उदा०-किति-स्रस्तः, ध्वस्तः, स्रस्यते, ध्वस्यते। **ङिति-**सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनिदिताम्) जिनका इकार इत् नहीं है उन (हलः) हलन्त (अङ्गस्य) अंगों की (उपधायाः) उपधा के (नलोपः) नकार का लोप होता है (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर।*

*उदा०-किति-**स्रस्तः**। नीचे गिरा हुआ। **ध्वस्तः**। नीचे गिरा हुआ। **स्रस्यते**। नीचे गिरा जाता है। **ध्वस्यते**। नीचे गिरा जाता है। ङिति-**सनीस्रस्यते**। पुनः-पुनः नीचे गिरता है। **दनीध्वस्यते**। पुनः-पुनः नीचे गिरता है।*

सिद्धि-(१) स्रस्तः। स्रंस्+क्त। स्रंस्+त। स्रस्+त। स्रस्त+सु। स्रस्तः।

यहां 'स्रंसु अधःपतने' (भ्वा०आ०) से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र अनिदित, हलन्त, स्रंस् अंग के उपधाभूत नकार का कित् 'क्त' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही 'ध्वंसु अधःपतने' धातु से-ध्वस्तः।

(२) स्रस्यते। स्रस्+लट्। स्रंस्+त। स्रंस्+यक्+त। स्रस्+य+ते। स्रस्यते।

यहां 'स्रंसु अधःपतने' (भ्वा०आ०) से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से कर्मवाच्य में 'लट्' प्रत्यय और 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'यक्' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से अनिदित, हलन्त 'स्रंस्' अंग के उपधाभूत नकार का कित् 'यक्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही 'ध्वंसु अधःपतने' (भ्वा०आ०) धातु से-ध्वस्यते।

(३) सनीस्रस्यते। स्रंस्+यङ्। स्रंस्+य। स्रस्+य। स्रस्+स्रस+य। स+स्रस्+य। स नीक्+स्रस्+य। सनी+स्रस्+य। सनीस्रस्य+लट्। सनीस्रस्यते।

यहां 'स्रंसु अधःपतने' (भ्वा०आ०) धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनिदित, हलन्त 'स्रस्' अंग के उपधाभूत नकार का ङित् 'यङ्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'नीग् वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम्' (८।४।८४) से अभ्यास को 'नीक्' आगम होता है।

नलोपः—

(३) दंशसञ्जस्वञ्जां शपि।२५।

प०वि०—दंश-सञ्ज-स्वञ्जाम् ६।३ शपि ७।१।

स०—दंशश्च सञ्जश्च स्वञ्ज् च ते दंशसञ्जस्वञ्जः, तेषाम्-दंशसञ्जस्वञ्जाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०—अङ्गस्य, उपधायाः, नलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः—दंशसञ्जस्वञ्जाम् अङ्गानाम् उपधायाः शपि प्रत्यये परतो नकारस्य लोपो भवति।

उदा०—(दंशः) दशति देवदत्तः। (सञ्जः) सजति यज्ञदत्तः। (स्वञ्जः) परिष्वजते ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(दंशसञ्जस्वञ्जाम्) दंश, सञ्ज और स्वञ्ज (अङ्गस्य) अंगों के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप होता है (शपि) शप् प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-(दंश) दशति देवदत्तः। देवदत्त दांतों से काटता है। (सञ्ज) सजति यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त आलिंगन करता है। (स्वञ्ज) परिष्वजते ब्रह्मदत्तः। ब्रह्मदत्त सर्वतः आलिंगन करता है।

सिद्धि-(१) दशति। दंश्+लट्। दंश+तिप्। दंश्+शप्+ति। दंश्+अ+ति। दशति।

यहां 'दंश दशने' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'दंश्' अंग के उपधाभूत नकार का 'शप्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है।

(२) सजति। 'सञ्ज सङ्गे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) स्वजति। 'स्वञ्ज परिष्वङ्गे' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत्।

नलोपः—

(४) रञ्जेश्च।२६।

प०वि०—रञ्जेः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०—अङ्गस्य, उपधायाः, नलोपः, शपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-रञ्जेरङ्गस्य च उपधायाः शपि नलोपः।

अर्थः-रञ्जेरङ्गस्य चोपधायाः शपि प्रत्यये परतो नकारस्य लोपो भवति।

उदा०-रजति, रजतः, रजन्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(रञ्जेः) रञ्ज् (अङ्गस्य) अंग के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप होता है (शपि) शप् प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-रजति। वह रंगता है। रजतः। वे दोनों रंगते हैं। रजन्ति। वे सब रंगते हैं।

सिद्धि-रजति। रञ्ज्+लट्। रञ्ज्+तिप्। रञ्ज्+शप्+ति। रज्+अ+ति। रजति। यहां 'रञ्ज रागे' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'रञ्ज्' अंग के उपधाभूत नकार का 'शप्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही-रजतः, रजन्ति।

नलोपः-

(५) घञि च भावकरणयोः।२७।

प०वि०-घञि ७।१ च अव्ययपदम्, भावकरणयोः ७।२।

स०-भावश्च करणं च ते भावकरणे, तयोः-भावकरणयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, नलोपः, रञ्जेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-रञ्जेरङ्गस्य उपधाया भावकरणयोर्घञि च नलोपः।

अर्थः-रञ्जेरङ्गस्य उपधाया भावकरणवाचिनि घञि प्रत्यये च परतो नकारस्य लोपो भवति।

उदा०-भावे-आश्चर्यो रागः। विचित्रो रागः। **करणे**-रज्यतेऽनेनेति रागः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(रञ्जेः) रञ्ज् (अङ्गस्य) अंग के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप होता है (भावकरणयोः) भाववाची और करणवाची (घञि) घञ् प्रत्यय परे होने पर (च) भी।*

उदा०-भाव-आश्चर्यो रागः। क्या अद्भुत रंगाई है। विचित्रो रागः। क्या विचित्र रंगाई है (रंगणा)। करण-रागः। जिससे वस्त्र आदि रंगा जाता है वह लोहित आदि रंग (द्रव्य)।

सिद्धि-(१) रागः। रञ्ज्+घञ्। रञ्ज्+अ। रज्+अ। राज्+अ। राग्+अ। राग+सु। रागः।

यहां 'रञ्ज रागे' (दि०उ०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'रञ्ज्' अंग के उपधाभूत नकार का भाववाची 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) से जकार को कुत्व गकार और 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है।

(२) रागः। यहां 'रञ्ज रागे' (दि०उ०) धातु से 'हलश्च' (३।३।१२१) से करण-कारक में 'घञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

निपातनम्-

(६) स्यदो जवे।२८।

प०वि०-स्यदः १।१ जवे ७।१।

अनु०-उपधायाः, नलोपः, घञि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जवे स्यदो घञि उपधाया नलोपः।

अर्थः-जवेऽर्थे स्यद इत्यत्र घञि परत उपधाया नकारस्य लोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते।

उदा०-गवां स्यद इति गोस्यदः। अश्वस्यदः। गवाम् अश्वानां च गतिविषयको वेग इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जवे) वेग अर्थ में (स्यदः) स्यद इस पद में (घञि) घञ् प्रत्यय परे होने पर (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप और वृद्धि का अभाव निपातित है।*

उदा०-गोस्यदः। गौओं का गतिविषयक वेग। अश्वस्यदः। घोड़ों का गति-विषयक वेग।

सिद्धि-स्यदः। स्यन्द्+घञ्। स्यन्द्+अ। स्यद्+अ। स्यदः। गो+स्यदः=गोस्यदः।

यहां 'स्यन्दू प्रस्रवणे' (भ्वा०आ०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। निपातन से उपधाभूत नकार का लोप और 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से प्राप्त उपधावृद्धि का अभाव है। ऐसे ही-अश्वस्यदः।

निपातनम्-

(७) अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथाः।२६।

प०वि०-अवोद-एध-ओद्म-प्रश्रथ, हिमश्रथाः १।३।

स०-अवोदश्च एधश्च ओद्मश्च प्रश्रथश्च हिमश्रथश्च ते अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथा: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-उपधाया:, नलोप इति चानुवर्तते।

अन्वय:-अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथेषु उपधाया नलोप:।

अर्थ:-अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथेषु शब्देषु उपधाया नकारस्य लोपो निपात्यते।

उदा०-अवोद:। एध:। ओद्म:। प्रश्रथ:। हिमश्रथ:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(अवोद०) अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ और हिमश्रथ इन शब्दों में (उपधाया:) उपधा के (नलोप:) नकार का लोप निपातित है।*

उदा०-अवोद:। कम गीला करना। एध:। इंधन। ओद्म:। गीला करनेवाला। प्रश्रथ:। अति शिथिल होना। हिमश्रथ:। हिम (बर्फ) का पिंघलना।

सिद्धि-(१) अवोद:। अव+उन्द्+घञ्। अव+उन्द्+अ। अव+उद्+अ। अवोद+सु। अवोद:।

यहां अव-उपसर्गपूर्वक 'उन्दी क्लेदने' (रु०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'उन्द्' के उपधाभूत नकार का 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर लोप निपातित है।

(२) एध:। इन्ध्+घञ्। इन्ध्+अ। इध्+अ। एध्+अ। एध+सु। एध:।

यहां 'ञिइन्धी दीप्तौ' (रुधा०आ०) धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) से 'घञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'इन्ध्' के उपधाभूत नकार का 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर लोप और 'पुगन्तलघूपधस्य च' (८।३।८६) से गुण भी निपातित है। 'न धातुलोप आर्धधातुके' (१।१।४) से प्राप्त गुण का प्रतिषेध नहीं होता है।

(३) ओद्म:। उन्द्+मन्। उन्द्+म। उद्+म। ओद्+म। ओद्+म। ओद्म+सु। ओद्म:।

यहां 'उन्दी क्लेदने' (रुधा०प०) धातु से औणादिक 'मन्' प्रत्यय है। 'अर्तिस्तु०' (उणा० १।१४०) से विहित 'मन्' प्रत्यय, बहुलवचन से 'उन्दी' धातु से भी होता है। इस सूत्र से उन्द् धातु के उपधाभूत नकार का लोप और पूर्ववत् गुणभाव निपातित है।

(४) प्रश्रथ:। प्र+श्रन्थ्+घञ्। प्र+श्रन्थ्+अ। प्र+श्रथ्+अ। प्रश्रथ+सु। प्रश्रथ:।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'श्रन्थ मोचनप्रतिहर्षणयो:, सन्दर्भे च' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् 'घञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'श्रन्थ्' के उपधाभूत नकार का 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर लोप और 'अत उपधाया:' (७।३।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव निपातित है। ऐसे ही 'हिम' उपपद होने पर-हिमश्रथ:।

नलोप-प्रतिषेधः–

(८) नाञ्चेः पूजायाम्।३०।

प०वि०–न अव्ययपदम्, अञ्चेः ६।१ पूजायाम् ७।१।

अनु०–अङ्गस्य, उपधायाः, नलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः–पूजायाम् अञ्चेरङ्गस्य उपधाया नलोपो न।

अर्थः–पूजायामर्थे वर्तमानस्य अञ्चतेरङ्गस्य उपधाया नकारस्य लोपो न भवति।

उदा०–अञ्चिता अस्य गुरवः। अञ्चितमिव शिरो वहति।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(पूजायाम्) पूजा अर्थ में विद्यमान (अञ्चेः) अञ्चि (अङ्गस्य) अंग के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप (न) नहीं होता है।*

उदा०-अञ्चिता अस्य गुरवः। यह गुरुजनों का पूजक है। अञ्चितमिव शिरो वहति। वह पूजित के तुल्य शिर को धारण करता है।

सिद्धि-अञ्चिताः। अञ्च्+क्त। अञ्च्+त। अञ्च्+इट्+त। अञ्च्+इ+त। अञ्चित+जस्। अञ्चिताः।

यहां 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा०प०) धातु से पूजा अर्थ में 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) से वर्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय है और 'अञ्चेः पूजायाम्' (७।२।५३) से 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से पूजा अर्थ में 'अञ्चि' अंग के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से नकार का लोप प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया गया है।

'अञ्चिता अस्य गुरवः' यहां 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) से कर्ता कारक में षष्ठीविभक्ति है।

नलोप-प्रतिषेधः–

(९) क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः।३१।

प०वि०–क्त्वि ७।१ स्कन्दि-स्यन्दोः ७।२।

स०–स्कन्दिश्च स्यन्द् च तौ स्कन्दिस्यन्दौ, तयोः-स्कन्दिस्यन्दोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–अङ्गस्य, उपधायाः, नलोपः, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः–स्कन्दिस्यन्दोरङ्गयोः क्त्वि उपधाया नलोपो न।

अर्थः–स्कन्दिस्यन्दोरङ्गयोः क्त्वा प्रत्यये परतो नकारस्य लोपो न भवति।

उदा०-(स्कन्दिः) स्कन्त्वा। (स्यन्दः) स्यन्त्वा, स्यन्दित्वा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्कन्दिस्यन्दोः) स्कन्दि और स्यन्द (अङ्गस्य) अंगों के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप (न) नहीं होता है (क्त्वि) क्त्वा प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-(स्कन्दि) स्कन्त्वा। गति करके/सूखकर। (स्यन्द) स्यन्त्वा, स्यन्दित्वा। बहकर।

सिद्धि-(१) स्कन्त्वा। स्कन्द्+क्त्वा। स्कन्द्+त्वा। स्कन्त्+त्वा। स्कन्०+त्वा। स्कन्त्वा।

यहां 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' (भ्वा०आ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्कन्द्' के उपधाभूत नकार का 'क्त्वा' प्रत्यय परे होने पर लोप नहीं होता है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से नकार का लोप प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया गया है। 'खरि च' (८।४।५४) से दकार को चर् तकार आदेश और 'झरो झरि सवर्णे' (६।४।६४) से पूर्ववर्ती तकार का लोप होता है।

ऐसे ही 'स्यन्दू प्रस्रवणे' (भ्वा०आ०) धातु से-स्यन्त्वा। इस धातु के उदित् होने से 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' (७।२।४४) से विकल्प से 'इट्' आगम होता है-स्यन्दित्वा। इट्-पक्ष में 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) से 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् न होने से धातु के उपधाभूत नकार-लोप की प्राप्ति नहीं होती है।

नलोप-विकल्पः—

(१०) जान्तनशां विभाषा।३२।

प०वि०-जान्त-नशाम् ६।३ विभाषा १।१।

स०-जोऽन्ते येषां ते जान्ताः, जान्ताश्च नश् च ते जान्तनशः, तेषाम्-जान्तनशाम् (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, नलोपः, न, क्त्वि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जान्तनशामङ्गानां क्त्वि उपधाया विभाषा नलोपो न।

अर्थः-जकारान्तानां नशेश्चाङ्गस्य क्त्वा प्रत्यये परत उपधाया विकल्पेन नलोपो न भवति।

उदा०-(जान्तः) रञ्ज्-रङ्क्त्वा, रक्त्वा। भञ्ज्-भङ्क्त्वा, भक्त्वा। (नश्) नंष्ट्वा, नष्ट्वा, इट्पक्षे-नशित्वा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जान्तनशाम्) जकारान्त और नश् (अङ्गस्य) अंग के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप (विभाषा) विकल्प से (न) नहीं होता है।*

उदा०-(जान्त) रञ्ज्-रङ्क्त्वा, रक्त्वा। रंगकर। भञ्ज्-भङ्क्त्वा, भक्त्वा। तोड़कर। (नश्) नंष्ट्वा, नष्ट्वा, इट्-पक्ष में-नशित्वा। अदृष्ट होकर।

सिद्धि-(१) रङ्क्त्वा। रञ्ज्+क्त्वा। रञ्ज्+त्वा। रङ्ग्+त्वा। रङ्क्+त्वा। रङ्क्त्वा।

यहां 'रञ्ज रागे' (भ्वा०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।२।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। इस सूत्र से जकारान्त 'रञ्ज्' अंग के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से नकार का लोप प्राप्त था, उसका प्रतिषेध किया गया है। 'चोः कुः' (८।२।३०) से जकार को कवर्ग गकार और 'खरि च' (८।४।५४) से गकार को चर् ककार होता है। विकल्प-पक्ष में नकार का लोप है-रक्त्वा।

(२) नंष्ट्वा। नश्+क्त्वा। नश्+त्वा। न नुम् श्+त्वा। न न् श्+त्वा। न श्+त्वा। न ष्+ट्त्वा। नंष्ट्त्वा।

यहां 'णश अदर्शने' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'मस्जिनशोर्झलि' (७।१।६०) से 'नश्' को 'नुम्' आगम होता है। इस सूत्र से 'नंश्' के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है। पूर्वोक्त प्राप्ति का इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। 'नश्चापदान्तस्य झलि' (१।१।४४) से नकार को अनुस्वार होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (७।२।३६) से शकार को षकार और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकार को टकार होता है। विकल्प-पक्ष में नकार का लोप है-नष्ट्त्वा। 'नशित्वा' यहां 'रधादिभ्यश्च' (७।२।४५) से विकल्प से इट् आगम होता है।

विशेषः *'रङ्क्त्वा' आदि में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से नकार लोप प्राप्त था, अतः यह प्राप्त विभाषा है। 'नवेति विभाषा' (१।१।४४) से निषेध और विकल्प की विभाषा-संज्ञा की गई है, अतः इस प्राप्त विभाषा-सूत्र में नकार से प्राप्त का प्रतिषेध होकर 'वा' से विकल्प होता है। 'विभाषा न भवति' का यही अभिप्राय है।*

नलोप-विकल्पः—

(११) भञ्जेश्च चिणि।३३।

प०वि०-भञ्जेः ६।१ च अव्ययपदम्, चिणि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, नलोपः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भञ्जेश्चाङ्गस्य चिणि उपधाया विभाषा नलोपः।

अर्थः-भञ्जेरङ्गस्य चिणि परत उपधाया विकल्पेन नकारस्य लोपो भवति।

उदा०-अभाजि देवदत्तेन। अभञ्जि देवदत्तेन।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भञ्जेः) भञ्ज् (अङ्गस्य) अंग के (उपधायाः) उपधाभूत (नलोपः) नकार का लोप (विभाषा) विकल्प से होता है (चिणि) चिण् प्रत्यय परे होने पर।*

*उदा०-**अभाजि देवदत्तेन। अभञ्जि देवदत्तेन।** देवदत्त के द्वारा तोड़ा गया।*

*सिद्धि-**अभाजि।** भञ्ज्+लुङ्। अट्+भञ्ज्+च्लि+ल्। अ+भञ्ज्+चिण्+त। अ+भज्+इ+०। अ+भाज्+इ। अभाजि।*

*यहां **'भञ्जो आमर्दने'** (रुधा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में 'लुङ्' प्रत्यय और **'चिण् भावकर्मणोः'** (३।१।६६) से कर्म-अर्थ में 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश है। इस सूत्र से 'भञ्ज्' अंग के उपधाभूत नकार का 'चिण्' परे होने पर लोप होता है। तत्पश्चात् 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है। विकल्प-पक्ष में नकार का लोप नहीं है-**अभञ्जि।***

इकार-आदेशः-

(१२) शास इदङ्हलोः।३४।

प०वि०-शासः ६।१ इत् १।१ अङ्हलोः ७।२।

स०-अङ् च हल् च तौ-अङ्हलौ, तयोः-अङ्हलोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधाया इति चानुवर्तते। 'क्ङिति' इति चात्र मण्डूकप्लुतगत्याऽनुवर्तनीयम्।

अन्वयः-शासोऽङ्गस्य उपधाया अङ्हलोः क्ङिति इत्।

अर्थः-शासोऽङ्गस्य उपधाया अङि हलादौ च क्ङिति प्रत्यये परत इकारादेशो भवति।

उदा०-**अङि**-अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्, अन्वशिषन्। **हलादौ क्ङिति**-शिष्टः, शिष्टवान्। **हलादौ ङिति**-आवां शिष्वः। वयं शिष्मः।

आर्यभाषाः अर्थ-(शासः) शास् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा को (इत्) इकार आदेश होता है (अङ्हलोः) अङ् और हलादि (क्ङिति) कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-अङि-अन्वशिषत्। उसने आज्ञा की। अन्वशिषताम्। उन दोनों ने आज्ञा की। अन्वशिषन्। उन सबने आज्ञा की। हलादि कित्-शिष्टः। आज्ञा की। शिष्टवान्। आज्ञा की। हलादि ङित्-आवां शिष्वः। हम दोनों आज्ञा करते हैं। वयं शिष्मः। हम सब आज्ञा करते हैं।

सिद्धि-(१) अन्वशिषत्। अनु+शास्+लुङ्। अनु+अट्+शास्+च्लि+ल्। अनु+अ+शास्+अङ्+तिप्। अनु+अ+शिष्+अ+त्। अन्वशिषत्।

यहां अनु-उपसर्गपूर्वक 'शासु अनुशिष्टौ' (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (३।१।५६) से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्ग' आदेश होता है। इस सूत्र 'शास्' के उपधाभूत आकार को 'अङ्' प्रत्यय परे होने पर इकार आदेश होता है। तत्पश्चात् 'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) से षत्व होता है।

(२) शिष्टः। शास्+क्त। शास्+त। शिष्+ट। शिष्ट+सु। शिष्टः।

यहां पूर्वोक्त 'शास्' धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'शास्' अंग के उपधाभूत आकार को हलादि कित् 'क्त' प्रत्यय परे होने पर इकार आदेश होता है। पूर्ववत् षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकार को टकार होता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय में शिष्टवान्।

(३) शिष्वः। शास्+लट्। शास्+वस्। शास्+शप्+वस्। शास्+०+वस्। शिष्+वस्। शिष्वस्। शिष्वरु। शिष्वर्ं। शिष्वः।

यहां पूर्वोक्त 'शास्' धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लादेश 'वस्', 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् होता है। इस सूत्र से 'शास्' अंग के उपधाभूत आकार को हलादि ङित् 'वस्' प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'वस्' प्रत्यय ङिद्वत् है। ऐसे ही 'मस्' प्रत्यय में-शिष्मः।

शा-आदेशः-

(१३) शा हौ।३५।

प०वि०-शा: १।१ हौ ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, शास इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शासोऽङ्गस्य हौ शाः।

अर्थः-शासोऽङ्गस्य स्थाने हौ परतः शा-आदेशो भवति।

उदा०-अनुशाधि गुरुवर ! प्रशाधि राजन् !

आर्यभाषाः *अर्थ-(शासः) शास् (अङ्गस्य) अंग के स्थान में (हौ) हि प्रत्यय परे होने पर (शाः) शा-आदेश होता है।*

उदा०-अनुशाधि गुरुवर ! हे गुरुवर ! आज्ञा करो। प्रशाधि राजन् ! हे राजन् ! प्रशासन करो।

सिद्धि-अनुशाधि। अनु+शास्+लोट्। अनु+शास्+सिप्। अनु+शास्+शप्+सि। अनु+शास्+०+हि। अनु+शा+हि। अनु+शा+धि। अनुशाधि।

यहां अनु-उपसर्गपूर्वक 'शासु अनुशिष्टौ' (अदा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से विधि-आदि अर्थों में 'लोट्' प्रत्यय है। 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लादेश 'सिप्', 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् होता है। 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) से 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश होता है। इस सूत्र से 'शास्' अंग को 'हि' परे होने पर शा-आदेश होता है। 'असिद्धवदत्राभात्' (३।४।२२) से इसे असिद्ध मानकर 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' आदेश होता है। ऐसे ही-प्रशाधि।

ज-आदेशः-

(१४) हन्तेर्जः।३६।

प०वि०-हन्तेः ६।१ जः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, हाविति चानुवर्तते।

अन्वयः-हन्तेरङ्गस्य हौ जः।

अर्थः-हन्तेरङ्गस्य स्थाने हौ परतो ज-आदेशो भवति।

उदा०-वीर ! शत्रून् जहि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हन्तेः) हन् (अङ्गस्य) अंग के स्थान में (हौ) हि प्रत्यय परे होने पर (जः) ज-आदेश होता है।*

उदा०-वीर ! शत्रून् जहि। हे वीर ! शत्रुओं का वध करो।

सिद्धि-जहि। हन्+लोट्। हन्+सिप्। हन्+शप्+सि। हन्+०+सि। हन्+हि। ज+हि। जहि।

यहां 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से विधि-आदि अर्थों में लोट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से लादेश 'सिप्', 'कर्तरि शप्'

(३।४।७८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (३।४।७२) से 'शप्' का लुक् होता है। 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) से 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश होता है। इस सूत्र से 'हन्' अंग को 'हि' प्रत्यय परे होने पर ज-आदेश होता है। 'असिद्धवदत्राभात्' (३।४।२२) से ज-आदेश को असिद्ध मानकर 'अतो हेः' (६।४।१०५) से 'हि' का लुक् नहीं होता है।

अनुनासिकलोपप्रकरणम्

अनुनासिक-लोपः–

(१) अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति।३७।

प०वि०–अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् ६।३ अनुनासिक-लोपः १।१ झलि ७।१ क्ङिति ७।१।

स०–अनुदात्ताश्च ते उपदेशा इति अनुदात्तोपदेशाः। उपदिश्यमानावस्थायाम् अनुदात्ता इत्यर्थः। तनोतिरादिर्येषां ते तनोत्यादयः। अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च ते-अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयः, तेषाम्-अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् (कर्मधारयबहुव्रीहिगर्भित इतरेतर-योगद्वन्द्वः)। अनुनासिकस्य लोप इति अनुनासिकलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)। कश्च ङश्च तौ क्ङौ, क्ङावितौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्-क्ङिति (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०–अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् अङ्गानाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति।

अर्थः–अनुदात्तोपदेशानाम्, वनतेः, तनोत्यादीनां चाङ्गानाम् अनुनासिकस्य लोपो भवति, झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतः।

उदा०–**(अनुदात्तोपदेशाः) रम्**–रत्वा, रतः, रतवान्, रतिः। अनुदात्तोपदेशा अनुनासिकान्ता यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयो वर्तन्ते। **(वनतिः)** वतिः। **(तनोत्यादयः) तनु**–ततः, ततवान्। **क्षणु**–क्षतः, क्षतवान्। **ऋणु**–ऋतः, ऋतवान्। **तृणु**–तृतः, तृतवान्। **घृणु**–घृतः, घृतवान्। **वनु**–वतः, वतवान्। **मनु**–मतः, मतवान्, **ङिति**–अतत, अतथाः।

आर्यभाषाः अर्थ-(अनुदात्तोपदेश०) उपदिश्यमान अवस्था में अनुदात्त, वनति और तनोति आदि (अङ्गस्य) अंगों के (अनुनासिकलोपः) अनुनासिक का लोप होता है (झलि) झलादि (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-(अनुदात्तोपदेश) रम्-रत्वा। खेलकर। रतः। खेला। रतवान्। खेला। रतिः। खेलना। (वनति) वतिः। सेवा करना। (तनोत्यादि) तनु-ततः। विस्तार किया। ततवान्। विस्तार किया। क्षणु-क्षतः। हिंसा की। क्षतवान्। हिंसा की। ऋणु-ऋतः। गया। ऋतवान्। गया। तृणु-तृतः। दान किया। तृतवान्। दान किया। घृणु-घृतः। चमका। घृतवान्। चमका। वनु-वतः। याचना की। वतवान्। याचना की। मनु-मतः। समझा। मतवान्। समझा। ङिति-अतत। अतथाः।

सिद्धि-(१) रत्वा। रम्+क्त्वा। रम्+त्वा। र०+त्वा। रत्वा+सु। रत्वा।

यहां 'रमु क्रीडायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनुदात्तोपदेश (अनिट्) रम् धातु के अनुनासिक (म्) का झलादि 'क्त्वा' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है।

(२) रतः। रम्+क्त। रम्+त। र०+त। रत+सु। रतः।

यहां पूर्वोक्त 'रम्' धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से इस धतु के अनुनासिक का झलादि 'क्त' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही क्तवतु में-रतवान्।

(३) रतिः। रम्+क्तिन्। रम्+ति। र०+ति। रति+सु। रतिः।

यहां पूर्वोक्त 'रम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। अनुनासिक-लोप कार्य पूर्ववत् है।

(४) वतिः। वन्+क्तिन्। वन्+ति। व०+ति। वति+सु। वतिः।

यहां 'वन सम्भक्तौ' (भ्वा०प०) धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। यहां 'क्तिच्' प्रत्यय नहीं है क्योंकि 'क्तिच्' प्रत्यय में तो 'न क्तिचि दीर्घश्च' (६।४।३९) से अनुनासिक-लोप का प्रतिषेध है।

(५) ततः। 'तनु विस्तारे' (त०उ०)।

(६) क्षतः। 'क्षणु हिंसायाम्' (त०उ०)।

(७) ऋतः। 'ऋणु गतौ' (त०उ०)।

(८) वतः। 'वनु याचने' (त०आ०)।

(९) मतः। 'मनु अवबोधने' (त०आ०)।

(१०) अतत। तनू+लुङ्। अट्+तन्+च्लि+ल्। अ+तन्+सिच्+त। अ+त+०त। अतत।

यहां 'तनु विस्तारे' (त०उ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में 'लुङ्' प्रत्यय, 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है। 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२।४।७९) से 'सिच्' का लुक् हो जाता है। इस सूत्र से 'तन्' अंग के अनुनासिक नकार का झलादि ङित् 'त' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से सार्वधातुक 'त' प्रत्यय ङिद्वत् है। 'थास्' प्रत्यय में-अतथाः।

अनुनासिकलोप-विकल्पः–

(२) वा ल्यपि।३८।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, ल्यपि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिकलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् अङ्गानां वाऽनुनासिकलोपो ल्यपि।

अर्थः-अनुदात्तोपदेशानाम्, वनतेः, तनोत्यादीनां चाङ्गानां अनुनासिकस्य विकल्पेन लोपो भवति, ल्यपि प्रत्यये परतः।

व्यवस्थितविभाषा चेयम्। मकारान्तानां विकल्पो भवति, अन्यत्र तु नित्यमेव लोपो जायते।

उदा०-(अनुदात्तोपदेशः) **यम्**-प्रयत्य, प्रयम्य। **रम्**-प्ररत्य, प्ररम्य। **नम्**-प्रणत्य, प्रणम्य। **गम्**-आगत्य, आगम्य। **हन्**-आहत्य। **मन्**-प्रमत्य। **(वनतिः)** प्रवत्य। **(तनोत्यादिः)** **तन्**-प्रतत्य। **क्षण्**-प्रक्षत्य। इत्यादिकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनुदात्तोपदेश०) उपदेश अवस्था में अनुदात्त, वनति और तनोति आदि (अङ्गस्य) अंगों के (अनुनासिकलोपः) अनुनासिक का लोप (वा) विकल्प से होता है (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर।*

यह व्यवस्थित-विभाषा है, अतः मकारान्त अंगों का विकल्प से और अन्यत्र अनुनासिक का नित्य लोप होता है।

उदा०-(अनुदात्तोपदेश) यम्-प्रयत्य, प्रयम्य। नियम में करके। रम्-प्ररत्य, प्ररम्य। रमण करके। नम्-प्रणत्य, प्रणम्य। प्रणाम करके। गम्-आगत्य, आगम्य। आकर। हन्-आहत्य। धक्का देकर। मन्-प्रमत्य। खूब समझकर। (वनति) प्रवत्य।

खूब मांगकर। (तनोति) तन्-प्रतत्य। खूब फैलाकर। क्षण्-प्रक्षत्य। खूब हिंसा करके। इत्यादि।

सिद्धि-(१) प्रयत्य। प्र+यम्+क्त्वा। प्र+यम्+ल्यप्। प्र+य०+य। प्र+य तुक्+य। प्र+यत्+य। प्रयत्य+सु। प्रयत्य।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'यम उपरमे' (भ्वा०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय और 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है। इस सूत्र से अनुदात्तोपदेश 'यम्' अंग के अनुनासिक का 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७०) से 'तुक्' आगम होता है। विकल्प पक्ष में अनुनासिक का लोप नहीं है-प्रयम्य।

(२) प्ररत्य, प्ररम्य। 'रमु क्रीडायाम्' (भ्वा०आ०)।

(३) प्रणत्य, प्रणम्य। 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' (भ्वा०आ०)।

(४) आगत्य, आगम्य। 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०आ०)।

(५) आहत्य। 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०)।

(६) प्रमत्य। 'मनु अवबोधने' (त०आ०)।

(७) प्रवत्य। 'वनु याचने' (त०आ०)।

(८) प्रतत्य। 'तनु विस्तारे' (त०उ०)।

(९) प्रक्षत्य। 'क्षणु हिंसायाम्' (त०उ०)।

अनुनासिकलोप-प्रतिषेधः—

(३) न क्तिचि दीर्घश्च।३६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, क्तिचि ७।१ दीर्घः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिकलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् अङ्गानाम् अनुनासिकलोपो दीर्घश्च न क्तिचि।

अर्थः-अनुदात्तोपदेशानां वनतेः, तनोत्यादीनां चाङ्गानाम् अनुनासिकस्य लोपो दीर्घश्च न भवति, क्तिचि प्रत्यये परतः।

उदा०-(अनुदात्तापदेशः) यम्-यन्तिः। (वनतिः) वन्तिः। (तनोत्यादिः) तन्-तन्तिः।

आर्यभाषाः अर्थ-(अनुदात्तोपदेश०) उपदेश अवस्था में अनुदात्त, वनति और तनोति आदि (अङ्गस्य) अंगों के (अनुनासिकलोपः) अनुनासिक का लोप और (दीर्घः) दीर्घ (च) भी (न) नहीं होता है (क्तिचि) क्तिच् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-(अनुदात्तापदेश) यम्-यन्तिः। उपरति। (वनति) वन्तिः। मांग। (तनोत्यादि) तन्-तन्तिः। गो-समूह।

सिद्धि-(१) यन्तिः। यम्+क्तिच्। यम्+ति। यन्+ति। यन्तिः।

यहां 'यम उपरमे' (भ्वा०प०) धातु से 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (३।३।७४) से 'क्तिच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनुदात्तोपदेश 'यम्' अंग के अनुनासिक का 'क्तिच्' प्रत्यय परे होने पर लोप नहीं होता है और 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (६।४।१५) से प्राप्त दीर्घ भी नहीं होता है।

(२) वन्तिः। 'वनु याचने' (त०आ०)।

(३) तन्तिः। 'तनु विस्तारे' (त०आ०)।

अनुनासिक-लोपः-

(४) गमः क्वौ।४०।

प०वि०-गमः ६।१ क्वौ ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, अनुनासिकलोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-गमोऽङ्गस्यानुनासिकलोपः क्वौ।

अर्थः-गमोऽङ्गस्यानुनासिकस्य लोपो भवति, क्वौ प्रत्यये परतः।

उदा०-अङ्गान् गच्छतीति-अङ्गगत्। कलिङ्गगत्।

आर्यभाषाः अर्थ-(गमः) गम् (अङ्गस्य) अंग के (अनुनासिकलोपः) अनुनासिक का लोप होता है (क्वौ) क्विप् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-अङ्गगत्। अंग देश में जानेवाला। कलिङ्गगत्। कलिंग देश में जानेवाला।

सिद्धि-अङ्गगत्। अङ्ग+गम्+क्विप्। अङ्ग+गम्+वि। अङ्ग+ग+वि। अङ्ग+ग तुक्+वि। अङ्ग+ग त्+०। अङ्गगत्+सु। अङ्गगत्।

यहां अङ्ग उपपद 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।७६) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'गम्' अंग को 'क्विप्' प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक मकार का लोप होता है। तत्पश्चात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७०) से 'तुक्' आगम होता है। ऐसे ही-कलिङ्गगत्।

विशेषः *(१) अङ्ग-श्री गंगा के तट पर अवस्थित प्राचीन एक प्रसिद्ध राज्य। इस राज्य की राजधानी का नाम चम्पा नगरी था। चम्पा नगरी का दूसरा नाम अनङ्गपुरी भी था। यह चम्पा नगरी आधुनिक भागलपुर के समीप विहार प्रान्त में थी (श०कौ०)।*

(२) कलिङ्ग-उड़ीसा के दक्षिण की ओर का प्रदेश। यह प्रदेश गोदावरी नदी के उद्गम स्थान तक फैला हुआ था। इस राज्य की राजधानी कलिङ्गनगर, समुद्र-तट से कुछ फासले पर थी, और सम्भवतः उस स्थान पर भी जहां आधुनिक राजमहेन्द्री नामक नगर है (श०कौ०)।

आकार-आदेशः–

(५) विड्वनोरनुनासिकस्यात् ।४१।

प०वि०-विट्-वनोः ७।२ अनुनासिकस्य ६।१ आत् १।१।

स०-विट् च वन् च तौ विड्वनौ, तयोः-विड्वनोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुनासिकस्याङ्गस्य आत्, विड्वनोः।

अर्थः-अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य आकार आदेशो भवति, विटि वनि च प्रत्यये परतः।

उदा०-विट्-(जन्) अब्जाः, गोजा, ऋतजाः, अद्रिजाः। **(सन्)** गोषा इन्द्रो नृषा असि। **(खन्)** कूपखाः, शतखाः, सहस्रखाः। **(क्रम्)** दधिक्राः। **(गम्)** अग्रेगा उन्नेतॄणाम्। **वन्**-विजावा, अग्रेजावा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनुनासिकस्य) अनुनासिक जिसके अन्त में है उस (अङ्गस्य) अंग के (अनुनासिकस्य) अनुनासिक के स्थान में (आत्) आकार आदेश होता है (विड्वनोः) विट् और वन् प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-विट्-(जन्) ***अब्जाः।*** *जल में उत्पन्न होनेवाला।* ***गोजा।*** *गौओं में उत्पन्न होनेवाला।* ***ऋतजाः।*** *ठीक/उचित स्थान पर उत्पन्न होनेवाला।* ***अद्रिजाः।*** *पहाड़ पर उत्पन्न होनेवाला। (सन्)* ***गोषा इन्द्रो नृषा असि।*** *गोषा=गोदान करनेवाला। नृषाः=नरदान करनेवाला। (खन्)* ***कूपखाः।*** *कूआ खोदनेवाला।* ***शतखाः।*** *सौ कूप खोदनेवाला।* ***सहस्रखाः।*** *हजार कूप खोदनेवाला। (क्रम्)* ***दधिक्राः।*** *घोड़ा। (गम्)* ***अग्रेगा उन्नेतॄणाम्।*** *अग्रेगाः=आगे चलनेवाला। वन्-* ***विजावा।*** *उत्पन्न होनेवाला।* ***अग्रेजावा।*** *आगे उत्पन्न होनेवाला। अग्रे=प्रारम्भ में।*

सिद्धि-(१) अब्जाः। अप्+जन्+विट्। अप्+जन्+वि। अप्+ज आ+वि। अब्जा+०। अब्जा+सु। अब्जाः।

यहां अप्-उपपद 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (३।२।६७) से 'विट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से जन् के अनुनासिक को 'विट्' प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से झल् पकार को जश् बकार आदेश होता है। ऐसे ही-गोजाः आदि।

(२) गोषाः। 'षणु दाने' (त०उ०)। ऐसे ही-नृषाः।

(३) कूपखा। 'खनु अवदारणे' (भ्वा०प०)। ऐसे ही-शतखाः, सहस्रखाः।

(४) दधिक्राः। 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०)।

(५) अग्रेगाः। 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०)।

(६) विजावा। वि+जन्+वनिप्। वि+जन्+वन्। वि+ज आ+वन्। विजावन्+सु। विजावान्+सु। विजावान्+०। विजावा०। विजावा।

यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३।२।७२) से 'वनिप्' प्रत्यय है। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से नकार का लोप होता है। ऐसे ही-अग्रेजावा।

आकार-आदेशः-

(६) जनसनखनां सञ्झलोः।४२।

प०वि०-जन-सन-खनाम् ६।३ सन्-झलोः ७।२।

स०-जनश्च सनश्च खन् च ते जनसनखनः, तेषाम्-जनसनखनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। सन् च झल् च तौ सञ्झलौ, तयोः-सञ्झलोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, आद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जनसनखनाम् अङ्गानाम् आत् सञ्झलोः क्ङिति।

अर्थः-जनसनखनाम् अङ्गानाम् आकार आदेशो भवति, झलादौ सनि झलादौ क्ङिति च प्रत्यये परतः।

उदा०-**(जन्) झलादौ किति**-जातः, जातवान्, जातिः। **(सन्) झलादौ सनि**-सिषासति। **झलादौ किति**-सातः, सातवान्, सातिः। **(खन्) झलादौ किति**-खातः, खातवान्, खातिः।

आर्यभाषाः अर्थ-(जनसखनाम्) जन्, सन् और खन् (अङ्गानाम्) अंगों को (आत्) आकार आदेश होता है (सन्झलोः) झलादि सन् और झलादि (क्ङिति) कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-(जन्) झलादि कित्-जातः। उत्पन्न हुआ। जातवान्। उत्पन्न हुआ। जातिः। उत्पन्न होना। (सन्) झलादि सनि-सिषासति। देवदत्त दान करना चाहता है। सातः। दान किया। सातवान्। दान किया। सातिः। दान करना। (खन्) झलादि कित्-खातः। खोदा। खातवान्। खोदा। खातिः। खोदना।

सिद्धि-(१) जातः। जन्+क्त। जन्+त। ज आ+त। जात+सु। जातः।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'जन्' अंग को झलादि कित् 'क्त' प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है और वह 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) से अन्तिम अल् नकार के स्थान में किया जाता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय में-जातवान्।

(२) जातिः। जन्+क्तिन्। जन्+ति। ज आ+ति जाति+सु। जातिः।

यहां पूर्वोक्त 'जन्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से पूर्ववत् आकार आदेश होता है।

(३) सिषासति। सन्+सन्। स ओ+सन्। सा+सन्। सा सा+सन्। स सा+स। सिषाष। सिषास+लट्। सिषास+तिप्। सिसाष+शप्+ति। सिषास+अ+ति। सिषासति।

यहां 'षणु दाने' (त०उ०) धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सन्' को झलादि सन् प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से 'सा' को द्वित्व होता है। 'सन्यतः' (७।४।७९) से अभ्यास के अकार को इकार आदेश और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। तत्पश्चात् सन्नन्त 'सिषास' धातु से लट् आदि कार्य होते हैं।

(४) सातः, सातवान्, सातिः। 'षणु दाने' (त०उ०) पूर्ववत्।

(५) खातः, खातवान्, खातिः। खनु अवदारणे' (भ्वा०प०) पूर्ववत्।

विशेषः यहां 'सञ्झलोः' से झलादि सन् और कित् प्रत्यय का ग्रहण किया जाता है। जन् और खन् धातुओं में 'सन्' को इट् आगम होने से झलादि 'सन्' उपलब्ध नहीं है। 'सन्' धातु में 'सनीवन्त०' (७।२।४९) से 'सन्' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से इट्-आगमविधि होने से झलादि सन् उपलब्ध हो जाता है। इट् पक्ष में-'सिसनिषति' रूप बनता है।

आकारादेश-विकल्पः–

(७) ये विभाषा ।४३।

प०वि०–ये ७ ।१ विभाषा १ ।१ ।

अनु०–अङ्गस्य, क्ङिति, आत्, जनसनखानामिति चानुवर्तते ।

अन्वयः–जनसनखनाम् अङ्गानां ये क्ङिति विभाषाऽऽत् ।

अर्थः–जनसनखनाम् अङ्गानां यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतो विकल्पेनाऽऽकार आदेशो भवति ।

उदा०–(जन्) **किति**–जायते, जन्यते । **ङिति**–जाजायते, जञ्जन्यते । (सन्) **किति**–सायते, सन्यते । **ङिति**–सासायते, संसान्यते । (खन्) **किति**–खायते, खन्यते । **ङिति**–चाखायते, चङ्खन्यते ।

आर्यभाषाः *अर्थ–(जनसनखनाम्) जन्, सन् और खन् (अङ्गानाम्) अंगों को (ये) यकारादि (क्ङिति) कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०–(जन्) कित् में–जायते, जन्यते। उत्पन्न किया जाता है। ङित् में–जाजायते, जञ्जन्यते। पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। (सन्) कित् में–सायते, सन्यते। दान किया जाता है। ङित् में–सासायते, संसान्यते। पुनः-पुनः दान करता है। (खन्) कित् में–खायते, खन्यते। खोदा जाता है। ङित् में–चाखायते, चङ्खन्यते। पुनः-पुनः खोदता है।

सिद्धि–(१) जायते। जन्+लट्। जन्+त। जन्+यक् त। ज आ+य+ते। जायते।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से कर्म अर्थ में 'लट्' प्रत्यय है, 'तप्तिस्झि०' (३।४।७८) से लादेश 'त' प्रत्यय, 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से यक् विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से जन् अंग को यकारादि, कित् 'यक्' प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। विकल्प-पक्ष में आकार आदेश नहीं है–जन्यते।

(२) सायते, सन्यते। 'षणु दाने' (त०उ०)।

(३) खायते, खन्यते। 'खनु अवदारणे' (भ्वा०प०)।

(४) जाजायते। जन्+यङ्। ज आ+य। जा+जा+य। ज+जा+य। जाजाय+लट्। जाजाय+त। जाजाय+शप्+त। जाजाय+अ+ते। जाजायते।

यहां पूर्वोक्त 'जन्' धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'जन्' अंग को यकारादि ङित् 'यङ्' प्रत्यय परे होने पर

आकार आदेश होता है। तत्पश्चात् 'सन्यङोः' (६।१।९) से द्वित्व, 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व और 'दीर्घोऽकितः' (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ होता है। तत्पश्चात् यङन्त 'जाजाय' धातु से 'लट्' आदि कार्य होते हैं। विकल्प-पक्ष में आकार आदेश नहीं है-जञ्जन्यते। 'नुगतोऽनुनासिकस्य' (७।४।८५) से अभ्यास को 'नुक्' आगम होता है।

(५) सासायते, संसन्यते। 'षणु अवदाने' (त०उ०)।

(६) चाखायते, चङ्खन्यते। 'खनु अवदारणे' (भ्वा०प०)। पूर्ववत् अभ्यास को 'नुक्' आगम और 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व होता है।

आकारादेश-विकल्पः–

(८) तनोतेर्यकि।४४।

प०वि०-तनोतेः ६।१ यकि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, आत्, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तनोतेरङ्गस्य यकि विभाषाऽऽत्।

अर्थः-तनोतेरङ्गस्य यकि प्रत्यये परतो विकल्पेनाऽऽकार आदेशो भवति।

उदा०-तायते देवदत्तेन। तन्यते देवदत्तेन।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तनोतेः) तनोति (अङ्गस्य) अंग को (यकि) यक् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-तायते देवदत्तेन। देवदत्त के द्वारा विस्तार किया जाता है। तन्यते देवदत्तेन। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-तायते। तन्+लट्। तन्+त। तन्+यक्+त। त आ+य+ते। तायते।

यहां 'तनु विस्तारे' (तना०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से कर्म-अर्थ में 'लट्' प्रत्यय है। 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से 'यक्' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'तन्' अंग को 'यक्' प्रत्यय परे होने पर आकार आदेश होता है। विकल्प-पक्ष में आकार आदेश नहीं है-तन्यते।

आकार-आदेशः–

(९) सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्।४५।

प०वि०-सनः ६।१ क्तिचि ७।१ लोपः १।१ च अव्ययपदम्, अस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, आद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सनोऽङ्गस्य क्तिचि आत्, अस्यान्यतरस्यां लोपश्च।

अर्थः-सनोतेरङ्गस्य क्तिचि प्रत्यये परत आकार आदेशो भवति, अस्याङ्गावयवस्य नकारस्य विकल्पेन लोपश्च भवति।

उदा०-(सन्) सातिः (आकारादेशः)। सन्तिः (न नकारलोपः)। सतिः (नकारलोपः)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(सनः) सनोति (अङ्गस्य) अंग को (क्तिचि) क्तिच् प्रत्यय परे होने पर (आत्) आकार आदेश होता है और (अस्य) इस अंग के अवयवभूत नकार का (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (लोपः) लोप (च) भी होता है।*

*उदा०-(सन्) **सातिः**। दान करना (आकारादेश)। **सन्तिः**। दान करना (नकार का लोप नहीं)। **सतिः**। दान करना (नकार का लोप)।*

*सिद्धि-**सातिः**। सन्+क्तिच्। सन्+ति। स आ+ति। साति+सु। सातिः।*

*यहां 'षणु दाने' (त०उ०) धातु से **'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'** (३।३।१७४) से 'क्तिच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सन्' अंग को आकार आदेश होता है और नकार-लोप के विकल्प से-**सन्तिः** और **सतिः** रूप भी होते हैं।*

।। इति अनुनासिकलोपप्रकरणम् ।।

आर्धधातुकप्रकरणम्

आर्धधातुक-अधिकारः-

(१) आर्धधातुके।४६।

वि०-आर्धधातुके ७।१।

अर्थः-'आर्धधातुके' इत्यधिकारोऽयम्। **'मयतेरिदन्यतरस्याम्'** (६।४।७०) इत्यस्मात् प्राग् यद् वक्ष्यति 'आर्धधातुके' इत्येवं तद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति-**'अतो लोपः'** (८।४।४८) इति **चिकीर्षिता, जिहीर्षिता।**

***आर्यभाषाः** अर्थ-(आर्धधातुके) 'आर्धधातुके' यह अधिकार है। पाणिनि मुनि **'मयतेरिदन्यतरस्याम्'** (६।४।७०) से पूर्व जो कहेंगे वह आर्धधातु-परक जानना चाहिये।*

जैसे कि पाणिनि मुनि कहेंगे- 'अतो लोपः' (६।४।४८) अर्थात् अकारान्त अंग का लोप होता है, आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर। ***चिकीर्षिता।*** *करने का इच्छुक।* ***जिहीर्षिता।*** *हरने का इच्छुक।*

सिद्धि-चिकीर्षिता आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

रम्-आगमः-

(२) भ्रस्जो रोपधयोरमन्यतरस्याम्।४७।

प०वि०-भ्रस्जः ६।१ र-उपधयोः ६।२ रम् १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-रश्च उपधा च ते रोपधे, तयोः-रोपधयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भ्रस्जोऽङ्गस्य रोपधया आर्धधातुकेऽन्यतरस्यां रम्।

अर्थः-भ्रस्जोऽङ्गस्य रेफस्य उपधायाश्च स्थाने आर्धधातुके परतो विकल्पेन रम्-आगमो भवति। 'रोपधयोः' इति स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रेफ उपधा च निवर्तते।

उदा०-भ्रष्टा, भर्ष्टा। भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम्। भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम्। भ्रज्जनम्, भर्जनम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भ्रस्जः) भ्रस्ज (अङ्गस्य) अङ्ग के (रोपधायोः) रेफ और उपधा के स्थान में (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (रम्) रम् आगम होता है।*

उदा०- ***भ्रष्टा, भर्ष्टा।*** *पकाने (भूनने) वाला।* ***भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम्।*** *पकाने के लिये।* ***भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम्।*** *पकाना चाहिये।* ***भ्रज्जनम्, भर्जनम्।*** *पकाना।*

सिद्धि-(१) ***भ्रष्टा।*** *भ्रस्ज्+तृच्। भ्रस्ज्+तृ। भ्रस्ष्+तृ। भ्र ष् ट्+सु। भ्रष्टा।*

यहां 'भ्रस्ज पाके' (तु०उ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से संयोगादि सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'भ्रस्ज्' के जकार को षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से 'तृच्' के तकार को टवर्ग टकार होता है।

(२) ***भर्ष्टा।*** *भ्रस्ज्+तृच्। भ्रस्ज्+तृ। भ् अ रम् ज्+तृ। भ र् ज्+त। भ र्+र्ष्+टृ। भर्ष्टृ+सु। भर्ष्टा।*

यहां पूर्वोक्त 'भ्रस्ज धातु से पूर्ववत् आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ और उपधाभूत सकार के स्थान में विकल्प-पक्ष में 'रम्' आगम होता है। 'रम्' आगम मित् होने से 'मिदचोऽन्यात् परः' (१।१।४६) से 'भ्रस्ज्' के अन्तिम अच् अकार से परे होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) भ्रष्टुम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से 'तुमुनण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से आर्धधातुक 'तुमुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) भर्ष्टुम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से पूर्ववत् आर्धधातुक 'तुमुन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प-पक्ष में 'रम्' आगम है।

(५) भ्रष्टव्यम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से आर्धधातुक 'तव्यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(६) भर्ष्टव्यम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से पूर्ववत् आर्धधातुक 'तव्यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प-पक्ष में 'रम्' आगम है।

(७) भ्रज्जनम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से 'ल्युट् च' (३।३।११५) से भाव-अर्थ में आर्धधातुक 'ल्युट्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' के स्थान में 'अन' आदेश हेता है। 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से 'भ्रस्ज्' के सकार के जशत्व 'दकार' और इसको 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से चवर्ग जकार होता है।

(८) भर्जनम्। यहां 'भ्रस्ज' धातु से पूर्ववत् आर्धधातुक 'ल्युट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से विकल्प-पक्ष में 'रम्' आगम है। 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४६) से यर् (जकार) को विकल्प से द्वित्व होता है-भर्जनम्, भर्ज्जनम्।

लोपादेशः-

(३) अतो लोपः।४८।

प०वि०-अतः ६।१ लोपः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अतोऽङ्गस्य अर्धधातुके लोपः।

अर्थः-अकारान्तस्याङ्गस्य आर्धधातुके परतो लोपो भवति।

उदा०-चिकीर्षिता। चिकीर्षितुम्। चिकीर्षितव्यम्। धिनुतः। कृणुतः।

आर्यभाषाः अर्थ-(अतः) अकारान्त (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप-आदेश होता है।

उदा०-चिकीर्षिता। करने का इच्छुक। चिकीर्षितुम्। करने की इच्छा के लिये। चिकीर्षितव्यम्। करने की इच्छा करनी चाहिये। धिनुतः। वे दोनों तृप्त करते हैं। कृणुतः। वे दोनों हिंसा करते हैं/करते हैं।

सिद्धि-(१) चिकीर्षिता। चिकीर्ष+तृच्। चिकीर्ष+तृ। चिकीष्+इट्+तृ। चिकीर्ष्+इ+तृ। चिकीर्षितृ+सु। चिकीर्षिता।

यहां सन्नन्त 'चिकीर्ष' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय है और इसे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय परे होने पर 'चिकीर्ष' धातु के 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) से अन्तिम अकार का लोप होता है।

(२) चिकीर्षितुम्। यहां 'चिकीर्ष' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से आर्धधातुक 'तुमुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) चिकीर्षितव्यम्। यहां 'चिकीर्ष' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।३।७६) से आर्धधातुक 'तव्यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) धिनुतः। धिन्व्+लट्। धिन्व्+तस्। धिन्व्+उ+तस्। धिन्अ+उ+तस्। धिन्०+उ+तस्। धिनुतः।

यहां 'धिवि प्रीणनार्थः' (भ्वा०प०) धातु से 'धिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) से 'उ' विकरण-प्रत्यय और 'धिन्व्' के वकार को अकार आदेश होता है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'उ' प्रत्यय परे होने पर इस अन्तिम अकार का लोप होता है। ऐसे ही- 'कृवि हिंसाकरणयोश्च' (भ्वा०प०) धातु से- 'कृणुतः। यह धातु चकार से गत्यर्थक भी है।

लोपादेशः–

(४) यस्य हलः।४६।

प०वि०-यस्य ६।१ हलः ५।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोप इति चानुवर्तति।

अन्वयः-हलो यस्य आर्धधातुके लोपः।

अर्थः-हल उत्तरस्य य-शब्दस्य आर्धधातुके परतो लोपो भवति।

उदा०-बेभिदिता। बेभिदितुम्। बेभिदितव्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हलः) हल् से परे (यस्य) य-शब्द को (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप-आदेश होता है।*

उदा०-बेभिदिता। पुनः-पुनः अधिक भेदन (फाड़ना) करनेवाला। बेभिदितुम्। पुनः-पुनः अधिक भेदन करने के लिये। बेभिदितव्यम्। पुनः-पुनः अधिक भेदन करना चाहिए।

सिद्धि-बेभिदिता। बेभिद्य+तृच्। बेभिद्य+तृ। बेभिद्य+इट्+तृ। बेभिद्०+इ+तृ। बेभिदितृ+सु। बेभिदिता।

यहां यङन्त 'बेभिद्य' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है और इसे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय परे होने पर 'बेभिद्य' अंग के य-शब्द (य्+अ) का संघात-रूप में ग्रहण किया गया है, अतः यहां 'अतो लोपः' (६।४।४८) से प्रथम अकार का लोप नहीं होता है अपितु इस सूत्र से संघात-रूप यकार और अकार का लोप होता है।

(२) बेभिदितुम्। यहां यङन्त 'बेभिद्य' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से 'तुमुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) बेभिदितव्यम्। यहां यङन्त 'बेभिद्य' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।१३३) से 'तव्यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

लोपादेश-विकल्पः—

(५) क्यस्य विभाषा।५०।

प०वि०-क्यस्य ६।१ विभाषा १।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोपः, हल इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हलः क्यस्य आर्धधातुके विभाषा लोपः।

अर्थः-अङ्गावयवाद् हल उत्तरस्य क्य-प्रत्ययस्य आर्धधातुके परतो विकल्पेन लोपो भवति।

उदा०-आत्मनः समिधमिच्छति, समिद् इवाचरतीति वा-समिध्यिता, समिधिता। दृषद्यिता, दृषदिता।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (हलः) हल् से परे (क्यस्य) क्यच् और क्यङ् प्रत्यय को (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (लोपः) लोपादेश होता है।*

उदा०-समिध्यिता, समिधिता। अपनी समिधा को चाहनेवाला अथवा समिधा के समान आचरण करनेवाला। दृषद्यिता, दृषदिता। अपने पत्थर को चाहनेवाला अथवा पत्थर के समान आचरण करनेवाला।

सिद्धि-समिध्यिता। समिध्+क्यच्। समिध्+य। समिध्य+तृच्। समिध्य+इट्+तृ। समिध्य+इ+तृ। समितध्यतृ+सु। समिध्यिता।

यहां प्रथम 'समिध्' शब्द से 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) से आत्म-इच्छा अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय है अथवा 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) से 'क्यङ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् क्यच्-प्रत्ययान्त 'समिध्य' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से आर्धधातुक 'तृच्' प्रत्यय है। 'अतो लोपः' (६।४।४८) से अङ्ग के अकार का लोप होता है। विकल्प-पक्ष में क्यच्/क्यङ् प्रत्यय का इस सूत्र से लोप होता है-समिधिता। ऐसे ही 'दृषद्' शब्द से -दृषद्यिता, दृषिदिता। यहां 'क्य' से क्यच् और क्यङ् प्रत्यय का सामान्यरूप से ग्रहण किया जाता है।

णि-लोपः-

(६) णेरनिटि।५१।

प०वि०-णेः ६।१ अनिटि ७।१।

स०-न इड् यस्य सः-अनिट्, तस्मिन्-अनिटि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोप इति चानुवर्तति।

अन्वयः-अङ्गस्य णेरनिटि आर्धधातुके लोपः।

अर्थः-अङ्गस्य णि-प्रत्ययस्य अनिडादावार्धधातुके प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-अततक्षत्। अररक्षत्। आटिटत्। आशिशत्। कारणा। हारणा। कारकः। हारकः। कार्यते। हार्यते। ज्ञीप्सति।

आर्यभाषाः अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्सम्बन्धी (णेः) णिच् प्रत्यय को (अनिटि) अनिट्-आदि (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।

उदा०-अततक्षत्। उसने तनूकरण (छिलाई) कराया। अररक्षत्। उसने रक्षा कराई। आटिटत्। उसने भ्रमण (घुमाई) कराया। आशिशत्। उसने भोजन कराया। कारणा। कार्य कराना। हारणा। चोरी कराना। कारकः। करानेवाला। हारकः। हरानेवाला। कार्यते। उसके द्वारा कराया जाता है। हार्यते। उसके द्वारा हराया जाता है। ज्ञीप्सति। वह बतलाना चाहता है।

सिद्धि-(१) अततक्षत्। तक्ष्+णिच्। तक्ष्+इ। तक्षि। तक्षि+लुङ्। अट्+तक्षि+च्लि+ल्। अ+तक्षि+चङ्+तिप्। अ+तक्षि+अ+त्। अ+तक्ष्+अ+त्। अ+तक्ष्-तक्ष्+अ+त्। अ+त-तक्ष्+अ+त्। अततक्षत्।

यहां 'तक्षू तनूकरणे' (भ्वा०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'तक्षि' धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय और 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (३।१।४८) से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश होता है। इस सूत्र से अनिट्-आदि, आर्धधातुक 'चङ्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। तत्पश्चात् 'चङि' (६।१।११) से धातु को द्वित्व होता है।

(२) अररक्षत्। 'रक्ष पालने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) आटिटत्। 'अट गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(४) आशिशत्। 'अश भोजने' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत्।

(५) कारणा। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+युच्। कारि+अन। कार्+अन। कारण+टाप्। कारण+आ। कारणा+सु। कारणा।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से 'ण्यासश्रन्थो युच्' ३।३।१०७) से स्त्रीलिङ्ग में 'युच्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' के स्थान में 'अन' आदेश होता है। इस सूत्र से अनिट्-आदि आर्धधातुक 'युच्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८।१।३) से णत्व और स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०प०) धातु से-हारणा।

(६) कारकः। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+ण्वुल्। कारि+अक। कार्+अक। कारक+सु। कारकः।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'ण्वुल्' प्रत्यय है। इस सूत्र से अनिट्-आदि आर्धधातुक 'ण्वुल्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हारकः।

(७) कार्यते। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+लट्। कारि+त। कारि+यक्+त। कार्+य+ते। कार्यते।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से कर्मवाच्य अर्थ में 'लट्' प्रत्यय

तथा 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से कर्मवाच्य अर्थ में 'यक्' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से अनिट्-आदि, आर्धधातुक 'यक्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से एत्व होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हार्यते।

(८) ज्ञीप्सति। ज्ञा+णिच्। ज्ञा+इ। ज्ञा+पुक्+इ। ज्ञा+प्+इ। ज्ञापि। ज्ञपि+सन्। ज्ञप्-ज्ञपि+स। ज्ञ+ज्ञपि+स। ज्ञ+ज्ञप्+स। ज्ञ+ज्ञीप्+स। ०+ज्ञीप्+स। ज्ञीप्स। ज्ञीप्स+लट्। ज्ञीप्स+शप्+तिप्। ज्ञीप्स+अ+ति। ज्ञीप्सति।

यहां 'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय, 'अर्त्तिह्री०' (७।३।३६) से 'ज्ञा' धातु को 'पुक्' आगम होता है। 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' (भ्वा० गणसूत्र) से 'ज्ञा' धातु की मित्-संज्ञा होकर 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से इसे ह्रस्व होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'ज्ञपि' धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से इच्छा-अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। 'सनीवन्तर्ध०' (७।२।४९) से विकल्प-पक्ष में 'इट्' आगम का अभाव है। इस सूत्र से अनिट्-आदि आर्धधातुक 'सन्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (७।४।५५) से ईत्त्व और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) से अभ्यास का लोप होता है।

णि-लोपः–

(७) निष्ठायां सेटि।५२।

प०वि०-निष्ठायाम् ७।१ सेटि ७।१।

स०-इटा सह वर्तते इति सेट्, तस्याम्-सेटि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोपः, णेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य णेः सेटि निष्ठायाम् आर्धधातुके लोपः।

अर्थः-अङ्गस्य णि-प्रत्ययस्य सेटि निष्ठायाम् आर्धधातुके प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-कारितम्। हारितम्। गणितम्। लक्षितम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग-सम्बन्धी (णेः) णिच् प्रत्यय को (सेटि) सेट् (निष्ठायाम्) निष्ठासंज्ञक (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।

उदा०-**कारितम्**। कराया हुआ। **हारितम्**। चोरी कराया हुआ। **गणितम्**। गिना हुआ। **लक्षितम्**। देखा हुआ।

सिद्धि-(१) कारितम्। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+क्त। कारि+त। कारि+इट्+त। कार्+इ+त। कारित+सु। कारितम्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय है। इसे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से सेट्, निष्ठा-संज्ञक, आर्धधातुक 'क्त' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हारितम्।

(२) गणितम्। 'गण संख्याने' (चु०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) लक्षितम्। 'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' (चु०प०) धातु से पूर्ववत्।

निपातनम्–

(८) जनिता मन्त्रे।५३।

प०वि०-जनिता १।१ मन्त्रे ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोपः, णेः, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मन्त्रे जनिता इत्यङ्गस्य णेः सेटि आर्धधातुके लोपः।

अर्थः-मन्त्रे विषये 'जनिता' इत्येतस्य अङ्गस्य णिच्-प्रत्ययस्य सेटि आर्धधातुके प्रत्यये परतो लोपो निपात्यते।

उदा०-यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३)। स नो बन्धुर्जनिता (यजु० ३२।१०)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(मन्त्रे) मन्त्र विषय में (जनिता) 'जनिता' इस अङ्ग के (णेः) णिच्-प्रत्यय को (सेटि) सेट् (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश निपातित है।*

उदा०-यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३)। जो ईश्वर हमारा पिता और जनक है। स नो बन्धुर्जनिता (यजु० ३२।१०)। वह ईश्वर हमारा बन्धु और सकल जगत् का उत्पादक है।

सिद्धि-जनिता। जन्+णिच्। जान्+इ। जनि।। जनि+तृच्। जनि+तृ। जनि+इट्+तृ। जनि+इ+तृ। जन्+इ+तृ। जनितृ+सु। जनिता।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'जन्' धातु को 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि और 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से इसे ह्रस्व आदेश होता है। 'जनी' धातु की 'जनी जृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० गणसूत्र) से मित् संज्ञा है। तत्पश्चात् णिजन्त 'जनि'

धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय और इसे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से 'सेट्' सार्वधातुक 'तृच्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' प्रत्यय का लोप निपातित है। 'णेरनिटि' (६।३।५१) से अनिट्-आदि आर्धधातुक परे होने पर ही णिच्-लोप प्राप्त था। यह उसका अपवाद है।

निपातनम्–

(९) शमिता यज्ञे।५४।

प०वि०–शमिता १।१ यज्ञे ७।१।

अनु०–अङ्गस्य, आर्धधातुके, लोपः, णेः, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–यज्ञे शमिता इत्यङ्गस्य णेः सेटि आर्धधातुके लोपः।

अर्थः–यज्ञे कर्मणि शमिता इत्येतस्य अङ्गस्य णिच्-प्रत्ययस्य सेटि आर्धधातुके प्रत्यये परतो लोपो निपात्यते।

उदा०–शृतं हवि३: शमितः (तै०सं० ६।३।१०।१)। 'शमितः' इति सम्बुद्ध्यन्तं रूपमेतत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(यज्ञे) यज्ञ कर्म में (शमिता) शमिता इस अङ्ग-सम्बन्धी (णेः) णिच्-प्रत्यय को (सेटि) सेट् (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश निपातित है।*

उदा०-शृतं हवि३: शमितः (तै०सं० ६।३।१०।१)। हे शमितः ! हवि (आहुति) पकी हुई है।

सिद्धि-शमिता। शम्+णिच्। शम्+इ। शाम्+इ। शमि+तृच्। शम्+तृ। शम्+इट्+तृ। शम्+इ+तृ। शमितृ+सु। समिता।

यहां 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से प्रथम हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'शमि' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। शेष मित्-संज्ञा और ह्रस्व आदि कार्य 'जनिता' (६।३।५३) के समान है। उदाहरण में 'शमितः' सम्बुद्धि (सम्बोधन एकवचन) का रूप है।

अय्-आदेशः–

(१०) अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु।५५।

प०वि०–अय् १।१ आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु ७।३।

स०–आम् च अन्तश्च आलुश्च आय्यश्च इत्नुश्च इष्णुश्च ते-आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णवः, तेषु-आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, णेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य णेरार्धधातुकेषु आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु अय्।

अर्थः-अङ्गस्य णिच्-प्रत्ययस्य स्थाने आर्धधातुकेषु आमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु प्रत्ययेषु परतोऽय्-आदेशो भवति।

उदा०-(आम्) कारयाञ्चकार। हारयाञ्चकार। (अन्तः) गण्डयन्तः। मण्डयन्तः। (आलुः) स्पृहयालुः। गृहयालुः। (आय्यः) स्पृहयाय्यः। गृहयाय्यः। (इत्नुः) स्तनयित्नुः। (इष्णुः) पोषयिष्णुः। पारयिष्णवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (णेः) णिच् प्रत्यय के स्थान में (आर्धधातुके) आर्धधातुक (आम०) आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु प्रत्यय परे होने पर (अय्) अय्-आदेश होता है।*

*उदा०-(आम्) **कारयाञ्चकार**। उसने कराया। **हारयाञ्चकार**। उसने हरण (चोरी) कराया। (अन्त) **गण्डयन्तः**। सेचन का हेतु मेघ। **मण्डयन्तः**। मण्डन का हेतु आभूषण। (आलु) **स्पृहयालुः**। प्राप्ति का इच्छुक। **गृहयालुः**। ग्रहण करनेवाला। (आय्य) **स्पृहयाय्यः**। प्राप्ति का इच्छुक वा नक्षत्र। **गृहयाय्यः**। पदार्थों का ग्रहण करनेवाला, गृहस्वामी। (इत्नु) **स्तनयित्नुः**। शब्द करनेवाला, मेघ वा विद्युत्। (इष्णु) **पोषयिष्णुः**। पुष्टि करानेवाला। **पारयिष्णवः**। पार=कम समाप्ति करानेवाले, पार करनेवाले।*

*सिद्धि-(१) **कारयाञ्चकार**। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+आम्+लिट्। कार् अय्+आम्+०। कारयाम्। कारयाम्+चकार=कारयाञ्चकार।*

*यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'कारि' धातु से **'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि'** (३।१।३५) से 'आम्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'आम्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-हारयाञ्चकार।*

*(२) **गण्डयन्तः**। गडि+णिच्। गड्+इ। गाड्+इ। गड्+इ। ग नुम् ड्+इ। गन्ड्+इ। गण्डि+झच्। गण्डि+अन्त। गण्ड् अय्+अन्त। गण्डयन्त+सु। गण्डयन्तः।*

यहां 'गडि वदनैकदेशे {सिचने}' (भ्वा०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय हे। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि और 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से इसे ह्रस्व होता है। 'घटादयो मितः' (भ्वा० गणसूत्र) से इसकी 'मित्'

संज्ञा है। 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' आगम होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'गण्डि' धातु से 'तॄभूवहिवसिभासिसाधिगण्डिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च' (उणा० ३।१२८) 'झच्' प्रत्यय और इसे 'झोऽन्तः' (७।१।३) से अन्त-आदेश होता है। ऐसे ही 'मडि भूषायाम्' (भ्वा०प०) धातु से-मण्डयन्तः।

(३) स्पृहयालुः। स्पृह+णिच्। स्पृह्+इ। स्पृहि+आलुच्। स्पृह् अय्+आलु। स्पृहयालु+सु। स्पृहयालुः।

यहां 'स्पृह ईप्सायाम्' (चु०उ०) अकारान्त धातु से प्रथम 'सत्यापपाश०' (३।१।२५) से चौरादिक 'णिच्' प्रत्यय है। 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'स्पृह' धातु के अकार का लोप होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'स्पृहि' धातु से 'स्पृहिगृहि०' (३।२।१५८) से 'आलुच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'आलुच्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। ऐसे ही 'ग्रह ग्रहणे' (क्र्या०उ०) धातु से-गृहयालुः।

(४) स्पृहयाय्यः। स्पृहि+आय्य। स्पृह् अय्+आय्य। स्पृहयाय+सु। स्पृहयाय्यः।

यहां 'स्पृह ईप्सायाम्' (तु०प०) अकारान्त धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय और णिजन्त 'स्पृहि' धातु से 'श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः' (उणा० ३।९६) से 'आय्य' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'आय्य' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। ऐसे ही 'ग्रह ग्रहणे' (क्र्या०उ०) धातु से-गृहयाय्यः।

(५) स्तनयित्नुः। स्तन+णिच्। स्तन्+इ। स्तनि+इत्नु। स्तन् अय्+इत्नु। स्तनयित्नु+सु। स्तनयित्नुः।

यहां 'स्तन देवशब्दे' (चु०उ०) अकारान्त धातु से प्रथम 'सत्यापपाश०' (३।१।२५) से चौरादिक 'णिच्' प्रत्यय है। 'अतो लोपः' (६।४।४८) से 'स्तन' धातु के अकार का लोप होता है, उसके स्थानिवद्भाव से 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'स्तन्' धातु को उपधावृद्धि नहीं होती है। तत्पश्चात् णिजन्त 'स्तनि' धातु से 'स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुः' (उणा० ३।२९) से 'इत्नु' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'इत्नु' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है।

(६) पोषयिष्णुः। पुष्+णिच्। पुष्+इ। पोष्+इ। पोषि+इष्णुच्। पोषि+इष्णु। पोष् अय्+इष्णु। पोषयिष्णु+सु। पोषयिष्णुः।

यहां 'पुष पुष्टौ' (क्र्या०प०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् णिजन्त 'पोषि' धातु से 'णेश्छन्दसि' (३।२।१३७) से छन्द विषय में 'इष्णुच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'इष्णुच्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। ऐसे ही 'पार कर्मसमाप्तौ' (चु०उ०) धातु से-पारयिष्णुः।

अय्-आदेशः-

(११) ल्यपि लघुपूर्वात्।५६।

प०वि०-ल्यपि ७।१ लघुपूर्वात् ५।१।

स०-लघुः पूर्वो यस्मात् स लघुपूर्वः, तस्मात्-लघुपूर्वात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, णेः, अय् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लघुपूर्वाद् अङ्गस्य णेरार्धधातुके ल्यपि अय्।

अर्थः-लघुपूर्वाद् वर्णाद् उत्तरस्य अङ्गस्य णिच्-प्रत्ययस्य स्थाने आर्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतोऽय्-आदेशो भवति।

उदा०-प्रणमय्य गतः। प्रतमय्य गतः। प्रदमय्य गतः। प्रशमय्य गतः। सन्दमय्य गतः। प्रबेभिदय्य गतः। प्रगणय्य गतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लघुपूर्वात्) लघुपूर्व वर्ण से परे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (णेः) णिच् प्रत्यय के स्थान में (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (अय्) अय्-आदेश होता है।*

*उदा०-**प्रणमय्य गतः।** प्रणाम कराकर गया। **प्रतमय्य गतः।** आकाङ्क्षा कराकर गया। **प्रदमय्य गतः।** प्रदमन कराकर गया। **प्रशमय्य गतः।** प्रशमन कराकर गया। **सन्दमय्य गतः।** सन्दमन कराकर गया। **प्रबेभिदय्य गतः।** अत्यन्त प्रभेद कराकर गया। **प्रगणय्य गतः।** प्रगणन कराकर गया।*

सिद्धि-प्रणमय्य। *प्र+नम्+णिच्। प्र+नम्+इ। प्र+णाम्+इ। प्र+णम्+इ। प्रणमि+क्त्वा। प्रणमि+त्वा। प्रणमि+ल्यप्। प्रणमि+य। प्रणम् अय्+य। प्रणमय्य+सु। प्रणमय्य+०। प्रणमय्य।*

यहां प्रथम प्र-उपसर्गपूर्वक 'णम् प्रह्वत्वे शब्दे च' (भ्वा०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'नम्' धातु की 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० गणसूत्र) से मित्-संज्ञा होकर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'नम्' धातु को उपधावृद्धि और 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से इसे ह्रस्वादेश होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'प्रणमि' धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय और इसे 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'ल्यप्' आदेश होता है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर 'प्रणमि' के लघु अ-वर्ण से उत्तरवर्ती 'णिच्' प्रत्यय को 'अय्' आदेश होता है। 'क्त्वातोसुनकसुनः' (१।१।४०) से अव्यय संज्ञा होकर 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से 'सु' का लुक् होता है।

*(२) **प्रतमय्य।** प्र-उपसर्गपूर्वक 'तमु काङ्क्षायाम्' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्।*

(३) प्रदमय्य। प्र-उपसर्गपूर्वक 'दमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्।

(४) प्रशमय्य। प्र-उपसर्गपूर्वक 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्।

(५) सन्दमय्य। सम्-उपसर्गपूर्वक 'दमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्।

(६) प्रबेभिदय्य। प्र+बेभिद्य+णिच्। प्र+बेभिद्+इ। प्रबेभिदि+क्त्वा। प्रबेभिदि+ल्यप्। प्रबेभिदि+य। प्रबेभिद् अय्+य। प्रबेभिदय्य+सु। प्रबेभिदय्य+०। प्रबेभिदय्य।

यहां प्रथम प्र-उपसर्गपूर्वक 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय है। पुनः यङन्त 'प्रबेभिद्य' धातु से हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'यस्य हलः' (६।४।४८) से 'यङ्' के यकार का लोप होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'प्रबेभिदि' धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और इसका 'ल्यप्' आदेश परे होने पर 'प्रबेभिदि' धातु के लघु-वर्ण इकार से उत्तरवर्ती 'णिच्' प्रत्यय को 'अय्' आदेश होता है।

(७) प्रगणय्य। प्र-उपसर्गपूर्वक 'गण संख्याने' (चु०उ०) धातु से पूर्ववत्।

अयादेश-विकल्पः–

(१२) विभाषाऽऽपः।५७।

प०वि०–विभाषा १।१ आपः ५।१।

अनु०–अङ्गस्य, आर्धधातुके, णेः, अय्, ल्यपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–आपो अङ्गस्य णेरार्धधातुके ल्यपि विभाषा अय्।

अर्थः–आप उत्तरस्याङ्गस्य णिच्-प्रत्ययस्य आर्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतो विकल्पेन अय्-आदेशो भवति।

उदा०–प्रापय्य गतः। प्राप्य गतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आपः) आप् से परे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (णेः) णिच्-प्रत्यय के स्थान में (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (अय्) अय्-आदेश होता है।*

उदा०-प्रापय्य गतः। प्राप्त कराकर गया। प्राप्य गतः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-प्रापय्य। प्र+आप्+णिच्। प्र+आप्+इ। प्रापि+क्त्वा। प्रापि+ल्यप्। प्रापि+य। प्राप् अय्+य। प्रापय्य+सु। प्रापय्य+०। प्रापय्य।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'आप्लृ लम्भने' (चु०उ०) और 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर 'णिच्' के स्थान में 'अय्' आदेश होता है। विकल्प-पक्ष में 'अय्' आदेश नहीं है-प्राप्य। यहां 'णेरनिटि' (६।३।५१) से 'णिच्' का लोप होता है।

दीर्घादेशः-

(१३) युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि।५८।

प०वि०-यु-प्लुवोः ६।२ दीर्घः १।१ छन्दसि ७।१।

स०-युश्च प्लुश्च तौ युप्लुवौ, तयोः-युप्लुवोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, ल्यपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि युप्लुवोरङ्गयोरार्धधातुके ल्यपि दीर्घः।

अर्थः-छन्दसि विषये युप्लुवोरङ्गयोरार्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

उदा०-(युः) दान्त्यनुपूर्वं वियूय (ऋ० १०।१३१।२)। (प्लुः) यत्रापो दक्षिणा परिप्लूय (काठ०सं० २५।३)।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (युप्लुवोः) यु और प्लु (अङ्गस्य) अङ्गों को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।*

उदा०-(यु) दान्त्यनुपूर्वं वियूय (ऋ० १०।१३१।२)। (प्लु) यत्रापो दक्षिणा परिप्लूय (काठ०सं० २५।३)।

सिद्धि-वियूय। वि+यु+क्त्वा। वि+यु+त्वा। वि+यु+ल्यप्। वि+यु+य। वि+यू+य। वियूय+सु। वियूय+०। वियूय।

यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और इसे 'ल्यप्' आदेश है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर 'यु' अङ्ग को दीर्घ आदेश (यू) होता है। ऐसे ही परि-उपसर्गपूर्वक 'प्लुङ् गतौ' (भ्वा०आ०) धातु से-परिप्लूय।

दीर्घादेशः-

(१४) क्षियः।५९।

वि०-क्षियः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, ल्यपि, दीर्घ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुके ल्यपि दीर्घः।

अर्थः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

उदा०-प्रक्षीय गतः।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(क्षियः) क्षि (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

उदा०-प्रक्षीय गतः। प्रक्षीण करके गया।

सिद्धि-प्रक्षीय। प्र+क्षि+क्त्वा। प्र+क्षि+त्वा। प्र+क्षि+ल्यप्। प्र+क्षी+य। प्रक्षीय+सु। प्रक्षीय+०। प्रक्षीय।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) और 'क्षि निवासगत्योः' (स्वा०प०) से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और इसे 'ल्यप्' आदेश है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ आदेश (क्षी) होता है।

दीर्घादेशः-

(१५) निष्ठायामण्यदर्थे।६०।

प०वि०-निष्ठायाम् ७।१ अण्यत्-अर्थे ७।१।

स०-ण्यतोऽर्थ इति ण्यदर्थः, न ण्यदर्थ इति अण्यदर्थः, तस्मिन्-अण्यदर्थे (षष्ठीगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, दीर्घः, क्षिय इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुकेऽण्यदर्थे निष्ठायां दीर्घः।

अर्थः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुके अण्यदर्थे=ण्यदर्थभिन्ने निष्ठा-प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

ण्यदर्थः=भावकर्मणी, ताभ्यामन्यत्र कर्तरि, अधिकरणे च निष्ठायां दीर्घो विधीयते।

उदा०-(कर्तरि) आक्षीणः। प्रक्षीणः। परिक्षीणः। **(अधिकरणे)** प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(क्षियः) क्षि (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (अण्यदर्थे) ण्यत्-प्रत्यय से भिन्न अर्थ में विद्यमान (निष्ठायाम्) निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'ण्यत्' प्रत्यय कृत्य-संज्ञक है और 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (३।४।७०) से कृत्य-संज्ञक प्रत्यय भाव और कर्म अर्थ में होते हैं। यहां अण्यत्-अर्थ का अभिप्राय भाव और कर्म से भिन्न अर्थ का है।

उदा०-(कर्तरि) आक्षीणः। सामने से क्षीण हुआ। प्रक्षीणः। अति क्षीण हुआ। परिक्षीणः। सर्वतः क्षीण हुआ। (अधिकरणे) प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य। यह देवदत्त का प्रकृष्ट निवास-स्थान है।

सिद्धि-(१) आक्षीणः। आङ्+क्षि+क्त। आ+क्षि+त। आ+क्षी+न। आ+क्षी+ण। आक्षीण+सु। आक्षीणः।

यहां आङ्-उपसर्गपूर्वक 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) और 'क्षि निवासगत्योः' (स्वा०प०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है और यह 'गत्यर्थाकर्मक०' (३।४।७२) से अकर्मक 'क्षि' धातु से कर्ता-अर्थ में है। इस सूत्र से 'क्षि' को आर्धधातुक, ण्यत्-अर्थ से भिन्न कर्तृ-अर्थक, निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'क्षियो दीर्घात्' (८।२।४६) से निष्ठा-तकार को नकार और इसे 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से णत्व होता है। ऐसे ही-प्रक्षीणः। परिक्षीणः।

(२) प्रक्षीणम्। यहां प्र-उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'क्षि' धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है और यह 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' (३।४।७६) से अधिकरण-अर्थ में है। इस सूत्र से ध्रौव्यार्थक=अकर्मक 'क्षि' धातु को आर्धधातुक, ण्यत्-अर्थ से भिन्न=अधिकरण-अर्थक, निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है। 'अधिकरणवाचिनश्च' (२।३।६८) से षष्ठीविभक्ति होती-प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य।

दीर्घादेश-विकल्पः—

(१६) वाऽऽक्रोशदैन्ययोः।६१।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, आक्रोश-दैन्ययोः ७।२।

स०-दीनस्य भावः-दैन्यम् (दीनता)। आक्रोशश्च दैन्यं च ते आक्रोशदैन्ये, तयोः-आक्रोशदैन्ययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, दीर्घः, क्षियः, निष्ठायाम्, अण्यदर्थे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुके अण्यदर्थे निष्ठायां वा दीर्घः, आक्रोशदैन्ययोः।

अर्थः-क्षियोऽङ्गस्य आर्धधातुकेऽण्यदर्थे निष्ठा-संज्ञके प्रत्यये परतो विकल्पेन दीर्घो भवति, आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने।

उदा०-(आक्रोशः) त्वं क्षितायुरेधि। त्वं क्षीणायुरेधि। **(दैन्यम्)** क्षितकः। क्षीणकः। क्षितोऽयं तपस्वी। क्षीणोऽयं तपस्वी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(क्षियः) क्षि (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (अण्यदर्थे) ण्यत्-अर्थ से भिन्न (निष्ठायाम्) निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है (आक्रोशदैन्ययोः) यदि वहां आक्रोश=भर्त्सना और दीनता अर्थ की प्रतीति हो।*

उदा०-(आक्रोश) त्वं क्षितायुरेधि। तू क्षीण (अल्प) आयुवाला हो। त्वं क्षीणायुरेधि। अर्थ पूर्ववत् है। (दैन्य) क्षितकः। वह बेचारा दीन है। क्षीणकः। अर्थ पूर्ववत् है। क्षितोऽयं तपस्वी। यह तपस्वी दीन=निर्बल है। क्षीणोऽयं तपस्वी। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) क्षीणः। क्षि+क्त। क्षि+त। क्षी+न। क्षीण+सु। क्षीणः।

यहां 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है और यह 'गत्यर्थाकर्मक०' (३।४।७२) से अकर्मक 'क्षि' धातु से कर्ता अर्थ में है। इस सूत्र से 'क्षि' को आर्धधातुक, ण्यत्-अर्थ से भिन्न, कर्तृ-अर्थक निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय परे होने पर तथा आक्रोश और दैन्य अर्थ की प्रतीति में दीर्घ होता है। 'क्त' प्रत्यय को नकारादेश और णत्व पूर्ववत् है।

(२) क्षितः। यहां पूर्वोक्त 'क्षि' धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय है। विकल्प-पक्ष में 'क्षि' धातु को दीर्घ नहीं है।

(३) क्षीणकः। क्षीण+क। क्षीणक+सु। क्षीणकः।

यहां 'क्षीण' शब्द से अनुकम्पा=करुणा अर्थ में 'अनुकम्पायाम्' (५।३।७६) से 'क' प्रत्यय है और यह दीनता अर्थ का द्योतक है। ऐसे ही 'क्षि' शब्द से-क्षितकः।

चिण्वद्भाव-विकल्पः-

(१७) स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झन-ग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च।६२।

प०वि०-स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु ७।३ भाव-कर्मणोः ७।२ उपदेशे ७।१ अच्-हन-ग्रह-दृशाम् ६।३ वा अव्ययपदम्, चिण्वत् अव्ययपदम्, इट् १।१ च अव्ययपदम्।

स०-स्यश्च सिच् च सीयुट् च तासिश्च ते स्यसिच्सीयुट्तासयः, तेषु-स्यसिच्सीयुट्तासिषु (इतरयोगद्वन्द्वः)। भावश्च कर्म च ते भावकर्मणी, तयोः-भावकर्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अच् च हनश्च ग्रहश्च दृश् च ते अज्झनग्रहदृशः, तेषाम्-अज्झनग्रहदृशाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

तद्धितवृत्तिः-चिणीव इति चिण्वत्, **'तत्र तस्येव'** (५।१।११५) इति सप्तमीसमर्थाद् वतिः प्रत्ययः।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपदेशेऽज्झनग्रहदृशाम् अङ्गानाम् भावकर्मणोरार्धधातुकेषु स्यसिच्सीयुट्तासिषु वा चिण्वद्, इट् च।

अर्थः-उपदेशेऽजन्तानां हनग्रहदृशां चाङ्गानां भावकर्मविषयकेषु आर्धधातुकेषु स्यसिच्सीयुट्तासिषु प्रत्ययेषु परतो विकल्पेन चिण्वत् कार्यं भवति, इट् चागमो भवति। यदा चिण्वत् कार्यं तदा स्यसिच्सीयुट्-तासीनामिडागमो भवति। **उदाहरणम्**-

(१) (स्यः) अजन्ताः-(चि) **चायिष्यते, चेष्यते।** चयन किया जायेगा। **अचायिष्यत, अचेष्यत।** यदि चयन किया जाता। (दा) **दायिष्यते, दास्यते।** दान किया जायेगा। **अदायिष्यत, अदास्यत।** यदि दान किया जाता। (शमिः) **शामिष्यते, शमिष्यते।** उपशान्त कराया जायेगा। **अशामिष्यत, अशमिष्यत, अशमयिष्यत।** यदि उपशान्त कराया जाता। (हन्) **घानिष्यते, हनिष्यते।** हनन किया जायेगा। **अघानिष्यत, अहनिष्यत।** यदि हनन किया जाता। (ग्रह) **ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते।** ग्रहण किया जायेगा। **अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत।** यदि ग्रहण किया जाता। (दृश्) **दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते।** देखा जायेगा। **अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत।** यदि देखा जाता।

(२) (सिच्) अजन्ताः-(चि)- **अचायिषाताम्, अचेषाताम्।** उन दोनों का चयन किया गया। (दा) **अदायिषाताम्, अदिषाताम्।** उन दोनों का दान किया गया। (शमि) **अशामिषाताम्, अशमिषाताम्, अशमयिषाताम्।** उन दोनों को उपशान्त कराया गया। (हन्) **अघानिषाताम्, अवधिषाताम्, अहसाताम्।** उन दोनों का हनन किया गया। (ग्रह) **अग्राहिषाताम्, अग्रहीषताम्।** उन दोनों का ग्रहण किया गया। (दृश्) **अदर्शिषाताम्, अदृक्षाताम्।** उन दोनों को देखा गया।

(३) (सीयुट्) अजन्ताः-(चि)-**चायिषीष्ट, चेषीष्ट।** चयन किया जाये। (दा) **दायिषीष्ट, दासीष्ट।** दान किया जाये। (शमि) **शामिशिष्ट, शमिषीष्ट, शमयिसीष्ट।** उपशान्त कराया जाये। (हन्) **घानिषीष्ट, वधिषीष्ट।** हनन किया जाये। (ग्रह) **ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट।** ग्रहण किया जाये। (दृश्) **दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट।** देखा जाये।

(४) (तासि:) अजन्ता:-(चि)-चायिता, चेता। वह चयन करेगा। **(दा) दायिता, दाता।** वह दान करेगा। **(शमि) शामिता, शमिता, शमयिता।** वह उपशान्त करायेगा। **(हन्) घानिता, हन्ता।** वह हनन करेगा। **(ग्रह) ग्राहिता, ग्रहीता।** वह ग्रहण करेगा। **(दृश्) दर्शिता, द्रष्टा।** वह देखेगा।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अज्झनग्रहदृशाम्) अजन्त और हन, ग्रह, दृश् (अङ्गस्य) अंगों को (भावकर्मणोः) भाव और कर्म अर्थ में (आर्धधातुके) आर्धधातुक (स्यसिच्सीयुट्तासिषु) स्य, सिच्, सीयुट्, तासि प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (चिण्वत्) चिण्-प्रत्यय के समान कार्य होता है (च) और (इट्) इट् आगम होता है तभी स्य, सिच्, सीयुट् और तासि प्रत्ययों को 'इट्' आगम होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में लिखा है।

सिद्धि-(१) चायिष्यते। *चि+लृट्। चि+ल्। चि+स्य+त। चि+इट्+स्य+त। चै+इ+स्य+त। चाय्+इ+ष्य+ते। चायिष्यते।*

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) इस अजन्त (इ) धातु से 'लृट् शेषे च' (३।३।१३) से कर्मवाच्य में 'लृट्' प्रत्यय और 'स्यतासी लृलुटोः' (३।१।३३) से 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को चिण्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अङ्ग (चि) को वृद्धि होती है और 'स्य' प्रत्यय को 'इट्' आगम होता है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद् भाव नहीं है-चेष्यते।

(२) अचायिष्यत। *चि+लृङ्। अट्+चि+ल्। अ+चि+स्य+त। अ+चि+इट्+स्य+त। अ+चै+इ+स्य+त। अ+चाय्+इ+ष्य+त। अचायिष्यत।*

यहां पूर्वोक्त 'चि' धातु से 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) से कर्मवाच्य में 'लृङ्' प्रत्यय है। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से 'अट्' आगम होता है। पूर्ववत् 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। शेष चिण्वद्भाव और 'इट्' आगम पूर्ववत् है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद् भाव नहीं है-अचेष्यत।

(३) दायिष्यते। *दा+लृट्। दा+ल्। दा+स्य+त। दा+इट्+स्य+त। दा+युक्+इ+स्य+त। दा+य्+इ+ष्य+ते। दायिष्यते।*

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) इस अजन्त धातु से पूर्ववत् कर्मवाच्य में 'लृट्' प्रत्यय और 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को चिण्वत् होने से 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) से अङ्ग (दा) को 'युक्' आगम होता है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-दास्यते।

(४) **अदायिष्यत।** यहां पूर्वोक्त अजन्त 'दा' धातु से पूर्ववत् कर्मवाच्य में 'लृङ्' और 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। चिण्वद्भाव कार्य पूर्ववत् है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं होता है-**अदास्यत।**

(५) **शामिष्यते।** शम्+णिच्। शम्+इ। शाम्+इ+शामि। शामि।। शमि+लृट्। शमि+ल्। शमि+स्य+त। शमि+इट्+स्य+त। शम्०+इ+ष्य+ते। शाम्+इ+ष्य+ते। शामिष्यते।

यहां प्रथम 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से अङ्ग (शम्) को उपधावृद्धि होती है। 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० गणसूत्र) से 'शम्' धातु की मित्-संज्ञा है अतः 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से इसे ह्रस्व होता है-शमि। 'सनाद्यन्ता धातवः' (३।१।३२) से इस णिजन्त 'शमि' की धातु संज्ञा है, अतः यह उपदेश अवस्था में अजन्त है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को चिण्वद्भाव और 'इट्' आगम होता है। इस 'इट्' आगम के 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से असिद्ध प्रकरण में होने से यह 'णेरनिटि' (६।४।५१) से णि-लोप करते समय असिद्ध रहता है। 'स्य' प्रत्यय के 'चिण्वत्' होने से अचो ञ्णिति' (७।२।११६) से अङ्ग (शम्) को उपधावृद्धि होती है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-**शमिष्यते।** णिजन्त अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होकर-**शमयिष्यते।** ऐसे ही 'लृङ्' लकार में-**अशामिष्यत, अशमिष्यत, अशमयिष्यत।**

(६) **घानिष्यते।** हन्+लृट्। हन्+लृ। हन्+स्य+त। हन्+इट्+स्य+त। हान्+इ+स्य+त। घान्+इ+ष्य+ते। घानिष्यते।

यहां 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लृट्' प्रत्यय और 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को चिण्वत् होने से अङ्ग (हन्) को 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है तथा 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (७।३।५४) से 'हन्' के हकार को कुत्व घकार होता है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-**हनिष्यते।** ऐसे ही लृङ् लकार में-**अघानिष्यत, अहनिष्यत।**

(७) **ग्राहिष्यते।** यहां 'ग्रह उपादाने' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् 'लृट्' प्रत्यय और 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को चिण्वत् होने से अङ्ग (ग्रह) को पूर्ववत् उपधावृद्धि होती है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-**ग्रहीष्यते।** यहां 'ग्रहोऽलिटिदीर्घः' (७।२।३७) से 'इट्' को दीर्घ (ई) होता है। ऐसे ही 'लृङ्' लकार में-**अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत।**

(८) **दर्शिष्यते।** यहां 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लृट्' प्रत्यय और 'स्य' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्य' प्रत्यय को 'चिण्वत्' होने से अङ्ग (दृश्) को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से गुण तथा 'स्य' को 'इट्' आगम होता है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-**द्रक्ष्यते।** ऐसे ही लृङ्लकार में-**अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत।**

(९) अचायिषाताम्। चि+लुङ्। अट्+चि+च्लि+ल्। अ+चि+सिच्+आताम्। अ+चि+इट्+स्+आताम्। अ+चै+इ+ष्+आताम्। अ+चाय्+इष्+आताम्। अचायिषाताम्।

यहां पूर्वोक्त 'चि' धातु से 'लुङ्' (३।३।११०) से कर्मवाच्य में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से 'अट्' आगम, 'च्लि लुङि' (३।१।४१) से 'च्लि' प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' (३।१।४२) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होता है। इस सूत्र से 'सिच्' प्रत्यय के चिण्वत् होने से अङ्ग (चि) को 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि होती है तथा 'सिच्' को 'इट्' आगम होता है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-अचेषाताम्।

ऐसे ही 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से-अदायिषाताम्। 'अदिषाताम्' यहां 'स्थाघ्वोरिच्च' 'दा' को इत्त्व होता है। णिजन्त 'शमि' धातु से-अशामिषाताम्, अशमिषाताम्, अशमयिषाताम्। 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से-अघानिषाताम्। 'अवधिषाताम्' यहां 'लुङि च' (२।४।४३) से 'हन्' के स्थान में 'वध' आदेश होता है। 'अहसाताम्' यहां 'हनः सिच्' (१।२।१४) से 'सिच्' को कित्त्व और 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से 'हन्' के अनुनासिक (न्) का लोप होता है। 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से-अदर्शिषाताम्, अद्रक्षाताम्।

(१०) चायिषीष्ट। चि+लिङ्। चि+सीयुट्+ल्। चि+सीय्+त। चि+सीय्+सुट्+त। चि+इट्+सी०+स्+त। चै+इ+सी+ष्+ट। चाय्+इ+षी+ष्+ट। चायिषीष्ट।

यहां पूर्वोक्त 'चि' धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' (३।३।१६१) से कर्मवाच्य में 'लिङ्' प्रत्यय है। 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) से 'सीयुट्' और 'सुट् तिथोः' (३।४।१०७) से 'सुट्' आगम है। इस सूत्र से 'सीयुट्' को चिण्वत् होने से 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अङ्ग (चि) को वृद्धि होती है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-चेषीष्ट।

ऐसे ही-'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से-दायिषीष्ट, दासीष्ट। णिजन्त 'शमि' धातु से-शामियिषीष्ट, शमिषीष्ट, शमयिषीष्ट। 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से-घानिषीष्ट, यहां पूर्ववत् हकार कुत्व घकार होता है। वधिषीष्ट, यहां पूर्ववत् 'हन्' को 'वध' आदेश होता है। 'ग्रह उपादाने' (क्र्या०प०) धातु से-ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट। यहां 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३८) से 'इट्' को दीर्घ होता है। 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से-दर्शिषीष्ट, द्रक्षीष्ट।

(११) चायिता। चि+लुट्। चि+ल्। चि+त। चि+तासि+त। चि+तास्+डा। चि+इट्+तास्+आ। चि+इ+त्०+आ। चै+इ+त्+आ। चाय्+इ+त्+आ। चायिता।

यहां पूर्वोक्त 'चि' धातु से 'अनद्यतने लुट्' (३।३।१५) से कर्मवाच्य में 'लुट्' प्रत्यय है। 'स्यतासी लृलुटोः' (३।१।३३) से तासि विकरण-प्रत्यय होता है। 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' (२।४।८५) से 'त' के स्थान में 'डा' आदेश होता है। इस सूत्र से

'तास्' प्रत्यय के चिण्वत् होने से अङ्ग (चि) को 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि होती है। विकल्प-पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं है-चेता।

ऐसे ही-'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से-दायिता, दाता। णिजन्त 'शमि' धातु से-शामिता, शमिता, शमयिता। 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से-घातिता, यहां पूर्ववत् 'हन्' धातु के हकार को कुत्व घकार होता है-हन्ता। 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से-दर्शिता, द्रष्टा।

यहां चिण्वद्भाव विधान के निम्नलिखित प्रयोजन है-

चिण्वद्वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वम्,
दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिनिः,
नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती।।

अर्थः-चिण्वद्भाव होने से स्य आदि प्रत्यय परे होने पर 'चि' आदि अजन्त धातुओं को वृद्धि होती है। 'दा' आदि आकारान्त धातुओं को 'युक्' आगम होता है। 'हन्' धातु को कुत्व घकार होता है। 'शम्' आदि मित्-संज्ञक धातुओं को विकल्प से दीर्घ होता है। चिण्वद्भाव के साथ विहित 'इट्' प्रत्यय 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से असिद्ध हो जाता है। अतः इसके असिद्ध होने से 'शमिष्यते' आदि में मेरा णि-लोप सिद्ध हो जाता है। यह इट्-आगम नित्य है, अतः यहां 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से विहित वल्-निमित्तक इट्-आगम विघाती अर्थात् निमित्ताभाव से प्रवृत्त नहीं होता है।

युट्-आगमः-

(१८) दीङो युडचि क्ङिति।६३।

प०वि०-दीङः ५।१ युट् १।१ अचि ७।१ क्ङिति ७।१।

स०-कश्च ङश्च तौ क्ङौ, क्ङावितौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्-क्ङिति (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दीङोऽङ्गाद् आर्धधातुकेऽचि क्ङिति युट्।

अर्थः-दीङोऽङ्गाद् उत्तरस्माद् आर्धधातुके अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतस्तस्य युडागमो भवति।

उदा०-स उपदिदीये। तौ उपदिदीयाते। ते उपदिदीयिरे।

आर्यभाषाः अर्थ-(दीङः) दीङ् (अङ्गात्) अङ्ग से उत्तर (अचि) अजादि (क्ङिति) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर उसे (युट्) युट् आगम होता है।

उदा०-**स उपदिदीये।** वह उपक्षीण हुआ। **तौ उपदिदीयाते।** वे दोनों उपक्षीण हुये। **ते उपदिदीयिरे।** वे सब उपक्षीण हुये।

सिद्धि-उपदिदीये। उप+दीङ्+लिट्। उप+दी+ल्। उप+दी+त। उप+दी+एश्। उप+दी+युट्+ए। उप+दी-दी-य्+ए। उप+दि+दी+य्+ए। उपदिदीये।

यहां उप-उपसर्गपूर्वक 'दीङ् क्षये' (दि०आ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से भूतकाल अर्थ में 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटस्तझयोरशिरेच्' (३।४।८१) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश होता है। इस सूत्र से अजादि, कित् 'एश्' प्रत्यय को 'युट्' आगम होता है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से अजादि 'एश्' प्रत्यय कित् है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (१।४।४६) से 'युट्' आगम प्रत्यय के आदि में होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'दीङ्' धातु को द्वित्व और 'ह्रस्वः' (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व आदेश (हि) होता है। ऐसे ही-उपदिदीयते, उपदिदीयिरे।

लोपादेशः-

(१६) आतो लोप इटि च।६४।

प०वि०-आतः ६।१ लोपः ५।१ इटि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, अचि, क्ङिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आतोऽङ्गस्य इटि अचि आर्धधातुके क्ङिति च लोपः।

अर्थः-आकारान्तस्य अङ्गस्य इटि अजादावार्धधातुके क्ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-इटि-त्वं पपिथ। त्वं तस्थिथ। **किति-**तौ पपतुः। ते पपुः। तौ तस्थतुः। ते तस्थुः। गोदः। कम्बलदः। **ङिति-**प्रदा। प्रधा।

आर्यभाषाः अर्थ-(आतः) आकारान्त (अङ्गस्य) अङ्ग को (इटि) इट् (अचि) अजादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक (च) और अजादि (क्ङिति) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोप) लोपादेश होता है।

उदा०-(इट्) **त्वं पपिथ।** तूने पान किया। **त्वं तस्थिथ।** तू ठहरा। (कित्) **तौ पपतुः।** उन दोनों ने पान किया। **ते पपुः।** उन सबने पान किया। **तौ तस्थतुः।** वे दोनों ठहरे। **ते तस्थुः।** वे सब ठहरे। **गोदः।** गोदान करनेवाला। **कम्बलदः।** कम्बल-दान करनेवाला। (ङित्) **प्रदा।** प्रदान करना। **प्रधा।** प्रधारण और प्रपोषण करना।

सिद्धि-(१) पपिथ। पा+लिट्। पा+ल्। पा+थस्। पा+थल्। पा+इट्+थ। पा+इ+थ। प्+इ+थ। पा-पा+इ+थ। प-प्+इ+थ। पपिथ।

यहां 'पा पाने' (भ्वा०प०) अथवा 'पा रक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'थस्' के स्थान में 'थल्' आदेश होता है। 'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३) के नियम से 'थल्' को 'इट्' आगम होता है। इस सूत्र से इट्-अजादि 'थल्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (पा) के आकार का लोप होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से द्विर्वचन करते समय इस लोपादेश को स्थानिवत् मानकर 'पा' को द्वित्व होता है। ऐसे ही 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से-तस्थिथ।

(२) पपतुः। पा+लिट्। पा+ल्। पा+तस्। पा+अतुस्। प्+अतुस्। पा-पा+अतुस्। प-प्+अतुस्। पपतुः।

यहां पूर्वोक्त 'पा' धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय और इसके स्थान में 'तस्' और इसके भी स्थान में 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'अतुस्' आदेश है। अजादि, कित् 'अतुस्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (पा) के आकार का लोप होता है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'अतुस्' प्रत्यय किद्वत् है।

ऐसे ही 'झि' (उस्) प्रत्यय करने पर-पपुः। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से-तस्थतुः, तस्थुः।

(३) गोदः। गो+दा+क। गो+दा+अ। गो+द्+अ। गोद+सु। गोदः।

यहां 'गो' कर्म-उपपद 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) से 'क' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक, अजादि, कित् 'क' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (दा) के आकार का लोप होता है। ऐसे ही-कम्बलदः।

(४) प्रदा। प्र+दा+अङ्। प्र+दा+अ। प्र+द्+अ। प्रद+टाप्। प्रद+आ। प्रदा+सु। प्रदा+०। प्रदा।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०६) से स्त्रीलिङ्ग में 'अङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक, अजादि ङित् 'अङ्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (दा) के आकार का लोप होता है। पुनः स्त्रीत्व-विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से-प्रधा।

ईद्-आदेशः—

(२०) ईद् यति।६५।

प०वि०-ईत् १।१ यति ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, आत इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आतोऽङ्गस्य आर्धधातुके यति ईत्।

अर्थः-आकारान्तस्याङ्गस्य आर्धधातुके यति प्रत्यये परत ईकारादेशो भवति।

उदा०-देयम्। धेयम्। हेयम्। स्थेयम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आतः) आकारान्त (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (यति) यत् प्रत्यय परे होने पर (ईत्) ईकार आदेश होता है।*

*उदा०-**देयम्।** देना चाहिये। **धेयम्।** धारण-पोषण करना चाहिये। **हेयम्।** त्याग करना चाहिये। **स्थेयम्।** ठहरना चाहिये।*

*सिद्धि-**देयम्।** दा+यत्। दा+य। द ई+य। द् ए+य। देय+सु। देयम्।*

*यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से **'अचो यत्'** (३।१।९७) से 'यत्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आकारान्त अङ्ग (दा) के अन्त्य आकार को आर्धधातुक 'यत्' प्रत्यय परे होने पर ईकार आदेश होता है। पुनः इसे **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से गुण (ए) हो जाता है।*

*ऐसे ही-'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (७।३।८४) धातु से-**धेयम्।** 'ओहाक् त्यागे' (जु०प०) धातु से-**हेयम्।** 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से-**स्थेयम्।***

ईद्-आदेशः-

(२१) घुमास्थागापाजहातिसां हलि।६६।

प०वि०-घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम् ६।१ हलि ६।१।

स०-घुश्च माश्च स्थाश्च गाश्च पाश्च जहातिश्च साश्च ते घुमास्थागापाजहातिसाः, तेषाम्-घुमास्थागापाजहातिसाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, क्ङिति, ईत् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-घुमास्थागापाजहातिसाम् अङ्गानाम् आर्धधातुके हलि क्ङिति ईत्।

अर्थः-घु-संज्ञकानां स्थागापाजहातिसां चाङ्गानाम् आर्धधातुके हलादौ क्ङिति प्रत्यये परत ईकारादेशो भवति।

उदा०-(घुः) दीयते, देदीयते। धीयते, देधीयते। **(माः)** मीयते, मेमीयते। **(स्थाः)** स्थीयते, तेष्ठीयते। **(गाः)** गीयते, जेगीयते। अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्। **(पाः)** पीयते, पेपीयते। **(जहातिः)** हीयते, जेहीयते। **(साः)** अवसीयते, अवसेसीयते।

आर्यभाषाः अर्थ-(घुमास्थागापाजहातिसाम्) घु-संज्ञक और मा, स्था, गा, पा, जहाति (हा) और सा (अङ्गस्य) अङ्गों को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (हलि) हलादि (क्ङिति) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर (ईत्) ईकार आदेश होता है।

उदा०-(घु) **दीयते।** दान किया जाता है। **देदीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक दान करता है। **धीयते।** धारण-पोषण किया जाता है। **देधीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक धारण-पोषण करता है। (मा) **मीयते।** नापा जाता है। **मेमीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक नापता है। (स्था) **स्थीयते।** ठहरा जाता है। **तेष्ठीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक ठहरता है। (गा) **गीयते।** स्तुति की जाती है। **जेगीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक स्तुति करता है। **अध्यगीष्ट।** उसने अध्ययन किया। **अध्यगीषाताम्।** उन दोनों ने अध्ययन किया। (पा) **पीयते।** पीया जाता है। **पेपीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक पीता है। (जहाति) **हीयते।** त्याग किया जाता है। **जेहीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक त्याग करता है। (सा) **अवसीयते।** समाप्त किया जाता है। **अवसेसीयते।** वह पुनः-पुनः/अधिक समाप्त करता है।

सिद्धि-(१) दीयते। दा+लट्। दा+ल्। दा+त। दा+यक्+त। दा+य+त। द् ई+य+ते। दीयते।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०प०) घु-संज्ञक धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से कर्मवाच्य में 'लट्' प्रत्यय है। **'दाधा घ्वदाप्'** (१।१।२०) से 'दा' धातु की 'घु' संज्ञा है। **'सार्वधातुके यक्'** (३।१।६७) से 'यक्' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक, हलादि, कित् 'यक्' प्रत्यय परे होने पर घु-संज्ञक 'दा' धातु के अन्त्य आकार को ईकार आदेश होता है।

ऐसे ही- 'डुधाञ् धारण-पोषणयोः' (जु०उ०) घु-संज्ञक धातु से-धीयते। 'मा माने' (अदा०प०) धातु से-मीयते। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से-स्थीयते। 'गा स्तुतौ' (जु०प०) धातु से-गीयते। ओहाक् त्यागे {हा} (जु०प०) धातु से-हीयते। षोऽन्तकर्मणि {सा} (दि०प०) धातु से-अवसीयते।

(२) देदीयते। दा+यङ्। दा+य। द्ई+य। दीय्-दीय। दी-दीय। दिदीय। देदीय।। देदीय+लट्=देदीयते।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) घु-संज्ञक धातु से **'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्'** (३।१।२२) से 'यङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से आर्धधातुक, हलादि, ङित् 'यङ्' प्रत्यय परे होने पर 'दा' धातु के अन्त्य आकार को ईकार आदेश होता है। **'ह्रस्वः'** (७।३।५९) से अभ्यास को ह्रस्वादेश (दि) और **'गुणो यङ्लुकोः'** (७।४।८२) से इगन्त अभ्यास को गुण (ए) होता है।

ऐसे ही उपरिलिखित धातुओं से 'देधीयते' आदि प्रयोग सिद्ध करें।

(३) अध्यगीष्ट। अधि+इङ्+लुङ्। अधि+गाङ्+ल्। अधि+अट्+गा+च्लि+ल्। अधि+अ+गा+सिच्+त। अधि+अ+ग् ई+स्+त। अधि+अ+गी+ष्+ट। अध्यगीष्ट।

यहां नित्य-अधिपूर्वक 'इङ् अध्ययने' (अदा०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय है। 'विभाषा लुङ्लृङोः' (२।४।५०) से 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश होता है। इस सूत्र से आर्धधातुक, हलादि, ङित् 'सिच्' प्रत्यय परे होने पर 'गा' के अन्त्य आकार को ईकार आदेश होता है। 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (२।१।१) से 'गाङ्' से परे 'सिच्' प्रत्यय ङिद्वत् होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से तकार को टवर्ग टकार होता है।

विशेष- 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इस परिभाषा से 'इङ्' के स्थान में विहित 'गाङ्' आदेश का भी ग्रहण किया जाता है। इस परिभाषा से 'माङ् माने शब्दे च' (जु०आ०) 'मा माने' (अदा०प०)। 'गाङ् गतौ' (भ्वा०आ०)। 'गै शब्दे' (भ्वा०प०)। 'गा स्तुतौ' (जु०प०)। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) से 'इण्' के स्थान में विहित 'गा' आदेश का सामान्य रूप से ग्रहण किया जाता है।

ए-आदेशः–

(२२) एर्लिङि।६७।

प०वि०-एः १।१ लिङि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, घुमास्थागापाजहातिसाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-घुमास्थागापाजहातिसाम् अङ्गानाम् आर्धधातुके लिङि एः।

अर्थः-घु-संज्ञकानां मास्थागापाजहातिसां चाङ्गनाम् आर्धधातुके लिङि प्रत्यये परत एकारादेशो भवति।

उदा०-(घुः) देयात्। (माः) मेयात्। (स्थाः) स्थेयात्। (गाः) गेयात्। (पाः) पेयात्। (जहातिः) {हा}-हेयात्। (सा) अवसेयात्।

आर्यभाषाः अर्थ-(घुमास्थागापाजहातिसाम्) घु-संज्ञक और मा, स्था, गा, पा, जहाति {हा} तथा सा (अङ्गस्य) अङ्गों को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (लिङि) लिङ् प्रत्यय परे होने पर (एः) एकारादेश होता है।

उदा०-(घु) देयात्। वह दान करे। (मा) मेयात्। वह नाप-तौल करे। (स्था) स्थेयात्। वह ठहरे। (गा) गेयात्। वह गान करे। (पा) पेयात्। वह पान करे। (जहाति) {हा}-हेयात्। वह त्याग करे। (सा) अवसेयात्। वह विराम करे।

सिद्धि-देयात्। दा+लिङ्। दा+ल्। दा+तिप्। दा+यासुट्+ति। दा+यास्+त्। द् ए+या०+त्। देयात्।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) इस घु-सञ्ज्ञक धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' (३।३।१७३) से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' प्रत्यय है। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३।४।१०३) से 'यासुट्' आगम होता है। 'लिङाशिषि' (३।४।११६) से आशीर्लिङ् आर्धधातुक है और 'किदाशिषि' (३।४।१०४) से यह कित् भी है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'लिङ्' प्रत्यय परे होने पर 'दा' धातु के अन्त्य आकार के स्थान में एकार आदेश होता है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'यास्' के सकार का लोप होता है। ऐसे ही 'मा माने' (अदा०प०) आदि धातुओं से- 'मेयात्' आदि पद सिद्ध होते हैं।

एकारादेश-विकल्पः–

(२३) वाऽन्यस्य संयोगादेः।६८।

प०वि०–वा अव्ययपदम्, अन्यस्य ६।१ संयोगादेः ६।१।

स०–संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्य-संयोगादेः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अङ्गस्य, आर्धधातुके, घुमास्थागापाजहातिसाम्, एः, लिङि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–घुमास्थागापाजहातिसाभ्योऽन्यस्य संयोगादेरङ्गस्य आर्धधातुके लिङि वा एः।

अर्थः–घु-संज्ञकेभ्यो मास्थागापाजहातिसाभ्यश्चान्यस्य संयोगादेरङ्गस्य आर्धधातुके लिङि प्रत्यये परतो विकल्पेन एकारादेशो भवति।

उदा०–स ग्लेयात्, ग्लायात्। स म्लेयात्, म्लायात्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(घुमास्थागापाजहातिसाम्) घु-संज्ञक और मा, स्था, गा, पा, जहाति और सा धातुओं से (अन्यस्य) भिन्न (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (लिङि) लिङ् प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (एः) एकारादेश होता है।*

उदा०–स ग्लेयात्, ग्लायात्। वह ग्लानि करे। स म्लेयात्, म्लायात्। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-ग्लेयात्। ग्ला+लिङ्। ग्ला+ल्। ग्ला+तिप्। ग्ला+यासुट्+ति। ग्ला+यास्+त। ग्लए+या०+त्। ग्लेयात्।

यहां 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) धातु से 'आशिषि लिङ्लोटौ' (३।३।१७३) से आशीर्वाद अर्थ में 'लिङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से पूर्वोक्त घु-संज्ञक आदि धातुओं से भिन्न संयोगादि 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) धातु के अन्त्य आकार को आर्धधातुक 'लिङ्' प्रत्यय परे होने पर एकारादेश होता है। शेष कार्य 'देयात्' (६।४।६७) के समान है। ऐसे ही 'म्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) धातु से-म्लेयात्।

ईकारादेश-प्रतिषेधः—

(२४) न ल्यपि।६६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, ल्यपि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, घुमास्थागापाजहातिसाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-घुमास्थागापाजहातिसाम् अङ्गानाम् आर्धधातुके ल्यपि यदुक्तं तन्न।

अर्थः-घु-संज्ञकानां मास्थागापाजहातिसाम् अङ्गानाम् आर्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतो यदुक्तं तन्न भवति, ईकारादेशो न भवतीत्यभिप्रायः।

उदा०-(घुः) प्रदाय, प्रधाय। (**माः**) प्रमाय। (**स्थाः**) प्रस्थाय। (**गाः**) प्रगाय। (**पाः**) प्रपाय। (**जहातिः**) {हा} प्रहाय। (**साः**) अवसाय।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(घुमास्थागापाजहातिसाम्) घु-संज्ञक और मा, स्था, गा, पा, जहाति {हा} तथा सा इन धातुओं से (अन्यस्य) भिन्न (संयोगादेः) संयोग जिसके आदि में है उस (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (न) जो पूर्व-कार्य कहा है वह नहीं होता, अर्थात् ईकारादेश नहीं होता है।*

*उदा०-(घु) **प्रदाय**। प्रदान करके। **प्रधाय**। प्रकृष्ट धारण-पोषण करके। (मा) **प्रमाय**। नाप-तौल करके। (स्था) **प्रस्थाय**। प्रस्थान करके। (गा) **प्रगाय**। प्रशंसा करके। (पा) **प्रपाय**। प्रकृष्ट पान करके। (जहाति) {हा} **प्रहाय**। परित्याग करके। (सा) **अवसाय**। विराम करके।*

*सिद्धि-**प्रदाय**। प्र+दाय+क्त्वा। प्र+दा+त्वा। प्र+दा+ल्यप्। प्र+दा+य। प्रदाय+सु। प्रदाय+०। प्रदाय।*

*यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'डुदाञ् दाने' (जु०प०) घु-संज्ञक धातु से **'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'** (३।४।३५) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) से प्रादितत्पुरुष समास है। **'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'** (७।१।३७) से 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश है। इस सूत्र से **'घुमास्थागापाजहातिसां हलि'** (६।४।६६) से विहित ईकार आदेश का प्रतिषेध किय गया है। **'क्त्वातोसुन्कसुनः'** (१।१।४०) से अव्यय-संज्ञा और **'अव्ययादाप्सुपः'** (२।४।८२) से 'सु' का लुक् होता है।*

*ऐसे ही-'डुधाञ् धारण-पोषणयोः' (जु०उ०) आदि पूर्वोक्त धातुओं से **'प्रधाय'** आदि पद सिद्ध करें।*

इकारादेश-विकल्पः-

(२५) मयतेरिदन्यतरस्याम् ।७०।

प०वि०-मयतेः ६ ।१ इत् १ ।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, आर्धधातुके, ल्यपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मयतेरङ्गस्य आर्धधातुके ल्यपि अन्यतरस्याम् इत्।

अर्थः-मयतेरङ्गस्य आर्धधातुके ल्यपि प्रत्यये परतो विकल्पेन इकारादेशो भवति।

उदा०-(मा) अपमित्य, अपमाय।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मयतेः) मा (अङ्गस्य) अङ्ग को (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ल्यपि) ल्यप् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (इत्) इकारादेश होता है।*

उदा०-(मा) अपमित्य, अपमाय। विनिमय (बदला) करके।

सिद्धि-अपमित्य। अप+मा+क्त्वा। अप+मा+त्वा। अप+मा+ल्यप्। अप+म् इ+य। अप+मितुक्+य। अप+मित्+य। अपमित्य+सु। अपमित्य+०। अपमित्य।

यहां अप-उपसर्गपूर्वक 'मेङ् प्रणिदाने' (भ्वा०आ०) धातु से 'उदीचां माङो व्यतीहारे' (३।४।१९) से 'क्त्वा' प्रत्यय है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश है। इस सूत्र से आर्धधातुक 'ल्यप्' प्रत्यय परे होने पर 'मा' अङ्ग को इकारादेश होता है। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७०) से 'तुक्' आगम है। विकल्प-पक्ष में इकारादेश नहीं है-अपमाय।

।। इति आर्धधातुकप्रकरणम्।।

आगमप्रकरणम्

अट्-आगमः-

(१) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ।७१।

प०वि०-लुङ्-लङ्-लृङ्क्षु ७।३ अट् १।१ उदात्तः १।१।

स०-लुङ् च लङ् च लृङ् च ते लुङ्लङ्लृङः, तेषु-लुङ्लङ्लृङ्क्षु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु अङ्गस्य अट्, उदात्तः।

अर्थः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु प्रत्ययेषु परतोऽङ्गस्य अडागमो भवति, स चोदात्तो भवति।

उदा०-(लुङ्) अकार्षीत्, अहार्षीत्। (लङ्) अकरोत्, अहरत्। (लृङ्) अकरिष्यत्, अहरिष्यत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लुङ्लङ्लृङ्क्षु) लुङ्, लङ् और लृङ् प्रत्यय परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग को (अट्) अट् आगम होता है (उदात्तः) और वह उदात्त होता है।*

उदा०-(लुङ्) अकार्षीत्। उसने किया। अहार्षीत्। उसने हरण किया। (लङ्) अकरोत्। उसने किया। अहरत्। उसने हरण किया। (लृङ्) अकरिष्यत्। यदि वह करता। अहरिष्यत्। यदि वह हरण करता।

सिद्धि-(१) अकार्षीत्। कृ+लुङ्। अट्+कृ+ल्। अ+कृ+च्लि+ल्। अ+कृ+सिच्+तिप्। अ+कृ+स्+ति। अ+कार्+स्+त्। अ+कार्+स्+ईट्+त्। अ+कार्+ष्+ई+त्। अकार्षीत्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से सामान्य भूतकाल अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (कृ) को उदात्त अट्-आगम होता है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) से वृद्धि, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) से 'ईट्' आगम और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-अहार्षीत्।

(२) अकरोत्। कृ+लङ्। अट्+कृ+ल्। अ+कृ+तिप्। अ+कृ+उ+ति। अ+कर्+उ+त्। अ+कर्+ओ+त्। अकरोत्।

यहां पूर्वोक्त 'कृ' धातु से 'अनद्यतने लङ्' (२।१।१११) से अनद्यतन भूतकाल अर्थ में 'लङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लङ्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (कृ) को उदात्त 'अट्' आगम होता है। 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण-प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'कृ' और 'उ' दोनों अङ्गों को गुण होता है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-अहरत्।

(३) अकरिष्यत्। कृ+लृङ्। अट्+कृ+ल्। अ+कृ+स्य+तिप्। अ+कृ+इट्+स्य+ति। अ+कृ+इ+स्य+त्। अ+कर्+इ+ष्य+त्। अकरिष्यत्।

यहां पूर्वोक्त 'कृ' धातु से 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) से 'लृङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लृङ्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (कृ) को उदात्त 'अट्' आगम होता है। 'स्यतासी लृलुटोः' (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से अङ्ग को गुण और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। ऐसे ही-'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) से-अहरिष्यत्।

आट्-आगमः–

(२) आडजादीनाम् ।७२।

प०वि०-आट् १।१ अजादीनाम् ६।३।

स०-अच् आदिर्येषां तानि अजादीनि, तेषु-अजादिषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, लुङ्लङ्लृङ्क्षु, उदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु अजादीनाम् अङ्गानाम् आट्, उदात्तः।

अर्थः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु प्रत्ययेषु परतोऽजादीनाम् अङ्गानाम् आडागमो भवति, स चोदात्तो भवति।

उदा०-(लुङ्) ऐक्षिष्ट। ऐहिष्ट। औब्जीत्। औम्भीत्। (लङ्) ऐक्षत। ऐहत। औब्जत्। औम्भत्। (लृङ्) ऐक्षिष्यत। ऐहिष्यत। औब्जिष्यत्। औम्भिष्यत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(लुङ्लङ्लृङ्क्षु) लुङ्, लङ् और लृङ् प्रत्यय परे होने पर (अजादीनाम्) अच् जिनके आदि में है उन (अङ्गस्य) अङ्गों को (आट्) आट् आगम होता है (उदात्तः) और वह उदात्त होता है।*

*उदा०-(लुङ्) **ऐक्षिष्ट**। उसने देखा। **ऐहिष्ट**। उसने चेष्टा (प्रयत्न) की। **औब्जीत्**। उसने सरलता से व्यवहार किया। **औम्भीत्**। उसने भरा, पूरण किया। (लङ्) **ऐक्षत**। उसने देखा। **ऐहत**। उसने चेष्टा (प्रयत्न) की। **औब्जत्**। उसने सरलता से व्यवहार किया। **औम्भत्**। उसने भरा, पूरण किया। (लृङ्) **ऐक्षिष्यत**। यदि वह देखता। **ऐहिष्यत**। यदि वह चेष्टा (प्रयत्न) करता। **औब्जिष्यत्**। यदि वह सरलता से व्यवहार करता। **औम्भिष्यत्**। यदि वह भरता, पूरण करता।*

*सिद्धि-(१) **ऐक्षिष्ट**। ईक्ष+लुङ्। आट्+ईक्ष्+ल्। आ+ईक्ष्+च्लि+ल्। आ+ईक्ष+सिच्+त। आ+ईक्ष्+स्+त। आ+ईक्ष+इट्+स्+त। आ+ईक्ष्+इ+ष्+ट। ऐक्षिष्ट।*

यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०प०) धातु सूत्र से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर अजादि अङ्ग (ईक्ष) को उदात्त 'आट्' आगम होता है। 'आटश्च' (६।१।८९) से वृद्धिरूप एकादेश होता है-आ+ई=ऐ। शेष कार्य पूर्ववत् है।

ऐसे ही 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से-ऐहिष्ट। 'उब्ज आर्जवे' (तु०प०) धात से-औब्जीत्। 'उम्भ पूरणे' (तु०प०) धातु से-औम्भीत्।

*(२) **ऐक्षत**। ईक्ष्+लङ्। आट्+ईक्ष्+ल्। आ+ईक्ष्+त। आ+ईक्ष्+शप्+त। ...त। ऐक्षत।*

यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'लङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लङ्' प्रत्यय परे होने पर अजादि अङ्ग (ईक्ष्) को उदात्त 'आट्' आगम होता है। 'आटश्च' (६।१।८९) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। ऐसे ही- 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से-ऐहत। 'उब्ज आर्जवे' (तु०प०) धातु से-औब्जत्। 'उम्भ पूरणे' (तु०प०) धातु से-औम्भत्।

(३) ऐक्षिष्यत। ईक्ष्+लृङ्। आट्+ईक्ष्+ल्। आ+ईक्ष्+स्य+त। आ+ईक्ष्+इट्+स्य+त। आ+ईक्ष्+इ+ष्य+त। ऐक्षिष्यत।

यहां 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) से 'लृङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लृङ्' प्रत्यय परे होने पर अजादि अङ्ग (ईक्ष्) को उदात्त 'आट्' आगम होता है। 'आटश्च' (६।१।८९) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। ऐसे ही- 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से-ऐहिष्यत। 'उब्ज आर्जवे' (तु०प०) धातु से-औब्जिष्यत्। 'उम्भ पूरणे' (तु०प०) धातु से-औम्भिष्यत्।

आडागमदर्शनम्—

(३) छन्दस्यपि दृश्यते।७३।

प०वि०-छन्दसि ७।१ अपि अव्ययपदम्, दृश्यते क्रियापदम्।

अनु०-अङ्गस्य, उदात्तः, आट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दस्यपि उदात्त आड् दृश्यते।

अर्थः-छन्दसि विषयेऽपि उदात्त आडागमो दृश्यते। यतो विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते इत्यभिप्रायः। **'आडजादीनाम्'** (६।४।७२) इत्युक्तम्, अनजादीनामपि दृश्यते।

उदा०-सुरुचो वेन आवः (यजु० १३।३)। आनक्। आयुनक्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (अपि) भी (उदात्तः) उदात्त (आट्) आट् आगम (दृश्यते) देखा जाता है, अर्थात् यह जिससे विधान किया गया है उससे अन्यत्र भी दिखाई देता है। 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से अजादि अङ्गों को उदात्त आट् आगम का विधान किया गया है किन्तु यह छन्द में अनजादि=हलादि अङ्गों को भी देखा जाता है।*

उदा०-सुरुचो वेन आवः (यजु० १३।३)। आवः। उसने वरण किया। आनक्। उसने नष्ट किया। आयुनक्। उसने योग किया।

सिद्धि-(१) आवः। वृ+लुङ्। आट्+वृ+ल्। आ+वृ+च्लि+ल्। आ+वृ+लि+तिप्। आ+वृ+०+ति। आ+वर्+त्। आ+वर्+०। आवः।

यहां 'वृञ् वरणे' (स्वा०उ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से सामान्य भूतकाल अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में अनजादि=हलादि अङ्ग (वृ) को 'आट्' आगम होता है। 'मन्त्रे घसह्वरणश०' (२।४।८) से 'च्लि' प्रत्यय के 'लि' का लुक्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण और 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'तिप्' का लोप होता है।

(२) आनक्। नश्+लुङ्। आट्+नश्+ल्। आ+नश्+च्लि+ल्। आ+नश्+लि+तिप्। आ+नश्+०+ति। आ+नश्+त्। आ+नश्+०। आ+नक्। आनक्।

यहां 'णश अदर्शने' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में अनजादि=हलादि अङ्ग (नश्) को आट् आगम होता है। पूर्ववत् 'लि' का लुक् और 'तिप्' का लोप होकर 'नशेर्वा' (८।२।६३) से कुत्व होता है।

(३) आयुनक्। युज्+लङ्। आट्+युज्+ल्। आ+युज्+तिप्। आ+यु श्नम् ज्+ति। आ+युनज्+त्। आयुनज्+०। आयुनग्। आयुनक्।

यहां 'युजिर् योगे' (रुधा०प०) धातु से 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से अनद्यतन भूतकाल अर्थ में 'लङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में अनजादि=हलादि अङ्ग (युज्) को 'आट्' आगम होता है। 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८) से 'श्नम्' विकरण-प्रत्यय, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'तिप्' का लोप, 'चोः कुः' (८।२।३०) से जकार को कुत्व गकार और 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से चर्त्व ककार होता है।

उक्त-प्रतिषेधः–

(४) न माङ्योगे।७४।

प०वि०-न अव्ययपदम्, माङ्योगे ७।१।

स०-माङो योग इति माङ्योगः, तस्मिन्-माङ्योगे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, लुङ्लङ्लृङ्क्षु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु माङ्योगेऽङ्गस्य यद् उक्तं तन्न।

अर्थः-लुङ्लङ्लृङ्क्षु प्रत्ययेषु परतो माङ्योगेऽङ्गस्य यद् उक्तं तन्न भवति। अट्-आटावागमौ न भवत इत्यर्थः।

उदा०-(लुङ्) मा भवान् कार्षीत्। मा भवान् हार्षीत्। मा भवान् ईक्षिष्ट। मा भवान् ईहिष्ट। (लङ्) मा स्म करोत्। मा स्म हरत्। (लृङ्) मा स्म भवान् ईक्षत। मा स्म भवान् ईहत।

आर्यभाषाः अर्थ-(लुङ्लङ्लृङ्क्षु) लुङ्, लङ् और लृङ् प्रत्यय परे होने पर (माङ्योगे) माङ् शब्द के योग में (अङ्गस्य) अङ्ग को (न) जो कार्य विहित किया है वह नहीं होता है, अर्थात् अट् और आट् आगम नहीं होते हैं।

उदा०-(लुङ्) मा भवान् कार्षीत्। आपने नहीं किया। मा भवान् हार्षीत्। आपने हरण नहीं किया। मा भवान् ईक्षिष्ट। आपने नहीं देखा। मा भवान् ईहिष्ट। आपने चेष्टा=प्रयत्न नहीं किया। (लङ्) मा स्म करोत्। उसने नहीं किया। मा स्म हरत्। उसने हरण नहीं किया। (लृङ्) मा स्म भवान् ईक्षत। आपने नहीं देखा। मा स्म भवान् ईहत। आपने चेष्टा=प्रयत्न नहीं किया।

सिद्धि-(१) मा भवान् कार्षीत्। यहां माङ्-उपपद 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) से 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर 'माङ्' शब्द के योग में अङ्ग (कृ) को अट्-आगम नहीं होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-मा भवान् हार्षीत्।

(२) मा भवान् ईक्षिष्ट। यहां माङ्-उपपद 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर 'माङ्' शब्द के योग में अजादि अङ्ग (ईक्ष्) को 'आट्' आगम नहीं होता है। ऐसे ही 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से-मा भवान् ईहिष्ट।

(३) मा स्म करोत्। यहां माङ्-उपपद 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) से 'लङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लङ्' प्रत्यय परे होने पर 'माङ्' शब्द के योग में अङ्ग (कृ) को 'अट्' आगम नहीं होता है।

ऐसे ही-'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से-मा स्म भवान् हरत्। 'ईक्ष दर्शने' (भ्वा०आ०) धातु से-मा स्म भवान् ईक्षत। 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से-मा स्म भवान् ईहत। यहां 'आट्' आगम नहीं होता है।

बहुलम् अट्-आडागमः-

(५) बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि।७५।

प०वि०-बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१ अमाङ्योगे ७।१ अपि अव्ययपदम्।

स०-माङो योग इति माङ्योगः, न माङ्योग इति अमाङ्योगः, तस्मिन्-अमाङ्योगे (षष्ठीगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, लुङ्लङ्लृङ्क्षु, अट्, आट्, माङ्योगे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि लुङ्लङ्लृङ्क्षु माङ्योगेऽमाङ्योगेऽपि अङ्गस्य बहुलम् अट्, आट्।

अर्थः-छन्दसि विषये लुङ्लङ्लृङ्क्षु प्रत्ययेषु परतो माङ्योगेऽमाङ्योगेऽपि अङ्गस्य बहुलम् अट्-आटवागमौ भवतः। बहुलवचनाद् अमाङ्योगेऽपि न भवतः, माङ्योगेऽपि च भवतः।

उदा०-**(अमाङ्योगे)** जनिष्ठा उग्रः (ऋ० १०।७३।१)। काममूनयीः (ऋ० १।५३।३)। काममर्दयीत्। **(माङ्योगे)** मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः (आप०धर्म० २।६।१३।५)। मा अभित्थाः। मा आवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (लुङ्लङ्लृङ्क्षु) लुङ्, लङ् और लृङ् प्रत्यय परे होने पर (माङ्योगे) माङ् शब्द के योग में और (अमाङ्योगे) माङ् शब्द का योग न होने पर (अपि) भी (अङ्गस्य) अङ्ग को (बहुलम्) प्रायशः (अट्, आट्) अट् और आट् आगम होते हैं। बहुलवचन से अमाङ्योग में भी नहीं होते हैं और माङ्योग में भी हो जाते हैं।*

उदा०-(अमाङ्योग) जनिष्ठा उग्रः (ऋ० १०।७३।१)। काममूनयीः (ऋ० १।५३।३)। काममर्दयीत्। (माङ्योग) मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः (आप० धर्म० २।६।१३।५)। मा अभित्थाः। मा आवः।

सिद्धि-(१) जनिष्ठाः। जन्+लुङ्। जन्+ल्। जन्+च्लि+ल्। जन्+सिच्+थास्। जन्+इट्+स्+थास्। जन्+इ+ष्+ठास्। जनिष्ठाः।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्द में अमाङ्योग में भी 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से प्राप्त 'अट्' आगम नहीं होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से थकार को टवर्ग ठकार होता है।

(२) ऊनयीः। ऊन+णिच्। उन्+इ। ऊनि+लुङ्। ऊनि+ल्। ऊनि+च्लि+ल्। ऊनि+सिच्+ सिप्। ऊनि+इट्+स्+ईट्+स्। ऊनि+इ+०+ई+स्। उने+ई+रु। ऊनय्+ ई+र्। ऊनयीः।

यहां 'ऊन परिहाणे' (चु०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्द में अमाङ्योग में भी 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से प्राप्त 'आट्' आगम नहीं होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'सिच्' को 'इट्' आगम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) से अपृक्त सिप् (स्) को ईट् आगम और 'इट ईटि' (८।२।२८) से 'सिच्' का लोप होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'

(७।३।८४) से इगन्त अङ्ग (ऊनि) को गुण और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७७) से आय्-आदेश होता है।

(३) अर्दयीत्। यहां 'अर्द हिंसायाम्' (चु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्द में अमाङ्योग में भी 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से प्राप्त 'आट्' आगम नहीं होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) अवाप्सुः। वप्+लुङ्। अट्+वप्+ल्। अ+वप्+च्लि+ल्। अ+वप्+सिच्+झि। अ+वप्+स्+जुस्। अ+वाप्+स्+उस्। अवाप्सुः।

यहां 'डुवप बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में माङ्योग में भी 'अट्' आगम होता है। "मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः"। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से माङ्योग में 'अट्' आगम का प्रतिषेध है। 'झेर्जुस्' (३।४।१०८) से 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश और 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (७।२।३) से अङ्ग (वप्) को वृद्धि होती है।

(५) अभित्थाः। भिद्+लुङ्। अट्+भिद्+ल्। अ+भिद्+च्लि+ल्। अ+भिद्+सिच्+थास्। अ+भिद्+स्+थास्। अ+भिद्+०+थास्। अ+भित्+थास्। अभित्थाः।

यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'लुङ्' प्रत्यय परे होने पर छन्दविषय में माङ्योग में भी अङ्ग (भिद्) को 'अट्' आगम होता है-मा अभित्थाः। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से माङ्योग में 'अट्' आगम का प्रतिषेध है। 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'सिच्' के सकार का लोप होता है।

(६) आवः। इस पद की सिद्धि पूर्ववत् है (द्र० ६।४।७३)। यहां माङ्योग में भी अनजादि=हलादि अङ्ग (वृञ्) के छन्द में 'आट्' आगम है-मा आवः।

यह सब बहुलवचन का प्रपञ्च है।

आदेशप्रकरणम्

रे-आदेशः-

(१) इरयो रे।७६।

प०वि०-इरयोः ६।२ रे १।१ (सु-लुक्)।

स०-इरश्च इरेश्च तौ इरयौ, तयोः-इरयोः।

अनु०-बहुलम्, छन्दसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि इरयो बहुलं रेः।

अर्थः-छन्दसि विषये 'इरे' इत्येतस्य स्थाने बहुलं रे-आदेशो भवति।

उदा०-गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०।८२।५)। याश्च परिददृश्रे (मै०सं० ४।४।१)। बहुलवचनान्न च भवति-परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे।

"अत्र रेशब्दस्य सेटां धातूनामिटि कृते पुना रेभावः क्रियते, तदर्थं च इरयोरित्ययं द्विवचननिर्देशः" (काशिका)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (इरयोः) 'इरे' अथवा इ+रे शब्दों के स्थान में (बहुलम्) प्रायशः (रे) रे-आदेश होता है।*

*उदा०-गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०।८२।५)। याश्च परिददृश्रे (मै०सं० ४।४।१)। बहुलवचन से रे-आदेश नहीं भी होता है-**परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे।***

यहां 'रे' शब्द के सेट् धातुओं में इट्-आगम करने पर पुनः 'रे' आदेश होता है। इस प्रकार 'इ' और 'रे' के स्थान में 'रे' आदेश होता है। इसलिये सूत्रपाठ में 'इरयोः' यह द्विर्वचन में निर्देश किया गया है।

*सिद्धि-(१) **दध्रे।** धा+लिट्। धा+ल्। धा+झ। धा+इरेच्। धा+इरे। धा+रे। ध्०+रे। धा-धा+रे। ध-धा्+रे। द-ध्-रे। दध्रे।*

*यहां 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) से 'झ' के स्थान में 'इरेच्' आदेश होता है। इस सूत्र से छन्दविषय में 'इरे' के स्थान में 'रे' आदेश होता है। यह रे-आदेश **'असिद्धवदत्राभात्'** (६।४।२२) से असिद्ध प्रकरण का है। अतः इसे असिद्ध मानकर **'आतो लोपः'** (६।४।४८) से अङ्ग के आकार का लोप होता है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से 'धा' को द्विर्वचन करने में **'द्विर्वचनेऽचि'** (१।१।५९) से आकार के लोपादेश को स्थानिवत् मानकर 'धा' को द्वित्व होता है। **'ह्रस्वः'** (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्वादेश (ध) और इसे **'अभ्यासे चर्च'** (८।४।५९) से धकार को जश् (द्) आदेश होता है। ऐसे ही परि-उपसर्गपूर्वक 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०) धातु से-**परिददृश्रे।***

*(२) **चक्रिरे।** यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय है। बहुलवचन से यहां 'इरेच्' के स्थान में 'रे' आदेश नहीं है।*

विशेषः *जो धातु सेट् हैं उनसे परे प्रथम 'इरेच्' के स्थान पर 'रे' आदेश किया जाता है, तत्पश्चात् उसे 'इट्' आगम होकर 'इरे' रूप बनता है। उसे भी इस सूत्र से छन्द में पुनः 'रे' आदेश किया जाता है। 'इरेच्' आदेश अथवा इट् सहित रे-आदेश (इरे) इन दोनों को ही रे-आदेश का विधान किया गया है। अतः सूत्रपाठ में-इरश्च इरेश्च **तौ इरयौ, तयोः-इरयोः'** यह द्विर्वचन में निर्देश किया गया है।*

इयङ्-उवङादेशौ–

(२) अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ।७७।

प०वि०–अचि ७।१ श्नु-धातु-भ्रुवाम् ६।३ य्वोः ६।२ इयङुवङौ १।२।

स०–श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च ताः श्नुधातुभ्रुवः, तासाम्-श्नुधातुभ्रुवाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। इश्च उश्च तौ यू, तयोः-य्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। इयङ् च उवङ् च तौ-इयङुवङौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–श्नुधातुभ्रुवाम् य्वोरङ्गस्य अचि इयङुवङौ।

अर्थः–श्नु-प्रत्ययान्तस्य धातोर्भुवश्च इकारान्तस्य उकारान्तस्याङ्गस्य अजादौ प्रत्यये परतो यथासंख्यम् इयङुवङावादेशौ भवतः।

उदा०–(श्नुः) ते आप्नुवन्ति। ते राध्नुवन्ति। ते शक्नुवन्ति। (धातुः) तौ चिक्षियतुः, ते चिक्षियुः। तौ लुलुवतुः, ते लुलुवुः। नियौ, नियः। लुवौ, लुवः। (भ्रूः) भ्रुवौ, भ्रुवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्नुधातुभ्रुवाम्) श्नु-प्रत्ययान्त, धातु और भ्रू इन (य्वोः) इकारान्त और उकारान्त (अङ्गस्य) अङ्गों को (अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर यथासंख्य (इयङुवङौ) इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं।*

उदा०-(श्नु) ते आप्नुवन्ति। वे व्याप्त होते हैं। ते राध्नुवन्ति। वे सिद्ध करते हैं। ते शक्नुवन्ति। वे शक्त होते हैं। (धातु) तौ चिक्षियतुः। वे दोनों क्षीण हुये। ते चिक्षियुः। वे सब क्षीण हुये। तौ लुलुवतुः। उन दोनों ने छेदन किया। ते लुलुवुः। उन सबने छेदन किया। नियौ। दो नायकों ने। नियः। सब नायकों ने। लुवौ। दो छेदकों ने। लुवः। सब छेदकों ने। (भ्रू) भ्रुवौ। दो भ्रू। भ्रुवः। सब भ्रू। भ्रू=आंख की भौंह (Eay Brow)।

सिद्धि-(१) आप्नुवन्ति। आप्+लट्। आप्+ल्। आप्+श्नु+झि। आप्+नु+अन्ति। आप्+न् उवङ्+अन्ति। आप्+न् उव्+अन्ति। आप्नुवन्ति।

यहां 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से वर्तमान काल अर्थ में 'लट्' प्रत्यय है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से 'श्नु' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से श्नु-प्रत्ययान्त 'आप्नु' अङ्ग को अजादि 'अन्ति' प्रत्यय परे होने पर 'उवङ्' आदेश होता है। यह 'ङित्' होने से 'ङिच्च' (१।१।५३) से अन्त्य अल् (उ) के स्थान में होता है।

ऐसे ही 'राध संसिद्धौ' (स्वा०प०) धातु से-राध्नुवन्ति। 'शक्लृ शक्तौ' (स्वा०प०) धातु से-शक्नुवन्ति।

(२) चिक्षियतुः। क्षि+लिट्। क्षि+ल्। क्षि+तस्। क्षि+अतुस्। क्षि-क्षि-अतुस्। कि-क्षि-अतुस्। चि-क्षि+अतुस्। चि-क्ष् इयङ्+अतुस्। चि+क्ष् इय्+अतुस्। चिक्षियतुः।

यहां 'क्षि क्षये' (भ्वा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से भूतकाल अर्थ में 'लिट्' प्रत्यय है। 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' आदेश और 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से इकारान्त 'क्षि' धातु को अजादि 'अतुस्' प्रत्यय परे होने पर 'इयङ्' आदेश होता है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के ककार को चवर्ग चकार होता है। ऐसे ही 'उस्' प्रत्यय परे होने पर-चिक्षियुः। 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से-लुलुवतुः, लुलुवुः। यहां 'उवङ्' आदेश है।

(३) नियौ। नी+औ। न् इयङ्+औ। न इय्+औ। नियौ।

यहां 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'सत्सूद्विष०' (३।२।६१) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'क्विप्' का सर्वहारी लोप होता है। 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' इस आप्तवचन से 'क्विप्-प्रत्ययान्त शब्द धातुभाव को नहीं छोड़ता है'। अतः इस सूत्र से ईकारान्त 'नी' धातु को अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने पर 'इयङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-नियः।

(४) लुवौ। यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'क्विप् च' (३।२।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् ऊकारान्त 'लू' धातु को अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने पर 'उवङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-लुवः।

(५) भ्रुवौ। भ्रू+औ। भ्र उवङ्+औ। भ्र् उव्+औ। भ्रुवौ।

यहां 'भ्रू' शब्द को अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने पर 'उवङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-भ्रुवः।

इयङ्-उवङादेशौ—

(३) अभ्यासस्यासवर्णे।७८।

प०वि०-अभ्यासस्य ६।१ असवर्णे ७।१।

स०-न सवर्णम् इति असवर्णम्, तस्मिन्-असवर्णे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, य्वोः, इयङुवङौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य य्वोरभ्यासस्य असवर्णेऽचि इयङुवङौ।

अर्थः-अङ्गस्य इकारान्तस्य उकारान्तस्य चाभ्यासस्य असवर्णेऽचि परतो यथासंख्यम् इयङुवङावादेशौ भवतः।

उदा०-स इयेष। स उवोष। स इयर्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग के (य्वोः) इकारान्त, और उकारान्त (अभ्यासस्य) अभ्यास को (असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर यथासंख्य (इयङुवङौ) इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं।*

*उदा०-**स इयेष।** उसने इच्छा की। **स उवोष।** उसने दाह किया। **स इयर्ति।** वह गति (ज्ञान-गमन-प्राप्ति) करता है।*

*सिद्धि-(१) **स इयेष।** इष्+लिट्। इष्+ल्। इष्+तिप्। इष्+णल्। एष्+अ। इष्-इष्+अ। इ-एष्+अ। इयङ्-एष्+अ। इय्-एष्+अ। इयेष।*

*यहां **'इषु इच्छायाम्'** (भ्वा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय, **'परस्मैपदानां णल०'** (३।४।८२) से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश होता है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु को द्वित्व और **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से लघूपध गुण की प्राप्ति में परत्व से गुण होता है। पुनः **'द्विर्वचनेऽचि'** (१।१।५९) से स्थानिवत् होकर 'इष्' को द्वित्व होता है। इस सूत्र से 'इष्' के अभ्यास को असवर्ण अच् (ए) परे होने पर 'इयङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'उष दाहे' (भ्वा०प०) धातु से- **'उवोष'।** यहां 'उवङ्' आदेश है।*

*(२) **इयर्ति।** ऋ+लट्। ऋ+ल्। ऋ+शप्+ति। ऋ+०+ति। ऋ-ऋ+ति। अर्-ऋ+ति। अ-ऋ+ति। इ+अर्+ति। इयङ्-अर्+ति। इय्-अर्+ति। इयर्ति।*

*यहां **'ऋ गतौ'** (जु०प०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से वर्तमानकाल में 'लट्' प्रत्यय, **'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः'** (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु (लोप) और **'श्लौ'** (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। **'उरत्'** (७।४।६) से अभ्यास को अकार, **'अर्तिपिपर्त्योश्च'** (७।४।७७) से इकार आदेश होता है। इस सूत्र से असवर्ण अच् (अ) परे होने पर इकार को 'इयङ्' आदेश होता है।*

इयङ्-आदेशः–

(४) स्त्रियाः।७६।

वि०-स्त्रियाः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, इयङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-स्त्रिया अङ्गस्य योऽचि इयङ्।

अर्थः-स्त्रिया अङ्गस्य ईकारस्य अजादौ प्रत्यये परत इयङ् आदेशो भवति।

उदा०-स्त्रियौ। स्त्रियः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्त्रियाः) स्त्री (अङ्गस्य) अङ्ग के (यः) ईकार को (अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (इयङ्) इयङ् आदेश होता है।*

*उदा०-**स्त्रियौ।** दो स्त्रियां। **स्त्रियः।** सब स्त्रियां।*

*सिद्धि-**स्त्रियौ।** स्त्री+औ। स्त्र् इयङ्+औ। स्त्र् इय्+औ। स्त्रियौ।*

*यहां 'स्त्री' शब्द से द्वित्व-विवक्षा में **'स्वौजस०'** (४।१।२) से 'औ' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'स्त्री' अंग के इकार को अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने पर 'इयङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-स्त्रियः।*

इयङादेश-विकल्पः-

(५) वाऽम्शसोः।८०।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, अम्-शसोः ७।२।

स०-अम् च शस् च तौ अम्शसौ, तयोः-अम्शसोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, यः, इयङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-स्त्रिया अङ्गस्य योऽम्शसोर्वा इयङ्।

अर्थः-स्त्रिया अङ्गस्य ईकारस्य अमि शसि च प्रत्यये परतो विकल्पेन इयङ् आदेशो भवति।

उदा०-**(अम्)** त्वं स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य। **(शस्)** त्वं स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्त्रियाः) स्त्री (अङ्गस्य) अङ्ग के (यः) ईकार को (अम्शसोः) अम् और शस् प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (इयङ्) आदेश होता है।*

*उदा०-(अम्) **त्वं स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य।** तू स्त्री को देख। (शस्) **त्वं स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य।** तू स्त्रियों को देख।*

*सिद्धि-(१) **स्त्रीम्।** स्त्री+अम्। स्त्री+०म्। स्त्रीम्।*

*यहां 'स्त्री' शब्द से कर्म कारक में तथा एकत्व-विवक्षा में **'स्वौजस०'** (४।१।२) से 'अम्' प्रत्यय है। इस सूत्र से स्त्री अङ्ग के इकार को विकल्प-पक्ष में 'इयङ्' आदेश नहीं है। **'अमि पूर्वः'** (६।१।१०५) से पूर्वसवर्ण एकादेश है।*

(२) स्त्रियम्। स्त्री+अम्। स्त्र् इयङ्+अम्। स्त्र् इय्+अम्। स्त्रियम्।

यहां 'स्त्री' शब्द से पूर्ववत् 'अम्' प्रत्यय है। इस सूत्र से स्त्री अङ्ग के इकार को 'अम्' प्रत्यय परे होने पर 'इयङ्' आदेश होता है।

ऐसे ही 'स्त्री' शब्द से 'शस्' प्रत्यय करने पर 'त्वं स्त्रीः पश्य। यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण-दीर्घ एकादेश होता है। त्वं स्त्रियः पश्य। यहां 'इयङ्' आदेश है।

यण्-आदेशः—

(६) इणो यण्।८१।

प०वि०-इणः ६।१ यण् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इणोऽङ्गस्य अचि यण्।

अर्थः-इणोऽङ्गस्य अजादौ प्रत्यये परतो यण् आदेशो भवति।

उदा०-ते यन्ति। ते यन्तु। ते आयन्।

आर्यभाषाः अर्थ-(इणः) इण् (अङ्गस्य) अङ्ग को (अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (यण्) यण् आदेश होता है।

उदा०-ते यन्ति। वे सब जाते हैं। ते यन्तु। वे सब जायें। ते आयन्। वे सब गये।

सिद्धि-(१) यन्ति। इण्+लट्। इ+ल्। इ+झि। इ+अन्ति। य्+अन्ति। यन्ति।

यहां 'इण् गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से वर्तमानकाल अर्थ में 'लट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'इण्' अङ्ग को अजादि 'अन्ति' प्रत्यय परे होने पर 'यण्' आदेश होता है। यह 'अचि श्नुधातुभ्रुवां' (६।४।७७) से प्राप्त 'इयङ्' आदेश का अपवाद है। ऐसे ही लोट् लकार में-यन्तु। यहां 'एरुः' (३।४।८६) से 'अन्ति' के इकार को उकार आदेश होता है। लङ् लकार में-आयन्। 'संयोगान्तय लोपः' (८।२।२३) से संयोगान्त तकार का लोप होता है। 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से 'आट्' आगम नहीं है।

यण्-आदेशः—

(७) एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य।८२।

प०वि०-एः ६।१ अनेकाचः ६।१ असंयोगपूर्वस्य ६।१।

स०-न एक इति अनेकः। अनेकोऽच् यस्मिन् सः-अनेकाच्, तस्य अनेकाचः (नञ्गर्भितबहुव्रीहिः)। अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् सः-असंयोगपूर्वः, तस्य असंयोगपूर्वस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, यण् इति चानुवर्तते। **'अचि श्नुधातुभ्रुवां०'** (६।४।७७) इत्यत्र 'धातोः' इति मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवर्तते, तेन च संयोगो विशेष्यते।

अन्वयः-धातोरसंयोगपूर्वस्य एरनेकाचोऽङ्गस्य अचि यण्।

अर्थः-धातोरवयवः संयोगो यस्मादिकारात् पूर्वो न भवति, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य अजादौ प्रत्यये परतो यणादेशो भवति।

उदा०-तौ निन्यतुः, ते निन्युः। उन्न्यौ, उन्न्यः। ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(धातोः) धातु का अवयवभूत, (असंयोगपूर्वस्य, एः) संयोग जिस इकार-वर्ण से पूर्व नहीं है, उस इकारान्त (अनेकाचः) अनेक अचोंवाले (अङ्गस्य) अङ्ग को (अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (यण्) यण् आदेश होता है।*

*उदा०-**तौ निन्यतुः।** उन दोनों ने प्राप्त कराया (पहुंचाया)। **ते निन्युः।** उन सबने प्राप्त कराया। **उन्न्यौ।** दो ऊंचा उठानेवाले। **उन्न्यः।** सब ऊंचा उठानेवाले। **ग्रामण्यौ।** दो ग्रामणी=ग्राम के नेता। **ग्रामण्यः।** सब ग्रामणी।*

*सिद्धि-(१) **निन्यतुः।** नि+लिट्। नी+ल्। नी+तस्। नी+अतुस्। नी-नी+अतुस्। नि+न्य+अतुस्। निन्यतुः।*

*यहां **'णीञ् प्रापणे'** (भ्वा०उ०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से भूतकाल में 'लिट्' प्रत्यय है। **'परस्मैपदानां णल०'** (३।४।८२) से 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' आदेश होता है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु के द्वित्व होता है-नी-नी। इस अवस्था में धातु के ईकार से पूर्व उसका अवयव संयोगपूर्व नहीं है और द्वित्व-अवस्था में यह अनेक अचोंवाली भी है, अतः इस अङ्ग को अजादि 'अतुस्' प्रत्यय परे होने पर यण् (य्) आदेश होता है। यह पूर्वोक्त 'इयङ्' आदेश का अपवाद है। ऐसे ही 'उस्' प्रत्यय परे होने पर-**निन्युः।***

*(२) **उन्न्यौ।** उत्+नी+औ। उत्+न् य्+औ। उन्न्यौ।*

*यहां उत्-उपसर्गपूर्वक **'णीञ् प्रापणे'** (भ्वा०उ०) धातु से प्रथम **'सत्सूद्विष०'** (३।२।६१) से 'क्विप्' प्रत्यय है। **वेरपृक्तस्य'** (३।१।६६) क्विप् का सर्वहारी होता है। **'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति'** इस आप्तवचन से क्विप्-प्रत्ययान्त शब्द धातुभाव को नहीं छोड़ता है, अतः इस धातु के ईकार से पूर्व इसका अवयव संयोगपूर्व नहीं है। जो यहां संयोग दिखाई देता है वह उत्-उपसर्गजन्य है, धातु का नहीं। उत्-उपसर्ग के योग से यह अनेकाच् अङ्ग है। अतः इस सूत्र से अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने पर इसे यण् (य्) आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-**उन्न्यः।** ऐसे ही 'ग्रामणी' शब्द से-**ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः।***

यण्-आदेशः–

(८) ओः सुपि।८३।

प०वि०-ओः ६।१ सुपि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य इति चानुवर्तते। 'धातोः' इति च मण्डूकोत्प्लुत्या पूर्ववदनुवर्तते, तेन च संयोगो विशेष्यते।

अन्वयः-धातोरसंयोगपूर्वस्य ओरनेकाचोऽङ्गस्य अचि सुपि यण्।

अर्थः-धातोरवयवः संयोगो यस्मादुकारात् पूर्वो न भवति, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य अजादौ सुपि प्रत्यये परतो यणादेशो भवति।

उदा०-खलप्वौ, खलप्वः। शतस्वौ, शतस्वः। सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः।

__आर्यभाषाः__ अर्थ-(धातोः) धातु का अवयवभूत (असंयोगपूर्वस्य ओः) संयोग जिस उकार वर्ण से पूरी नहीं है, उस उकारान्त (अनेकाचः) अनेक अचोंवाले (अङ्गस्य) अङ्ग को (अचि) अजादि (सुपि) सुप् प्रत्यय परे होने पर (यण्) यण् आदेश होता है।

उदा०-__खलप्वौ__। दो खलिहान को शुद्ध करनेवाले। __खलप्वः__। सब खलिहान को शुद्ध करनेवाले। __शतस्वौ__। दो सौ को उत्पन्न करनेवाले। __शतस्वः__। सब सौ को उत्पन्न करनेवाले। __सकृल्ल्वौ__। दो एक बार छेदन करनेवाले। __सकृल्ल्वः__। सब एक बार छेदन करनेवाले।

सिद्धि-__खलप्वौ__। खल+पू+क्विप्। खल+पू+वि०। खलपू+०। खलपू+औ। खलप्व्+औ। खलप्वौ।

यहां प्रथम खल-उपपद __'पूञ् पवने'__ (क्र्या०उ०) धातु से __'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'__ (३।२।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। __वेरपृक्तस्य'__ (६।१।६६) से 'क्विप्' का सर्वहारी लोप होता है। तत्पश्चात् 'खलपू' शब्द से द्वित्व-विवक्षा में __'स्वौजस०'__ (४।१।२) से 'औ' प्रत्यय है। इस सूत्र से धातु का अवयवभूत संयोग जिसके पूर्व नहीं है उस उकारान्त तथा अनेक अचोंवाले 'खलपू' अङ्ग को 'यण्' (व्) आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-खलप्वः।

(२) __शतस्वौ__। यहां प्रथम शत-उपपद __'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'__ (अदा०आ०) धातु से __'सत्सूद्विष०'__ (३।२।६१) से 'क्विप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-शतस्वः।

(३) __सकृल्ल्वौ__। यहां प्रथम सकृत्-उपपद __'लूञ् छेदने'__ (क्र्या०उ०) धातु से __'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'__ (३।२।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। __'तोर्लि'__ (८।४।६०) से तकार को परसवर्ण लकार होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-सकृल्ल्वः।

यण्-आदेशः–

(६) वर्षाभ्वश्च।८४।

प०वि०-वर्षाभ्वः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, यण्, सुपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वर्षाभ्वोऽङ्गस्य च अचि सुपि यण्।

अर्थः-वर्षाभू-इत्येतस्याङ्गस्य च अजादौ सुपि प्रत्यये परतो यणादेशो भवति।

उदा०-वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वर्षाभ्वः) वर्षाभू इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (च) भी (अचि) अजादि (सुपि) सुप् प्रत्यय परे होने पर (यण्) यण् आदेश होता है।*

*उदा०-**वर्षाभ्वौ**। दो वर्षाभू (मण्डूक=मेंढक)। **वर्षाभ्वः**। सब वर्षाभू।*

*सिद्धि-**वर्षाभ्वौ**। वर्षा+भू+क्विप्। वर्षा+भू+वि। वर्षा+भू+०। वर्षाभू+औ। वर्षाभ्व्+औ। वर्षाभ्वौ।*

*यहां वर्षा-उपपद 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'क्विप्' का सर्वहारी लोप होता है। तत्पश्चात् 'वर्षाभू' शब्द से द्वित्व-विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से अजादि, सुप् 'औ' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से यण् (व्) आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय करने पर-**वर्षाभ्वः**। यहां 'न भूसुधियोः' (६।४।८५) से यण्-आदेश का प्रतिषेध प्राप्त था, अतः यह उसका पुरस्तात् अपवाद है।*

यणादेश-प्रतिषेधः–

(१०) न भूसुधियोः।८५।

प०वि०-न अव्ययपदम्, भू-सुधियोः ६।२।

स०-भूश्च सुधीश्च तौ भूसुधियौ, तयोः-भूसुधियोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, यण्, सुपि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भूसुधियोरङ्गयोरचि सुपि यण् न।

अर्थः-भू-सुधियोरङ्गयोरजादौ सुपि प्रत्यये परतो यणादेशो न भवति।

उदा०-(भूः) प्रतिभुवौ, प्रतिभुवः। **(सुधीः)** सुधियौ, सुधियः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भूसुधियोः) भू और सुधी (अङ्गस्य) अङ्गों को (अचि) अजादि (सुपि) सुप्-प्रत्यय परे होने पर (यण्) यणादेश (न) नहीं होता है।*

उदा०-(भू) प्रतिभुवौ। दो प्रतिभू (जामिन)। प्रतिभुवः। सब प्रतिभू। (सुधी) सुधियौ। दो सुधी (विद्वान्)। सुधियः। सब सुधी।

सिद्धि-(१) प्रतिभुवौ। प्रति+भू+क्विप्। प्रति+भू+वि। प्र+भू+०। प्रतिभू+औ। प्रति+भ् उवङ्+औ। प्रति+भ् उव्+औ। प्रतिभुवौ।

यहां प्रथम प्रति-उपपद 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'भुवः संज्ञान्तरयोः' (३।२।१७९) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'क्विप्' प्रत्यय का सर्वहारी लोप होता है। तत्पश्चात् 'प्रतिभू' शब्द से द्वित्व-विवक्षा में 'स्वौजस०' (४।१।२) से अजादि, सुप् 'औ' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'प्रतिभू' अङ्ग को यणादेश का प्रतिषेध होता है। 'ओः सुपि' (६।४।८३) से यणादेश प्राप्त था। अतः यथाप्राप्त 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (६।४।७७) से 'उवङ्' आदेश होता है। ऐसे ही 'जस्' प्रत्यय परे होने पर-प्रतिभुवः।

(२) सुधियौ। सु+ध्या+क्विप्। सु+ध्या+०। सु+ध् इ आ+०। सुधी+औ। सुध् इयङ्+औ। सुध् इय्+औ। सुधियौ।

यहां प्रथम सु-उपपद 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'क्विप्' का सर्वहारी लोप होता है। वा०-'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' (३।२।१७८) से सम्प्रसारण होता है। तत्पश्चात् 'सुधी' शब्द से पूर्ववत् 'औ' प्रत्यय करने पर 'एरनेकाचोऽसंयोपूर्वस्य' (६।४।८२) से यण्-आदेश प्राप्त होता है। इस सूत्र से उसका प्रतिषेध किया गया है। अतः यथाप्राप्त 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (६।४।७७) से 'इयङ्' आदेश होता है।

उभयथा-आदेशः-

(११) छन्दस्युभयथा।८६।

प०वि०-छन्दसि ७।१ उभयथा अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, सुपि भूसुधियोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि भूसुधियोरङ्गयोरचि सुपि उभयथा।

अर्थः-छन्दसि विषये भूसुधियोरङ्गयोरजादौ सुपि परत उभयथा दृश्यते, यणादेश उवङादेशश्च।

उदा०-(भूः) वनेषु चित्रं विभ्वं विशे (ऋ० ४।७।१)। विभुवं विशे (तै०सं० १।५।५।१)। (सुधीः) सुध्यो३ नव्यमग्ने (ऋ० ६।१।७)। सुधियो नव्यमग्ने (तै०ब्रा० ३।६।१०।२)। हव्यमग्ने (काशिका)।

आर्यभाषाः अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (भूसुधियोः) भू और सुधी (अङ्गस्य) अङ्गों को (अचि) अजादि (सुपि) सुप् प्रत्यय परे होने पर (उभयथा) यण् और उवङ् यह दो प्रकार का आदेश देखा जाता है।

उदा०-(भू) वनेषु चित्रं विभ्वं विशे (ऋ० ४।७।१)। विभुवं विशे (तै०सं० १।५।५।१)। (सुधी) सुध्यो३ नव्यमग्ने (ऋ० ६।१।७)। सुधियो नव्यमग्ने (तै०ब्रा० ३।६।१०।३)।

सिद्धि-(१) विभ्वम्। विभू+अम्। वि+भ्व्+अम्। विभ्वम्।

यहां 'विभू' शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) से 'अम्' प्रत्यय है। इस सूत्र से छन्दविषय में 'विभू' अङ्ग को अजादि सुप् 'अम्' प्रत्यय परे होने पर 'यण्' (व्) आदेश होता है। 'विभुवम्' यहां 'उवङ्' आदेश है।

(२) सुध्यः। सुधी+जस्। सुधी+अस्। सुध् य्+अस्। सुध्यः।

यहां 'सुधी' शब्द से पूर्ववत् 'जस्' प्रत्यय है। इस सूत्र से छन्दविषय में 'सुधी' अङ्ग को यण् (य्) आदेश होता है। 'सुधियः' यहां इयङ् आदेश है।

यण्-आदेशः-

(१२) हुश्नुवोः सार्वधातुके।८७।

प०वि०-हु-श्नुवोः ६।२ सार्वधातुके ७।१।

स०-हुश्च श्नुश्च तौ हुश्नुवौ, तयोः-हुश्नुवोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, यण इति चानुवर्तते। 'ओः सुपि' (६।४।८३) इत्यस्माद् मण्डूकोत्प्लुत्या 'ओः' इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हुश्नुवोरसंयोगपूर्वस्य ओरनेकाचोऽङ्गस्य अचि सार्वधातुके यण्।

अर्थः-'हु' इत्येतस्य श्नु-प्रत्ययान्तस्य च संयोगो यस्माद् उकारात् पूर्वो न भवति, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य अजादौ सार्वधातुके प्रत्यये परतो यणादेशो भवति।

उदा०-(हुः) ते जुह्वति, स जुह्वतु। जुह्वत्। ते सुन्वन्ति। ते सुन्वन्तु, ते असुन्वन्।

आर्यभाषाः अर्थ-(हुश्नुवोः) 'हु' इसको और श्नु-प्रत्यय की (असंयोगपूर्वस्य ओः) जिसके उकार से पूर्व संयोग नहीं है उस उकारान्त (अनेकाचः) अनेक अचोंवाले (अङ्गस्य) अङ्ग को (अचि) अजादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर (यण्) यण् आदेश होता है।

उदा०-(हु) ते जुह्वति। वे सब यज्ञ करते हैं। ते जुह्वतु। वह यज्ञ करे। जुह्वत्। यज्ञ करता हुआ। (श्नु) ते सुन्वन्ति। वे सब पैदा होते हैं। ते सुन्वन्तु। वे सब पैदा होवें। ते असुन्वन्। वे सब पैदा हुये।

सिद्धि-(१) जुह्वति। हु+लट्। हु+ल्। हु+झि। हु+शप्+झि। हु+०+झि। हु-हु+अत् इ। झु-हु+अति। जु-ह्व्+अति। जुह्वति।

यहां 'हु दानादनयो:, आदाने चेत्येके' (जु०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से वर्तमानकाल अर्थ में 'लट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्य: श्लु:' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु (लोप) और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है। 'कुहोश्चु:' (७।४।६२) से अभ्यास के हकार को चवर्ग झकार और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से झकार को जश् जकार होता है। इस सूत्र से अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'यण्' (व्) आदेश होता है। 'हु' धातु के उकार से पूर्व संयोग नहीं है तथा द्वित्व अवस्था में (हु-हु) यह अनेकाच् है। ऐसे ही 'लोट्' लकार में-जुह्वतु। 'हु' धातु से 'लट: शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) से 'शतृ' प्रत्यय करने पर-जुह्वत्।

(२) सुन्वन्ति। सु+लट्। सु+ल्। सु+झि। सु+श्नु+अन्ति। सु+नु+अन्ति। सु+न् उ+अन्ति। सु+न् व्+अन्ति। सुन्वन्ति।

यहां 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय है। 'स्वादिभ्य: श्नु:' (३।१।७३) से 'श्नु' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से जिसके उकार से पूर्व संयोग नहीं है तथा जो अनेकाच् अङ्ग है उस इस 'सु+नु' श्नु-प्रत्ययान्त अङ्ग को अजादि सार्वधातुक 'अन्ति' प्रत्यय परे होने पर 'यण्' (व्) आदेश होता है। ऐसे ही 'लोट्' लकार में-सुन्वन्तु, और 'लङ्' लकार में-असुन्वन्।

वुक्-आगम:–

(१३) भुवो वुग् लुङ्लिटो:।८८।

प०वि०-भुव: ६।१ वुक् १।१ लुङ्-लिटो: ७।२।

स०-लुङ् च लिट् च तौ लुङ्लिटौ, तयो:-लुङ्लिटो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वय:-भुवोऽङ्गस्य अचि लुङ्लिटोर्वुक्।

अर्थ:-भुवोऽङ्गस्य अजादौ लुङि लिटि च प्रत्यये परतो वुगागमो भवति।

उदा०-(लुङ्) ते अभूवन्। अहम् अभूवम्। (लिट्) स बभूव। तौ बभूवतुः। ते बभूवुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भुवः) भू (अङ्गस्य) अङ्ग को (अचि) अजादि (लुङ्लिटोः) लुङ् और लिट् प्रत्यय परे होने पर (वुक्) वुक् आगम होता है।*

उदा०-(लुङ्) ते अभूवन्। वे सब हुये। अहम् अभूवम्। मैं हुआ। (लिट्) स बभूव। वह हुआ। तौ बभूवतुः। वे दोनों हुये। ते बभूवुः। वे सब हुये।

सिद्धि-(१) अभूवन्। भू+लुङ्। अट्+भू+ल्। अ+भू+च्लि+ल्। अ+भू+सिच्+झि। अ+भू+०+अन्ति। अ+भू वुक्+अन्ति। अ+भू+व्+अन्ति। अ+भूव्+अन्त्। अ+भूव्+अन्०। अभूवन्।

यहां 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'गतिस्थाघु०' (२।४।७७) से 'सिच्' का लुक् होता है। इस सूत्र से 'भू' अङ्ग को अजादि, लुङ्विषयक 'अन्ति' प्रत्यय परे होने पर 'वुक्' आगम होता है। 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से संयोगान्त तकार का लोप होता है। ऐसे ही उत्तम पुरुष एकवचन में-अभूवम्।

(२) बभूव। भू+लिट्। भू+ल्। भू+तिप्। भू+णल्। भू+अ। भू वुक्+अ। भूव्+अ। ब-भूव्+अ। बभूव।

यहां 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश है। इस सूत्र से 'भू' अङ्ग को लिट्-विषयक, अजादि 'अ' प्रत्यय परे होने पर 'वुक्' आगम होता है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व, 'भवतेरः' (७।४।७३) से अभ्यास को अकारादेश और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से अभ्यास के भकार को जश् बकार होता है। ऐसे ही द्विवचन और बहुवचन में-बभूवतुः, बभूवुः।

ऊत्-आदेशः—

(१४) ऊदुपधाया गोहः।८६।

प०वि०-ऊत् १।१ उपधायाः ६।१ गोहः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, अचि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-गोहोऽङ्गस्य उपधाया अचि ऊत्।

अर्थः-गोहोऽङ्गस्य उपधायाः स्थाने अजादौ प्रत्यये परत ऊकारादेशो भवति।

उदा०-स निगूहति। निगूहकः। साधुनिगूही। निगूहंनिगूहम्। निगूहो वर्तते।

आर्यभाषाः *अर्थ-(गोहः) गोह (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (ऊत्) ऊकारादेश होता है।*

उदा०-स निगूहति। वह छुपाता है। निगूहकः। छुपानेवाला। साधुनिगूही। छुपाने के स्वभाववाला। निगूहंनिगूहम्। छुपा-छुपाकर। निगूहो वर्तते। छुपाना है।

सिद्धि-(१) निगूहति। नि+गुह्+लट्। नि+गुह्+ल्। नि+गुह्+शप्+तिप्। नि+गुह्+अ+ति। नि+गोह्+अ+ति। नि+गूह्+अ+ति। निगूहति।

यहां नि-उपसर्गपूर्वक 'गुहू संवरणे' (भ्वा०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से धातु को लघूपध गुण (ओ) होता है। इस सूत्र से अजादि 'शप्' प्रत्यय परे होने पर 'गोह्' अङ्ग की उपधा (ओ) के स्थान में ऊकार आदेश होता है।

(२) निगूहकः। यहां नि-उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'गुह्' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'ण्वुल्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) साधुनिगूही। यहां नि-उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'गुह्' धातु से 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (३।२।७८) से ताच्छील अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) निगूहंनिगूहम्। यहां नि-उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'गुह्' धातु से 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से 'णमुल्' प्रत्यय है। वा०- 'आभीक्ष्ण्ये' (द्वि भवतः) (८।१।१२) से द्विर्वचन होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) निगूहः। यहां नि-उपसर्गपूर्वक पूर्वोक्त 'गुह्' धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

ऊत्-आदेशः-

(१५) दोषो णौ।६०।

प०वि०-दोषः ६।१ णौ ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, ऊत्, उपधाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दोषोऽङ्गस्य उपधाया णौ ऊत्।

अर्थः-दोषोऽङ्गस्य उपधायाः स्थाने णौ प्रत्यये परत ऊकारादेशो भवति।

उदा०-स दूषयति। तौ दूषयतः। ते दूषयन्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(दोषः) दोष् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (ऊत्) ऊकार आदेश होता है।*

*उदा०-**स दूषयति।** वह विकृत करता है (बिगाड़ता) है। **तौ दूषयतः।** वे दोनों विकृत करते हैं। **ते दूषयन्ति।** वे सब विकृत करते हैं।*

*सिद्धि-**दूषयति।** दुष्+णिच्। दुष्+इ। दोष्+इ। दूष्+इ। दूषि।। दूषि+लट्। दूषि+ल्। दूषि+तिप्। दूषि+शप्+ति। दूषे+अ+ति। दूष् अय्+अ+ति। दूषयति।*

*यहां प्रथम **'दुष वैकृत्ये'** (दि०प०) धातु से **'हेतुमति च'** (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से धातु को लघूपध गुण (ओ) होता है। इस सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर 'दोष्' के उपधाभूत ओकार के स्थान में ऊकार आदेश होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'दोषि' धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। ऐसे ही द्विवचन और बहुवचन में-**तौ दूषयतः, ते दूषयन्ति।***

ऊकारादेश-विकल्पः—

(१६) वा चित्तविरागे।६१।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, चित्त-विरागे ७।१।

स०-चित्तस्य विराग इति चित्तविरागः, तस्मिन्-चित्तविरागे। विरागः=विकार इत्यर्थः।

अनु०-अङ्गस्य, ऊत्, उपधायाः, दोषः, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चित्तविरागे दोषोऽङ्गस्य उपधाया णौ वा ऊत्।

अर्थः-चित्तविरागे=चित्तविकारेऽर्थे दोषोऽङ्गस्य उपधायाः स्थाने णौ प्रत्यये परतो विकल्पेन ऊकारादेशो भवति।

उदा०-चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति। प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(चित्तविरागे) चित्त-विकार अर्थ में (दोषः) दोष् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (वा) विकल्प से (ऊत्) ऊकारादेश होता है।*

*उदा०-**चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति।** वह चित्त को बिगाड़ता है। **प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति।** वह प्रज्ञा को बिगाड़ता है। प्रज्ञा=बुद्धि।*

*सिद्धि-**दूषयति** शब्द की सिद्धि पूर्ववत् है। केवल चित्तविराग अर्थविशेष है। विकल्प-पक्ष में 'दोष्' अङ्ग की उपधा को ऊकारादेश नहीं है-**दोषयति।***

ह्रस्वादेशः-

(१७) मितां ह्रस्वः।६२।

प०वि०-मिताम् ६।३ ह्रस्वः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मिताम् अङ्गानाम् उपधाया णौ ह्रस्वः।

अर्थः-मिताम् अङ्गानाम् उपधायाः स्थाने णौ प्रत्यये परतो ह्रस्वादेशो भवति।

उदा०-स घटयति। स व्यथयति। स जनयति। स रजयति। स शमयति। स ज्ञपयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मिताम्) मित्-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-स घटयति। वह चेष्टा (प्रयत्न) कराता है। स व्यथयति। वह भय और संचलन कराता है। स जनयति। वह प्रादुर्भाव कराता है। स रजयति। वह मृगों को मारता है। स शमयति। वह उपशान्त करता है। स ज्ञपयति। वह मारता है।

सिद्धि-(१) घटयति। घट्+णिच्। घट्+इ। घाट्+इ। घट्+इ। घटि।। घटि+लट्। घटयति।

यहां 'घट चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११५) से 'घट्' को उपधावृद्धि होती है। इस सूत्र से मित्-संज्ञक 'घट्' धातु की उपधा को 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्वादेश होता है।

(२) व्यथयति। 'व्यथ भयसञ्चलनयोः' (भ्वा०आ०) से पूर्ववत्।

(३) जनयति। 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से पूर्ववत्। 'जनी' की 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० गणसूत्र) से मित्-संज्ञा है।

(४) रजयति। 'रञ्ज रागे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय वा०- 'रञ्जेर्णौ मृगमारणे उपसंख्यानम्' (६।४।२६) से अनुनासिक (ञ्) का लोप और 'अत उपधायाः' (७।२।११५) से वृद्धि होती है। शेष कार्य पूर्ववत् है। 'रञ्ज' धातु की 'जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० गणसूत्र) से मित्-संज्ञा है।

(५) शमयति। 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'शमोऽदर्शने' (भ्वा० गणसूत्र) से 'शमु' धातु की दर्शन अर्थ से अन्यत्र मित्-संज्ञा होती है।

(६) ज्ञपयति। यहां 'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। 'अर्तिह्री०' (७।३।३६) से 'पुक्' आगम होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। 'मारणतोषण-निशामनेषु ज्ञा' (भ्वा० गणसूत्र) से 'ज्ञा' धातु की मारण-आदि अर्थों में मित्-संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं।

विशेषः *'घट चेष्टायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से लेकर 'फण गतौ' (वृत्) तक घटादि धातुओं की मित्-संज्ञा है। 'वृत्' शब्द घटादि गण की समाप्ति का द्योतक है। मित्-संज्ञक धातु पाणिनीय धातुपाठ के भ्वादिगण में देख लेवें।*

दीर्घादेश-विकल्पः-

(१८) चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्।६३।

प०वि०-चिण्-णमुलोः ७।२ दीर्घः १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-चिण् च णमुल् च तौ चिण्णमुलौ, तयोः-चिण्णमुलोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-मिताम् अङ्गानाम् उपधायाश्चिण्णमुलोर्णावन्यतरस्यां दीर्घः।

अर्थः-मिताम् अङ्गानाम् उपधायाः स्थाने चिण्परके च णौ प्रत्यये परतो विकल्पेन दीर्घो भवति।

उदा०-चिण्परके णौ-तेन अशमि, अशामि। तेन अतमि, अतामि। **णमुल्परके णौ**-शमंशमम्, शामंशामम्। तमंतमम्, तामंतामम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मिताम्) मित्-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (चिण्णमुलोः) चिण्परक और णमुल्परक (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।*

उदा०-चिण्परक णिच्-तेन अशमि, अशामि। उसके द्वारा उपशान्त कराया गया। तेन अतमि, अतामि। उसके द्वारा आकाङ्क्षा (इच्छा) कराई गई। णमुल्परक णिच्-शमंशमम्, शामंशामम्। उपशान्त करा-कराकर। तमंतमम्, तामंतामम्। आकाङ्क्षा करा-कराकर।

सिद्धि-(१) अशमि। शम्+णिच्। शम्+इ। शाम्+इ। शामि। शमि+लुङ्। अट्+शमि+ल्। अ+शमि+च्लि+ल्। अ+शमि+चिण्+तिप्। अ+शम्+इ+त्। अ+शम्+इ+०। अशमि।

यहां प्रथम 'शमु उपशमे' (दि०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११५) से उपधावृद्धि होती है और 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) से ह्रस्वादेश होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'शमि' धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से कर्मवाच्य अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'चिण् भावकर्मणोः' (३।१।६६) से 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश होता है। इस सूत्र से चिण्परक 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (शम्) की उपधा को दीर्घ होता है-अशामि।

(२) अतमि। 'तमु काङ्क्षायाम्' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्। विकल्प-पक्ष में अङ्ग (शम्) की उपधा को दीर्घ होता है-अतामि।

(३) शमंशमम्। शम्+णिच्। शम्+इ। शाम्+इ। शमि+णमुल्। शामि+अम्। शम्+अम्। शमम्। शमंशमम्।

यहां 'शमु उपशमे' धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। णिजन्त 'शमि' धातु से 'अभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) से आभीक्ष्ण्य अर्थ में 'णमुल्' प्रत्यय है। वा०-'आभीक्ष्ण्ये' (द्वि भवतः) (८।१।१२) से द्विर्वचन होता है। इस सूत्र से णमुल्परक 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग (शम्) की उपधा को दीर्घ नहीं है। विकल्प-पक्ष में अङ्ग (शम्) की उपधा को दीर्घ होता है-शामंशामम्। ऐसे ही 'तमु काङ्क्षायाम्' (दि०प०) धातु से-तमंतमम्, तामंतामम्।

ह्रस्वादेशः-

(१६) खचि ह्रस्वः।६४।

प०वि०-खचि ७।१ ह्रस्वः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, णौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य उपधायाः खचि णौ ह्रस्वः।

अर्थः-अङ्गस्य उपधायाः स्थाने खच्परके णौ परतो ह्रस्वो भवति।

उदा०-द्विषन्तपः। परन्तपः। पुरन्दरः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (खचि) खच्परक (णौ) णिच् प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-द्विषन्तपः। द्वेष करनेवाले को सन्ताप देनेवाला। परन्तपः। शत्रु को सन्ताप देनेवाला। पुरन्दरः। नगर का विदारण करनेवाला (इन्द्र)।

सिद्धि-(१) द्विषन्तपः। तप्+णिच्। तप्+इ। तापि।। द्विषत्+तापि+खच्। द्विषत्+तापि+अ। द्विषत्+तपि+अ। द्विष मुमत्+तप्+अ। द्विषमत्+तप्+अ। द्विषम्०+तप+अ। द्विषन्तप+सु। द्विषन्तपः।

यहां प्रथम 'तप सन्तापे' (भ्वा०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११५) से अङ्ग (तप्) को उपधावृद्धि होती है। तत्पश्चात् द्विषत्-उपपद णिजन्त 'तापि' धातु से 'द्विषत्परयोस्तापेः' (३।२।३९) से 'खच्' प्रत्यय है। इस सूत्र से खच्परक 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर अङ्ग की उपधा को ह्रस्वादेश होता है। 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णिच्' का लोप होता है। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६५) से 'मुम्' आगम और 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'द्विषत्' के तकार का लोप होता है। ऐसे ही-परन्तपः।

(२) पुरन्दरः। यहां प्रथम 'दॄ विदारणे' (स्वा०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् पुर्-उपपद णिजन्त 'दारि' धातु से 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' (३।२।४१) से 'खच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

ह्रस्वादेशः-

(२०) ह्लादो निष्ठायाम्।९५।

प०वि०-ह्लादः ६।१। निष्ठायाम् ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ह्लादोऽङ्गस्य उपधाया निष्ठायां ह्रस्वः।

अर्थः-ह्लादोऽङ्गस्य उपधायाः स्थाने निष्ठायां प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति।

उदा०-प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान्।

आर्यभाषा: *अर्थ-(ह्लादः) ह्लाद् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (निष्ठायाम्) निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान्। प्रसन्न हुआ।

सिद्धि-प्रह्लन्नः। प्र+ह्लाद्+क्त। प्र+ह्लाद्+त। प्र+ह्लद्+त। प्र+ह्लद्+न। प्रह्लन्+न। प्रह्लन्न+सु। प्रह्लन्नः।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'ह्लादी सुखे च' (भ्वा०आ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल अर्थ में 'क्त' है। 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१।१।२६) से 'क्त' प्रत्यय की 'निष्ठा' संज्ञा है। इस सूत्र से निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय परे होने पर 'ह्लाद्' अङ्ग की उपधा को ह्रस्वादेश होता है। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) से 'निष्ठा' (क्त) के तकार को नकारादेश और धातु के पूर्ववर्ती दकार को भी नकारादेश होता है। ऐसे ही 'क्तवतु' प्रत्यय करने पर-प्रह्लन्नवान्।

ह्रस्वादेशः—

(२१) छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य।६६।

प०वि०-छ-आदेः ६।१ घे ७।१ अद्वि-उपसर्गस्य ६।१।

स०-छ आदिर्यस्य स छादिः, तस्य-छादेः (बहुव्रीहिः)। द्वौ उपसर्गौ यस्य स द्व्युपसर्गः, न द्व्युपसर्ग इति अद्व्युपसर्गः, तस्य-अद्व्युपसर्गस्य (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, ह्रस्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अद्व्युपसर्गस्य छादेरङ्गस्य उपधाया घे ह्रस्वः।

अर्थः-अद्व्युपसर्गस्य छकारादेरङ्गस्य उपधायाः स्थाने घे प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति।

उदा०-उरश्छन्दः। प्रच्छदः। दन्तच्छदः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अद्व्युपसर्गस्य) दो उपसर्गों से रहित (छादेः) छकार जिसके आदि में उस (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (घे) घ-प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-उरश्छन्दः। छाती की रक्षा के लिये धारण किया जानेवाला कवचविशेष। प्रच्छदः। बिछावन की चादर। दन्तच्छदः। दांतों को ढकनेवाला-ओष्ठ (होठ)।

सिद्धि-उरश्छन्दः। छद्+णिच्। छद्+इ। छाद्+इ। छादि।। उरस्+छादि+घ। उरस्+छादि+अ। उरस्+छाद्+अ। उरस्+छद्+अ। उरश्छद+सु। उरश्छदः।

यहां प्रथम 'छद अपवारणे' (चु०उ०) धातु से 'सत्यापपाश०' (३।१।२५) से चौरादिक 'णिच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् उरस्-उपपद णिजन्त 'छादि' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) से संज्ञाविषय में 'घ' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'घ' प्रत्यय परे होने पर दो उपसर्गों से रहित, छकारादि अङ्ग (छाद्) की उपधा को ह्रस्वादेश होता है। 'णेरनिटि' (६।४।५१) से 'णि' का लोप है। 'उरसश्छद इति उरश्छदः। वा०- कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। ऐसे ही-प्रच्छदः, दन्तच्छदः। यहां 'छे च' (८।१।७२) से 'तुक्' आगम होता है।

ह्रस्वादेशः—

(२२) इस्मन्त्रन्क्विषु च।६७।

प०वि०-इस्-मन्-त्रन्-क्विषु ७।३ च अव्ययपदम्।

स०-इस् च मन् च त्रन् च क्विश्च ते इस्मन्त्रन्क्वयः, तेषु-इस्मन्त्रन्क्विषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उपधायाः, ह्रस्वः, छादेः।

अन्वयः-छादेरङ्गस्य उपधाया इस्मन्त्रन्क्विषु च ह्रस्वः।

अर्थः-छकारादेरङ्गस्य उपधायाः स्थाने इस्मन्त्रन्क्विषु प्रत्ययेषु च परतो ह्रस्वो भवति।

उदा०-(इस्) छदिः। (मन्) छद्म। (त्रन्) छत्रम्। (क्विप्) धामच्छत्। उपच्छत्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छादेः) छकार जिसके आदि में है उस (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (इस्मन्त्रन्क्विषु) इस्, मन्, त्रन् और क्विप् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (ह्रस्वः) ह्रस्वादेश होता है।*

उदा०-(इस्) छदिः। गाड़ी की छत/घर की छत। (मन्) छद्म। कपटवेश। (त्रन्) छत्रम्। छाता। (क्विप्) धामच्छत्। घर को आच्छादित करनेवाला छप्पर आदि। उपच्छत्। ढक्कन/परदा।

सिद्धि-(१) छदिः। छादि+इसि। छादि+इस्। छाद्+इस्। छद्+इस्। छदिस्+सु। छदिस्+०। छदिः।

*यहां 'छद अपवारणे' (चु०प०) इस णिजन्त धातु से '**अर्चिशुचिहुसृपिछादिछृदिभ्यः इसिः**' (उणा० २।१०९) से 'इसि' प्रत्यय है। '**णेरनिटि**' (६।४।५१) से 'णिच्' का लोप होता है। इस सूत्र से छकारादि अङ्ग (छाद्) की उपधा के स्थान में 'इस्' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्वादेश (छद्) होता है।*

(२) छद्म। छादि+मनिन्। छादि+मन्। छाद्+मन्। छद्+मन्। छद्मन्+सु। छद्मन्+०। छद्मन्। छद्म।

*यहां पूर्वोक्त णिजन्त 'छादि' धातु से '**सर्वधातुभ्यो मनिन्**' (उणा० ४।१४६) से 'मनिन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से छकारादि अङ्ग (छाद्) की उपधा को ह्रस्वादेश होता है। '**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०**' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और '**नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य**' (८।२।७) से नकार का लोप होता है।*

(३) छत्रम्। छादि+ष्ट्रन्। छादि+त्रन्। छाद्+त्र। छद्+त्र। छत्+त्र। छत्र+सु। छत्रम्।

*यहां पूर्वोक्त णिजन्त 'छादि' धातु से '**सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्**' (उणा० ४।१६०) से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से छकारादि अङ्ग (छाद्) की उपधा को ह्रस्वादेश होता है।*

(४) धामच्छत्। धाम+छादि+क्विप्। धाम+छादि+ति। धाम+छादि+०। धाम+छाद्+०। धाम+छद्+०। धाम+तुक्+छद्+०। धाम+च्+छत्+०। धामच्छत्।

यहां धाम-उपपद पूर्वोक्त छकारादि 'छादि' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।३।१७८) से 'क्विप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से छकारादि अङ्ग (छाद्) की उपधा को ह्रस्वादेश होता है। 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'क्विप्' का सर्वहारी लोप है। 'छे च' (६।१।७२) से 'तुक्' आगम होता है। ऐसे ही उप-उपसर्ग पूर्वक से -उपच्छत्।

लोपादेशः–

(२३) गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि।६८।

प०वि०-गम-हन-जन-खन-घसाम् ६।३ लोपः १।१ क्ङिति ७।१ अनङि ७।१।

स०-गमश्च हनश्च जनश्च खनश्च घस् च ते गमहनजनखनघसः, तेषाम्-गमहनजनखनघसाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कश्च ङश्च तौ क्ङौ, क्ङावितौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्-क्ङिति (बहुव्रीहिः) न अङ् इति अनङ्, तस्मिन्-अनङि (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, उपधाया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-गमहनजनखनघसाम् अङ्गानाम् उपधाया अनङि अचि क्ङिति लोपः।

अर्थः-गमहनजनखनघसाम् अङ्गानाम् उपधाया अङ्वर्जितेऽजादौ किति ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-**(गमः)** तौ जग्मतुः। ते जग्मुः। **(हनः)** तौ जघ्नतुः। ते जघ्नुः। **(जनः)** स जज्ञे। तौ जज्ञाते। ते जज्ञिरे। **(खनः)** तौ चख्नतुः। ते चख्नुः। **(घस्)** तौ जक्षतुः। ते जक्षुः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(गमहनजनखनघसाम्) गम, हन, जन, खन, घस् इन (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (अनङि) अङ्ग को छोड़कर (अचि) अजादि (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।*

*उदा०-(गम) **तौ जग्मतुः।** वे दोनों गये। **ते जग्मुः।** वे सब गये। (हन) **तौ जघ्नतुः।** उन दोनों ने हिंसा/गति की। **ते जघ्नुः।** उन सब ने हिंसा/गति की। (जन) **स जज्ञे।** वह उत्पन्न हुआ। **तौ जज्ञाते।** वे दोनों उत्पन्न हुये। **ते जज्ञिरे।** वे सब उत्पन्न हुये। (खन) **तौ चख्नतुः।** उन दोनों ने खोदा। **ते चख्नुः।** उन सब ने खोदा। (घस्) **तौ जक्षतुः।** उन दोनों ने खाया। **ते जक्षुः।** उन सब ने खाया।*

सिद्धि-(१) जग्मतुः। गम्+लिट्। गम्+ल्। गम्+तस्। गम्+अतुस्। ग्म्+अतुस्। गम्-ग्म्+अतुस्। ग-गम्+अतुस्। ज-ग्म्+अतुस्। जग्मतुः।

यहां 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' आदेश होता है। इस सूत्र से 'गम्' अङ्ग की उपधा (अ) का अजादि कित् 'अतुस्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'अतुस्' प्रत्यय किद्वत् होता है। अङ्ग के उपधा लोप को 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) से स्थानिवत् मानकर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'गम्' धातु को द्विर्वचन होता है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से 'अभ्यास' के गकार को चवर्ग 'जकार' आदेश है। ऐसे ही 'उस्' प्रत्यय करने पर-जग्मुः।

(२) जघ्नतुः। यहां 'हन हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'अतुस्' प्रत्यय है। 'अभ्यासाच्च' (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर 'हन्' के हकार को कुत्व घकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-जघ्नुः।

(३) जज्ञे। जन्+लिट्। जन्+ल्। जन्+त। जन्+एश्। ज्न्+ए। जन्-ज्न्+ए। ज+ज्ञ्+ए। जज्ञे।

यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्', इसके स्थान में 'त' आदेश और 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से नकार को चवर्ग 'ञकार' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। 'आताम्' प्रत्यय परे होने पर-जज्ञाते। 'झ' (इरेच्) प्रत्यय परे होने पर-जज्ञिरे।

(४) चख्नतुः। 'खनु अवदारणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। 'उस्' प्रत्यय परे होने पर-चख्नुः।

(५) जक्षतुः। अद्+लिट्। अद्+ल्। घस्+ल्। घस्+तस्। घ्स्+अतुस्। घस्-घ्स्+अतुस्। घ-घ्स्+अतुस्। ज+क्ष्+अतुस्। जक्षतुः।

यहां 'अद भक्षणे' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्', इसके स्थान में 'त' आदेश और इसके स्थान में 'अतुस्' आदेश है। 'खरि च' (८।४।५५) से घकार को चर् ककार और 'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) से षत्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'उस्' प्रत्यय परे होने पर-जक्षुः।

लोपादेशः-

(२४) तनिपत्योश्छन्दसि।९९।

प०वि०-तनि-पत्योः ६।२ छन्दसि ७।१।

स०-तनिश्च पतिश्च तौ तनिपती, तयोः-तनिपत्योः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, उपधायाः, लोपः, क्ङिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि तनिपत्योरङ्गयोरुपधाया अचि क्ङिति लोपः।

अर्थः-छन्दसि विषये तनिपत्योरङ्गयोरुपधाया अजादौ किति ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-(तनिः) वितत्निरे कवयः (ऋ० १।१६४।५)। **(पतिः)** शकुना इव पप्तिम (ऋ० ९।१०७।२०)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (तनिपत्योः) तनि और पति (अङ्गस्य) अंगों की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (अचि) अजादि (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।*

उदा०-(तनिः) वितत्निरे कवयः (ऋ० १।१६४।५)। (पतिः) शकुना इव पप्तिम (ऋ० ९।१०७।२०)।

सिद्धि-(१) वितत्निरे। वि+तन्+लिट्। वि+तन्+ल्। वि+तन्+झ। वि+तन्+इरेच्। वि+तन्+इरे। वि+तन्-तन्+इरे। वि+त-त्न्+इरे। वितत्निरे।

यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' (तना०उ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।४।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (६।१।८) से 'झ' के स्थान में 'इरेच्' आदेश होता है। इस सूत्र से अजादि, कित् 'इरेच्' प्रत्यय परे होने पर 'तन्' अङ्ग की उपधा का लोप होता है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'इरेच्' प्रत्यय किद्वत् है। अङ्ग के उपधालोप को 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) से स्थानिवत् मानकर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'तन्' धातु को द्विर्वचन होता है।

(२) पप्तिम। यहां 'पत्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय है। 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से 'मस्' के स्थान में 'म' आदेश है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

लोपादेशः-

(२५) घसिभसोर्हलि च।१००।

प०वि०-घसि-भसोः ६।२ हलि ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-घसिश्च भस् च तौ घसिभसौ, तयोः-घसिभसोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, अचि, उपधायाः, लोपः, क्ङिति, छन्दसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि घसिभसोरङ्गयोरुपधाया हलि अचि च क्ङिति लोपः।

अर्थः-छन्दसि विषये घसिभसोरङ्गयोरुपधाया हलादावजादौ च किति ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-(घसिः) सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)। बब्धां ते हरी धानाः (निरुक्तम्-५।१२)। अजादौ-बप्सति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (घसिभसोः) घसि और भस् (अङ्गस्य) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान में (हलि) हलादि (च) और (अचि) अजादि (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।*

उदा०-(घसि) सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (यजु० १८।९)। सग्धिः=समान भोजन। (भस्) बब्धां ते हरी धानाः (निरुक्तम्-५।१२)। बब्धाम्। वे दोनों भर्त्सन/दीप्त करें। अजादि-ते बप्सति। वे सब भर्त्सन/दीप्त करते हैं।

सिद्धि-(१) सग्धिः। अद्+क्तिन्। अद्+ति। घस्लृ+ति। घस्+ति। घ्स्+ति। घ्०+ति। ग्+धि। ग्धि+सु। समाना ग्धरिति-सग्धिः।

यहां 'अद भक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय और और 'बहुलं छन्दसि' (२।४।३९) से 'अद्' के स्थान में 'घस्लृ' आदेश है। इस सूत्र से हलादि, कित् 'क्तिन्' प्रत्यय परे होने पर 'घस्' की उपधा (अ) का लोप होता है। तत्पश्चात् कर्मधारय समास में 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (६।३।८४) से 'समान' के स्थान में 'स' आदेश होता है।

(२) बब्धाम्। भस्+लोट्। भस्+ल्। भस्+तस्। भस्+ताम्। भस्+शप्+ताम्। भस्+०+ताम्। भस्-भस्-ताम्। भ-भ्स्+ताम्। भ-भ्स्+धाम्। भ-पस्-धाम्। भ-प्०+धाम्। भ-ब्+धाम्। ब-ब्+धाम्। बब्धाम्।

यहां 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' (जु०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (३।४।१०१) से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' आदेश है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को 'श्लु' आदेश होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से 'भस्' धातु को द्विर्वचन होता है। इस सूत्र से हलादि, ङित् 'ताम्' प्रत्यय परे होने पर 'भस्' अङ्ग की उपधा (अ) का लोप होता है। 'झलो झलि' (८।२।२६) से सकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से तकार को धकार, 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से पकार को 'जश्' बकार होता है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से अभ्यास के भकार को जश् बकार होता है।

(३) बप्सति। भस्+लट्। भस्+ल्। भस्+झि। भस्+शप्+झि। भस्+०+झि। भस्-भस्+अति। भ-भस्+अति। भ-भ्स्+अति। भ-प्स्+अति। बप्स्+अति। बप्सति।

यहां पूर्वोक्त 'भस्' धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। पूर्ववत् 'शप्' को 'श्लु' और 'भस्' धातु को द्विर्वचन होता है। 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४) से 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश है। इस सूत्र से अजादि, ङित् 'अति' प्रत्यय परे होने पर 'भस्' अङ्ग की उपधा (अ) का लोप होता है। 'खरि च' (८।४।५५) से 'भ्' को चर् पकार होता है। 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से भकार को 'जश्' बकार होता है।

धि-आदेशः–

(२६) हुझल्भ्यो हेर्धिः।१०१।

प०वि०–हु-झल्भ्यः ५।३ हेः ६।१ धिः १।१।

स०–हुश्च झलश्च ते हुझलः, तेभ्यः–हुझल्भ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–अङ्गस्य, हलि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–हुझल्भ्योऽङ्गेभ्यो हलो हेर्धिः।

अर्थः–'हु' इत्यस्माद् झलन्तेभ्यश्च अङ्गेभ्यः परस्य हलादेर्हेः प्रत्ययस्य स्थाने धिरादेशो भवति।

उदा०–(हुः) त्वं जुहुधि। (झलन्तः) त्वं भिन्द्धि। त्वं छिन्द्धि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हुझल्भ्यो) 'हु' इससे और झलन्त (अङ्गात्) अङ्गों से परे (हलि) हलादि (हिः) हि-प्रत्यय के स्थान में (धिः) धि-आदेश होता है।*

उदा०-(हु) त्वं जुहुधि। तू यज्ञ कर। (झलन्त) त्वं भिन्द्धि। तू भेदन कर। त्वं छिन्द्धि। तू छेदन कर।

सिद्धि-(१) जुहुधि। हु+लोट्। हु+ल्। हु+सिप्। हु+शप्+सि। हु+०+सि। हु-हु+सि। हु-हु+हि। हु-हु+धि। झु-हु+धि। जु-हु+धि। जुहुधि।

यहां 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके' (जु०प०) धातु से 'लोट् च' (३।४।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) से 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश होता है और वह 'अपित्' होता है। अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से वह ङिद्वत् माना जाता है। इस सूत्र से हलादि, 'हि' प्रत्यय के स्थान में 'धि' आदेश होता है। इसके ङिद्वत् होने से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८५) से अङ्ग (हु) को गुण नहीं होता है। 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के हकार को चवर्ग झकार और इसे 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से जश् जकार आदेश होता है।

(२) भिन्द्धि। भिद्+लोट्। भिद्+ल्। भिद्+सिप्। भि नम् द्+सि। भिनद्+हि। भिन्द्+धि। भिन्द्धि।

यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय और 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश है। 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'श्नम्' के अकार का लोप होता है। इस सूत्र से झलन्त 'भिन्द्' अङ्ग से परे 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है। ऐसे ही 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा०प०) धातु से-छिन्द्धि।

धि-आदेशः–

(२७) श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि।१०२।

प०वि०-श्रु-शृणु-पृ-कृ-वृभ्यः ५।३ छन्दसि ७।१।

स०-श्रुश्च शृणुश्च पृश्च कृश्च वृश्च ते श्रुशृणुपृकृवरः, तेभ्यः-श्रुशृणुपृकृवृभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, हेः, धिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि श्रुशृणुपृकृवृभ्योऽङ्गेभ्यो हेर्धिः।

अर्थः-छन्दसि विषये श्रुशृणुपृकृवृभ्योऽङ्गेभ्य उत्तरस्य हि-प्रत्ययस्य स्थाने धिरादेरादेशो भवति।

उदा०-(श्रुः) श्रुधी हवम् (ऋ० २।११।१) (शृणुः) गिरः शृणुधी (ऋ० ८।१३।७)। (पृः) पूर्धि (ऋ० ८।७८।१०)। (कृः) उरु णस्कृधि (ऋ० ८।७५।११)। (वृः) अपा वृधि (ऋ० १।७।६)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (श्रु०वृभ्यः) श्रु, शृणु, पृ, कृ और वृ (अङ्गस्य) अङ्गों से परे (हेः) हि-प्रत्यय के स्थान में (धि) धि-आदेश होता है।*

उदा०-(श्रु) श्रुधी हवम् (ऋ० २।११।१)। श्रुधि=तू सुन। (शृणु) गिरः शृणुधी (ऋ० ८।१३।७)। शृणुधि=तू सुन। (पृ) पूर्धि (ऋ० ८।७८।१०)। पूर्धि=तू पालन/पूषण कर। (कृः) उरु णस्कृधि (ऋ० ८।७५।११)। कृधि=तू कर। (वृ) अपा वृधि (ऋ० १।७।६)। वृधि=तू आच्छादित कर।

सिद्धि-(१) श्रुधि। श्रु+लोट्। श्रु+ल्। श्रु+शप्+सिप्। श्रु+0+सि। श्रु+हि। श्रु+धि। श्रुधि।

यहां 'श्रु श्रवणे' (भ्वा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) से व्यत्यय से 'शप्' विकरण-प्रत्यय और 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से इसका लुक् होता है। इस सूत्र से 'श्रु' अङ्ग से परे 'हि' के स्थान में

'धि' आदेश होता है। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३५) से छन्दविषय में दीर्घ होता है-श्रुधी।

(२) शृणुधि। श्रु+लोट्। श्रु+ल्। श्रु+सिप्। श्रु+श्नु+सि। शृ+नु+हि। शृ+नु+धि। शृ+णु+धि। शृणुधि।

यहां पूर्वोक्त 'श्रु' धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'श्रुवः शृ च' (३।१।७४) से 'श्रु' के स्थान में 'शृ' आदेश और 'श्नु' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'शृणु' अङ्ग से परे 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है। धि-आदेश के विधान-सामर्थ्य से 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६।४।१०६) से 'हि' का लुक् नहीं होता है। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३५) से छन्दविषय में दीर्घ है-शृणुधी।

(३) पूर्धि। पॄ+लोट्। पॄ+ल्। पॄ+सिप्। पॄ+शप्+सि। पॄ+०+सि। पॄ+हि। पॄ+धि। पुर्+धि। पूर्+धि। पूर्धि।

यहां 'पॄ पालनपूरणयोः' (क्र्या०प०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। पूर्ववत् 'शप्' विकरण-प्रत्यय और उसका लुक् होता है। इस सूत्र से 'पॄ' अङ्ग से परे 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) से 'पॄ' के ॠकार को उकार आदेश, इसे 'उरण्रपरः' (१।१।५१) से रपरत्व और 'हलि च' (८।२।७७) से दीर्घ (पूर्) होता है।

(४) कृधि। 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(५) वृधि। 'वृञ् आच्छादने' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

धि-आदेशः-

(२८) अङितश्च।१०३।

प०वि०-अङितः ६।१। च अव्ययपदम्।

स०-ङ इद् यस्य स ङित्, न ङिद् इति अङित्, तस्य-अङितः (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, हेः, धिः, छन्दसि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि अङ्गाद् अङितो हेश्च धिः।

अर्थः-छन्दसि विषये अङ्गात् परस्य अङितो हि-प्रत्ययस्य स्थाने च धिरादेशो भवति।

उदा०-सोम रारन्धि (ऋ० १।९१।१३)। अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि (ऋ० ३।३६।९)। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (ऋ० १।१८९।१)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (अङ्गात्) अङ्ग से परे (अङ्गितः) ङित् से भिन्न (हिः) हि-प्रत्यय के स्थान में (च) भी (धिः) धि-आदेश होता है।*

उदा०-सोम ररान्धि (ऋ० १।९१।१३)। ररान्धि=तू रमण कर। अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि (ऋ० ३।३६।९)। प्रयन्धि=तू प्रकर्षतः उपरमण कर। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (ऋ० १।१८९।१)। युयोधि=तू दूर कर।

सिद्धि-(१) ररान्धि। रम्+लोट्। रम्+ल्। रम्+सिप्। रम्+शप्+सि। रम्+०+सि। रम्-रम्+सि। र-रम्+धि। रा-रम्+धि। ररान्धि।

यहां 'रमु क्रीडायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) से व्यत्यय से छन्द में परस्मैपद, 'शप्' को 'श्लु' और अभ्यास को दीर्घ होता है। 'वा छन्दसि' (३।४।८८) से 'हि' आदेश 'पित्' है अतः यह 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से ङिद्वत् नहीं होता है और इसके अङित् होने से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (६।४।३७) से अनुनासिक मकार का लोप नहीं होता है।

(२) प्रयन्धि। प्र+यम्+लोट्। प्र+यम्+ल्। प्र+यम्+सिप्। प्र+यम्+शप्+सि। प्र+यम्+०+सि। प्र+यम्+धि। प्रयन्धि।

यहां प्र-उपसर्गपूर्वक 'यम उपरमे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से 'शप्' का लुक् होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) युयोधि। यु+लोट्। यु+ल्। यु+सिप्। यु+शप्+सि। यु+०+सि। यु-यु+०+धि। यु-यु+धि। यु-यो+धि। युयोधि।

यहां 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७६) से 'शप्' को 'श्लु' और 'श्लौ' (६।१।१०) से 'यु' धातु को द्विर्वचन होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

लुक्-आदेशः–

(२६) चिणो लुक्।१०४।

प०वि०-चिणः ५।१ लुक् १।१।

अनु०-अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गात् चिणो लुक्।

अर्थः-अङ्गात् परस्य चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-तेन अकारि। तेन अहारि। तेन अलावि। तेन अपाचि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गात्) अङ्ग से परे (चिण्) चिण् से उत्तरवर्ती प्रत्यय को (लुक्) लुक् आदेश होता है।*

उदा०-तेन अकारि। उसने किया। तेन अहारि। उसने हरण किया। तेन अलावि। उसने छेदन किया। तेन अपाचि। उसने पकाया।

सिद्धि-(१) अकारि। कृ+लुङ्। अट्+कृ+ल्। अ+कृ+च्लि+ल्। अ+कृ+चिण्+त। अ+कृ+इ+०। अ+कार्+इ। अकारि।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'लुङ्' (३।३।११०) से कर्मवाच्य अर्थ में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'चिण् भावकर्मणोः' (३।१।६६) से 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' आदेश होता है। इस सूत्र से 'चिण्' से उत्तरवर्ती 'त' प्रत्यय का लुक् (लोप) होता है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से अङ्ग (कृ) को वृद्धि होती है।

(२) अहारि। 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) अलावि। 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(४) अपाचि। 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधावृद्धि होती है।

लुक्-आदेशः-

(३०) अतो हेः।१०५।

प०वि०-अतः ५।१ हेः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अतोऽङ्गाद् हेर्लुक्।

अर्थः-अकारान्ताद् अङ्गाद् उत्तरस्य हि-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-त्वं पच। त्वं पठ। त्वं गच्छ। त्वं धाव।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अतः) अकारान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (हेः) हि-प्रत्यय को (लुक्) लुक् आदेश होता है।*

उदा०-त्वं पच। तू पका। त्वं पठ। तू पढ़। त्वं गच्छ। तू जा। त्वं धाव। तू दौड़/शुद्ध कर।

सिद्धि-(१) पच। पच्+लोट्। पच्+ल्। पच्+सिप्। पच्+शप्+सि। पच्+अ+हि। पच्+अ+०। पच्+अ। पच।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से अकारान्त अङ्ग (पच) से परे 'हि' प्रत्यय का लुक् होता है।

(२) पठ। 'पठ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) गच्छ। 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। 'इषुगमियमां छः' (७।३।७५) से मकार को छकार आदेश होता है।

(४) धाव। 'धावु गतिशुद्ध्योः' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

लुक्-आदेशः–

(३१) उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्।१०६।

प०वि०–उतः ५।१ च अव्ययपदम्, प्रत्ययात् ५।१ असंयोग-पूर्वात् ५।१।

स०–अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्य सः–असंयोगपूर्वः, तस्मात्–असंयोगपूर्वात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अङ्गस्य, हेः, लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अङ्गस्य असंयोगपूर्वाद् उतः प्रत्ययाच्च हेर्लुक्।

अर्थः–अङ्गस्यासंयोगपूर्वो य उकारस्तदन्ताद् प्रत्ययात् परस्य च हि-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०–त्वं चिनु। त्वं सुनु। त्वं कुरु।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग का (असंयोगपूर्वात्) असंयोगपूर्वक जो (उतः) उकार है तदन्त (प्रत्ययात्) उकार-प्रत्यय से परे (च) भी (हेः) हि-प्रत्यय को (लुक्) लुक्-आदेश होता है।*

उदा०–त्वं चिनु। तू चयन कर। त्वं सुनु। तू अभिषवण कर, निचोड़। त्वं कुरु। तू कर।

सिद्धि-(१) चिनु। चि+लोट्। चि+ल्। चि+सिप्। चि+श्नु+सि। चि+नु+हि। चि+नु+०। चि+नु। चिनु।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लोट्' प्रत्यय है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से 'श्नु' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से असंयोगपूर्वी उकारान्त 'श्नु' प्रत्यय से उत्तरवर्ती 'हि' प्रत्यय का लुक् होता है।

(२) सुनु। 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) कुरु। 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण प्रत्यय है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'कृ' धातु को गुण, 'उरण्रपरः' (१।१।५१) से रपरत्व और 'अत उत् सार्वधातुके' (६।४।११०) से उकारादेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

लोपादेश-विकल्पः–

(३२) लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ।१०७।

प०वि०-लोपः १।१ च अव्ययपदम्, अस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्, म्वोः ७।२।

स०-मश्च वश्च तौ म्वौ, तयोः-म्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, उतः, प्रत्ययात्, असंयोगपूर्वस्य, इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अङ्गस्य असंयोगपूर्वस्य उतः प्रत्ययस्य म्वोरन्यतरस्यां लोपश्च।

अर्थः-अङ्गस्य योऽसंयोगपूर्व उकारस्तदन्तस्य प्रत्ययस्य मकार-वकारादौ प्रत्यये परतो विकल्पेन लोपश्च भवति।

उदा०-आवां सुन्वः, सुनुवः। वयं सुन्वः, सुनुमः। आवां तन्वः, तनुवः। वयं तन्मः, तनुमः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अङ्गस्य) अङ्ग का जो (असंयोगपूर्वस्य) असंयोगपूर्व (उतः) उकार है तदन्त (प्रत्ययस्य) प्रत्यय के उकार को (म्वोः) मकारादि और वकारादि प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (लोपः) लोपादेश (च) भी होता है।*

उदा०-आवां सुन्वः, सुनुवः। हम दोनों अभिषवण करते हैं, निचोड़ते हैं। वयं सुन्वः, सुनुमः। हम सब अभिषवण करते हैं। आवां तन्वः, तनुवः। हम दोनों विस्तार करते हैं। वयं तन्मः, तनुमः। हम सब विस्तार करते हैं।

सिद्धि-(१) सुन्वः। सु+लट्। सु+ल्। सु+वस्। सु+श्नु+वस्। सु+नु+वस्। सु+न्+वस्। सुन्वस्। सुन्वः।

यहां 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से 'श्नु' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से असंयोगपूर्वी 'श्नु' प्रत्यय के उकार का वकारादि 'वस्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। विकल्प-पक्ष में उकार का लोप नहीं है-सुनुवः। ऐसे ही मकारादि 'मस्' प्रत्यय परे होने पर-सुन्मः, सुनुमः।

(२) तन्वः। 'तनु विस्तारे' (तना०उ०) धातु से 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण-प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। विकल्प-पक्ष में उकार का लोप नहीं है-तनुवः। ऐसे ही मकारादि 'मस्' प्रत्यय परे होने पर-तन्मः, तनुमः।

नित्यं लोपादेशः–

(३३) नित्यं करोतेः।१०८।

प०वि०–नित्यम् १।१ करोतेः ५।१।

अनु०–अङ्गस्य, उतः, प्रत्ययात्, लोपः, म्वोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–करोतेरङ्गाद् उतः प्रत्ययस्य म्वोर्नित्यं लोपः।

अर्थः–करोतेरङ्गात् परस्य उकार-प्रत्ययस्य मकारवकारादौ प्रत्यये परतो नित्यं लोपो भवति।

उदा०–आवां कुर्वः। वयं कुर्मः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(करोतेः) करोति=कृ (अङ्गात्) अङ्ग से उत्तर (उतः) उकार (प्रत्ययस्य) प्रत्यय को (म्वोः) मकारादि और वकारादि प्रत्यय परे होने पर (नित्यम्) सदा (लोपः) लोपादेश होता है।*

उदा०–आवां कुर्वः। हम दोनों करते हैं। वयं कुर्मः। हम सब करते हैं।

सिद्धि-कुर्वः। कृ+लट्। कृ+ल्। कृ+वस्। कृ+उ+वस्। कर्+उ+वस्। कर्+०+वस्। कुर्+वस्। कुर्वस्। कुर्वः।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'कृ' अंग से उत्तर वकारादि 'वस्' प्रत्यय परे होने पर 'उ' प्रत्यय का नित्य लोप होता है। ऐसे ही मकारादि 'मस्' प्रत्यय परे होने पर-कुर्मः।

नित्यं लोपादेशः–

(३४) ये च।१०९।

प०वि०–ये ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–अङ्गस्य, उतः, प्रत्ययात्, लोपः, नित्यम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–करोतेरङ्गात् उतः प्रत्ययस्य ये च नित्यं लोपः।

अर्थः–करोतेरङ्गात् परस्य उकार-प्रत्ययस्य यकारादौ च प्रत्यये परतो नित्यं लोपो भवति।

उदा०–स कुर्यात्। तौ कुर्याताम्। ते कुर्युः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(करोतेः) करोति=कृ (अङ्गात्) अङ्ग से परे (उतः) उकार (प्रत्ययस्य) प्रत्यय को (ये) यकारादि प्रत्यय परे होने पर (च) भी (नित्यम्) सदा (लोपः) लोपादेश होता है।*

उदा०-स कुर्यात्। वह करे। तौ कुर्याताम्। वे दोनों करें। ते कुर्युः। वे सब करें।

सिद्धि-कुर्यात्। कृ+लिङ्। कृ+ल्। कृ+यासुट्+ल्। कृ+उ+यास्+तिप्। कृ+उ+यास्+त्। कर्+उ+या०+त्। कुर्+उ+या+त्। कुर्+०+या+त्। कुर्यात्।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु' (३।३।१६१) से 'लिङ्' प्रत्यय है। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३।४।१०३) से 'यासुट्' आगम और 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण-प्रत्यय है। इस सूत्र से करोति (कृ) अङ्ग से उत्तरवर्ती 'उ' प्रत्यय का यकारादि 'यासुट्' प्रत्यय परे होने पर नित्य लोप होता है। ऐसे ही-कुर्याताम्, कुर्युः।

उकार-आदेशः–

(३५) अत उत् सार्वधातुके।११०।

प०वि०-अतः ६।१ उत् १।१ सार्वधातुके ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, उतः, प्रत्ययात्, करोतेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-उतः प्रत्ययस्य करोतेरङ्गस्य सार्वधातुके क्ङिति उत्।

अर्थः-उकार-प्रत्ययान्तस्य करोतेरङ्गस्य अकारस्य स्थाने सार्वधातुके क्ङिति प्रत्यये परत उकारादेशो भवति।

उदा०-तौ कुरुतः। ते कुर्वन्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(उतः, प्रत्ययस्य) उकार-प्रत्ययान्त (करोतेः) करोति=कृ (अङ्गस्य) अङ्ग के (अतः) अकार के स्थान में (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (उत्) उकारादेश होता है।*

उदा०-तौ कुरुतः। वे दोनों करते हैं। ते कुर्वन्ति। वे सब करते हैं।

सिद्धि-कुरुतः। कृ+लट्। कृ+ल्। कृ+तस्। कृ+उ+तस्। कर्+उ+तस्। कुर्+उ+तस्। कुरुतस्। कुरुतः।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'तनादिकृञ्भ्यः उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण-प्रत्यय होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से अङ्ग (कृ) को गुण होता है। इस सूत्र से उकार-प्रत्ययान्त 'कृ' अंग के 'अकार' के स्थान में सार्वधातुक ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर उकारादेश होता है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'तस्' प्रत्यय ङिद्वत् होता है। ऐसे ही 'झि' (अन्ति) प्रत्यय परे होने पर-कुर्वन्ति।

लोपादेशः–

(३६) श्नसोरल्लोपः।१११।

प०वि०–श्न-असोः ६।२ अल्लोपः १।१।

स०–श्नश्च अस् च तौ श्नसौ, तयोः–श्नसोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) अत्र **वा०**–**'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'** (६।१।९४) इत्यनेन पररूपं वेदितव्यम्। अतो लोप इति अल्लोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके इति चानुवर्तते।

अन्वयः–श्नसोरङ्गयोरल्लोपः, सार्वधातुके क्ङिति।

अर्थः–श्नस्य अस्तेश्चाङ्गस्य अकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति प्रत्यये परतः।

उदा०–**(श्नम्)** तौ रुन्धः, ते रुन्धन्ति। तौ भिन्तः, ते भिन्दन्ति। **(अस्)** तौ स्तः, ते सन्ति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्नसोः) श्नम् और अस्ति=अस् (अङ्गस्य) अङ्ग के (अल्लोपः) अकार को लोपादेश होता है (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर।*

*उदा०–(श्नम्) **तौ रुन्धः।** वे दोनों रोकते हैं। **ते रुन्धन्ति।** वे सब रोकते हैं। **तौ भिन्तः।** वे दोनों विदारण करते हैं। **ते भिन्दन्ति।** वे सब विदारण करते हैं। विदारण=फाड़ना। (अस्) **तौ स्तः।** वे दोनों हैं। **ते सन्ति।** वे सब हैं।*

सिद्धि-(१) रुन्धः। रुध्+लट्। रुध्+ल्। रुध+तस्। रु श्नम् ध्+तस्। रुनध्+तस्। रुन्ध्+तस्। रुन्ध्+धस्। रुनद्+धस्। रुन्०+धस्। रुन्धस्। रुन्धः।

*यहां **'रुधिर् आवरणे'** (रुधा०प०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। **'रुधादिभ्यः श्नम्'** (३।१।७८) से 'श्नम्' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'श्नम्' के अकार का सार्वधातुक, ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। **'झषस्तथोर्धोऽधः'** (८।२।४०) से तकार को धकार, **'झलां जश् झशि'** (८।४।५३) से 'रुध्' के धकार को जश् दकार और **'झरो झरि सवर्णे'** (८।४।६५) से दकार का लोप होता है। ऐसे ही 'झि' (अन्ति) प्रत्यय करने पर–रुन्धन्ति। **'भिदिर् विदारणे'** (रुधा०प०) धातु से–भिन्तः, भिन्दन्ति।*

(२) स्तः। अस्+लट्। अस्+ल्। अस्+तस्। अस्+शप्+तस्। अस्+०+तस्। अस्+तस्। ०स्+तस्। स्तस्। स्तः।

*यहां **'अस भुवि'** (अदा०प०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (२।४।७२) से 'शप्' प्रत्यय का लुक् होता है। इस*

सूत्र से 'अस्' अङ्ग के अकार का सार्वधातुक, ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। ऐसे ही 'झि' प्रत्यय करने पर-सन्ति।

लोपादेशः–

(३७) श्नाभ्यस्तयोरातः।११२।

प०वि०-श्ना-अभ्यस्तयोः ६।२ आतः ६।१।

स०-श्नाश्च अभ्यस्तं च ते श्नाभ्यस्ते, तयोः-श्नाभ्यस्तयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके लोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-श्नाभ्यस्तयोरङ्गयोरातः सार्वधातुके क्ङिति लोपः।

अर्थः-श्ना-इत्येतस्य अभ्यस्तानां चाङ्गानाम् आकारस्य सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-**(श्नाः)** ते लुनते। ते लुनताम्। तेऽलुनत। **(अभ्यस्तम्)** ते मिमते। ते मिमताम्। तेऽमिमत्। ते सञ्जिहते। ते सञ्जिहताम्। ते समजिहत।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्नाभ्यस्तयोः) 'श्ना' इसके और अभ्यस्त-संज्ञक (अङ्गानाम्) अङ्गों के (आतः) आकार को (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित और ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोपादेश होता है।*

*उदा०-(श्ना) ते **लुनते।** वे सब काटते हैं। ते **लुनताम्।** वे सब काटें। **तेऽलुनत।** उन सब ने काटा। (अभ्यस्त) **ते मिमते।** वे सब नापते हैं। **ते मिमताम्।** वे सब नापें। **तेऽमिमत्।** उन सब ने नापा। **ते सञ्जिहते।** वे सब संगति करते हैं। **ते सञ्जिहताम्।** वह संगति करें। **ते समजिहत।** उसने संगति की।*

सिद्धि-(१) लुनते। लू+लट्। लू+ल्। लू+झ। लू+श्ना+झ। लू+ना+अत। लु+न्०+अते। लुनते।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३।१।८१) से 'श्ना' विकरण-प्रत्यय है। 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) से 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है। इस सूत्र से 'श्ना' प्रत्यय के आकार का सार्वधातुक, ङित् 'झ' प्रत्यय परे होने पर लोप होता है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'झ' प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

(२) लुनताम्। लू+लोट्। लू+ल्। लू+झ। लू+श्ना+झ। लू+ना+अत। लू+न्+अते। लू+न्+अत आम्। लुनताम्।

यहां पूर्वोक्त 'लूञ्' धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से 'अत' के टि-भाग (अ) को एकार आदेश और इसे 'आमेतः' (३।४।९०) से 'आम्' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) अलुनत। यहां पूर्वोक्त 'लूञ्' धातु से 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से भूतकाल में 'लङ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) मिमते। मा+लट्। मा+ल्। मा+झ। मा+शप+झ। मा+०+झ। मा-मा+०+अत। मा+म्०+अते। मि+म्+अते। मिमते।

यहां 'माङ् माने शब्दे च' (जु०आ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को [illegible]-आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। 'अदभ्यस्तात्' (७।१।४ से 'झ' के स्थान में 'अत' आदेश होता है। इस सूत्र से सार्वधातुक ङित् 'अत' प्रत्यय परे होने पर अभ्यस्त अङ्ग (मा) के आकार का लोप होता है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास को इकार आदेश होता है।

(५) मिमताम्। पूर्वोक्त 'माङ्' धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है।

(६) अमिमत। पूर्वोक्त 'माङ्' धातु से 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से 'लङ्' प्रत्यय है।

(७) सञ्जिहते, सञ्जिहताम्, समजिहत। सम्-उपसर्गपूर्वक 'ओहाङ् गतौ' (जु०आ०) धातु से पूर्ववत्।

ईकारादेशः–

(३८) ई हल्यघोः।११३।

प०वि०–ई १।१ (सु-लुक्) हलि ७।१ अघोः ६।१।

स०–न घुरिति अघुः, तस्य-अघोः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके, लोपः, श्नाभ्यस्तयोः, आत इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अघोः श्नाभ्यस्तयोरातो हलि क्ङिति ईः।

अर्थः–श्ना-प्रत्ययन्तानां घुवर्जितानाम् अभ्यस्तानां चाङ्गानाम् आकारस्य स्थाने हलादौ सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परत ईकारादेशो भवति।

उदा०-(**श्नाः**) स लुनीते। तौ लुनीतः। युवां लुनीथः। स पुनीते। तौ पुनीतः। युवां पुनीथः। (**अभ्यस्तम्**) स मिमीते। त्वं मिमीषे। यूयं मिमीध्वे। स सञ्जीहीते। त्वं सञ्जिहीषे। यूयं सञ्जिहीध्वे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अघोः) घु-संज्ञक से भिन्न (श्नाभ्यस्तयोः) श्ना-प्रत्ययान्त और अभ्यस्तसंज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों के (आतः) आकार के स्थान में (हलि) हलादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (ईः) ईकारादेश होता है।*

*उदा०-(श्ना) स **लुनीते**। वह काटता है। तौ **लुनीतः**। वे दोनों काटते हैं। युवां **लुनीथः**। तुम दोनों काटते हो। स **पुनीते**। वह पवित्र करता है। तौ **पुनीतः**। वे दोनों पवित्र करते हैं। युवां **पुनीथः**। तुम दोनों पवित्र करते हो। (अभ्यस्त) स **मिमीते**। वह नापता है। त्वं **मिमीषे**। तू नापता है। यूयं **मिमीध्वे**। तुम सब नापते हो। स **सञ्जीहीते**। वह संगति करता है। त्वं **सञ्जिहीषे**। तू संगति करता है। यूयं **सञ्जिहीध्वे**। तुम सब संगति करते हो।*

सिद्धि-(१) लुनीते। लू+लट्। लू+ल्। लू+त। लू+श्ना+त। लू+ना+त। लू+न् ई+ते। लुनीते।

यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३।१।८१) से 'श्ना' विकरण-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से श्ना-प्रत्ययान्त (लू+ना) अङ्ग के आकार के स्थान में हलादि, सार्वधातुक, ङित् 'त' प्रत्यय परे होने पर ईकारादेश होता है। 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से 'त' प्रत्यय ङिद्वत् होता है। ऐसे ही 'तस्' और 'थस्' प्रत्यय करने पर-लुनीतः, लुनीथः।

(२) पुनीते। 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) मिमीते। मा+लट्। मा+ल्। मा+त। मा+शप्+त। मा+०+त। मा-मा+त। मा-मई+त। मि-मी+ते। मिमीते।

यहां 'माङ् माने शब्दे च' (जु०आ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु-आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से अभ्यस्त-संज्ञक 'मा' धातु के आकार को हलादि, सार्वधातुक ङित् 'त' प्रत्यय परे होने पर ईकारादेश होता है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास को इकारादेश होता है। ऐसे ही 'थास्' और 'ध्वम्' प्रत्यय करने पर-मिमीषे, मिमीध्वे।

(४) संजिहीते। सम्-उपसर्गपूर्वक 'ओहाङ् गतौ' (जु०आ०) धातु से पूर्ववत्। ऐसे ही थास् (से) और 'ध्वम्' प्रत्यय करने पर-सञ्जिहीषे, सञ्जिहीध्वे।

इकारादेशः-

(३९) इद् दरिद्रस्य।११४।

प०वि०-इद् १।१ दरिद्रस्य ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके, आतः, हलि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दरिद्रस्य अङ्गस्यातो सार्वधातुके क्ङिति इत्।

अर्थः-दरिद्रातेरङ्गस्य आकारस्य स्थाने हलादौ सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परत इकारादेशो भवति।

उदा०-तौ दरिद्रितः। युवां दरिद्रिथः। आवां दरिद्रिवः। वयं दरिद्रिमः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(दरिद्रस्य) दरिद्रा (अङ्गस्य) अङ्ग के (आतः) आकार के स्थान में (हलि) हलादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (इत्) इकारादेश होता है।*

उदा०-तौ दरिद्रितः। वे दोनों दरिद्र होते हैं। युवां दरिद्रिथः। तुम दोनों दरिद्र होते हो। आवां दरिद्रिवः। हम दोनों दरिद्र होते हैं। वयं दरिद्रिमः। हम सब दरिद्र होते हैं।

सिद्धि-दरिद्रितः। दरिद्रा+लट्। दरिद्रा+ल्। दरिद्रा+तस्। दरिद्रा+शप्+तस्। दरिद्रा+०+तस्। दरिद्र्इ+तस्। दरिद्रितस्। दरिद्रितः।

यहां 'दरिद्रा दुर्गतौ' (अदा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय का लुक् होता है। इस सूत्र से 'दरिद्रा' अङ्ग के आकार को हलादि, सार्वधातुक, ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर इकार आदेश होता है। 'तस्' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) से ङिद्वत् होता है। ऐसे ही 'दरिद्रिथः' आदि।

विशेषः *सूत्रपाठ में 'दरिद्रस्य' पद में 'दरिद्रा' धातु का ह्रस्वपाठ छान्दस है "छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" (महाभाष्यम्)।*

इकारादेश-विकल्पः-

(४०) भियोऽन्यतरस्याम्।११५।

प०वि०-भियः ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके, हलि, इद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भियोऽङ्गस्य हलि सार्वधातुके क्ङिति अन्यतरस्याम् इत्।

अर्थः-भी-इत्येतस्याङ्गस्य हलादौ सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परतो विकल्पेन इकारादेशो भवति।

उदा०-तौ बिभितः, बिभीतः। युवां बिभिथः, बिभीथः। आवां बिभिवः, बिभीवः। वयं बिभिमः, बिभीमः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(भियः) 'भी' इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (हलि) हलादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (इत्) इकारादेश होता है।*

*उदा०-तौ **बिभितः, बिभीतः**। वे दोनों डरते हैं। युवां **बिभिथः, बिभीथः**। तुम दोनों डरते हो। आवां **बिभिवः, बिभीवः**। हम दोनों डरते हैं। वयं **बिभिमः, बिभीमः**। हम सब डरते हैं।*

*सिद्धि-**बिभितः**। भी+लट्। भी+ल्। भी+तस्। भी+शप्+तस्। भी+०+तस्। भी-भी+तस्। भी-भ् इ+तस्। बि-भि+तस्। बिभितस्। बिभितः।*

*यहां 'ञिभी भये' (जु०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु-आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से 'भी' अङ्ग को हलादि, सार्वधातुक, ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर इकारादेश होता है। 'तस्' प्रत्यय पूर्ववत् ङित् है। विकल्प-पक्ष में इकारादेश नहीं है-**बिभीतः**। ऐसे ही-**बिभिथः**' आदि।*

इकारादेश-विकल्पः-

(४१) जहातेश्च।११६।

प०वि०-जहातेः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके, हलि, इद्, अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अन्वयः-जहातेरङ्गस्य च हलि सार्वधातुके क्ङिति अन्यतरस्याम् इत्।

अर्थः-जहातेरङ्गस्य च हलादौ सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परतो विकल्पेन इकारादेशो भवति।

उदा०-तौ जिहितः, जिहीतः। युवां जिहिथः, जिहीथः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जहातेः) जहाति=हा इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (च) भी (हलि) हलादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (इत्) इकारादेश होता है।*

उदा०-तौ जिहितः, जिहीतः। वे दोनों त्याग करते हैं। युवां जिहिथः, जिहीथः। तुम दोनों त्याग करते हो।

सिद्धि-जिहितः। हा+लट्। हा+ल्। हा+तस्। हा+शप्+तस्। हा+०+तस्। हा-हा+०+तस्। हा-ह् इ+तस्। झि-हि+तस्। जि-हि+तस्। जिहितस्। जिहितः।

यहां 'ओहाक् त्यागे' (जु०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु-आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से जहाति (हा) अङ्ग को हलादि, सार्वधातुक, ङित् 'तस्' प्रत्यय परे होने पर इकारादेश होता है। 'तस्' प्रत्यय पूर्ववत् ङिद्वत् है। 'भृञामित्' (७।४।७६) से अभ्यास को इकार आदेश होता है। विकल्प पक्ष में इकारादेश नहीं है-जिहीतः। ऐसे ही-जिहिथः, जिहीथः।

इकाराकारादेश-विकल्पः-

(४२) आ च हौ।११७।

प०वि०-आ १।१ (सु-लुक्) च अव्ययपदम्, हौ ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, इत्, अन्यतरस्यामिति चानुवर्तते।

अन्वयः-जहातेरङ्गस्य हावन्यतरस्याम् इद् आ च।

अर्थः-जहातेरङ्गस्य हौ प्रत्यये परतो विकल्पेन इकार-आकारावादेशौ भवतः।

उदा०-त्वं जहिहि, जहाहि, जहीहि।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जहातेः) जहाति=हा इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (हौ) हि-प्रत्यय परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (इद् आ च) इकार और आकार आदेश होते हैं।*

उदा०-त्वं जहिहि, जहाहि, जहीहि। तू त्याग कर।

सिद्धि-जहिहि। हा+लोट्। हा+ल्। हा+सिप्। हा+शप्+सि। हा+०+हि। हा-हा+०+हि। हा-ह् इ+हि। झ-हि+हि। ज-हि+हि। जहिहि।

यहां 'ओहाक् त्यागे' (जु०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को 'श्लु' आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से 'हि' प्रत्यय परे होने पर 'हा' अङ्ग को इकारादेश

होता है और आकारादेश भी होता है-जहाहि। विकल्प-पक्ष में 'ई हल्यघो:' (६।४।११३) से ईकारादेश होता है-जहीहि।

लोपादेश:-

(४३) लोपो यि।११८।

प०वि०-लोप: १।१ यि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, सार्वधातुके, जहातेरिति चानुवर्तते।

अन्वय:-जहातेरङ्गस्य यि सार्वधातुके क्ङिति लोप:।

अर्थ:-जहातेरङ्गस्य यकारादौ सार्वधातुके किति ङिति च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-स जह्यात्। तौ जह्याताम्। ते जह्यु:।

आर्यभाषा: *अर्थ-(जहाते:) जहाति=हा इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (यि) यकारादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (लोप:) लोपादेश होता है।*

उदा०-स जह्यात्। वह त्याग करे। तौ जह्याताम्। वे दोनों त्याग करें। ते जह्यु:। वे सब त्याग करें।

सिद्धि-(१) जह्यात्। हा+लिङ्। हा+यासुट्+ल्। हा+यास्+तिप्। हा+शप्+यास्+ति। हा+०+यास्+त्। हा-हा+०+यास्+त्। झ-ह्+या०+त्। ज-ह्+या+त्। जह्यात्।

यहां 'ओहाक् त्यागे' (जु०प०) धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' (३।३।१६१) से 'लिङ्' प्रत्यय है। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३।४।१०३) से 'लिङ्' को उदात्त और ङित् 'यासुट्' आगम होता है। 'जुहोत्यादिभ्य: श्लु:' (२।४।७५) से 'शप्' को 'श्लु' और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से 'हा' अङ्ग को यकारादि, सार्वधातुक, ङित् 'यासुट्' प्रत्यय परे होने पर लोपादेश होता है अर्थात् 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५१) के नियम से इसके अन्त्य आकार का लोप होता है। 'लिङ: सलोपोऽनन्त्यस्य' (७।२।७९) से 'यासुट्' के सकार का लोप होता है। ऐसे ही-जह्याताम्, जह्यु:।

एकारादेश:-

(४४) घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च।११९।

प०वि०-घु-असो: ६।२ एत् १।१ हौ ७।१ अभ्यासलोप: १।१ च अव्ययपदम्।

स०-घुश्च अस् च तौ घ्वसौ, तयोः-घ्वसोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अभ्यासस्य लोप इति अभ्यासलोपः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अन्वयः-घ्वसोरङ्गयोर्हौ एद् अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-घु-संज्ञकानामङ्गानाम् अस्तेश्चाङ्गस्य हौ प्रत्यये परत एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-(**घुः**) त्वं देहि। त्वं धेहि। (**अस्**) त्वम् एधि।

शिदयमभ्यासलोपः, तेन सर्वस्याभ्यासस्य लोपो भवति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(घ्वसोः) घु-संज्ञक और अस् (अङ्गस्य) अङ्ग को (हौ) हि-प्रत्यय परे होने पर (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) सर्व-अभ्यास का लोप होता है।*

उदा०-(घु) त्वं देहि। तू दान कर। त्वं धेहि। तू धारण-पोषण कर। (अस्) त्वम् एधि। तू हो।

यह लोपादेश 'शित्' है अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) से सर्व-अभ्यास को लोपादेश होता है।

सिद्धि-(१) देहि। दा+लोट्। दा+ल्। दा+सिप्। दा+शप्+सि। दा+०+सि। दा-दा+सि। ०-द् ए+हि। दे+हि। देहि।

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु-आदेश और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से घु-संज्ञक 'दा' अंग को 'हि' प्रत्यय परे होने पर एकारादेश और सर्व-अभ्यास का लोप होता है। 'दाधा घ्वदाप्' (१।१।२०) से 'दा' धातु की 'घु' संज्ञा है।

(२) धेहि। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(३) एधि। अस्+लोट्। अस्+ल्। अस्+सिप्। अस्+शप्+सि। अस्+०सि। अस्+हि। ०स्+धि। ए+धि। एधि।

यहां 'अस भुवि' (अदा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय का लुक् होता है। इस सूत्र से 'अस्' अंङ्ग को 'हि' प्रत्यय परे होने पर एकारादेश होता है। 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'अस्' के अकार का लोप और 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।८७) से 'हि' को 'धि' आदेश होता है। सूत्रपाठ में 'अभ्यासलोप' अन्वाचयशिष्ट है अर्थात् यदि अभ्यास हो तो लोप हो जाता है। यहां अभ्यास नहीं है अतः इस लोपादेश की प्रवृत्ति नहीं होती है।

एकारादेशः-

(४५) अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि।१२०।

प०वि०-अतः ६।१ एकहल्मध्ये ७।१ अनादेशादेः ६।१ लिटि ७।१।

स०-एकश्च एकश्च तौ एकौ, एकौ च तौ हलाविति एकहलौ, तयोः-एकहलोः, एकहलोर्मध्य इति एकहलमध्यः, तस्मिन्-एकहल्ध्ये (एकशेषकर्मधारयगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)। अविद्यमान आदेश आदिर्यस्य सः-अनादेशादिः, तस्य-अनादेशादेः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्येऽतः क्ङिति लिटि एद् अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-अनादेशादेः=आदेश आदिर्यस्य नास्ति तस्याङ्गस्य एकहल्मध्ये= असहाययोर्हलोर्मध्ये वर्तमानस्याकारस्य किति ङिति च लिटि प्रत्यये परत एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-तौ रेणतुः, ते रेणुः। तौ येमतुः, ते येमुः। तौ पेचतुः, ते पेचुः। तौ देमतुः, ते देमुः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अनादेशादेः) जिसके आदि में कोई आदेश नहीं है उस (अङ्गस्य) अङ्ग के (एकहल्मध्ये) एक=असहाय (असंयुक्त) दो हलों के मध्य में विद्यमान (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् प्रत्यय परे होने पर (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप होता है।*

*उदा०-**तौ रेणतुः।** उन दोनों ने शब्द किया। **ते रेणुः।** उन सब ने शब्द किया। **तौ येमतुः।** उन दोनों ने रोका। **ते येमुः।** उन सब ने रोका। **तौ पेचतुः।** उन दोनों ने पकाया। **ते पेचुः।** उन सब ने पकाया। **तौ देमतुः।** उन दोनों ने उपशान्त किया। **ते देमुः।** उन सब ने उपशान्त किया।*

सिद्धि-(१) रेणतुः। *रण्+लिट्। रण्+ल्। रण्+तस्। रण्+अतुस्। रण्-रण्+अतुस्। ०+रण्+अतुस्। रेण्+अतुस्। रेणतुस्। रेणतुः।*

*यहां **'रण शब्दार्थः'** (भ्वा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से अनादेशादि 'रण्' धातु के दो हलों के मध्य में विद्यमान अकार को कित् 'लिट्' प्रत्यय परे*

होने पर एकारादेश होता है और अभ्यास का लोप होता है। ऐसे ही झि (उस्) प्रत्यय परे होने पर-रेणतुः। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५) से 'तस्' प्रत्यय किद्वत् होता है।

(२) येमतुः। 'यम उपरमे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) पेचतुः। 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(४) देमतुः। 'दमु उपशमे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्।

एकारादेशः-

(४६) थलि च सेटि।१२१।

प०वि०-थलि ७।१ च अव्ययपदम्, सेटि ७।१।

स०-इटा सह वर्तते इति सेट्, तस्मिन्-सेटि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, एत्, अभ्यासलोपः, च, अतः, एकहल्मध्ये, अनादेशादेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्येऽतः सेटि थलि च एत्, अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-अनादेशादेः=आदेश आदिर्यस्य नास्ति तस्याङ्गस्य एकहल्मध्ये=असहाययोर्हलोर्मध्ये वर्तमानस्याकारस्य सेटि थलि च प्रत्यये परत एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-त्वं पेचिथ। त्वं शेकिथ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनादेशादेः) जिसके आदि में कोई आदेश नहीं है उस (अङ्गस्य) अङ्ग के (एकहल्मध्ये) एक=असहाय (असंयुक्त) दो हलों के मध्य में विद्यमान (अतः) अकार को (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (एत्) एकादेश होता है।*

उदा०-त्वं पेचिथ। तूने पकाया। त्वं शेकिथ। तू शक्त=समर्थ हुआ (कर सका)।

सिद्धि-(१) पेचिथ। पच्+लिट्। पच्+ल्। पच्+सिप्। पच्+थल्। पच्+इट्+थल्। पच्-पच्+इ+थ। ०-पेच्+इ+थ। पेच्+इ+थ। पेचिथ।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'पच्' धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से अनादेशादि 'पच्' धातु के दो हलों के मध्य में विद्यमान अकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप होता है। 'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३) के नियम से 'थल्' को 'इट्' आगम होता है।

(२) शेकिथ। 'शक्लृ शक्तौ' स्वा०प०) धातु से पूर्ववत्।

एकारादेशः-

(४७) तॄफलभजत्रपश्च।१२२।

प०वि०-तॄ-फल-भज-त्रपः ६।१ च अव्ययापदम्।

स०-तॄश्च फलश्च भजश्च त्रप् च एतेषां समाहारः-तॄफलभजत्रप्, तस्य-तॄफलभजत्रपः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च, लिटि, थलि, च, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तॄफलभजत्रपश्चाङ्गस्य अत क्ङिति लिटि सेटि च थलि एत्, अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-तॄफलभजत्रपाम् अङ्गानाम् अकारस्य किति ङिति च लिटि, सेटि थलि च प्रत्यये परत एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-(तॄः) तौ तेरतुः। ते तेरुः। त्वं तेरिथ। **(फलः)** तौ फेलतुः। ते फेलुः। त्वं फेलिथ। **(भजः)** तौ भेजतुः। ते भेजुः। त्वं भेजिथ। **(त्रप्)** स त्रेपे। तौ त्रेपाते। ते त्रेपिरे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(तॄफलभजत्रपः) तॄ, फल, भज और त्रप् (अङ्गस्य) अङ्गों के (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् तथा (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप होता है।*

उदा०-(तॄ) तौ तेरतुः। वे दोनों तरे। ते तेरुः। वे सब तरे। त्वं तेरिथ। तू तरा। (फल) तौ फेलतुः। वे दोनों सफल हुये। ते फेलुः। वे सब सफल हुये। त्वं फेलिथ। तू सफल हुआ। (भज) तौ भेजतुः। उन दोनों ने सेवा की। ते भेजुः। उन सब ने सेवा की। त्वं भेजिथ। तूने सेवा की। (त्रप्) स त्रेपे। उसने लज्जा की। तौ त्रेपाते। उन दोनों ने लज्जा की। ते त्रेपिरे। उन सब ने लज्जा की।

सिद्धि-(१) तेरतुः। तॄ+लिट्। तॄ+ल्। तॄ+तस्। तॄ+अतुस्। तॄ-तॄ+अतुस्। तॄ-तर्+अतुस्। ०-तेर+अतुस्। तेरतुस्। तेरतुः।

यहां 'तॄ प्लवनसन्तरणयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'तॄ' धातु को द्वित्व होता है। 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) से अकारान्त 'तॄ' धातु को गुण होता है। इस सूत्र से

तॄ (तर्) धातु के अकार को लिट् (तस्) प्रत्यय परे होने पर एकारादेश और अभ्यास का लोप होता है। ऐसे ही 'उस्' प्रत्यय परे होने पर-तेरुः। 'थल्' प्रत्यय परे होने पर-तेरिथ। 'न शसददवादिगुणानाम्' (६।४।१२६) से एकारादेश और अभ्यास लोप का प्रतिषेध प्राप्त था, अतः यह विधान किया गया है।

(२) फेलतुः। 'फल निष्पत्तौ' और 'ञिफला विशरणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। इस धातु के आदेशादि (प) होने से 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) से एकारादेश और अभ्यास लोप की प्राप्ति नहीं थी, अतः यह विधान किया गया है।

(३) भेजतुः। 'भज सेवायाम्' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत्।

(४) त्रेपे। त्रप्+लिट्। त्रप्+ल्। त्रप्+त। त्रप्+एश्। त्रप्-त्रप्+ए। ०-त्रेप्+ए। त्रेप्+ए। त्रेपे।

यहां 'त्रपूष् लज्जायाम्' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) से 'त' को 'एश्' आदेश होता है। 'त्रप्' धातु के एकहल्-मध्यवान् न होने से 'अत एकहल्मध्ये०' (६।४।१२०) से एकारादेश और अभ्यासलोप की प्राप्ति नहीं थी, अतः यह विधान किया गया है। 'त्रप्' धातु के आत्मनेपद होने से परस्मैपद के 'थल्' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं है।

एकारादेशः–

(४८) राधो हिंसायाम्।१२३।

प०वि०-राधः ६।१ हिंसायाम् ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च, अतः, लिटि, थलि, च, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हिंसायां राधोऽङ्गस्य अतः क्ङिति लिटि सेटि च थलि एत्, अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-हिंसायामर्थे वर्तमानस्य राधोऽङ्गस्य अकारस्य किति ङिति च लिटि सेटि च थलि प्रत्यये परत एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-तौ अपरेधतुः। ते अपरेधुः। त्वम् अपरेधिथ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हिंसायाम्) हिंसा अर्थ में विद्यमान (राधः) राध (अङ्गस्य) अङ्ग के (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् तथा (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप होता है।*

उदा०-तौ अपरेधतुः। उन दोनों ने अपराध (हिंसा) किया। ते अपरेधुः। उन सब ने अपराध किया। त्वम् अपरेधिथ। तूने अपराध किया।

सिद्धि-अपरेधतुः। अप+राध्+लिट्। अप+राध्+ल्। अप+राध्+तस्। अप+राध्+अतुस्। अप+राध्-राध्+अतुस्। अप+०-रेध्+अतुस्। अपरेधतुस्। अपरेधतुः।

यहां अप-उपसर्गपूर्वक 'राध संसिद्धौ' (स्वा०प०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से कित्, लिट् (अतुस्) प्रत्यय परे होने पर हिंसार्थक 'राध्' धातु के आकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप होता है।

***विशेषः** पाणिनीय धातुपाठ में 'राध' धातु संसिद्धि अर्थ में पठित है, किन्तु "अनेकार्था हि धातवो भवन्ति" (महाभाष्यम्) इस आप्तवचन से 'राध' धातु हिंसार्थक भी है। यहां पर 'अतः' की अनुवृत्ति से अकार को ही एकारादेश होता है। 'राध' धातु में अकार नहीं है, अतः विधान-सामर्थ्य से 'राध्' के आकार को ही एकारादेश होता है। ऐसे ही-अपरेधुः (उस्)। अपरेधिथ (थल्)।*

एकारादेश-विकल्पः–

(४६) वा जृभ्रमुत्रसाम्।१२४।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, जृ-भ्रमु-त्रसाम् ६।३।

स०-जृश्च भ्रमुश्च त्रस् च ते जृभ्रमुत्रसः, तेषाम्-जृभ्रमुत्रसाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च, अतः, लिटि, थलि, च, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-जृभ्रमुत्रसाम् अङ्गानाम् अतः क्ङिति लिटि सेटि च थलि वा एत्, अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-जृभ्रमुत्रसाम् अङ्गानाम् अकारस्य किति ङिति च लिटि, सेटि थलि च प्रत्यये परतो विकल्पेन एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति।

उदा०-(जृः) तौ जेरतुः, जजरतुः। ते जेरुः, जजरुः। त्वं जेरिथ, जजरिथ। (भ्रमुः) तौ भ्रेमतुः, बभ्रमतुः। ते भ्रेमुः, बभ्रमुः। त्वं भ्रेमिथ, बभ्रमिथ। (त्रस्) तौ त्रेसतुः, तत्रसतुः। ते त्रेसुः, तत्रसुः। त्वं त्रेसिथ, तत्रसिथ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(जॄभ्रमुत्रसाम्) जॄ, भ्रमु, त्रस् (अङ्गस्य) अङ्गों के (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् तथा (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (वा) विकल्प से (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप होता है।*

उदा०-(जॄ) तौ जेरतुः, जजरतुः। वे दोनों जीर्ण हुये। ते जेरुः, जजरुः। वे सब जीर्ण हुये। त्वं जेरिथ, जजरिथ। तू जीर्ण हुआ। (भ्रमु) तौ भ्रेमतुः, बभ्रमतुः। उन दोनों ने भ्रमण किया। ते भ्रेमुः, बभ्रमुः। उन सब ने भ्रमण किया। त्वं भ्रेमिथ, बभ्रमिथ। उन तूने भ्रमण किया। (त्रस्) तौ त्रेसतुः, तत्रसतुः। वे दोनों उद्विग्न हुये। ते त्रेसुः, तत्रसुः। वे सब उद्विग्न हुये। त्वं त्रेसिथ, तत्रसिथ। तू उद्विग्न हुआ।

सिद्धि-(१) जेरतुः। जॄ+लिट्। जॄ+ल्। जॄ+तस्। जॄ+अतुस्। जॄ-जॄ+अतुस्। ०-जॄ+अतुस्। जेर्+अतुस्। जेर्+अतुस्। जेरतुस्। जेरतुः।

यहां 'जॄ वयोहानौ' (क्र्या०प०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'जॄ' धातु को द्वित्व होता है। 'जॄ' धातु को 'ऋच्छत्यॄताम्' (७।४।११) से गुण होता है। इस सूत्र से जॄ (जर्) के अकार को कित् लिट् (अतुस्) प्रत्यय परे होने पर एकारदेश और अभ्यास का लोप होता है। यह 'न शसददवादिगुणानाम्' (६।४।१२६) का अपवाद है। विकल्प-पक्ष में एकारादेश और अभ्यास का लोप नहीं है-जजरतुः। ऐसे ही-जेरुः, जजरुः (उस्)। जेरिथ, जजरिथ (थल्)।

(२) भ्रेमतुः, बभ्रमतुः। 'भ्रमु अनवस्थाने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। यह 'अत एकहल्मध्ये०' (६।४।१२०) का अपवाद है क्योंकि 'भ्रमु' धातु आदेशादि और अकार अनेक हल्मध्यवान् है। ऐसे ही-भ्रेमुः, बभ्रमुः (उस्)। भ्रेमिथ, बभ्रमिथ (थल्)।

(३) त्रेसतुः, तत्रसतुः। 'त्रसी उद्वेगे' (दि०प०) धातु से पूर्ववत्। यह 'अत एकहल्मध्ये०' (६।४।१२०) का अपवाद है क्योंकि 'त्रसी धातु में अकार अनेक हल्मध्यवान् है। ऐसे ही-त्रेसुः, तत्रसुः (उस्)। त्रेसिथ, तत्रसिथ (थल्)।

एकारादेश-विकल्पः-

(५०) फणां च सप्तानाम्।१२५।

प०वि०-फणाम् ६।३ च अव्ययपदम्, सप्तानाम् ६।३।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च, अतः, लिटि, थलि, च, सेटि, वा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-फणां सप्तानां च अङ्गानाम् अतः क्ङिति लिटि, सेटि थलि च वा एत्, अभ्यासलोपश्च।

अर्थः-फणाम्=फणादीनां सप्तानाम् अङ्गानाम् अकारस्य किति ङिति च लिटि, सेटि थलि च प्रत्यये परतो विकल्पेन एकारादेशो भवति, अभ्यासस्य च लोपो भवति। **उदाहरणम्**-

संख्या	फणादयः	शब्दरूपम्	भाषार्थः
(१)	फण	तौ फेणतुः, पफणतुः।	वे दोनों गये।
		ते फेणुः, पफणुः।	वे सब गये।
		त्वं फेणिथ, पफणिथ।	तू गया।
(२)	राज	तौ रेजतुः, रराजतुः।	वे दोनों चमके।
		ते रेजुः, रराजुः।	वे सब चमके।
		त्वं रेजिथ, रराजिथ।	तू चमका।
(३)	भ्राज	स भ्रेजे, बभ्राजे।	वह चमका।
		तौ भ्रेजाते, बभ्राजाते।	वे दोनों चमके।
		ते भ्रेजिरे, बभ्राजिरे।	वे सब चमके।
(४)	भ्राश	स भ्रेशे, बभ्राशे।	वह चमका।
		तौ भ्रेशाते, बभ्राशाते।	वे दोनों चमके।
		ते भ्रेशिरे, बभ्राशिरे।	वे सब चमके।
(५)	भ्लाश	स भ्लेशे, बभ्लाशे।	वह चमका।
		तौ भ्लेशाते, बभ्लाशाते।	वे दोनों चमके।
		ते भ्लेशिरे, बभ्लाशिरे।	वे सब चमके।
(६)	स्यम	तौ स्येमतुः, सस्यमतुः।	उन दोनों ने शब्द किया।
		ते स्येमुः, सस्यमुः।	उन सबने शब्द किया।
		त्वं स्येमिथ, सस्यमिथ।	तूने शब्द किया।
(७)	स्वन	तौ स्वेनतुः, सस्वनतुः।	उन दोनों ने शब्द किया।
		ते स्वेनुः, सस्वनुः।	उन सबने शब्द किया।
		त्वं स्वेनिथ, सस्वनिथ।	तूने शब्द किया।

'फणाम्' इत्यत्र बहुवचननिर्देशात् फणादयो धातवो गृह्यन्ते। ते चेमे-फण गतौ (भ्वा०प०)। राजृ दीप्तौ (भ्वा०उ०)। टुभ्राजृ, टुभ्राशृ,

टुभ्लाशृ दीप्तौ (भ्वा०आ०)। स्यमु, स्वन शब्दे (भ्वा०प०) इति भ्वादिगणान्तर्गताः सप्त फणादयः।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(फणाम्) फण-आदि (सप्तानाम्) सात (अङ्गस्य) अङ्गों के (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् तथा (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (वा) विकल्प से (एत्) एकारादेश होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप होता है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) फेणतुः। फण्+लिट्। फण्+ल्। फण्+तस्। फण्+अतुस्। फण्-फण्+अतुस्। ०+फेण्+अतुस्। फेणतुस्। फेणतुः।

यहां 'फण गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से कित्, लिट् (अतुस्) प्रत्यय परे होने पर 'फण्' के अकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप होता है। विकल्प-पक्ष में एकारादेश और अभ्यास का लोप नहीं है-पफणतुः। ऐसे ही-फेणुः, पफणुः (उस्)। फेणिथ, पफणिथ (थल्)।

(२) रेजतुः। 'राजृ दीप्तौ' (भ्वा०उ०) पूर्ववत्।

(३) भ्रेजे। 'भ्राजृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।

(४) भ्रेशे। 'भ्राशृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।

(५) भ्लेशे। 'भ्लाशृ दीप्तौ' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।

(६) स्येमतुः। 'स्यमु शब्दे' (भ्वा०प०) पूर्ववत्।

(७) स्वेनतुः। 'स्वन शब्दे' (भ्वा०प०) पूर्ववत्।

विशेषः *'फणाम्' इस बहुवचन-निर्देश से भ्वादिगण अन्तर्गत फणादि सात धातुओं का ग्रहण किया जाता है।*

एकारादेशप्रतिषेधः-

(५१) न शसददवादिगुणानाम्।१२६।

प०वि०-न अव्ययपदम्, शस-दद-वादि-गुणानाम् ६।३।

स०-व आदिर्येषां ते वादयः। शसश्च ददश्च वादयश्च गुणश्च ते शसददवादिगुणाः, तेषाम्-शसददवादिगुणानाम् (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, क्ङिति, एत्, अभ्यासलोपः, च, अतः, लिटि, थलि, च, सेटि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-शसददवादिगुणानाम् अतः क्ङिति लिटि, सेटि थलि च एद् न, अभ्यासलोपश्च न।

अर्थः-शसददवादिगुणानाम्=शसः, दद इत्येतयोः, वकारादीनाम्, गुणशब्देन चाभिनिर्वृत्तस्य अङ्गस्य अकारस्य किति ङिति च लिटि, सेटि थलि च प्रत्यये परत एकारादेशो न भवति, अभ्यासस्य च लोपो न भवति।

उदा०-**(शसः)** तौ विशशसतुः। ते विशशसुः। त्वं विशशसिथ। **(ददः)** स दददे। तौ ददाते। ते ददिरे। (वकारादिः) तौ ववमतुः। ते ववमुः। त्वं ववमिथ। **(गुणः)** तौ विशशरतुः। ते विशशरुः। त्वं विशशरिथ। त्वं लुलविथ। त्वं पुपविथ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(शसददवादिगुणानाम्) शस, दद, वकारादि और गुण-शब्द से बने हुये (अङ्गस्य) अङ्ग के (अतः) अकार को (क्ङिति) कित् और ङित् (लिटि) लिट् तथा (सेटि) सेट् (थलि) थल् प्रत्यय परे होने पर (च) भी) एत्) एकारादेश (न) नहीं होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप (न) नहीं होता है।*

*उदा०-(शस) **तौ विशशसतुः।** उन दोनों ने हिंसा की। **ते विशशसुः।** उन सब ने हिंसा की। **त्वं विशशसिथ।** तूने हिंसा की। (दद) **स दददे।** उसने दान किया। **तौ ददाते।** उन दोनों ने दान किया। **ते ददिरे।** उन सब ने दान किया। (वकारादि) **तौ ववमतुः।** उन दोनों ने वमन (उल्टी) किया। **ते ववमुः।** उन सब ने वमन किया। **त्वं ववमिथ।** तूने वमन किया। (गुण से निर्वृत्त अकार) **तौ विशशरतुः।** उन दोनों ने हिंसा की। **ते विशशरुः।** उन सब ने हिंसा की। **त्वं विशशरिथ।** तूने हिंसा की। **त्वं लुलविथ।** तूने छेदन किया। **त्वं पुपविथ।** तूने पवित्र किया।*

*सिद्धि-(१) **विशशसतुः।** वि+शस्+लिट्। वि+शस्+ल्। वि+शस्+तस्। वि+शस्+अतुस्। वि+शस्-शस्+अतुस्। वि+श-शस्+अतुस्। विशशतुस्। विशशसतुः।*

*यहां वि-उपसर्गपूर्वक 'शसु हिंसायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु को द्वित्व होता है। इस सूत्र से कित् लिट् (अतुस्) प्रत्यय परे होने पर 'शस्' धातु के अकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप नहीं होता है। ऐसे ही-**विशशसुः** (उस्)। **विशशसिथ** (थल्)।*

*(२) **दददे।** 'दद दाने' (भ्वा०आ०) पूर्ववत्।*

*(३) **ववमतुः।** 'टुवमु उद्गिरणे' (भ्वा०प०) पूर्ववत्।*

(४) विशशरतुः। 'शॄ हिंसायाम्' (क्र्या०उ०) पूर्ववत्।

(५) लुलविथ। 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) पूर्ववत्।

(६) पुपविथ। 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) पूर्ववत्।

तृ-आदेशः–

(५२) अर्वणस्त्रसावनञः।१२७।

प०वि०–अर्वणः ६।१ तृ १।१ (सु-लुक्) असौ ७।१ अनञः ५।१।

स०–न सुरिति असुः, तस्मिन्-असौ (नञ्तत्पुरुषः)। न नञ् इति अनञ्, तस्मात्-अनञः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–अङ्गस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अनञोऽर्वणोऽङ्गस्य तृ, असौ।

अर्थः–अनञ उत्तरस्य 'अर्वन्' इत्येतस्य अङ्गस्य तृ-आदेशो भवति, सु-वर्जिते प्रत्यये परतः।

उदा०–अर्वन्तौ, अर्वन्तः। अर्वता, अर्वद्भ्याम्, अर्वद्भिः। अर्वती। आर्वतम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनञः) जो नञ् से परे नहीं है उस (अर्वणः) अर्वन् (अङ्गस्य) अङ्ग को (तृ) तृ-आदेश होता है (असौ) 'सु' (१।१) से भिन्न प्रत्यय परे होने पर।*

*उदा०-**अर्वन्तौ।** दो घोड़े। **अर्वन्तः।** सब घोड़े। **अर्वता।** एक घोड़े के द्वारा। **अर्वद्भ्याम्।** दो घोड़ों के द्वारा। **अर्वद्भिः।** सब घोड़ों के द्वारा। **अर्वती।** घोड़ी। **आर्वतम्।** घोड़े का अपत्य (सन्तान)।*

सिद्धि-(१) अर्वन्तौ। *अर्वन्+औ। अर्वतृ+औ। अर्वत्+औ। अर्व नुम् त्+औ। अर्वन्त्+औ। अर्वन्तौ।*

*यहां 'अर्वन्' प्रातिपदिक से '**स्वौजस०**' (४।१।२) से 'औ' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सु' (१।१) से भिन्न 'औ' प्रत्यय परे होने पर 'अर्वन्' शब्द के अन्त्य नकार को '**अलोऽन्त्यस्य**' (१।१।५२) के नियम से 'तृ' आदेश होता है। 'तृ' में ऋकार अनुबन्ध है। '**नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्**' इस परिभाषा से यह अनेकाल् नहीं है अतः '**अनेकाल्शित् सर्वस्य**' (१।१।५५) से सर्व-आदेश नहीं होता है। 'तृ' के 'उगित्' होने से '**उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः**' (७।१।७०) से 'नुम्' आगम होता है। ऐसे ही-**अर्वन्तः** (जस्)। **अर्वता** (टा)। **अर्वद्भ्याम्** (भ्याम्)। **अर्वद्भिः** (भिस्)।*

(२) अर्वती। अर्वन्+ङीप्। अर्वतृ+ई। अर्वत्+ई। अर्वती+सु। अर्वती।

यहां 'अर्वन्' शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'तृ' के उगित् होने से **'उगितश्च'** (४।१।६) से 'ङीप्' प्रत्यय है।

(३) आर्वतम्। अर्वन्+अण्। अर्वतृ+अ। आर्वत्+अ। आर्वत+सु। अर्वतम्।

यहां 'अर्वन्' शब्द से **'तस्यापत्यम्'** (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'तृ' आदेश होता है। **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि होती है।

बहुलं तृ-आदेशः–

(५३) मघवा बहुलम्।१२८।

प०वि०–मघवा १।१ (षष्ठ्यर्थे) बहुलम् १।१।

अनु०–अङ्गस्य, तृ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–मघवा अङ्गस्य बहुलं तृ।

अर्थः–'मघवा' इत्येतस्य अङ्गस्य बहुलं तृ-आदेशो भवति।

उदा०–मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः। मघवता।। मघवती। माघवतम्। बहुलवचनाद् न च भवति–मघवा, मघवानौ, मघवानः। मघवानम्, मघवानौ, मघोनः। मघोना। मघोनी। माघवनम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(मघवा) मघवन् इस (अङ्गस्य) अङ्ग को (बहुलम्) प्रायशः (तृ) तृ-आदेश होता है।

उदा०–**मघवान्**। इन्द्र। **मघवन्तौ**। दो इन्द्र। **मघवन्तः**। सब इन्द्र। **मघवन्तम्**। इन्द्र को। **मघवन्तौ**। दो इन्द्रों को। **मघवतः**। सब इन्द्रों को। **मघवता**। इन्द्र के द्वारा। **मघवती**। इन्द्र की पत्नी। **माघवतम्**। इन्द्र का अपत्य (सन्तान)। बहुलवचन से तृ-आदेश नहीं है होता है–**मघवा, मघवानौ, मघवानः। मघवानम्, मघवानौ, मघोनः। मघोना। मघोनी। माघवनम्**। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) **मघवान्**। मघवन्+सु। मघवतृ+सु। मघवत्+सु। मघव नुम् त्+सु। मघवन्त्+सु। मघवन्+सु। मघवान्+सु। मघवान्+०। मघवान्।

यहां 'मघवन्' शब्द से 'सु' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सु' प्रत्यय परे होने पर 'मघवन्' शब्द को 'तृ' आदेश होता है। 'तृ' के उगित् होने से **'उगिदचां सर्वनमस्थानेऽधातोः'** (७।१।७०) से 'नुम्' आगम, **'संयोगान्तस्य लोपः'** (८।२।२३) से तकार का लोप, **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** (६।४।८) से नकारान्त अङ्ग की

उपधा का दीर्घ और 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६७) से 'सु' का लोप होता है। ऐसे ही-मघवन्तौ आदि।

(२) मघवती। मघवन्+ङीप्। मघवतृ+ई। मघवत्+ई। मघवती+सु। मघवती।

यहां 'मघवन्' शब्द से स्त्रीत्व-विवक्षा में 'तृ' के उगित् हेने से 'उगितश्च' (४।१।६) से 'ङीप्' प्रत्यय है।

(३) माघवतम्। मघवन्+अण्। मघवतृ+अ। माघवत्+अ। माघवत+सु। माघवतम्।

यहां 'मघवन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'तृ' आदेश होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि होती है।

बहुलवचन से मघवा, मघवानौ, मघवानः इत्यादि में 'मघवान्' शब्द को तृ-आदेश नहीं है।

।। इति आदेशप्रकरणम्।।

भ-संज्ञाप्रकरणम्

भ-अधिकारः—

(१) भस्य।१२६।

वि०-भस्य ६।१।

अर्थः-'भस्य' इत्यधिरोऽयम्, आ अध्यायपरिसमाप्तेः। यदितोऽग्रे वक्ष्यति 'भस्य' इत्येवं तद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'**पादः पत्**' (६।४।१३०) इति। द्विपदः पश्य। द्विपदा कृतम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भस्य) 'भस्य' यह अधिकार सूत्र है, इसका षष्ठ अध्याय की समाप्ति पर्यन्त अधिकार है। पाणिनि मुनि इससे आगे जो कहेंगे वह 'भस्य' भ-संज्ञक को कार्य होगा, ऐसा जानें। जैसे कि पाणिनि मुनि कहेंगे-पादः पत्' (६।४।१३०) अर्थात् 'पाद्' के स्थान में 'पत्' आदेश होता है। द्विपदः पश्य। तू दो पांवोंवालों को देख। द्विपदा कृतम्। दो पांवों केद्वारा किया गया।*

सिद्धि-'द्विपद' आदि पदों की सिद्धि आगे यथास्थान लिखी जायेगी।

पत्-आदेशः—

(२) पादः पत्।१३०।

प०वि०-पादः ६।१ पत् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पादो भस्य अङ्गस्य पत्।

अर्थः-पादन्तस्य भ-संज्ञकस्य अङ्गस्य पदादेशो भवति।

उदा०-द्विपदः पश्य। द्विपदा। द्विपदे। द्विपदिकां ददाति। त्रिपदिकां ददाति। वैयाघ्रपद्यः।

'पादः' इत्यत्र लुप्ताकारः पादशब्दो गृह्यते। **'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'** इति परिभाषया च पात्-शब्दस्यैव स्थाने पत्-आदेशो विधीयते, न तु सर्वस्य पादान्तस्य शब्दस्य पत्-आदेशो भवति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(पादः) 'पाद्' शब्द जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग को (पत्) पत्-आदेश होता है।*

*उदा०-**द्विपदः पश्य।** तू दो पांवोंवालों को देख। **द्विपदा।** दो पांवोंवाले के द्वारा। **द्विपदे।** दो पांवोंवाले के लिये। **द्विपदिकां ददाति।** दो-दो पाद दान करता है। पाद=८ रत्ती चांदी का सिक्का। **त्रिपदिकां ददाति।** तीन-तीन पाद दान करता है। **वैयाघ्रपद्यः।** व्याघ्र=बाघ के समान जिसके पाद=चरण हैं वह-व्याघ्रपात्, व्याघ्रपात् पुरुष का अपत्य (सन्तान)-वैयाघ्रपद्य।*

*सिद्धि-**द्विपदः।** द्वि+पाद। द्विपाद्।। द्विपाद्+शस्। द्विपाद्+अस्। द्विपत्+अस्। द्विपदस्। द्विपदः।*

*यहां प्रथम द्वि और पाद शब्दों का **'अनेकमन्यपदार्थे'** (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है-**द्वौ पादौ यस्य स द्विपाद्।** **'संख्यासुपूर्वस्य'** (५।४।१४०) से 'पाद' शब्द के अकार का समासान्त-लोप होता है। तत्पश्चात् 'द्विपाद्' शब्द से 'शस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से भ-संज्ञक 'पाद' के स्थान में 'पत्' आदेश होता है। **'यचि भम्'** (१।४।१८) से 'पाद्' की भ-सञ्ज्ञा है। **'झलां जशोऽन्ते'** (८।२।३९) से तकार को जश् दकार होता है।*

*सूत्रपाठ में लुप्त अकारवाले 'पाद्' शब्द का ग्रहण किया गया है। **'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'** इस परिभाषा से निर्दिश्यमान 'पाद्' शब्द को ही 'पत्' आदेश किया जाता है, पादान्त 'द्विपाद' को नहीं। ऐसे ही-द्विपदा (टा)। **द्विपदे** (ङे)।*

*(२) **द्विपदिका।** द्विपाद+वुन्। द्विपाद+अक। द्विपाद्+अक। द्विपत्+अक। द्विपदक+टाप्। द्विपदक+आ। द्विपदिका+सु। द्विपदिका।*

*यहां प्रथम 'द्विपाद' शब्द से **'पादशतस्य संख्यादेर्वुन् लोपश्च'** (५।४।१) से वीप्सा-अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय और 'पाद्' के अन्त्य अकार का लाप होता है। तत्पश्चात् इस सूत्र से भ-संज्ञक 'पाद्' के स्थान में 'पत्' अदेश होता है। **'यचि भम्'** (१।४।१८) से 'पाद्' की भ-संज्ञा है। स्त्रीत्व-विवक्षा में **'अजाद्यतष्टाप्'** (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय और **'प्रत्ययस्थात्कात्०'** (७।३।४४) से इत्त्व होता है। ऐसे ही-**त्रिपदिका।***

(३) वैयाघ्रपद्यः। व्याघ्र+पाद। व्याघ्रपाद्।। व्याघ्रपाद्+यञ्। व्यघ्रपाद्+य। वैयाघ्रपाद्+य। वैयाघ्रपत्+य। वैयाघ्रपद्य+सु। वैयाघ्रपद्यः।

यहां प्रथम व्याघ्र और पाद शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है-व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स व्याघ्रपाद्। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' (५।४।१३८) से 'पाद' के अकार का समासान्त लोप होता है। पुनः 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से अपत्य-अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से भ-संज्ञक 'पाद्' शब्द के स्थान में 'पत्' आदेश होता है। 'यचि भम्' (१।४।१८) से 'पाद्' शब्द की भ-संज्ञा है। 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (७।३।३) से अङ्ग को आदिवृद्धि न हेकर 'ऐच्' (ऐ) आदेश होता है।

सम्प्रसारणम्–

(३) वसोः सम्प्रसारणम्।१३१।

प०वि०-वसोः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वसोर्भस्य अङ्गस्य सम्प्रसारणम्।

अर्थः-वसु-अन्तस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-त्वं विदुषः पश्य। विदुषा। विदुषे। त्वं पेचुषः पश्य। पेचुषा। पेचुषे। त्वं पपुषः पश्य।

आर्यभाषाः *अर्थ-(वसोः) वसु जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग को (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-त्वं विदुषः पश्य। तू विद्वानों को देख। विदुषा। एक विद्वान् के द्वारा। विदुषे। एक विद्वान् के लिये। त्वं पेचुषः पश्य। तू पेचिवानों को देख। पेचुषा। पेचिवान् के द्वारा। पेचुषे। पेचिवान् के लिये। पेचिवान्=पकानेवाला। त्वं पपुषः पश्य। तू पपिवानों को देख। पपिवान्=पान करनेवाला।

सिद्धि-(१) विदुषः। विद्+लट्। विद्+ल्। विद्+शतृ। विद्+अत्। विद्+शप्+अत्। विद्+०+अत्। विद्+वसु। विद्+वस्। विद्वस्+शस्। विद्वस्+अस्। विद् उ अ स्+अस्। वि द् उस्+अस्। विद उष्+अस्। विदुष्+अस्। विदुषस्। विदुषः।

यहां 'विद ज्ञाने' (अदा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय है। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) से 'लट्' के स्थान में 'शतृ' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण-प्रत्यय, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक्, 'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) से 'शतृ' के स्थान में 'वसु' आदेश होता

है। तत्पश्चात् वसु-अन्त भ-संज्ञक अङ्ग को 'शस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से पूर्वरूप एकादेश और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। ऐसे ही-विदुषा (टा)। विदुषे (ङे)।

(२) पेचुषः। पच्+लिट्। पच्+ल्। पच्+क्वसु। पच्+वस्। पच्-पच्+वस्। ०-पेच्+वस्। पेच्+वस्+शस्। पेच्+उ अस्+अस्। पेच्+उस्+अस्। पेचुष्+अस्। पेचुषस्। पेचुषः।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'लिट्' प्रत्यय है। 'क्वसुश्च' (३।२।१०७) से 'लिट्' के स्थान में 'क्वसु' आदेश, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) से 'पच्' धातु के द्वित्व, 'अत एकहल्मध्ये०' (६।४।१२०) से एत्त्व और अभ्यास का लोप होता है। 'शस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से भ-संज्ञक वसु-अन्त अङ्ग को सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण हो जाने पर वलादि आर्धधातुक न रहने से 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम नहीं होता है।

(३) पपुषः। 'पा पाने' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत्। क्वसु और 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से 'पा' के आकार का लोप होता है। आकार का लोप करने में 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से सम्प्रसरण असिद्ध नहीं होता है क्योंकि सम्प्रसारण 'शस्' विभक्ति पर आश्रित है, समानाश्रित कार्य असिद्ध होता है, व्याश्रित नहीं।

विशेषः सूत्रपाठ में 'वसु' के ग्रहण से 'क्वसु' प्रत्यय का भी ग्रहण किया जाता है।

ऊठ्-सम्प्रसारणम्–

(४) वाह ऊठ्।१३२।

प०वि०-वाहः ६।१ ऊठ् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वाहो भस्य अङ्गस्य ऊठ् सम्प्रसारणम्।

अर्थः-वाहन्तस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य ऊठ् इति सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे। दित्यौहः, दित्यौहा, दित्यौहे।

आर्यभाषाः अर्थ-(वाहः) वाह् जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग को (ऊठ्) ऊठ् यह (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।

उदा०-प्रष्ठौहः। बैलों को। प्रष्ठौहा। बैल के द्वारा। प्रष्ठौहे। बैल के लिये। प्रष्ठवाह् (पुं) जवान बैल जिसे हल जोतने का अभ्यास कराया जाता हो (शब्दार्थकौस्तुभ)। हलाऊ नारा। दित्यौहः। दैत्य-वोढाओं को। दित्यौहा। दैत्य-वोढा के द्वारा। दित्यौहे। दैत्य-वोढा के लिये।

सिद्धि-प्रष्ठौहः। प्रष्ठ+वह्+ण्वि। प्रष्ठ+वह्+वि। प्रष्ठ+वाह्+०। प्रष्ठवाह्+शस्। प्रष्ठवाह्+अस्। प्रष्ठ+ऊठ् आह्+अस्। प्रष्ठ्+ऊ आ ह्+अस्। प्रष्ठ+ऊह्+अस्। प्रष्ठौह्+अस्। प्रष्ठौहस्। प्रष्ठौहः।

यहां प्रष्ठ उपपद 'वह प्रापणे' (भ्वा०प०) धातु से 'वहश्च' (३।२।६४) से 'ण्वि' प्रत्यय है। 'अत उपधायाः' (७।२।११५) से उपधावृद्धि और 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६।) से 'वि' का सर्वहारी लोप होता है। 'शस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से वाहन्त 'प्रष्ठवाह्' को ऊठ् रूप सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से पूर्वरूप एकादेश और 'एत्येधत्यूठ्सु' (६।१।८८) से वृद्धिरूप एकादेश होता है। 'ऊठ्' में ठकार-अनुबन्ध 'एत्येधत्यूठ्सु' (६।१।८८) में विशेषणार्थ है। ऐसे ही-प्रष्ठौहा (टा)। प्रष्ठौहे (ङे)। ऐसे ही-दित्यौहः, दित्यौहा, दित्यौहे।

सम्प्रसारणम्–

(५) श्वयुवमघोनामतद्धिते।१३३।

प०वि०-श्व-युव-मघोनाम् ६।३ अतद्धिते ७।१।

स०-श्वा च युवा च मघवा च ते श्वयुवमघवानः, तेषाम्-श्वयुवमघोनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न तद्धित इति अतद्धितः, तस्मिन् अतद्धिते (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, सम्प्रसारणम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-श्वयुवमघोनां भानाम् अङ्गानाम् अतद्धिते सम्प्रसारणम्।

अर्थः-श्वयुवमघोनां भसंज्ञकानाम् अङ्गानां तद्धितवर्जिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति।

उदा०-**(श्वा)** शुनः। शुना। शुने। **(युवा)** यूनः। यूना। यूने। **(मघवा)** मघोनः। मघोना। मघोने।

आर्यभाषाः *अर्थ-(श्वयुवमघोनाम्) श्वन्, युवन्, मघवन् इन (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों को (अतद्धिते) तद्धित से भिन्न प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है।*

उदा०-(श्वा) शुनः। कुत्तों को। शुना। कुत्ते केद्वारा। शुने। कुत्ते केलिये। (युवा) यूनः। युवकों को। यूना। युवक केद्वारा। यूने। युवक केलिये। (मघवा) मघोनः। इन्द्रों को। इन्द्र=राजा। मघोना। इन्द्र केद्वारा। मघोने। इन्द्र केलिये।

सिद्धि-(१) शुनः। श्वन्+शस्। श्वन्+अस्। श उ अ न्+अस्। श उ न्+अस्। शुनस्। शुनः।

यहां श्वन् शब्द से शस् प्रत्यय करने पर भ-संज्ञक 'श्वन्' शब्द को इस सूत्र से सम्प्रसारण होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०६) से पूर्वरूप एकादेश होता है। ऐसे ही-शुना (टा)। शुने (ङे)।

(२) यूनः। 'युवन्' शब्द से पूर्ववत्।

(३) मघोनः। 'मघवन्' शब्द से पूर्ववत्।

अकारलोपः–

(६) अल्लोपोऽनः।१३४।

प०वि०-अल्लोपः १।१ अनः ६।१।

स०-अतो लोप इति अल्लोपः {अत्+लोपः} (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनो भस्य अङ्गस्य अल्लोपः।

अर्थः-अन्-अन्तस्य भस्य अङ्गस्य अकारलोपो भवति।

उदा०-त्वं राज्ञः पश्य। राज्ञा। राज्ञे। त्वं तक्ष्णः पश्य। तक्ष्णा। तक्ष्णे।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अनः) अन् जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (अल्लोपः) अकार का लोप होता है।*

उदा०-त्वं राज्ञः पश्य। तू राजाओं को देख। राज्ञा। एक राजा केद्वारा। राज्ञे। एक राजा केलिये। त्वं तक्ष्णः पश्य। तू तक्षाओं को देख। तक्षा=खाती (बढ़ई)। तक्ष्णा। एक तक्षा केद्वारा। तक्ष्णे। एक तक्षा केलिये।

सिद्धि-(१) राज्ञः। राजन्+शस्। राजन्+अस्। राज्न्+अस्। राज्ञ्+अस्। राजस्। राज्ञः।

यहां राजन् शब्द से शस् प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से भ-संज्ञक 'राजन्' अङ्ग के अकार का लोप होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से तवर्ग नकार को चवर्ग ञकार आदेश होता है। ऐसे ही-राज्ञा (टा)। राज्ञे (ङे)।

(२) तक्ष्णः। 'तक्षन्' शब्द से पूर्ववत्।

अकारलोपः–

(७) षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि।१३५।

प०वि०-षपूर्व-हन्-धृतराज्ञाम् ६।३ अणि ७।१।

स०-षः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वः। षपूर्वश्च हन् च धृतराजा च ते षपूर्वहन्धृतराजानः, तेषाम्-षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् (बहुव्रीहिगर्भित इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अल्लोपः, अन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् अनोऽणि अल्लोपः।

अर्थः-षपूर्वस्य हनो धृतराज्ञश्च अन्-अन्तस्य भस्य अङ्गस्य अणि प्रत्यये परतोऽकारलोपो भवति।

उदा०-**(षपूर्वः)** उक्ष्णोऽपत्यम्-औक्ष्णः। तक्ष्णोऽपत्यम्-ताक्ष्णः। **(हन्)** भ्रूणघ्नोऽपत्यम्-भ्रौणघ्नः। **(धृतराजन्)** धृतराज्ञोऽपत्यम्-धार्तराज्ञः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्) षकार पूर्ववाले, हन् और धृतराजन् इन (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों के (अनः) अन् के (अल्लोपः) अकार का लोप होता है (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर।*

उदा०-(षपूर्व) उक्षा का अपत्य (सन्तान)-औक्ष्ण। तक्षा का अपत्य-ताक्ष्ण। तक्षा=खाती (बढ़ई)। (हन्) भ्रूणहा का अपत्य-भ्रौणघ्न। (धृतराजन्) धृतराजा का अपत्य-धार्तराज्ञ।

सिद्धि-(१) औक्ष्णः। उक्षन्+अण्। औक्षन्+अ। औक्ष्न्+अ। औक्ष्ण्+अ। औक्ष्ण+सु। औक्ष्णः।

यहां 'उक्षन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से षकारपूर्वी 'अन्' के अकार का 'अण्' प्रत्यय परे होने पर होप होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से णत्व होता है। ऐसे ही 'तक्षन्' शब्द से-ताक्ष्णः।

(२) भ्रौणघ्नः। यहां प्रथम 'भ्रूणहन्' शब्द में 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु' (३।२।८७) से 'हन्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'भ्रूणहन्' शब्द से अपत्य अर्थ में पूर्ववत् 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'हन्' के अकार का लोप होता है। 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (७।३।५४) से हकार को कुत्व घकार होता है।

(३) धार्तराज्ञः। यहां प्रथम धृत और राजन् शब्दों का 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। तत्पश्चात् 'धृतराजन्' शब्द से पूर्ववत् 'अण्' प्रत्यय है।

अकारलोप-विकल्पः-

(८) विभाषा ङिश्योः।१३६।

प०वि०-विभाषा १।१ ङि-श्योः ७।२।

स०-ङिश्च शीश्च तौ ङीश्यौ, तयोः-ङिश्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अल्लोपः, अन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनो भस्य अङ्गस्य ङिश्योर्विभाषाऽल्लोपः।

अर्थः-अन्-अन्तस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य ङिप्रत्यये शीप्रत्यये च परतो विकल्पेन अकारलोपो भवति।

उदा०-(ङि:) राज्ञि, राजनि। साम्नि, सामनि। (शी:) साम्नी, सामनी।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अनः) 'अन्' जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (अल्लोपः) अकार का लोप होता है (ङिश्योः) ङि और शी प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से।*

उदा०-(ङि) राज्ञि, राजनि। राजा में/पर। साम्नि, सामनि। साम में/पर। (शी) साम्नी, सामनी। दो साम (मन्त्र)।

सिद्धि-(१) राज्ञि। राजन्+ङि। राजन्+इ। राज्न्+इ। राज्ञ्+इ। राज्ञि।

यहां 'राजन्' शब्द से 'ङि' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'राजन्' के अकार का लोप होता है। 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से तवर्ग नकार को चवर्ग ञकार आदेश है। विकल्प-पक्ष में अकार का लोप नहीं है-राजनि। ऐसे ही 'सामन्' शब्द से-साम्नि, सामनि।

(२) साम्नी। सामन्+औ। सामन्+शी। सामन्+ई। साम्न्+ई। साम्नी।

यहां 'सामन्' शब्द से 'औ' प्रत्यय है। 'नपुंसकाच्च' (७।१।१९) से 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होता है। इस सूत्र से 'शी' प्रत्यय परे होने पर 'सामन्' के अकार का लोप होता है। विकल्प-पक्ष में अकार का लोप नहीं है-सामनी।

अकारलोप-प्रतिषेधः-

(६) न संयोगाद् वमन्तात्।१३७।

प०वि०-न अव्ययपदम्, संयोगात् ५।१ वमन्तात् ५।१।

स०-वश्च मश्च तौ वमौ, वमावन्ते यस्य स वमन्तः, तस्मात्-वमन्तात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अल्लोपः, अन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वमन्तात् संयोगाद् भस्य अङ्गस्य अनोऽल्लोपो न।

अर्थः-वकारान्ताद् मकारान्ताच्च संयोगाद् उत्तरस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति।

उदा०-(वान्तसंयोगात्) पर्वणा, पर्वणे। अथर्वणा, अथर्वणे। (मान्तसंयोगात्) शर्मणा, शर्मणे। चर्मणा, चर्मणे।

आर्यभाषा: *अर्थ-(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगात्) संयोग से परवर्ती (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गसम्बन्धी (अन:) अन् के (अल्लोप:) अकार का लोप (न) नहीं होता है।*

उदा०-(वकारान्त संयोग) **पर्वणा।** *पर्व केद्वारा।* **पर्वणे।** *पर्व केलिये। पर्व= उत्सव (त्यौहार)।* **अथर्वणा।** *अथर्वा केद्वारा।* **अथर्वणे।** *अथर्वा केलिये। अथर्वा=एक ऋषि का नाम। (मकारान्त संयोग)* **शर्मणा।** *शर्मा केद्वारा।* **शर्मणे।** *शर्मा केलिये।* **चर्मणा।** *चर्म=चाम केद्वारा।* **चर्मणे।** *चर्म केलिये।*

सिद्धि-(१) **पर्वणा।** *पर्वन्+टा। पर्वन्+आ। पर्वण+आ। पर्वणा।*

यहां 'पर्वन्' शब्द से 'टा' प्रत्यय है। 'पर्वन्' शब्द में वकारान्त संयोग (र्व्) से उत्तर भ-संज्ञक 'अन्' है। इस सूत्र से इस 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता है। 'अट्कुप्वाङ्०' (८।४।२) से नकार को णकार आदेश होता है। ऐसे ही-पर्वणे (ङे)। 'अथर्वन्' शब्द से-अथर्वणा (टा)। अथर्वणे (ङे)।

(२) **शर्मणा।** *यहां 'शर्मन्' शब्द से 'टा' प्रत्यय है। 'शर्मन्' शब्द में मकारान्त संयोग (र्म्) से उत्तर भ-संज्ञक 'अन्' है। इस सूत्र से इस 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-शर्मणे (ङे)। 'चर्मन्' शब्द से-चर्मणा (टा)। चर्मणे (ङे)।*

अकारलोप:-

(१०) अच:।१३८।

वि०-अच: ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अल्लोप इति चानुवर्तते।

अन्वय:-अचो भस्य अङ्गस्य अल्लोप:।

अर्थ:-अच:=अञ्चति-अन्तस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य अकारस्य लोपो भवति।

उदा०-त्वं दधीच: पश्य। दधीचा। दधीचे। त्वं मधूच: पश्य। मधूचा। मधूचे।

अत्र 'अच:' इति लुप्तनकारोऽञ्चतिर्गृह्यते।

आर्यभाषाः अर्थ-(अचः) जिसके अन्त में अञ्चति है, उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (अल्लोपः) अकार का लोप होता है।

उदा०-त्वं दधीचः पश्य। तू दधि (दही) प्राप्तकर्ता को देख। दधीचा। दधि प्राप्तकर्ता केद्वारा। दधीचे। दधि प्राप्तकर्ता केलिये। त्वं मधूचः पश्य। तू मधु प्राप्तकर्ता को देख। मधूचा। मधु प्राप्तकर्ता केद्वारा। मधूचे। मधु प्राप्तकर्ता केलिये।

सिद्धि-(१) दधीचः। दधि+अञ्चु+क्विन्। दधि+अञ्च्+वि। दधि+अच्+वि। दधि+अच्+०। दधी+अच्+०।। दधि+अच्+शस्। दधि+अच्+अस्। दधि+०च्+अस्। दधी+च्+अस्। दधीचस्। दधीचः।

यहां प्रथम दधि-उपपद 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से 'अञ्च्' के अनुनासिक (न्) का लोप और 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६६) से 'वि' का सर्वहारी लोप होता है। इस सूत्र से 'अञ्चति' के 'अच्' रूप के अकार का लोप होता है। 'चौ' (६।३।१३८) से 'दधि' के इकार को दीर्घ होता है। ऐसे ही-दधीचा (टा)। दधीचे (ङे)।

(२) मधूचः। मधु-उपपद 'अञ्चु' धातु से पूर्ववत्।

ईकारादेशः-

(११) उद ईत्।१३६।

प०वि०-उदः ५।१ ईत् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अच इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उदोऽचो भस्य अङ्गस्य {अतः} ईत्।

अर्थः-उदः परस्य अच इत्येतस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य {अकारस्य} ईकारादेशो भवति।

उदा०-त्वं उदीचः पश्य। उदीचा। उदीचे।

आर्यभाषाः अर्थ-(उदः) उत्-उपसर्ग से परे (अचः) अच्=अञ्चति इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के {अतः} अकार को (ईत्) ईकार आदेश होता है।

उदा०-त्वं उदीचः पश्य। तू उत्तरगामियों को देख। उदीचा। उत्तरगामी के द्वारा। उदीचे। उत्तरगामी केलिये।

सिद्धि-उदीचः। यहां उत्-उपसर्गपूर्वक 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा०प०) 'ऋत्विग्दधृक्०' (३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। इस सूत्र से उत्-उपसर्ग से परे 'अच्' (अञ्चति) के अकार को ईकारादेश होता है। शेष कार्य 'दधीचः' (६।४।१३८) के समान है। ऐसे ही-उदीचा (टा) उदीचे (ङे)।

आकारलोपः–

(१२) आतो धातोः।१४०।

प०वि०–आतः ६।१ धातोः ६।१।

अनु०–अङ्गस्य, भस्य, लोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः–आतो धातोर्भस्य अङ्गस्य लोपः।

अर्थः–आकारान्तस्य धातोर्भसंज्ञकस्य अङ्गस्य लोपो भवति।

उदा०–त्वं कीलालपः पश्य। कीलालपा। कीलालपे। त्वं शुभंयः पश्य। शुभंया। शुभंये।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आतः) आकारान्त (धातोः) धातु के (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-**त्वं कीलालपः पश्य।** तू कीलालपाओं को देख। कीलालपा=अमृत का पान करनेवाले देवता। **कीलालपा।** कीलालपा केद्वारा। **कीलालपे।** कीलालपा केलिये। **त्वं शुभंयः पश्य।** तू कल्याण मार्ग के पथिकों को देख। **शुभंया।** कल्याण मार्ग के पथिक के द्वारा। **शुभंये।** कल्याण मार्ग के पथिक केलिये।*

*सिद्धि-(१) **कीलालपः।** कीलाल+पा+विच्। कीलाल+पा+वि। कीलाल+पा+०। कीलालपा।। कीलालपा+शस्। कीलालपा+अस्। कीलालप्०+अस्। कीलालपस्। कीलालपः।*

*यहां कीलाल-उपपद **'पा पाने'** (भ्वा०प०) धातु से **'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च'** (३।२।७४)` 'विच्' प्रत्यय है। **'वेरपृक्तस्य'** (६।१।६६) से 'वि' का सर्वहारी लोप होता है। तत्पश्चात् 'कीलालपा' शब्द से 'शस्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'पा' धातु के आकार का लोप होता है। ऐसे ही-कीलालपा (टा)। कीलालपे (ङे)।*

*(२) **शुभंयः।** यहां 'शुभम्' (अव्यय) उपपद **'या प्रापणे'** (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'विच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। शुभंया (टा)। शुभंये (ङे)।*

आकारलोपः–

(१३) मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः।१४१।

प०वि०–मन्त्रेषु ७।३ आङि ७।१ आदेः ६।१ आत्मनः ६।१।

अनु०–अङ्गस्य, भस्य, लोपः, आत इति चानुवर्तते।

अन्वयः–मन्त्रेषु आत्मनो भस्य अङ्गस्य आङि आदेरातो लोपः।

अर्थः–मन्त्रेषु आत्मनो भस्य अङ्गस्य आङि प्रत्यये परतो आदेराकारस्य लोपो भवति।

उदा०-त्मना देवेभ्यः। त्मना सोमेषु। त्मना=आत्मना इत्यर्थः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(मन्त्रेषु) वेद-मन्त्रों में (आत्मनः) आत्मन् इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (आदेः) आदि के (आतः) आकार का (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-त्मना देवेभ्यः। त्मना सोमेषु। त्मना=आत्मना। आत्मा केद्वारा।

सिद्धि-त्मना। आत्मन्+टा। आत्मन्+आ। ०त्मन्+आ। त्मना।

यहां 'आत्मन्' शब्द से 'टा' प्रत्यय है। 'टा' (आङ्) प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से मन्त्रविषय में 'आत्मन्' शब्द के आदिभूत आकार का लोप होता है।

विशेषः *पाणिनि मुनि से प्राचीन आचार्यों के व्याकरणशास्त्र में 'टा' प्रत्यय को 'आङ्' कहा गया है। पाणिनि मुनि ने उसे उसी रूप में यहां ग्रहण किया है।*

ति-लोपः-

(१४) ति विंशतेर्डिति।१४२।

प०वि०-ति ६।१ (लुप्तषष्ठीनिर्देशः) विंशतेः ६।१ डिति ७।१।

स०-ड इद् यस्य डित्, तस्मिन्-डिति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-विंशतेर्भस्य अङ्गस्य ति {तिः} डिति लोपः।

अर्थः-विंशतेर्भस्य अङ्गस्य तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-विंशत्या क्रीतः-विंशकः पटः। विंशतिरधिकाऽस्मिन्निति-विंशं शतम्। विंशतेः पूरणः-विंशः। एकविंशः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(विंशते) विंशति इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (ति) ति-शब्द का (डिति) डित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-विंशकः पटः। बीस कार्षापणों से खरीदा हुआ कपड़ा। विंशं शतम्। वह शत (सौ) कार्षापण कि जिसमें बीस अधिक हैं १००+२०=१२०। विंशः। बीस को पूरा करनेवाला-बीसवां। एकविंशः। इक्कीस को पूरा करनेवाला-इक्कीसवां।

सिद्धि-(१) विंशकः। विशति+ड्वुन्। विशति+वु। विशति+अक। विंश०अक। विंशक+सु। विंशकः।

यहां 'विंशति' शब्द से 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम्' (५।१।२४) से क्रीत-अर्थ में 'ड्वुन्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' को 'अक' आदेश होता

है। 'ड्वुन्' इस डित् प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'विंशति' शब्द के 'ति' का लोप होता है। 'अतो गुणे' (६।१।९६) से पररूप (अ+अ=अ) एकादेश होता है।

(२) विंशम्। यहां 'विंशति' शब्द से 'शदन्तविंशतेश्च' (५।२।४६) से 'अस्मिन्नधिकम्' अर्थ में ड' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) विंशः। यहां 'विंशति' शब्द से 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) से पूरण-अर्थ में 'डट्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

टि-लोपः–

(१५) टेः।१४३।

वि०–टेः ६।१।

अनु०–अङ्गस्य, भस्य, लोपः, डिति इति चानुवर्तते।

अन्वयः–भस्य अङ्गस्य टेर्डिति टेर्लोपः।

अर्थः–भसंज्ञकस्य अङ्गस्य टेर्डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०–कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्। उपसरजः। मन्दुरजः। त्रिंशता क्रीतः–त्रिंशकः पटः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (टेः) टि-भाग का (डिति) डित् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-कुमुद्वान्। सफेद कमलोंवाला देश। नड्वलः। सरपतोंवाला देश। सरपत=सरकंडा। वेतस्वान्। बेंतोंवाला देश। उपसरजः। उपसर=प्रथम गर्भग्रहण पर उत्पन्न हुआ। मन्दुरजः। घुड़शाला में उत्पन्न हुआ। त्रिंशकः पटः। तीस कार्षापणों से खरीदा हुआ कपड़ा।

सिद्धि-(१) कुमुद्वान्। कुमुद+ड्मतुप्। कुमुद+मत्। कुमुद्+मत्। कुमुद्+वत्। कुमुद्वत्+सु। कुमुद्वान्।

यहां 'कुमुद' शब्द से 'अस्मिन् सन्ति' अर्थ में 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' (४।२।८६) से 'ड्मतुप्' प्रत्यय है। इस डित् प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'कुमुद' के टि-भाग (अ) का लोप होता है। 'झयः' (८।२।१०) से 'मतुप्' के मकार को वकार आदेश होता है। ऐसे ही-नड्वान्, वेतस्वान्।

(२) उपसरजः। उपसर+जन्+ड। उपसर+जन्+अ। उपसर+ज्०+अ। उपसरज+सु। उपसरजः।

यहां उपसर-उपपद 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) से 'ड' प्रत्यय है। इस डित् प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'जन्' के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। ऐसे ही-मन्दुरजः।

(३) त्रिंशकः । त्रिंशत्+ड्वुन् । त्रिंशत्+वु । त्रिंशत्+अक । त्रिंश्०+अक । त्रिंशक+सु । त्रिंशकः ।

यहां 'त्रिशत्' शब्द से 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम्' (५।१।२४) से क्रीत-अर्थ में 'ड्वुन्' प्रत्यय है। इस डित् प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'त्रिंशत्' के टि-भाग (अत्) का लोप होता है।

टि-लोपः–

(१६) नस्तद्धिते ।१४४।

प०वि०-नः ६।१ तद्धिते ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, टेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-नो भस्य अङ्गस्य टेस्तद्धिते लोपः ।

अर्थः-नः=नकारान्तस्य भस्य अङ्गस्य टेस्तद्धिते प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-अग्निशर्मणोऽपत्यम्-आग्निशर्मिः । उडुलोम्नोऽपत्यम्-औडुलोमिः ।

आर्यभाषाः *अर्थ-(नः) नकारान्त (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (टेः) टि-भाग का (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-आग्निशर्मिः । अग्निशर्मा का अपत्य (सन्तान)। औडुलोमिः । उडुलोम का अपत्य (पुत्र)।

सिद्धि-आग्निशर्मिः । अग्निशर्मन्+इञ् । अग्निशर्मन्+इ । आग्निशर्म्०+इ । आग्निशर्मि+सु । आग्निशर्मिः ।

यहां 'अग्निशर्मन्' शब्द से 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) से अपत्य-अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। इस तद्धित 'इञ्' प्रत्यंय के परे होने पर इस सूत्र से नकारान्त 'अग्निशर्मन्' शब्द के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि होती है। ऐसे ही 'उडुलोमन्' शब्द से-औडुलोमिः ।

टिलोपः–

(१७) अह्नष्टखोरेव ।१४५।

प०वि०-अह्नः ६।१ ट-खोः ७।२ एव अव्ययपदम्।

स०-टश्च ख् च तौ टखौ, तयोः-टखोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, टेः, तद्धिते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अह्नो भस्य अङ्गस्य टेस्तद्धितयोष्टखोरेव लोपः।

अर्थः-अह्नः=अहन्-इत्येतस्य भस्य अङ्गस्य टेस्तद्धितयोष्टखोः प्रत्यययोरेव परतो लोपो भवति।

उदा०-(टः) द्वे अहनी समाहृते इति द्व्यहः। त्र्यहः। (खः) द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा-द्व्यहीनः। त्र्यहीनः। अह्नां समूहः क्रतुः-अहीनः क्रतुः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अह्नः) अहन् इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (टिः) टि-भाग का (तद्धिते) तद्धित-संज्ञक (टखोः) ट और ख प्रत्यय परे होने पर (एव) ही (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-(ट) **द्व्यहः**। दो दिनों का समाहार। **त्र्यहः**। तीन दिनों का समाहार। (ख) **द्व्यहीनः**। दो दिन तक अधीष्ट=पूजित (आचार्य), भृत=वृत्ति से रखा हुआ (सेवक), भूत=हुआ, भावी=होनेवाला (उत्सव)। **त्र्यहीनः**। तीन दिनों तक अधीष्ट=पूजित (आचार्य), भृत (सेवक), भूत वा भावी (उत्सव)। **अहीनः क्रतुः**। दिनों के समूह से साध्य यज्ञविशेष।*

*सिद्धि-(१) **द्व्यहः**। द्व्यहन्+टच्। द्व्यहन्+अ। द्व्यह्+अ। द्व्यह+सु। द्व्यहः।*

यहां प्रथम द्वि और अहन् शब्दों का 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।२।५१) से समाहार अर्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है। तत्पश्चात् 'द्व्यहन्' शब्द से 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से तद्धित, समासान्त 'टच्' प्रत्यय है। इस 'ट' प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'द्व्यहन्' के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। ऐसे-त्र्यहः।

*(२) **द्व्यहीनः**। यहां प्रथम द्वि और अहन् शब्दों का पूर्ववत् तद्धितार्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है। तत्पश्चात् 'द्व्यहन्' शब्द से 'रात्र्यहःसंवत्सराच्च' (५।१।८७) से अधीष्ट आदि अर्थों में तद्धित 'ख' प्रत्यय है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'ख्' के स्थान में 'ईन्' आदेश होता है। इ 'ख' प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'द्व्यहन्' के टि-भाग (अन्) का लोप होता है। ऐसे ही-त्र्यहीनः।*

*(३) **अहीनः क्रतुः**। यहां 'अहन्' शब्द से वा०-'अह्नः खः क्रतौ' (४।२।४२) से समूह-अर्थ में तद्धित 'ख' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

गुणः-

(१८) ओर्गुणः।१४६।

प०वि०-ओः ६।१ गुणः १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, तद्धिते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ओर्भस्य अङ्गस्य तद्धिते गुणः।

अर्थः-ओः=उकारान्तस्य भस्य अङ्गस्य तद्धिते प्रत्यये परतो गुणो भवति।

उदा०-बभ्रोर्गोत्रापत्यम्-बाभ्रव्यः कौशिकः। मण्डोर्गोत्रापत्यम्-माण्डव्यः। शङ्कवे हितम्-शङ्कव्यं दारु। पिचवे हितः-पिचव्यः कार्पासः। कमण्डलवे हिता-कमण्डलव्या मृत्तिका। परशवे हितम्-परशव्यम् अयः। उपगोरपत्यम्-औपगवः। कपटोरपत्यम्-कापटवः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ओः) उकार जिसके अन्त में है उस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग को (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (गुणः) गुण होता है।*

*उदा०-**बाभ्रव्यः**। बभ्रु का पौत्र (कौशिक)। **माण्डव्यः**। मण्डु का पौत्र। **शङ्कव्यं दारु**। शङ्कु=खूंटा के लिये हितकारी लकड़ी। **पिचव्यः कार्पासः**। पिचु (रूई) के लिये हितकारी कपास। **कमण्डलव्या मृत्तिका**। कमण्डलु=जलपात्र के लिये हितकारी मिट्टी। **परशव्यम् अयः**। परशु=कुठार के लिये हितकारी लोहा। **औपगवः**। उपगु का पुत्र। **कापटवः**। कपटु का पुत्र।*

*सिद्धि-(१) **बाभ्रव्यः**। बभ्रु+यञ्। बभ्रु+य। बाभ्रो+य। बाभ्रअव्+य। बाभ्रव्य+सु। बाभ्रव्यः।*

*यहां उकारान्त 'बभ्रु' शब्द से **'मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः'** (४।२।१०६) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'बभ्रु' शब्द को तद्धित 'यञ्' प्रत्यय परे होने पर गुण होता है। **'वान्तो यि प्रत्यये'** (६।१।७८) से अव्-आदेश और **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि होती है।*

*(२) **माण्डव्यः**। यहां 'मण्डु' शब्द से **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४।२।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **शङ्कव्यम्**। यहां 'शङ्कु' शब्द से **'उगवादिभ्यो यत्'** (५।१।२) से हित-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'पिचु' शब्द से **पिचव्यः**, कमण्डलु' शब्द से-**कमण्डलव्या**, 'परशु' शब्द से-**परशव्यम्**।*

*(४) **औपगवः**। यहां 'उपगु' शब्द से **'तस्यापत्यम्'** (४।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। ऐसे ही 'कपटु' शब्द से-**कापटवः**।*

उकार-लोपः-

(१६) ढे लोपोऽकद्र्वाः।१४७।

प०वि०-ढे ७।१ लोपः १।१ अकद्र्वाः ६।१।

स०-न कद्रूरिति अकद्रूः, तस्याः-अकद्र्वाः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, तद्धिते, ओरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-अकद्रवा ओर्भस्य अङ्गस्य तद्धिते ढे लोपः।

अर्थः-कद्रूशब्दवर्जितस्य उकारान्तस्य भस्य अङ्गस्य तद्धिते ढे प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-कमण्डल्वा अपत्यम्-कामण्डलेयः। शीतबाह्वा अपत्यम्-शैतबाहेयः। जम्ब्वा अपत्यम्-जाम्ब्वेयः। मद्रबाह्वा अपत्यम्-माद्रबाहेयः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अकद्र्वाः) कद्रू शब्द से भिन्न (ओः) उकारान्त (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (तद्धिते) तद्धित-संज्ञक (ढे) ढ-प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-**कामण्डलेयः**। कमण्डलू नामक पशुविशेष का पुत्र। **शैतबाहेयः**। शीतबाहू नामक पशुविशेष का पुत्र। **जाम्ब्वेयः**। जम्बू=गीदड़ी का बच्चा। **माद्रबाहेयः**। मद्रबाहू नामक स्त्री का पुत्र।*

*सिद्धि-(१) **कामण्डलेयः**। कमण्डलू+ढञ्। कमण्डलू+ढ। कामण्डलू+एय। कामण्डल्+एय। कामण्डलेय+सु। कामण्डलेयः।*

*यहां चतुष्पादवाची उकारान्त 'कमण्डलू' शब्द से 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' (४।१।१३५) से अपत्य-अर्थ में 'ढञ्' प्रत्यय है। 'ढ' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'कमण्डलू' शब्द के अन्त्य ऊकार का लोप होता है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'ढ्' के स्थान में 'एय्' आदेश और 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि होती है। ऐसे ही-**शैतबाहेयः, जाम्ब्वेयः**।*

*(२) **माद्रबाहेयः**। यहां 'मद्रबाहू' शब्द से 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) से 'ढक्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*'अकद्रवाः' का कथन इसलिये है कि यहां ऊकार का लोप न हो-**काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत्**। कद्रू=कश्यप ऋषि की पत्नी के पुत्र ने मन्त्र का दर्शन किया।*

इकार-अकारलोपः-

(२०) यस्येति च।१४८।

प०वि०-यस्य ६।१ ईति ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-इश्च अश्च एतयोः समाहारः-यम्, तस्य-यस्य (इ+अ=य)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, तद्धिते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-यस्य भस्य अङ्गस्य ईति तद्धिते च लोपः।

अर्थः-यस्य=इकारान्तस्य अकारान्तस्य च भस्य अङ्गस्य ईकारे तद्धिते च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-**इकारान्तस्य ईकारे**-दक्षस्य अपत्यं स्त्री-दाक्षी। प्लाक्षी। सखी। **इकारान्तस्य तद्धिते**-दुलेरपत्यम्-दौलेयः। वालेयः। आत्रेयः। **अकारान्तस्य ईकारे**-कुमारी। गौरी। शाङ्र्गरवी। **अकारान्तस्य तद्धिते**-दक्षस्य अपत्यम्-दाक्षिः। प्लाक्षिः। चौडिः। बालाकिः। सौमित्रिः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(यस्य) इकारान्त और अकारान्त (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (ईति) ईकार (च) और (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-**इकारान्त का ईकार परे होने पर-दाक्षी।** दक्ष की पुत्री। पाणिनि मुनि की माता का नाम। **प्लाक्षी।** प्लक्ष की पुत्री। **सखी।** सहेली। **इकारान्त का तद्धित परे होने पर-दौलेयः।** दुलि का पुत्र। **वालेयः।** वालि का पुत्र। **आत्रेयः।** अत्रि का पुत्र। **अकारान्त का ईकार परे होने पर-कुमारी।** कन्या। **गौरी।** पार्वती। **शाङ्र्गरवी।** एक ऋषि कन्या का नाम। **अकारान्त का तद्धित परे होने पर-दाक्षिः। प्लाक्षिः। चौडिः। बालाकिः। सौमित्रिः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-(१) दाक्षी। दाक्षि+ङीप्। दाक्षि+ई। दाक्ष्+ई। दाक्षी+सु। दाक्षी।

*यहां 'दाक्षि' शब्द से **'इतो मनुष्यजातेः'** (४।१।६५) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय है। ईकार परे होने पर इस सूत्र से 'दाक्षि' के अन्त्य इकार का लोप होता है। ऐसे ही-प्लाक्षी।*

*(२) सखी। यहां 'सखि' शब्द से **'सख्यशिश्वीति भाषायाम्'** (४।१।६२) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय निपातित है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(३) दौलेयः। दुलि+ढक्। दुलि+ढ। दौलि+एय। दौल्+एय। दौलेय+सु। दौलेयः।

*यहां 'दुलि' शब्द से **'इतश्चानिञः'** (४।१।१२२) से अपत्य-अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय है। तद्धित 'ढक्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'दुलि' के अन्त्य इकार का लोप होता है। ऐसे ही-वालेयः, आत्रेयः।*

(४) कुमारी। कुमार+ङीप्। कुमार+ई। कुमार्+ई। कुमारी+सु। कुमारी।

*यहां 'कुमार' शब्द से **'वयसि प्रथमे'** (४।१।२०) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(५) गौरी। यहां 'गौर' शब्द से **'षिद्गौरादिभ्यश्च'** (४।१।४१) से स्त्रीलिङ्गमें 'ङीष्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(६) शाङ्र्गरवी। यहां 'शाङ्र्गरव' शब्द से 'शाङ्र्गरवाद्यञो ङीन्' (४।१।७३) स्त्रीलिङ्ग में 'ङीन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(७) दाक्षिः। दक्ष+इञ्। दक्ष+इ। दाक्ष्+इ। दाक्षि+सु। दाक्षिः।

यहां 'दक्ष' शब्द से 'अत इञ्' (४।१।९५) से अपत्य-अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। तद्धित 'इञ्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'दक्ष' के अन्त्य अकार का लोप होता है। ऐसे ही-प्लाक्षिः, चौडिः।

(८) बालाकिः। यहां 'बलाका' शब्द से 'बाह्वादिभ्यश्च' (४।१।९६) से अपत्य-अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'सुमित्रा' शब्द से-सौमित्रिः।

उपधा-लोपः-

(२१) सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः।१४६।

प०वि०-सूर्य-तिष्य-अगस्त्य-मत्स्यानाम् ६।३ (सम्बन्धषष्ठी) यः ६।१ उपधायाः ६।१।

स०-सूर्यश्च तिष्यश्च अगस्त्यश्च मत्स्यश्च ते सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्याः, तेषाम्-सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, तद्धिते, ईति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां भानाम् अङ्गानाम् उपधाया य ईति तद्धिते च लोपः।

अर्थः-सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां भसंज्ञकानाम् अङ्गानाम् उपधाभूतस्य यकारस्य ईकारे तद्धिते च प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-**(सूर्यः)** सूर्येण एकदिक्-सौरी बलाका। **(तिष्यः)** तिष्येण युक्तम्-तैष्यम् अहः। तैषी रात्रिः। **(अगस्त्यः)** अगस्त्यस्य अपत्यं स्त्री-आगस्ती। आगस्त्या अयम्-आगस्तीयः। **(मत्स्यः)** मत्सी।

आर्यभाषाः अर्थ-(सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम्) सूर्य, तिष्य, अगस्त्य, मत्स्य-सम्बन्धी (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों के (उपधायाः) उपधाभूत (यः) यकार का (ईति) ईकार और (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।

उदा०-(सूर्य) सौरी बलाका। सूर्य के एकदिक्=समान दिशावाली बगुलों की पंक्ति। (तिष्य) तैष्यम् अहः। तिष्य नक्षत्र से युक्त दिन। तिष्य=पुष्य नक्षत्र। (अगस्त्य) आगस्ती। अगस्त्य ऋषि की पुत्री। आगस्तीयः। अगस्त्य की दिशा (दक्षिण) में होनेवाला। (मत्स्य) मत्सी। मछली।

सिद्धि-(१) सौरी। सूर्य+अण्। सूर्य+अ। सौर्य्+अ। सौर्य।। सौर्य+ङीप्। सौर्य+०ङीप्। सौर्य+ई। सौय्+ई। सौर्०+ई। सौरी+सु। सौरी।

यहां प्रथम 'सूर्य' शब्द से 'तेनैकदिक्' (४।३।११२) से एकदिक्=समान दिशा-अर्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय है। 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'सूर्य' शब्द के अकार का 'यस्येति च' (६।४।१४८) से लोप होता है। तत्पश्चात् अणन्त 'सौर्य' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से 'ङीप्' प्रत्यय है। ईकार परे होने पर इस सूत्र सूर्यसम्बन्धी 'सौर्य' शब्द के उपधाभूत यकार का लोप होता है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अकार का लोप भी होती है। 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से इसे असिद्ध मानकर 'यकार' उपधाभूत होता है।

(२) तैषम्। तिष्य+अण्। तिष्य+अ। तिष्य्+अ। तैष्+अ। तैष+सु। तैषम्।

यहां 'तिष्य' शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' (४।२।३) से युक्त-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। सूत्र-कार्य पूर्ववत् है। स्त्रीलिङ्ग में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से 'ङीप्' प्रत्यय है-तैषी रात्रिः।

(३) आगस्ती। यहां अगस्त्य' शब्द से 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (४।१।११४) से ऋषि-अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् स्त्रीलिङ्ग में पूर्ववत् 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'आगस्ती' शब्द से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से शैषिक भव-अर्थ में 'छ' प्रत्यय होकर-आगस्तीयः।

(४) मत्सी। मत्स्य+ङीष्। मत्स्य+ई। मत्स्य्+ई। मत्स्+ई। मत्सी+सु। मत्सी।

यहां 'मत्स्य' शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) से 'ङीष्' प्रत्यय है। सूत्र-कार्य पूर्ववत् है।

उपधा-लोपः–

(२२) हलस्तद्धितस्य।१५०।

प०वि०-हलः ५।१ तद्धितस्य ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, ईति, यः, उपधाया इति चानुवर्तते। 'तद्धिते' इति च निवृत्तम्।

अन्वयः-भस्य अङ्गस्य हलस्तद्धितस्य उपधाया य ईति लोपः।

अर्थः-भसंज्ञकस्य अङ्गस्य हल उत्तरस्य तद्धितस्य उपधाभूतस्य यकारस्य ईकारे लोपो भवति।

उदा०-गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी। वात्सी।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (हलः) हल् से परे (तद्धितस्य) तद्धित-प्रत्यय के (उपधायाः) उपधाभूत (यः) यकार का (ईति) ईकार परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-गार्गी। गर्ग की पौत्री। वात्सी। वत्स की पौत्री।

सिद्धि-गार्गी। गर्ग+यञ्। गर्ग+य। गार्ग्+य। गार्ग्य+ङीप्। गार्ग्य+ई। गार्ग्य्+ई। गार्ग्+ई। गार्गी+सु। गार्गी।

यहां प्रथम 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'गार्ग्य' शब्द से 'यञश्च' (४।१।१६) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय है। इस सूत्र से हल् (र्) से उत्तरवर्ती तद्धित-प्रत्यय के उपधाभूत यकार का ईकार परे होने पर लोप होता है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से जो अकार का लोप होता है इसे 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से असिद्ध मानकर तद्धित-यकार उपधाभूत होता है। ऐसे ही 'वत्स' शब्द से-वात्सी।

उपधा-लोपः-

(२३) आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति।१५१।

प०वि०-आपत्यस्य ६।१ च अव्ययपदम्, तद्धिते ७।१ अनाति ७।१।

तद्धितवृत्तिः-अपत्यस्य इदमिति आपत्यम्, तस्य-आपत्यस्य। **'तस्येदम्'** (४।३।१२०) इति इदमर्थेऽण् प्रत्ययः।

स०-न आत् इति अनात्, तस्मिन्-अनाति (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, यः, उपधायाः, हल इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भस्य अङ्गस्य हल आपत्यस्य उपधाया योऽनाति तद्धिते लोपः।

अर्थः-भसंज्ञकस्य अङ्गस्य हल उत्तरस्य आपत्यस्य=अपत्यसम्बन्धिन उपधाभूतस्य यकारस्य आकारादिवर्जिते तद्धिते प्रत्यये परतो लोपो भवति।

उदा०-गर्गाणां समूहः-गार्गकम्। वात्सकम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (हलः) हल् से उत्तरवर्ती (आपत्यस्य) आपत्य-अर्थसम्बन्धी (उपधायाः) उपधाभूत (यः) यकार का (अनाति) आकार आदि से भिन्न (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-गार्गकम्। गार्ग्यों का समूह। वात्सकम्। वात्स्यों का समूह।

सिद्धि-गार्गकम्। गर्ग+यञ्। गर्ग+य। गार्ग्+य। गार्ग्य+वुञ्। गार्ग्य+वु। गार्ग्य+अक। गार्ग्य्+अक। गार्ग्+अक। गार्गक+सु। गार्ग+अम्। गार्गकम्।

यहां प्रथम 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द से 'गोत्रोक्षोष्ट्र०' (४।२।३८) से समूह-अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'वु' को 'अक' आदेश होता है। इस सूत्र से हल् (र्) से उत्तरवर्ती, अपत्यसम्बन्धी, उपधाभूत यकार का लोप होता है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से जो अकार का लोप होता है इसे 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) से असिद्ध मानकर यकार उपधाभूत होता है। ऐसे ही 'वत्स' शब्द से-वात्सकम्।

उपधालोपः-

(२४) क्यच्व्योश्च।१५२।

प०वि०-क्य-च्व्योः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-क्यश्च च्विश्च तौ क्यच्वी, तयोः-क्यच्व्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, यः, उपधायाः, हल, आपत्यस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भस्य अङ्गस्य हल आपत्यस्य उपधाया यः क्यच्व्योश्च लोपः।

अर्थः-भसंज्ञकस्य अङ्गस्य हल उत्तरस्य आपत्यस्य=अपत्यसम्बन्धिन उपधाभूतस्य यकारस्य क्ये च्वौ प्रत्यये च परतो लोपो भवति।

उदा०-(क्यः) आत्मनो गार्ग्यमिच्छति-गार्गीयति। वात्सीयति (क्यच्)। गार्ग्य इवाचरति-गार्गायते। वत्सायते (क्यङ्)। **(च्विः)** अगार्ग्यो गार्ग्यो भूत इति-गार्गीभूतः। वात्सीभूतः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (हलः) हल् से उत्तरवर्ती (आपत्यस्य) अपत्य-अर्थसम्बन्धी (उपधायाः) उपधाभूत (यः) यकार का (क्यच्व्योः) क्य औ च्वि प्रत्यय परे होने पर (च) भी (लोपः) लोप होता है।*

*उदा०-(क्य) **गार्गीयति।** अपने गार्ग्य की इच्छा करता है। **वात्सीयति।** अपने गार्ग्य की इच्छा करता है। (क्यच्)। **गार्गायते।** गार्ग्य के समान आचरण करता है। **वत्सायते।** वात्स्य के समान आचरण करता है (क्यङ्)। (च्वि) **गार्गीभूतः।** जो गार्ग्य नहीं है वह गार्ग्य बना हुआ है। **वात्सीभूतः।** जो वात्स्य नहीं है वह वात्स्य बना हुआ है।*

सिद्धि-(१) गार्गीयति। गार्ग्य+क्यच्। गार्ग्य+य। गार्ग्य् ई+य। गार्ग्०ई+य। गार्गीय+लट्। गार्गीयति।

यहां प्रथम 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द से 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) से आत्म-इच्छा अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय है। 'क्यच्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'हल्' (र) से उत्तरवर्ती, अपत्यसम्बन्धी उपधाभूत 'यकार' का लोप होता है। 'क्यचि च' (७।४।३३) से अकार को ईकार आदेश होता है। ऐसे ही-वात्सीयति।

(२) गार्गायते। यहां उपमानवाची 'गार्ग्य' शब्द से आचार-अर्थ में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) से 'क्यङ्' प्रत्यय है। प्रत्यय के ङित् होने से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से आत्मनेपद होता है। 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से अकार को दीर्घ होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-वात्सायते।

काशिकावृत्ति में गार्गीयते, वात्सीयते यह अपपाठ है।

(३) गार्गीभूतः। यहां 'गार्ग्य' शब्द से 'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (५।४।५०) से अभूत तद्भाव अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय है। 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) से अकार को ईकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

छस्य लुक्-

(२५) बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्।१५३।

प०वि०-बिल्वक-आदिभ्यः ५।३ छस्य ६।१ लुक् १।१।

स०-बिल्वक आदिर्येषां ते बिल्वकादयः, तेभ्यः-बिल्वकादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, तद्धिते इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बिल्वकादिभ्यो भस्य अङ्गस्य छस्य तद्धिते लुक्।

अर्थः-बिल्वकादिभ्य उत्तरस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य छ-प्रत्ययस्य तद्धिते प्रत्यये परतो लुग् भवति।

उदा०-बिल्वा यस्यां सन्तीति-बिल्वकीया। बिल्वकीयायां भवाः-बिल्वकाः। वेणुकीया-वैणुकाः। वेत्रकीया-वैत्रकाः। वेतसकीया-वैतकाः। तृणकीया-तार्णकाः। इक्षुकीया-ऐक्षुकाः। काष्ठकीया-काष्ठकाः। कपोतकीया-कापोतकाः।

नडादिषु (४।१।९९) बिल्वादयः शब्दाः पठ्यन्ते। तेषां च '**नडादीनां कुक् च**' (४।२।९१) इति कुगागमो विधीयते। ते चात्र सकुगामा बिल्वकादयः शब्दा गृह्यन्ते।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(बिल्वकादिभ्यः) बिल्वक आदि शब्दों से परे जो (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग (छस्य) छ-प्रत्यय है उसका (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (लुक्) लोप होता है।*

उदा०-बिल्व जिस वाटिका में वह-बिल्वकीया। उस बिल्वकीया वाटिका में होनेवाले वृक्ष आदि-बैल्वकाः। ऐसे ही-वैणुकाः आदि। शेष उदाहरण संस्कृतभाग में देख लेवें।

सिद्धि-बिल्वकाः। बिल्व+छ। बिल्व+ईय। बिल्व+कुक्+ईय। बिल्व+क्+ईय। बिल्वकीय+अण्। बिल्वकीय+अ। बैल्व्०+अ। बैल्व+जस्। बैल्वाः।

*यहां प्रथम 'बिल्व' शब्द से '**उत्करादिभ्यश्छः**' (४।२।९०) से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय है। 'नडादीनां कुक् च' (४।२।९१) से 'कुक्' आगम होता है। तत्पश्चात् '**तत्र भवः**' (४।३।५३) से प्राग्दीव्यतीय तद्धित 'अण्' प्रत्यय है। इस 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'छ' (ईय) प्रत्यय का लुक् होता है। ऐसे ही-वैणुकाः आदि।*

तृ-लोपः—

(२६) तुरिष्ठेमेयस्सु।१५४।

प०वि०-तुः ६।१ इष्ठ-इम-ईयस्सु ७।३।

स०-इष्ठश्च इमा च ईयाँश्च ते इष्ठेमेयांसः, तेषु इष्ठेमेयस्सु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोप इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तुर्भस्य अङ्गस्य इष्ठेमेयस्सु लोपः।

अर्थः-तुः=तृ इत्येतस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो लोपो भवति।

उदा०-(इष्ठन्) आसुतिं करिष्ठः (ऋ० ७।९७।७)। विजयिष्ठः। वहिष्ठः। (ईयसुन्) दोहीयसी धेनुः। इमनिज्ग्रहणमुत्तरार्थम्।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(तुः) 'तृ' इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।*

उदा०-(इष्ठन्) आसुतिं करिष्ठः (ऋ० ७।९७।७)। करिष्ठः=बहुतों में अतिशयकर्ता। विजयिष्ठः। वहिष्ठः। (इमनिच्) इसका उदाहरण नहीं है। (ईयसुन्) दोहीयसी धेनुः। दोनों में से अधिक दूध देनेवाली गौ। 'इमनिच्' का ग्रहण उत्तरार्थ है।

सिद्धि-(१) करिष्ठः। कृ+तृच्। कृ+तृ। कर्+तृ। कर्तृ+इष्ठन्। कर्तृ+इष्ठ। कर्०+इष्ठ। करिष्ठ+सु। करिष्ठः।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'कर्तृ' शब्द से 'तुश्छन्दसि' (५।३।५९) से अतिशायन अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर 'कतृ' के 'तृ' का लोप होता है।

(२) दोहीयसी। दुह्+तृच्। दोह्+तृ। दोह्+तृ+ईयसुन्। दोह्+ईयस्। दोहीयस्+ङीप्। दोहीयस्+ई। दोहीयसी+सु। दोहीयसी।

यहां प्रथम 'दुह प्रपूरणे' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'तृच्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'तुश्छन्दसि' (५।३।५९) से अतिशायन अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर 'दोह्+तृ' के 'तृ' का लोप होता है। पुनः प्रत्यय के उगित् होने से 'उगितश्च' (४।१।६) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

विशेषः तृ-अन्त शब्दों से 'तुश्छन्दसि' (५।३।५९) से अजादि इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्ययों का विधान किया गया है, इष्ठन् का नहीं। अतः यह 'इष्ठन्' प्रत्यय का उदाहरण सम्भव नहीं है। 'इष्ठन्' का ग्रहण उत्तरार्थ किया गया है।

टि-लोपः-

(२७) टेः।१५५।

वि०-टेः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भस्य अङ्गस्य टेरिष्ठेमेयस्सु लोपः।

अर्थः-भसंज्ञकस्य अङ्गस्य टेरिष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो लोपो भवति।

उदा०-(इष्ठन्) पटिष्ठः, लघिष्ठः। (इमनिच्) पटिमा, लघिमा। (ईयसुन्) पटीयान्, लघीयान्।

आर्यभाषाः अर्थ-(भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (टेः) टि-भाग का (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (लोपः) लोप होता है।

उदा०-(इष्ठन्) पटिष्ठः। बहुतों में पटु (चतुर)। लघिष्ठः। बहुतों में लघु (छोटा)। (इमनिच्) पटिमा। चतुरता। लघिमा। लघुता। (ईयसुन्) पटीयान्। दो में से चतुर। लघीयान्। दो में से लघु।

सिद्धि-(१) पटिष्ठः। पटु+इष्ठन्। पटु+इष्ठ। पट्+इष्ठ। पटिष्ठ+सु। पटिष्ठः।

*यहां 'पटु' शब्द से '**अतिशायने तमबिष्ठनौ**' (५।३।५५) से अतिशायन (प्रकर्ष) अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'पटु' के टि-भाग (उ) का लोप होता है। ऐसे ही-लघिष्ठः।*

*(२) पटिमा। यहां 'पटु' शब्द से '**पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा**' (५।१।१२२) से भाव-अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-लघिमा।*

*(३) पटीयान्। यहां 'पटु' शब्द से '**द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ**' (५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-लघीयान्।*

यणादिपरस्य लोपः-

(२८) स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः।१५६।

प०वि०-स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्राणाम् ६।३ यणादिपरम् १।१ पूर्वस्य ६।१ च अव्ययपदम्, गुणः १।१।

स०-स्थूलं च दूरं च युवा च ह्रस्वश्च क्षिप्रं च, क्षुद्रश्च ते स्थूल०क्षुद्राः, तेषाम्-स्थूल०क्षुद्राणाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। यण् आदि यस्य तद् यणादि, यणादि च अदः परं च इति यणादिपरम् (बहुव्रीहिगर्भित-कर्मधारयः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, लोपः, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां भानाम् अङ्गानां इष्ठेमेयस्सु यणादिपरं लोपः, पूर्वस्य च गुणः।

अर्थः-स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां भसंज्ञकानाम् अङ्गानाम् इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो यणादि परस्य भागस्य लोपो भवति, पूर्वस्य च गुणो भवति।

उदा०-(स्थूलम्) स्थविष्ठः (इष्ठन्)। स्थवीयान् (ईयसुन्)। **(दूरम्)** दविष्ठः (इष्ठन्)। दवीयान् (ईयसुन्)। **(युवन्)** यविष्ठः (इष्ठन्)। यवीयान् (ईयसुन्)। **(ह्रस्वः)** ह्रसिष्ठः (इष्ठन्)। ह्रसिमा (इमनिच्)। ह्रसीयान् (ईयसुन्)। **(क्षिप्रम्)** क्षेपिष्ठः (इष्ठन्)। क्षेपिमा (इमनिच्)।

क्षेपीयान् (ईयसुन्)। (क्षुद्रः) क्षोदिष्ठः (इष्ठन्)। क्षोदिमा (इमनिच्)। क्षोदीयान् (ईयसुन्)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(स्थूल०क्षुद्राणाम्) स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इन (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों के (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (यणादिपरम्) परवर्ती यणादि भाग का (लोपः) लोप होता है (च) और उस यणादि से (पूर्वस्य) पूर्ववर्ती इक् को (गुणः) गुण होता है।*

उदा०-*(स्थूल)* **स्थविष्ठः।** बहुतों में अति स्थूल (मोटा)। **स्थवीयान्।** दो में अति स्थूल। *(दूर)* **दविष्ठः।** बहुतों में अति दूर। **दवीयान्।** दो में अति दूर। *(युवन्)* **यविष्ठः।** बहुतों में अति युवा (जवान)। **यवीयान्।** दो में अति युवा। *(ह्रस्व)* **ह्रसिष्ठः।** बहुतों में अति ह्रस्व (छोटा)। **ह्रसिमा।** ह्रस्वभाव (छोटापन)। **ह्रसीयान्।** दो में अति ह्रस्व। *(क्षिप्र)* **क्षेपिष्ठः।** बहुतों में अति क्षिप्र (शीघ्र)। **क्षेपिमा।** शीघ्रता। **क्षेपीयान्।** दो में अति शीघ्र। *(क्षुद्र)* **क्षोदिष्ठः** बहुतों में अति क्षुद्र (छोटा)। **क्षोदिमा।** क्षुद्रता (छोटापन)। **क्षोदीयान्** दो में अति क्षुद्र (छोटा)।

सिद्धि-(१) स्थविष्ठः। *स्थूल+इष्ठन्। स्थूल+इष्ठ। स्थू०+इष्ठ। स्थो+इष्ठ। स्थव्+इष्ठ। स्थविष्ठ+सु। स्थविष्ठः।*

यहां 'स्थूल' शब्द से **'अतिशायने तमबिष्ठनौ'** *(५।३।५५) से 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'स्थूल' के परवर्ती यणादि भाग (ल् अ) का लोप होता है और यणादि से पूर्ववर्ती इक् (ऊ) को गुण होता है। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७७) से 'अव्' आदेश है। ऐसे ही- 'दविष्ठः' आदि।*

(२) स्थवीयान्। *यहां स्थूल शब्द से* **'द्विर्वचनविभज्योपपदे०'** *(५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही- 'दवीयान्' आदि।*

(३) ह्रसिमा। *ह्रस्व+इमनिच्। ह्रस्व+इमन्। ह्रस्०+इमन्। ह्रसिमन्+सु। ह्रसिमा।*

यहां 'ह्रस्व' शब्द से **'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा'** *(५।१।१२२) से भाव-अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'ह्रस्व' के परवर्ती यणादि भाग का लोप होता है। ऐसे ही-क्षेपिमा, क्षोदिमा। ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र ये शब्द पृथ्वादिगण में पठित हैं, अतः इन से* **'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा'** *(५।१।१२२) से 'इमनिच्' प्रत्यय होता है।*

प्रियादीनां प्रादय आदेशाः-

(२६) प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रप्द्राघिवृन्दाः।१५७।

प०वि०- प्रिय-स्थिर-स्फिर-उरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणाम् ६।३ प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रप्-द्राघि-वृन्दाः १।३।

स०-प्रियं च स्थिरं च स्फिरं च उरु च बहुलं च गुरु च वृद्धं च तृप्रं च दीर्घं च वृन्दारकश्च ते प्रिय०वृन्दारकाः, तेषाम्-प्रिय०वृन्दारकाणाम्। प्रश्च स्थश्च स्फश्च वर् च बंहिश्च गर् च वर्षिश्च त्रप् च द्राघिश्च वृन्दश्च ते-प्र०वृन्दाः।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां भानाम् अङ्गानाम् इष्ठेमेयस्सु प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रप्द्राघिवृन्दाः।

अर्थः-प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां भसंज्ञकानाम् अङ्गानां स्थाने इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो यथासंख्यं प्रस्थस्फवर्बंहिगर्-वर्षित्रप्द्राघिवृन्दा आदेशा भवन्ति। **उदाहरणम्**-

	स्थानी	आदेशः	प्रत्ययः	शब्दरूपम्	भाषार्थः
(१)	प्रियम्	प्रः	इष्ठन्	प्रेष्ठः	बहुतों में अति प्रिय।
			इमनिच्	प्रेमा	प्रेमभाव।
			ईयसुन्	प्रेयान्	दो में अति प्रिय।
(२)	स्थिरम्	स्थः	इष्ठन्	स्थेष्ठः	बहुतों में अति स्थिर।
			इमनिच्	××	× ×. × ×
			ईयसुन्	स्थेयान्	दो में अति स्थिर।
(३)	स्फिरम्	स्फः	इष्ठन्	स्फेष्ठः	बहुतों में अति स्फिर (विशाल)।
			इमनिच्	××	× × × ×
			ईयसुन्	स्फेयान्	दो में अति स्फिर (विशाल)।
(४)	उरु	वर्	इष्ठन्	वरिष्ठः	बहुतों में अति उरु (महान्)।
			इमनिच्	वरिमा	उरुता (महिमा)।
			ईयसुन्	वरीयः	दो में अति उरु (महान्)।
(५)	बहुलम्	बंहिः	इष्ठन्	बंहिष्ठः	बहुतों में अति बहुल (अधिक)।
			इमनिच्	बंहिमा	बहुलता (अधिकता)।
			ईयसुन्	बंहीयः	दो में अति बहुल (अधिक)।

स्थानी	आदेशः	प्रत्ययः	शब्दरूपम्	भाषार्थः
(६) गुरु	गर्	इष्ठन्	गरिष्ठः	बहुतों में अति गुरु (भारी)।
		इमनिच्	गरिमा	गुरुता (भारीपन)।
		ईयसुन्	गरीयः	दो में अति गुरु (भारी)।
(७) वृद्धम्	वर्षिः	इष्ठन्	वर्षिष्ठः	बहुतों में अति वृद्ध (बड़ा)।
		इमनिच्	× ×	× × × ×
		ईयसुन्	वर्षीयान्	दो में अति वृद्ध (बड़ा)।
(८) तृप्रम्	त्रप्	इष्ठन्	त्रपिष्ठः	बहुतों में अति तृप्र (सन्तुष्ट)।
		इमनिच्	× ×	× × × ×
		ईयसुन्	त्रपीयान्	दो में अति तृप्र (सन्तुष्ट)।
(९) दीर्घम्	द्राघिः	इष्ठन्	द्राघिष्ठः	बहुतों में अति दीर्घ (लम्बा)।
		इमनिच्	द्राघिमा	दीर्घता (लम्बाई)।
		ईयसुन्	द्राघीयान्	दो में अति दीर्घ (लम्बा)।
(१०) वृन्दारकः	वृन्दः	इष्ठन्	वृन्दिष्ठः	बहुतों में अति वृन्दारक (पूज्य)।
		इमनिच्	× ×	× × × ×
		ईयसुन्	वृन्दीयान्	दो में अति वृन्दारक (पूज्य)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(प्रिय०वृन्दारकाणाम्) प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्गों के स्थान में (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर यथासंख्य (प्र०वृन्दाः) प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द आदेश होते हैं।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृतभाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) प्रेष्ठः। प्रिय+इष्ठन्। प्रिय+इष्ठ। प्र+इष्ठ। प्रेष्ठ+सु। प्रेष्ठः।

यहां 'प्रिय' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) से अतिशायन (प्रकर्ष) अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'प्रिय' को 'प्र' आदेश होता है। ऐसे ही-'स्थेष्ठः' आदि।

(२) प्रेयान्। यहां 'प्रिय' शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'प्रिय' को 'प्र' आदेश होता है। ऐसे ही-'स्थेयान्' आदि।

(३) प्रेमा। यहां 'प्रिय' शब्द से 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) से 'इमनिच्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर 'प्रिय' को 'प्र' आदेश होता है। ऐसे ही-वरिमा, बंहिमा, द्राघिमा।

प्रिय, उरु, बहुल और दीर्घ शब्द पृथ्वादिगण में पठित हैं अतः इने 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) से भाव-अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय होता है, शेष शब्दों से नहीं।

इष्ठेमेयस्साम् आदिलोपः-

(३०) बहोर्लोपो भू च बहोः।१५८।

प०वि०-बहोः ५।१ लोपः १।१ भू १।१ (सु-लुक्) च अव्ययपदम्, बहोः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहोर्भाद् अङ्गाद् इष्ठेमेयसां लोपः, बहोश्च भूः।

अर्थः-बहोरित्यस्माद् भसंज्ञकाद् अङ्गाद् उत्तरेषाम् इष्ठेमेयसां प्रत्ययानाम् आदिलोपो भवति, बहोश्च स्थाने भूरादेशो भवति।

उदा०-(इमनिच्) भूमा। (ईयसुन्) भूयान्। अग्रे इष्ठस्य यिडागमं वक्ष्यति (६।४।१५९)।

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहोः) बहु इस (भात्) भ-संज्ञक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (इष्ठेमेयसाम्) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्ययों के आदिम वर्ण का (लोपः) लोप होता है (च) और (बहोः) बहु के स्थान में (भूः) भू आदेश होता है।*

उदा०-(इमनिच्) भूमा। बहुता (अधिकता)। (ईयसुन्) भूयान्। दोनों से बहु (अधिक)।

पाणिनि मुनि आगे ***'इष्ठस्य यिट् च'*** *(६।४।१५९) से 'इष्ठ' को 'यिट्' आगम का विधान करेंगे अतः यहां 'इष्ठन्' का उदाहरण नहीं दिया है।*

सिद्धि-(१) भूमा। बहु+इमनिच्। बहु+इमन्। भू+इमन्। भू+०मन्। भूमन्+सु। भूमा।

यहां 'बहु' शब्द से ***'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा'*** *(५।१।१२२) से 'इमनिच्' प्रत्यय है। 'बहु' शब्द से उत्तरवर्ती इस प्रत्यय के इस सूत्र में आदिवर्ण (इ) का लोप होता है।* ***'आदेः परस्य'*** *(१।१।५४) के नियम से 'इयसुन्' प्रत्यय के आदिम वर्ण का लोप किया जाता है। 'बहु' के स्थान में 'भू' आदेश भी होता है।*

(२) भूयान्। बहु+ईयसुन्। बहु+ईयस्। भू+०यस्। भूयस्+सु। भूयान्।

यहां 'बहु' शब्द से ***'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ'*** *(५।३।५७) 'ईयसुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

यिट्-आगमः–

(३१) इष्ठस्य यिट् च।१५६।

प०वि०-इष्ठस्य ६।१ यिट् १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, बहोः, भूः, बहोरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहोर्भाद् अङ्गाद् इष्ठस्य यिट्, बहोश्च भूः।

अर्थः-बहोरित्येतस्माद् भसंज्ञकाद् अङ्गाद् उत्तरस्य इष्ठन्-प्रत्ययस्य यिडागमो भवति, बहोः स्थाने च भूरादेशो भवति।

उदा०-भूयिष्ठः। भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम (यजु० ४०।१६)

आर्यभाषाः *अर्थ-(बहोः) बहु इस (भात्) भ-संज्ञक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (इष्ठस्य) इष्ठन् प्रत्यय को (यिट्) यिट् आगम होता है (च) और (बहोः) बहु के स्थान में (भूः) भू आदेश होता है।*

उदा०-भूयिष्ठः। बहुतों में से बहु (अधिक)। भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम। (यजु० ४०।१६)।

सिद्धि-भूयिष्ठः। बहु+इष्ठन्। बहु+इष्ठ। बहु+यिट्+इष्ठ। भू+य्+इष्ठ। भूयिष्ठ+सु। भूयिष्ठः।

यहां 'बहु' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५७) से 'इष्ठन्' प्रत्यय है। 'बहु' शब्द से उत्तरवर्ती इस प्रत्यय को इस सूत्र से 'यिट्' आगम होता है और 'बहु' को 'भू' आदेश भी होता है। 'यिट्' आगम में इकार उच्चारणार्थ (य्) है।

आकार-आदेशः–

(३२) ज्यादादीयसः।१६०।

प०वि०-ज्यात् ५।१ आत् १।१ ईयसः ६।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ज्याद् भाद् अङ्गाद् ईयस आत्।

अर्थः-ज्याद् इत्येतस्माद् भसंज्ञकाद् अङ्गाद् उत्तरस्य ईयसुन्-प्रत्ययस्य आकारादेशो भवति।

उदा०-ज्यायान्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(ज्यात्) ज्य इस (भात्) भ-संज्ञक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ईयसः) ईयसुन् प्रत्यय को (आत्) आकार आदेश होता है।*

उदा०-ज्यायान्। दो में प्रशस्य (प्रशंसनीय) वृद्ध।

सिद्धि-ज्यायान्। प्रशस्य+ईयसुन्। प्रशस्य+ईयस्। ज्य+ईयस्। ज्य+आ यस्। ज्यायस्+सु। ज्यायान्।

यहां 'प्रशस्य' शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। 'ज्य च' (५।३।६१) से 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश होता है और 'वृद्धस्य च' (५।३।६२) से 'वृद्ध' को भी 'ज्य' आदेश होता है। इस सूत्र से 'ज्य' शब्द से उत्तरवर्ती 'ईयसुन्' प्रत्यय को आकार आदेश होता है और यह 'आदेः परस्य' (१।१।५४) के नियम से 'ईयसुन्' के आदिमवर्ण (ई) के स्थान पर किया जाता है।

र-आदेशः–

(३३) र ऋतो हलादेर्लघोः।१६१।

प०वि०–रः १।१ ऋतः ६।१ हलादेः ६।१ लघोः ६।१।

स०–हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्य-हलादेः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–अङ्गस्य, भस्य, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः–हलादेर्लघोर्भस्य अङ्गस्य ऋत इष्ठेमेयस्सु रः।

अर्थः–हलादेर्लघोर्भसंज्ञकस्य अङ्गस्य ऋतः स्थाने इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो रादेशो भवति।

उदा०–**(इष्ठन्)** प्रथिष्ठः। म्रदिष्ठः। **(इमनिच्)** प्रथिमा। म्रदिमा। **(ईयसुन्)** प्रथीयान्। म्रदीयान्।

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्।।

आर्यभाषाः *अर्थ-(हलादेः) हलादि (लघोः) लघु मात्रावाले (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (ऋतः) ऋकार के स्थान में (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (रः) रकार=र्+अ आदेश होता है।*

उदा०-(इष्ठन्) ***प्रथिष्ठः।*** *बहुतों में अति पृथु (स्थूल)।* ***म्रदिष्ठः।*** *बहुतों में अति मृदु (कोमल)। (इमनिच्)* ***प्रथिमा।*** *स्थूलता।* ***म्रदिमा।*** *मृदुता (कोमलता)। (ईयसुन्)* ***प्रथीयान्।*** *दो में अति पृथु (स्थूल)।* ***म्रदीयान्।*** *दो में अति मृदु (कोमल)।*

सिद्धि-(१) ***प्रथिष्ठः।*** *पृथु+इष्ठन्। पृथु+इष्ठ। पृथ्+इष्ठ। प्रथ्+इष्ठ। प्रथिष्ठ+सु। प्रथिष्ठः।*

यहां 'पृथु' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५ ।३ ।५५) से 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर हलादि, लघु 'पृथु' के ऋकार को 'र' (र्+अ) आदेश होता है। टे:' (६ ।४ ।५५) से 'पृथु' के टि-भाग (उ) का लोप होता है। ऐसे ही 'मृदु' शब्द से-म्रदिष्ठः।

(२) प्रथिमा। यहां 'पृथु' शब्द से 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५ ।१ ।१२२) से भाव-अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'मृदु' शब्द से-म्रदिमा।

(३) प्रथीयान्। यहां 'पृथु' शब्द से 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५ ।३ ।५७) से अतिशायन अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'मृदु' शब्द से-म्रदीयान्।

विशेषः *इस र-विधि में वैयाकरण पृथु, मृदु, भृश, कृश और परिवृढ इन छः शब्दों का स्मरण करते हैं।*

रादेश-विकल्पः–

(३४) विभाषर्जोश्छन्दसि।१६२।

प०वि०-विभाषा १।१ ऋजोः ६।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, इष्ठेमेयस्सु, रः, ऋत इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि ऋजोर्भस्य अङ्गस्य ऋत इष्ठेमेयस्सु विभाषा रः।

अर्थः-छन्दसि विषये ऋजोरित्येतस्य भसंज्ञकस्य अङ्गस्य ऋतः स्थाने इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतो विकल्पेन रादेशो भवति।

उदा०-रजिष्ठं नेषि पन्थाम् (ऋ० १ ।९१ ।१)। त्वमृजिष्ठः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (ऋजोः) ऋजु इस (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के (ऋतः) ऋकार के स्थान में (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (रः) र (र्+अ) आदेश होता है।*

उदा०-रजिष्ठं नेषि पन्थाम् (ऋ० १ ।९१ ।१)। रजिष्ठः=सरलतम। त्वमृजिष्ठः। ऋजिष्ठः=सरलतम।

सिद्धि-रजिष्ठः। ऋजु+इष्ठन्। ऋजु+इष्ठ। ऋज्+इष्ठ। रज्+इष्ठ। रजिष्ठ+सु। रजिष्ठः।

यहां 'ऋजु' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५ ।३ ।५५) से अतिशायन अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर 'ऋजु' के ऋकार को र-आदेश होता है। टे:' (६ ।४ ।१५५) से 'ऋजु' के टि-भाग (उ) का लोप होता है। विकल्प-पक्ष में 'ऋजु' को र-आदेश नहीं है-ऋजिष्ठः।

प्रकृतिभावः—

(३५) प्रकृत्यैकाच्।१६३।

प०वि०-प्रकृत्या ३।१ एकाच् १।१।

स०-एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, इष्ठेमेयस्सु इति चानुवर्तते।

अन्वयः-एकाच् भम् अङ्गम् इष्ठेमेयस्सु प्रकृत्या।

अर्थः-एकाज् यद् भसंज्ञकम् अङ्गम् तद् इष्ठेमेयस्सु प्रत्ययेषु परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-**(इष्ठन्)** स्रजिष्ठः, स्रुचिष्ठः। **(ईयसुन्)** स्रजीयान्, स्रुचीयन्। **णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य**-स्रजयति, स्रुचयति।

आर्यभाषाः *अर्थ-(एकाच्) एक अच्वाला जो (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग है वह (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

*उदा०-(इष्ठन्) **स्रजिष्ठः**। बहुतों में अति स्रग्वी (मालाधारी)। **स्रुचिष्ठः**। बहुतों में अति स्रुग्वी। स्रुक्=चमसोंवाला। स्रुक्=यज्ञीय चमस। (ईयसुन्) **स्रजीयान्**। दो में अति स्रुग्वी। **स्रुचीयन्**। दो में अति स्रुग्वी। **णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य**=णिच् प्रत्यय परे होने पर प्रातिपदिक को 'इष्ठन्' प्रत्यय के तुल्य कार्य होता है-**स्रजयति**। वह स्रक्=माला बनाता है। **स्रुचयति**। वह स्रुक्=यज्ञीय चमस बनाता है।*

*सिद्धि-(१) **स्रजिष्ठः**। स्रज्+विनि। स्रज्+विन्। स्रग्विन्+इष्ठन्। स्रग्विन्+इष्ठ। स्रच्०+इष्ठ। स्रजिष्ठ+सु। स्रजिष्ठः।*

*यहां प्रथम 'स्रज्' शब्द से **'अस्मायामेधास्रजो विनिः'** (५।२।१२१) से मतुप्-अर्थ में 'विनि' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'स्रग्विन्' शब्द से **'अतिशायनो तमबिष्ठनौ'** (५।३।५५) से अतिशायन अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर **'विन्मतोर्लुक्'** (५।३।६५) से 'विन्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इस स्थिति में एकाच् 'स्रक्' शब्द 'इष्ठन्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् **'टेः'** (६।४।१५५) से प्राप्त टि-भाग (अक्) का लोप नहीं होता है।*

*(२) **स्रुचिष्ठः**। यहां प्रथम 'स्रुच्' शब्द से **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **स्रजीयान्**। यहां 'स्रक्' शब्द से **'द्विवचनविभज्योपपदे०'** (५।३।५७) से 'ईयसुन्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही 'स्रुच्' शब्द से-**स्रुचीयान्**।*

(४) स्रजयति। स्रज्+णिच्। स्रज्+इ। स्रजि+लट्। स्रजयति।

यहां 'स्रज्' शब्द से वा०- 'तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम्' (३।१।२६) से करोति-अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय है। वा० 'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य कार्यं भवतीति वक्तव्यम्' (६।४।१५५) से 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर भी 'इष्ठन्' प्रत्यय के तुल्य कार्य होता है। अतः यहां भी एकाच् 'स्रज्' शब्द 'णिच्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से प्रकृतिभाव रहता है अर्थात् 'टेः' (६।४।१५५) से प्राप्त टि-भाग (अक्) का लोप नहीं होता है। ऐसे ही 'स्रुक्' शब्द से-स्रुचयति।

प्रकृतिभावः–

(३६) इनण्यनपत्ये।१६४।

प०वि०-इन् १।१ अणि ७।१ अनपत्ये ७।१।

स०-न अपत्यम् इति अनपत्यम्, तस्मिन्-अनपत्ये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या इति चानुवर्तति।

अन्वयः-इन् भम् अङ्गम् अनपत्येऽणि प्रकृत्या।

अर्थः-इन्=इन्-अन्तं भसंज्ञकम् अङ्गम् अपत्यवर्जितेऽणि प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-सांकूटिनं वर्तति। सांराविणं वर्तति। साम्मार्जनं वर्तति। स्रग्विण इदम्-स्राग्विणम्।

आर्यभाषाः अर्थ-(इन्) इन् जिसके अन्त में है वह (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग, (अनपत्ये) अपत्य-अर्थ से भिन्न (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।

उदा०-सांकूटिनं वर्तति। सब ओर दहन हो रहा है (आग लगी हुई है)। सांराविणं वर्तति। सब ओर शोर हो रहा है। साम्मार्जनं वर्तति। सब ओर मार्जन (सफाई) हो रहा है। स्राग्विणम्। स्रग्वी=मालाधारी सम्बन्धी पदार्थ।

सिद्धि-(१) सांकूटिनम्। सम्+कूट+इनुण्। सम्+कुट+इन्। सांकूटिन्+अण्। सांकूटिन्+अ। सांकूटिन+सु। सांकूटिनम्।

यहां सम्-उपसर्गपूर्वक 'कूट परितापे, परिदाहे इत्येके' (चु०आ०) धातु से भाव अर्थ में तथा अभिविधि अर्थ की प्रतीति में 'अभिविधौ भाव इनुण्' (३।२।१४४) से 'इनुण्' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'अणिनुणः' (५।४।१५) से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इन्नन्त 'सांकूटिन्' शब्द, अपत्यार्थ से भिन्न 'अण्' प्रत्यय परे होने पर

प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-भाग (इन्) का लोप नहीं होता है।

(२) सांराविणम्। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'रु शब्दे' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(३) साम्मार्जिनम्। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'मृजूष् शुद्धौ' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत्।

(४) स्राग्विणम्। यहां प्रथम 'स्रक्' शब्द से 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (५।२।१२१) से 'विनि' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'स्राग्विन्' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से इदम्-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

प्रकृतिभावः-

(३७) गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च।१६५।

प०वि०-गाथि-विदथि-केशि-गणि-पणिनः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च ते-गाथिविदथिकेशिगणिपणिनः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या, इन्, अणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-गाथिविदथिकेशिगणिपणिन इन भानि अङ्गानि च अणि प्रकृत्या।

अर्थः-गाथिविदथिकेशिगणिपणिन इत्येतानि इन्नन्तानि भसंज्ञकानि अङ्गानि च अणि प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवन्ति।

उदा०-(**गाथी**) गाथिनोऽपत्यम्-गाथिनः। (**विदथी**) विदथिनोऽपत्यम्-वैदथिनः। (**केशी**) केशिनोऽपत्यम्-केशिनः। (**गणी**) गणिनोऽपत्यम्-गाणिनः। (**पणी**) पणिनोऽपत्यम्-पाणिनः। अपत्यार्थोऽयमारम्भः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(गाथि०पाणिनः) गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् ये (इन्) अन्-अन्त (भानि) भ-संज्ञक (अङ्गानि) अङ्ग (च) भी (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहते हैं।*

उदा०-(गाथी) गाथिनः। गाथी का पुत्र। (विदथी) वैदथिनः। विदथी का पुत्र। (केशी) केशिनः। केशी का पुत्र। (गणी) गाणिनः। गणी का पुत्र। (पणी) पाणिनः। पणी का पुत्र। और पाणिन का पुत्र पाणिनि मुनि है, जिसकी यह 'अष्टाध्यायी' नामक अद्भुत रचना है।

सिद्धि-गाथिनः । गाथिन्+अण् । गाथिन्+अ । गाथिन+सु । गाथिनः ।

यहां 'गाथिन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस प्रत्यय के परे होने पर 'गाथिन्' शब्द प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-लोप नहीं होता है। ऐसे ही- 'वैदथिनः' आदि।

इस सूत्र का आरम्भ अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय के लिये किया गया है। अनपत्य अर्थ में पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव सिद्ध है।

प्रकृतिभावः--

(३८) संयोगादिश्च ।१६६।

प०वि०-संयोगादिः १।१ च अव्ययपदम्।

स०-संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या, इन्, अणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संयोगादिरिन् भम् अङ्गं च अणि प्रकृत्या।

अर्थः-संयोगादिरिन्नन्तं भसंज्ञकम् अङ्गं च अणि प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-शङ्खिनोऽपत्यम्-शाङ्खिनः। मद्रिणोऽपत्यम्-माद्रिणः। वज्रिणोऽपत्यम्-वाज्रिणः। अपत्यार्थोऽयमारम्भः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(संयोगादिः) संयोग जिसके आदि में वह (इन्) इन्-अन्त (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग (च) भी (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-शाङ्खिनः। शङ्खी का पुत्र। माद्रिणः। मद्री का पुत्र। वाज्रिणः। वज्री का पुत्र। अपत्य-अर्थ के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है।

सिद्धि-शाङ्खिनः। शङ्ख+इनि। शङ्ख्+इन्। शङ्खिन्+अण्। शाङ्खिन्+अ। शाङ्खिन+सु। शाङ्खिनः।

यहां प्रथम 'शङ्ख' शब्द से 'अत इनिठनौ' (३।२।११५) से मतुप्-अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। तत्पश्चात् 'शङ्खिन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर संयोगादि, इन्नन्त 'शङ्खिन्' शब्द इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' (६।४।११४) से प्राप्त टि-लोप नहीं होता है। ऐसे ही 'मद्रिन्' शब्द से-माद्रिणः, 'वज्रिन्' शब्द से-वाज्रिणः।

प्रकृतिभावः–

(३९) अन्।१६७।

वि०-अन् १।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या, अणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अन् भम् अङ्गम् अणि प्रकृत्या।

अर्थः-अन्=अन्नन्तं भसंज्ञकम् अङ्गम् अणि प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवति।

उदा०-साम्नोऽपत्यम्-सामनः। वेम्नोऽपत्यम्-वैमनः। सुत्वनोऽपत्यम्-सौत्वनः। जित्वनोऽपत्यम्-जैत्वनः। सामान्येनाण्मात्रेऽपत्येऽनपत्ये चायं विधिः।

***आर्यभाषाः** अर्थ-(अन्) अन् जिसके अन्त में है वह (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

***उदा०**-**सामनः**। सामा का पुत्र। **वैमनः**। वेमा का पुत्र। **सौत्वनः**। सुत्वा का पुत्र। **जैत्वनः**। जित्वा का पुत्र।*

यह सामान्य से 'अण्' प्रत्ययमात्र अर्थात् अपत्य और अनपत्य अर्थ में विधि है।

***सिद्धि**-(१) **सामनः**। सामन्+अण्। सामन्+अ। सामन+सु। सामनः।*

*यहां 'सामन्' शब्द से '**तस्यापत्यम्**' (६।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर अन्नन्त 'सामन्' शब्द इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है, अर्थात् '**नस्तद्धिते**' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-लोप नहीं होता है। ऐसे ही 'वेमन्' शब्द से-**वैमनः**।*

*(२) **सौत्वनः**। यहां प्रथम '**षुञ् अभिषवे**' (स्वा०उ०) धातु से '**सुयजोर्ङ्वनिप्**' (३।२।१०३) से 'ङ्वनिप्' प्रत्यय है और '**ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्**' (६।१।७१) से 'तुक्' आगम होता है। तत्पश्चात् 'सुत्वन्' शब्द से शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **जैत्वनः**। यहां प्रथम '**जि जये**' (भ्वा०प०) धातु से '**अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते**' (३।२।७५) से 'क्वनिप्' प्रत्यय और पूर्ववत् 'तुक्' आगम होता है। तत्पश्चात् 'जित्वन्' शब्द से शेष कार्य पूर्ववत् है।*

प्रकृतिभावः–

(४०) ये चाभावकर्मणोः।१६८।

वि०-ये ७।१ च अव्ययपदम्, अभावकर्मणोः ७।२।

स०-भावश्च कर्म च ते भावकर्मणी, न भावकर्मणी इति अभावकर्मणी, तयोः-अभावकर्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या, अन् इति चानुवर्तते। **'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति'** (६।४।१५१) इत्यस्माच्च 'तद्धिते' इति मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवर्तते।

अन्वयः-अन् भम् अङ्गस्य अभावकर्मणोर्ये तद्धिते च प्रकृत्या।

अर्थः-अन्=अन्नन्तं भसंज्ञकम् अङ्गं भावकर्मवर्जिते ये=यकारादौ तद्धिते प्रत्यये परतश्च प्रकृत्या भवति।

उदा०-सामसु साधुः-सामन्यः। वेमनि साधुः-वेमन्यः। अभावकर्मणोरिति किम्-राज्ञो भावः कर्म वा-राज्यम्।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अन्) अन् जिसके अन्त में है वह (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग (अभावकर्मणोः) भाव और कर्म अर्थ से भिन्न (यि) यकारादि (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।*

उदा०-सामन्यः। सामगान में सिद्ध (कुशल)। वेमन्यः। वेमा=करघा चलाने में सिद्धहस्त।

सिद्धि-सामन्यः। सामन्+यत्। सामन्+य। सामन्य+सु। सामन्यः।

यहां 'सामन्' शब्द से 'तत्र साधुः' (४।४।९८) से साधु-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। इस 'यत्' प्रत्यय के परे होने पर अन्-अन्त 'सामन्' शब्द प्रकृतिभाव से रहता है, अर्थात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-लोप नहीं होता है। ऐसे ही 'वेमन्' शब्द से-वेमन्यः।

'अभावकर्मणोः' का कथन इसलिये किया है कि यहां प्रकृतिभाव न हो-राज्ञो भावः कर्म वा-राज्यम्। यहां 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (५।१।१२८) से भाव और कर्म अर्थ में 'यक्' प्रत्यय है।

प्रकृतिभावः-

(४१) आत्माध्वानौ खे।१६६।

प०वि०-आत्म-अध्वानौ १।२ खे ७।१।

स०-आत्मा च अध्वा च तौ-आत्माध्वानौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आत्माध्वानौ भौ अङ्गौ खे प्रकृत्या।

अर्थः-आत्माध्वानौ भसंज्ञकावङ्गौ खे प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवतः।

उदा०-(**आत्मन्**) आत्मने हित इति आत्मनीनः। (अध्वन्) अध्वानम् अलङ्गामी इति अध्वनीनः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(आत्माध्वानौ) आत्मन्, अध्वन् ये (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग (खे) ख-प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहते हैं।*

उदा०-(आत्मन्) आत्मनीनः। आत्मा के लिये हितकारी। (अध्वन्) अध्वनीनः। अध्वा=मार्ग को तय करने में समर्थ।

सिद्धि-(१) आत्मनीनः। आत्मन्+ख। आत्मन्+ईन। आत्मनीन+सु। आत्मनीनः।

*यहां 'आत्मन्' शब्द से '**आत्मन् विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः**' (५।१।९) से हित-अर्थ में 'ख' प्रत्यय है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'ख्' के स्थान में 'ईन्' आदेश होता है। इस 'ख' प्रत्यय के परे होने पर 'आत्मन्' शब्द इस सूत्र से प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-लोप नहीं होता है।*

*(२) अध्वनीनः। यहां 'अध्वन्' शब्द से '**अध्वनो यत्खौ**' (५।२।१६) से अलङ्गामी-अर्थ में 'ख' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

प्रकृतिभाव-प्रतिषेधः–

(४२) न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः।१७०।

प०वि०-न अव्ययपदम्, मपूर्वः १।१ अपत्ये ७।१ अवर्मणः ५।१।

स०-मः पूर्वो यस्य सः-मपूर्वः (बहुव्रीहिः)। न वर्मा इति अवर्मा, तस्य-अवर्मणः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, प्रकृत्या, अन् इति चानुवतते। **'इनण्यनपत्ये'** (६।४।१६४) इत्यस्माच्च 'अणि' इति मण्डूकोत्प्लुत्याऽनुवतते।

अन्वयः-अवर्मणो मपूर्वोऽन् भम् अङ्गम् अपत्येऽणि प्रकृत्या न।

अर्थः-वर्मशब्दवर्जितं मपूर्वम् अन्=अन्-अन्तं भसंज्ञकम् अङ्गम् अपत्यार्थेऽणि प्रत्यये परतः प्रकृत्या न भवति।

उदा०-सुषाम्नोऽपत्यम्-सौषामनः। चन्द्रसाम्नोऽपत्यम्-चान्द्रसामनः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(अवर्मणः) वर्मन् शब्द से भिन्न (मपूर्वः) मकार जिसके पूर्व में है वह (अन्) अन्=अन्-अन्त (भम्) भ-संज्ञक (अङ्गम्) अङ्ग (अपत्ये) अपत्यार्थक (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से (न) नहीं रहता है।*

उदा०-सौषामनः। सुषामा का पुत्र। चान्द्रसामनः। चन्द्रसामा का पुत्र।

सिद्धि-सौषामनः। सुषामन्+अण्। सौषामन्+अ। सौषामण+सु। सौषामणः।

यहां 'सुषामन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (६।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर मपूर्वी, अन्-अन्त 'सुषामन्' शब्द इस सूत्र से प्रकृतिभाव से नहीं रहता है अर्थात् यहां 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से प्राप्त टि-भाग (अन्) का लोप होता है। ऐसे ही 'चन्द्रसामन्' शब्द से-चान्द्रसामनः।

निपातनम्-

(४३) ब्राह्मोऽजातौ।१७१।

प०वि०-ब्राह्मः १।१ अजातौ ७।१।

स०-न जातिरिति अजातिः, तस्याम्-अजातौ (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य, अणि, अपत्ये इति चानुवर्तते।

योगविभागोऽत्र क्रियते-

(क) ब्राह्मः।

अर्थः-'ब्राह्मः' इत्यत्र भसंज्ञकस्य अङ्गस्य अणि प्रत्यये परतष्टिलोपो निपात्यते।

उदा०-ब्रह्मणोऽयम्-ब्राह्मो गर्भः। ब्रह्मण इदम्-ब्राह्मम् अस्त्रम्। ब्रह्मण इदम्-ब्राह्मं हविः।

(ख) अजातौ।

अनु०-अपत्ये, ब्राह्म इति चानुवर्तते।

अर्थः-'ब्राह्म' इत्यत्र भसंज्ञकस्य अङ्गस्य अपत्यार्थेऽणिप्रत्यये परतो जातौ टिलोपो न भवति।

उदा०-ब्रह्मणोऽपत्यम्-ब्राह्मणः।

आर्यभाषाः *इस सूत्र में योगविभाग करके अर्थ किया जाता है-*

(क) ब्राह्मः।

अर्थ-(ब्राह्मः) ब्राह्म इस शब्द में (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर टि-लोप निपातित है।

उदा०-ब्राह्मो गर्भः। ब्रह्मा का गर्भ। ब्राह्मम् अस्त्रम्। ब्रह्मा का अस्त्र। ब्राह्मं हविः। ब्रह्मा की हवि (आहुति)।

(ख) अजातौ।

अर्थ-(ब्राह्मः) ब्राह्म इस शब्द में (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (अणि) अण्-प्रत्यय परे होने पर (अजातौ) जातिविषय में टिलोप नहीं होता है। ब्राह्मणः। ब्रह्मा का पुत्र।

सिद्धि-(१) ब्राह्मः। ब्रह्मन्+अण्। ब्राह्मन्+अ। ब्राह्म+सु। ब्राह्मः।

यहां 'ब्रह्मन्' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से इदम्-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर 'ब्रह्मन्' शब्द का टिलोप (अन्) निपातित है। यहां 'अन्' (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था।

(२) ब्राह्मणः। ब्रह्मन्+अण्। ब्राह्मन्+अ। ब्राह्मण+सु। ब्राह्मणः।

यहां 'ब्रह्मन्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' (६।१।९२) से अपत्य-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस 'अण्' प्रत्यय के परे होने पर अपत्यार्थक जाति में टि-लोप नहीं होता है, अपितु 'अन्' (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होता है। 'अजातौ' यहां पर्युदास प्रतिषेध से जाति में टि-लोप नहीं होता है।

निपातनम्–

(४४) कार्मस्ताच्छील्ये।१७२।

प०वि०-कार्मः १।१ ताच्छील्ये ७।१।

अनु०-अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कार्मो भस्य अङ्गस्य ताच्छील्ये णे टिलोपः।

अर्थः-कार्म इत्यत्र भसंज्ञकस्य अङ्गस्य ताच्छील्येऽर्थे णे प्रत्यये परतष्टिलोपो निपात्यते।

उदा०-कर्मशीलमस्य इति कार्मः।

आर्यभाषाः *अर्थ-(कार्मः) कार्म इस शब्द में (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (ताच्छील्ये) शील-अर्थक, ण-प्रत्यय परे होने पर टिलोप निपातित है।*

उदा०-कार्मः। कर्मशील।

सिद्धि-कार्मः। कर्मन्+ण। कर्मन्+अ। कार्म्+अ। कार्म+सु। कार्मः।

यहां 'कर्मन्' शब्द 'छत्रादिभ्यो णः' (४।४।६२) से शील-अर्थ में 'ण' प्रत्यय है। इस 'ण' प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'कर्मन्' शब्द का टि-लोप (अन्) निपातित है, 'अन्' (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था।

निपातनम्–

(४५) औक्षमनपत्ये।१७३।

प०वि०–औक्षम् १।१ अनपत्ये ७।१।

स०–न अपत्यम् इति अनपत्यम्, तस्मिन्–अनपत्ये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–अङ्गस्य, भस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–औक्षं भस्य अङ्गस्य अनपत्येऽणि टिलोपः।

अर्थः–औक्षम् इत्यत्र भसंज्ञकस्य अङ्गस्य अपत्यवर्जितेऽणि प्रत्यये परतष्टिलोपो निपात्यते।

उदा०–उक्ष्ण इदम्–औक्षं पदम्।

आर्यभाषाः *अर्थ–(औक्षम्) औक्षम् इस शब्द में (भस्य) भ-संज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (अनपत्ये) अपत्यार्थ से भिन्न (अणि) अण् प्रत्यय परे होने पर टि-लोप निपातित है।*

उदा०–औक्षं पदम्। उक्षा=बैल का पद (स्थान)।

सिद्धि–औक्षम्। उक्षन्+अण्। औक्षन्+अ। औक्ष्+अ। औक्ष+सु। औक्षम्।

यहां 'उक्षन्' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से इदम्-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस अपत्यार्थ से भिन्न 'अण्' प्रत्यय है। इस अपत्यार्थ से भिन्न 'अण्' प्रत्यय परे होने पर इस सूत्र से 'अक्षन्' शब्द का टि-लोप (अन्) निपातित है, 'अन्' (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था।

निपातनम्–

(४६) दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेय-वासिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाक-मैत्रेयहिरण्मयानि।१७४।

प०वि०– दाण्डिनायन-हास्तिनायन-आथर्वणिक-जैह्माशिनेय-वासिनायनि-भ्रौणहत्य-धैवत्य-सारव-ऐक्ष्वाक-मैत्रेय-हिरण्मयानि १।३।

स०–दाण्डिनायनश्च हास्तिनायनश्च आथर्वणिकश्च जैह्माशिनेयश्च वासिनायनिश्च भ्रौणहत्यं च धैवत्यं च सारवं च ऐक्ष्वाकं च मैत्रेयश्च हिरण्मयं च तानि–दाण्डिनायन०हिरण्मयानि (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-दाण्डिनायनादयः शब्दा निपात्यन्ते। **उदाहरणम्**-

(१) {**दाण्डिनायनः**} दण्डिनो गोत्रापत्यम्-दाण्डिनायनः। दण्डी का पौत्र।

(२) {**हास्तिनायनः**} हस्तिनो गोत्रापत्यम्-हास्तिनायनः। हस्ती का पौत्र।

(३) {**आथर्वणिकः**} अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थोऽपि उपचाराद् 'अथर्वन्' इत्युच्यते। अथर्वाणमधीयते वेद वा यः सः-आथर्वणिकः। अथर्वा ऋषि द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ का अध्येता/ज्ञाता।

(४) {**जिह्माशिनेयः**} जिह्माशिनोऽपत्यम्-जिह्माशिनेयः। जिह्माशी का पुत्र।

(५) {**वासिनायनिः**} वासिनोऽपत्यम्-वासिनायनः। वासी का पुत्र।

(६) {**भ्रौणहत्यम्**} भ्रौणघ्नो भाव इति भ्रौणहत्यम्। भ्रूणहा का भाव (होना)।

(७) {**धैवत्यम्**} धीव्नोऽपत्यम्-धैवत्यम्। धीवा का भाव (होना)।

(८) {**सारवम्**} सरय्वां भवम्-सारवम् उदकम्। सरयू नदी का जल।

(९) {**ऐक्ष्वाकः**} इक्ष्वाकोरपत्यम्-ऐक्ष्वाकः। इक्ष्वाकु राजा का पुत्र।

(१०) {**मैत्रेयः**} मित्रयोरपत्यम्-मैत्रेयः। मित्रयु का पुत्र।

(११) {**हिरण्मयः**} हिरण्यस्य विकारः-हिरण्मयः। हिरण्य=सुवर्ण का विकार।

आर्यभाषाः *अर्थ-(दाण्डिनायन०हिरण्मयानि) दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जिह्माशिनेय, वासिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय ये शब्द निपातित है।*

उदा०-उदाहरण और उनका भाषार्थ संस्कृत-भाग में देख लेवें।

सिद्धि-(१) *दाण्डिनायनः। दण्डिन्+फक्। दण्डिन्+फ। दण्डिन्+आयन। दाण्डिनायन+सु। दाण्डिनायनः।*

यहां 'दण्डिन्' शब्द से 'नडादिभ्यः फक्' (४।१।९९) से गोत्रापत्य अर्थ में 'फक्' प्रत्यय है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'फ्' के स्थान में 'आयन्' आदेश होता है। इस सूत्र

से प्रकृतिभाव निपातित है। 'नस्तद्धिते' (६।४।११४) से टि-लोप (इन्) प्राप्त था। ऐसे ही 'हतिन्' शब्द से-हास्तिनायनः।

(२) आथर्वणिकः। अथर्वन्+ठक्। आथर्वन्+इक। आथर्वणिक+सु। आथर्वणिकः।

यहां 'अथर्वन्' शब्द से 'वसन्तादिभ्यष्ठक्' (४।२।६३) से 'ठक्' प्रत्यय है। 'ठस्येकः' (७।३।५०) से 'ठ्' के स्थान में 'इक्' आदेश होता है। इस सूत्र से ठ (इक) प्रत्यय परे होने पर प्रकृतिभाव निपातित है, पूर्ववत् टिलोप प्राप्त था।

(३) जिह्माशिनेयः। जिह्माशिन्+ढक्। जैह्माशिन्+एय। जैह्माशिनेय+सु। जैह्माशिनेयः।

यहां 'जिह्माशिन्' शब्द से 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४।१।१२३) से अपत्य-अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय है। 'आयनेय०' (७।१।२) से 'ढ्' के स्थान में 'एय्' आदेश होता है। इस सूत्र से ढक् (एय्) प्रत्यय परे होने पर प्रकृतिभाव निपातित है। पूर्ववत् टिलोप प्राप्त था।

(४) वासिनायनिः। वासिन्+फिञ्। वासिन्+आयन् इ। वासिनायिनि+सु। वासिनायिनिः।

यहां 'वासिन्' शब्द से 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (४।१।१५७) से अपत्य-अर्थ में 'फिञ्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(५) भ्रौणहत्यम्। भ्रूणहन्+ष्यञ्। भ्रूणहन्+य। भ्रौणहत्+य। भ्रौणहत्य+सु। भ्रौणहत्यम्।

यहां 'भ्रूणहन्' शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५।१।१२४) से 'ष्यञ्' प्रत्यय है। यहां 'हन्' को तकारादेश निपातित है।

(६) धैवत्यम्। यहां 'धीवन्' शब्द से पूर्ववत् 'ष्यञ्' प्रत्यय और तकारादेश निपातित है।

(७) सारवम्। सरयू+अण्। सारयू+अ। सार्०ऊ+अ। सार् ओ+अ। सारव+सु। सारवम्।

यहां 'सरयू' शब्द से 'तत्र भवः' (४।३।५३) से भव-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'सरयू' के अय्-शब्द का लोप निपातित है। 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से अङ्ग को गुण और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से अव्-आदेश होता है।

(८) ऐक्ष्वाकः। इक्ष्वाकु+अञ्। इक्ष्वाकु+अ। ऐक्ष्वाक्+अ। ऐक्ष्वाक+सु। ऐक्ष्वाकः।

यहां 'इक्ष्वाकु' शब्द 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (४।१।१६८) से अपत्य-अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'इक्ष्वाकु' का उकार लोप निपातित है।

इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः-ऐक्ष्वाकः। इक्ष्वाकु जनपद में होनेवाला। यहां 'कोपधादण्' (४।२।१३२) से भव-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। उकार का लोप पूर्ववत् निपातित है।

'ऐक्ष्वाक' शब्द सूत्रपाठ में एकश्रुति-स्वर से पठित है। यह पूर्वोक्त अञ्-प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९४) से आद्युदात्त और अण्-प्रत्ययान्त होने से 'आद्युदात्तश्च' (३।१।३) से प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होता है।

*(९) **मैत्रेयः।** मित्रयु+ढञ्। मैत्रयु+एय। मैत्र०+एय। मैत्रेय+सु। मैत्रेयः।*

यहां 'मित्रयु' शब्द से 'गृष्ट्यादिभ्यश्च' (४।१।१३६) से 'ढञ्' प्रत्यय है। 'ढञ्' प्रत्यय परे होने पर 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' (७।३।२) से इसके यादि-भाग 'यु' को इय्-आदेश प्राप्त है। किन्तु इस सूत्र से 'यु' का लोप निपातित है।

*(१०) **हिरण्मयः।** हिरण्य+मयट्। हिरण्य+मय। हिरण्०+मय। हिरण्मय+सु। हिरण्मयः।*

यहां 'हिरण्य' शब्द से 'मयड्वैतयो०' (४।३।१४३) से विकार-अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय है। 'मयट्' प्रत्यय परे होने पर 'हिरण्य' शब्द के यादि-भाग (य) का लोप निपातित है।

निपातनम्–

(४७) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि।१७५।

प०वि०- ऋत्व्य-वास्त्व्य-वास्तव-माध्वी-हिरण्ययानि १।३ छन्दसि ७।१।

स०-ऋत्व्यं च वास्त्व्यं च वास्त्वश्च माध्वी च हिरण्ययं च तानि-ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-छन्दसि ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि।

अर्थः-छन्दसि विषये ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते। **उदाहरणम्–**

(१) **ऋत्व्यम्**-ऋतौ भवम्-ऋत्व्यम्।

(२) **वास्त्वम्**-वास्तौ भवम्-वास्त्व्यम्।

(३) **वास्त्वः**-वस्तुनि भवः-वास्त्वः।

(४) **माध्वीः**-मधून इदम्-माधवम्, स्त्री चेत्-माध्वीः। **'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः** (१।९०।६)।

(५) **हिरण्ययम्**-हिरण्ययस्य विकारः-हिरण्ययः **'हिरण्ययेन सविता रथेन'** (ऋ० १।३५।२)।

आर्यभाषाः अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (ऋत्व्य०हिरण्ययानि) ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय शब्द निपातित हैं।

उदा०-ऋत्व्यम्। ऋतु में होनेवाला। वास्त्वम्। वास्तु=घर में होनेवाला। वास्त्वः। वस्तु में होनेवाला। माध्वीः। मधु-सम्बन्धिनी। हिरण्ययम्। हिरण्य=सुवर्ण का विकार।

सिद्धि-(१) ऋत्व्यम्। ऋतु+यत्। ऋतु+य। ऋत्व्+य। ऋत्व्य+सु। ऋत्व्यम्।

यहां 'ऋतु' शब्द से 'भवे छन्दसि' (४।४।११०) से भव-अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है। 'यत्' प्रत्यय परे होने पर 'ऋतु' के उकार को यणादेश (व्) निपातित है। ऐसे ही 'वास्तु' शब्द से-वास्त्व्यम्।

(२) वास्त्वः। वस्तु+अण्। वास्तु+अ। वास्त्व्+अ। वास्त्व+सु। वास्त्वः।

यहां 'वस्तु' शब्द से 'तत्र भवः' (४।२।५३) से भव-अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से अङ्ग को गुण प्राप्त था, किन्तु निपातन से यणादेश (व्) होता है।

(३) माध्वीः। मधु+अण्। माधु+अ+ङीप्। माध्+अ+ई। माध्+०+ई। माध्वी+सु। माध्वीः।

यहां 'मधु' शब्द से 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से 'अण्' प्रत्यय है। स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से अङ्ग को गुण प्राप्त है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में यणादेश (व्) निपातित है। 'यस्येति च' (६।४।१४८) से अङ्ग के अकार का लोप होता है।

(४) हिरण्ययम्। हिरण्य+मयट्। हिरण्य+मय। हिरण्य+य। हिरण्यय+सु। हिरण्ययम्।

यहां 'हिरण्य' शब्द से 'मयड्वैतयोर्भाषायाम०' (४।३।१४३) से विकार-अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय है। निपातन से 'मयट्' प्रत्यय के मकार का लोप होता है।

।। इति भसंज्ञाधिकारः सम्पूर्णः ।।

इति श्रीयुतपरिव्राजकाचार्याणाम् ओमानन्दसरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां पण्डितविश्वप्रियशास्त्रिणां च शिष्येण पण्डितसुदर्शनदेवाचार्येण विरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः। समाप्तश्चायं षष्ठोऽध्यायः।।

।। इति पञ्चमो भागः।।

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

पञ्चमभागस्य सूत्रवर्णानुक्रमणिका

।। इति पञ्चमभागस्य सूत्रवर्णानुक्रमणिका ।।

संक्षेप-विवरणम्

१. आप० ध० – अपस्तम्बधर्मसूत्रम्
२. उणा० – उणादिकोषः
३. ऋ० – ऋग्वेदसंहिता
४. का० सं० – काठकसंहिता
५. खि० – खिलपाठः (ऋग्वेदः)
६. तै० आ० – तैत्तिरीय-आरण्यकम्
७. तै० ब्रा० – तैत्तिरीय ब्राह्मणम्
८. तै० सं० – तैत्तिरीयसंहिता
९. फिट्० – फिट्सूत्रम्
१०. मै० सं० – मैत्रायणीसंहिता
११. यजु० – यजुर्वेदसंहिता
१२. लौ० गृ० – लौगाक्षिगृह्यसूत्रम्
१३. श० कौ० – शब्दार्थकौस्तुभ (कोष)
१४. शौ० सं० – शौनकीयसंहिता

।। इति संक्षेप-विवरणम् ।।